हिन्दू विधि

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—१९४

हिन्दू विधि

[हिन्दुओं के जातीय कानूनों का संग्रह अथवा हिन्दू लॉ]

लेखक
पं० गिरिजाशंकर मिश्र
(निवृत्त-न्यायाधीश, उत्तर प्रदेश)

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण

१९७०

मुद्रक
प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग

प्रकाशकीय

विवेक और न्याय-परायण मानव लोकहित की प्रेरणा-वश सामाजिक कल्याण एवं व्यवस्थित जीवन-यापन के निमित्त सभ्यता के आरम्भ से ही सिद्धान्त या नियम निर्धारित करता आ रहा है। ऐसे व्यवस्थापक या आज्ञापक नियम ही विधि-वाक्य, धर्म, कानून या 'लॉ' कहे जाते है। विधि के इस व्यापक रूप के अतिरिक्त इसके विभिन्न व्यावहारिक रूप भी हैं और उन्हीं में एक नागरिक विधान (सिविल लॉ) भी है।

भारत में धर्मनिरपेक्ष शासन-विधान होते हुए भी समाज के वर्गों में परम्परागत विधि-विधानों के प्रति प्रबल आस्था पायी जाती है। इसलिए व्यवहार-विधि के अन्तर्गत न्यायालयों में भी हिन्दू-कानून, मुस्लिम-कानून आदि का अलग-अलग प्रचलन है। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहार-विधि के धन (दीवानी) और हिंसा (फौजदारी) दो भेद किये हैं, जिनके अन्तर्गत दीवानी मामलों में दाय-प्राप्ति, उत्तराधिकार, बटवारा, विवाह आदि का अधिशासन होता है। स्वत्व-रक्षा के विचार से 'हिन्दू विधि' का अध्ययन प्रबुद्ध नागरिकों के लिए परम आवश्यक है, किन्तु हिन्दी भाषा में अभी यह विषय परिष्कृत और परिपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होता। अतः इस न्यूनता की पूर्ति की दिशा में एक श्लाघनीय प्रयास प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है।

इस ग्रन्थ के लेखक, पं० गिरिजाशंकर मिश्र, इस प्रदेश के प्रसिद्ध न्यायाधीश एवं प्राचीन धर्मशास्त्र, प्रिवी कौंन्सिल, उच्च न्यायालय, संघ-न्यायालय की न्यायपद्धतियों के सफल विवेचनकार रहे हैं। ऐसे सुयोग्य विधिवेत्ता द्वारा विरचित यह ग्रन्थ विधि-शास्त्राभ्यासियों, विद्यार्थियों तथा सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए निश्चय ही मार्ग-दर्शक एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

प्रकरण	१.	प्रस्तावना	१–२२
”	२.	हिन्दू विधि के स्रोत या धर्ममूल	२३–४९
”	३.	हिन्दू विधि की शाखाएँ तथा अन्य व्यापक बातें ..	५०–६०
”	४.	उत्तराधिकार या दायप्राप्ति—मिताक्षरा ..	६१–९५
”	५.	उत्तराधिकार—दायभाग	९६–१०५
”	६.	उत्तराधिकार से अपवर्जन (अनंशता)	१०६–१११
”	७.	मिताक्षरीय संयुक्त परिवार	११२–१४४
”	८.	दायभागीय संयुक्त परिवार	१४५–१४९
”	९.	अन्य-संक्रमण (मिताक्षरीय)	१५०–१६३
”	१०.	ऋण—मिताक्षरा व दायभाग में	१६४–१८५
”	११.	विभाजन—मिताक्षरा-सम्मत	१८६–२१५
”	१२.	नारी-सम्पदा—(क) स्त्री-धन	२१६–२३२
”	१३.	नारी-सम्पदा—(ख) दायप्राप्त	२३३–२५४
”	१४.	विवाह	२५५–२७३
”	१५.	दत्तक-ग्रहण या पुत्रीकरण	२७४–३१२
”	१६.	भरण-पोषण	३१३–३३२
”	१७.	अवयस्क तथा उसका अभिभावक	३३३–३४७
”	१८.	दान तथा इच्छापत्र	३४८–३६७
”	१९.	धर्मस्व अर्थात् धर्मार्थ तथा पुण्यार्थ दान	३६८–३८५
”	२०.	प्रकीर्ण या विविध विषय	३८६–४०२

द्वितीय खण्ड

प्रकरण	१.	सन् १९५५–५६ वाली हिन्दू संहिता (हिन्दू कोड) ..	४०५–४१५
”	२.	हिन्दू संहिता (हिन्दू कोड). उत्तराधिकार अधिनियम	४१६–४७२
”	३.	हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५	४७३–५२९
”	४.	दत्तक-ग्रहण तथा भरण-पोषण अधिनियम, १९५६ ..	५३०–५५५
		हिन्दू विवाह (संशोधन) अधिनियम	५५६

खण्ड १

प्रकरण १

प्रस्तावना

परिभाषा

हिन्दू विधि का आशय, प्रसार, अधिक्षेत्र जानने के पूर्व यह जान लेना चाहिए कि "हिन्दू" कौन है और "विधि" का क्या तात्पर्य है ? हिन्दू एक धर्म है, जिसकी विलक्षणता है उसकी असीम उदारता। यह उदारता इतनी विशाल है कि हिन्दू धर्म उन सब लोगों को अंगीकृत कर लेता है जो अपने को हिन्दू घोषित कर दें, चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक; शास्त्रीय विधि-निषेधों, वेद-वेदांगों, वर्णाश्रम धर्म, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं और आचार-विचारों में विश्वास करें या न करें। इसलिए हिन्दू की परिभाषा रचना एक असम्भव कार्य है।

स्थूल रूप से यदि यह कहें तो सत्य होगा कि भारत देश में रहने वाला कोई भी व्यक्ति, किसी भी धार्मिक विश्वास वाला वयस्क या अवयस्क स्त्री, पुरुष या पुंनसक हिन्दू-संज्ञक हो सकता है, जो न तो ईसाई है न मुसलमान, न पारसी न यहूदी, परन्तु जो सन् १९५५ ई० के पूर्व या तो हिन्दू विधि द्वारा प्रशासित होता था या ऐसी हिन्दुआनी प्रथा द्वारा प्रशासित होता था जो कानून को निराकृत कर देने की शक्ति रखती हो। भारत के बाहर रहने वाला भी कोई व्यक्ति हिन्दू-संज्ञक हो सकता है जो हिन्दू धर्मावलम्बी हो। हिन्दू समाज के अन्तर्गत कई पद्धतियाँ, पन्थ और मार्ग पैदा होते रहे है जिनमें से कुछ अननुवर्ती (किसी का अनुसरण न करने वाले, स्वतन्त्र) थ। उन सब के अनुयायी हिन्दू-संज्ञक है ।[1]

पहले, दोनों तरह के मत प्रचलित थे। एक मत यह था कि हिन्दू परम्परा के अनुरूप जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति हिन्दू मान लिया जाय, चाहे उसमें रूढिवाद या कट्टरपन का नितान्त अभाव हो। दूसरा मत यह था कि ऐसे कबीले हिन्दू विधि द्वारा प्रशासित नहीं माने जा सकते, जो केवल प्रथावश कतिपय हिन्दू संस्कारों को करते-कराते हैं ।[2] हिन्दू नाम रखना, पुरोहितों को बुलाकर धार्मिक अनुष्ठान कराना,

१. देखिए "भीखूबाई बनमा मनीलाल" (१९३०), बम्बई ५१७ और "गीगी बनाम पन्ना" (१९५६), आसाम १००।

२. देखिए "स्टेट ब० यग्ना" (१९५८) ६१, बा० ला० रिपोर्ट ७०० और

हिन्दू संस्कारों को बिना अपनाये भी मानना, गो रक्षा तथा जीव के आवागमन में विश्वास करना भी हिन्दू की पहचान माने गय है। किन्तु सर्वोत्तम पहचान यह समझनी चाहिए कि जो व्यक्ति स्वतः अपने को हिन्दू मानता है, और जिसके निकटवर्ती भी उसको हिन्दू माने हुए हैं[१] वह हिन्दू है।

उपरोक्त लक्षणों के अनुसार जन्मजात हिन्दू के अतिरिक्त निम्नलिखित वर्ग भी हिन्द गिने गये हैं—अन्य धर्मो को छोड़ कर हिन्दू धर्मग्राही, जैन, सिक्ख, बौद्ध, ब्राह्म, आर्यसमाजी, हिन्दू माता-पिता की जारज सन्तान, ईसाई पिता की हिन्दू पत्नी से उपजी सन्तान, जिनका पालन हिन्दू की तरह हुआ हो।[२] परन्तु यदि पिता हिन्दू और माता ईसाई या मुसलमान है तो सन्तान को हिन्दू नही मानेंगे[३]। ईसाई या मुसलिम धर्म ग्रहण कर लेने के बाद भी हिन्दू को हिन्दू नही मानते।

प्राचीन रजवाड़ों के भीतर ऐसे कई ईसाई मतावलम्वी कुटुम्ब बसते थे जिनके पूर्वज हिन्दू थे। उनके यहाँ हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब की परिपाटी प्रचलित बनी रही। इसी प्रकार के कई मुसलमान परिवार भी पाये जाते थे। छोटा नागपुर में रहने वाले संथाल, मानभूम मे बसे हुए सन्ताल, मध्यप्रदेश के आदिवासी गोंड व राजगोंड ऐसे कवीले है जिनके यहाँ हिन्दू विधि प्रयुक्त होती है। कुछ एसी जातियाँ भी पायी जाती हैं जिनके हिन्दू पूर्वज विदेश में जाकर बस गये थ और उन्होंने अपने लिए ऐसे स्वतंत्र धर्म व विचित्र प्रथाओं की रचना कर ली जो हिन्दू धर्मशास्त्र से बिल्कुल अनमेल हैं। उनकी गणना हिन्दू में नही होती है। ब्रह्म देश में "कलाइ" नामक एसी जातियाँ मिली थीं।[४]

"फणीन्द्र ब० राजेश्वर" (१८८५) १२ इ० अ० ७२; और "सहदेव ब० कुसुम" ५० इ० अ० ५८; और "छत्तर ब० रोशन" (१९४६) नागपुर १६९।

१. देखिए "चुलकू ब० भमानी", ए० आई० आर० १९४६, पटना २१८; और "रागी ब० राजकुँअर" (१९५६), नागपुर, १३८; और "बुद्धू ब० दुखन" (१९५६), पटना १२३; और "रफैल ब० बैड़" (१९५७), पटना ७०।

२. देखिए "कामवती ब० दिग्विजय", ४३ (१९२१), इलाहाबाद ५३५; और "मैना बाई ब० ऊताराम", ८ मूर इ० अ० ४००; और "डी० तात्या ब० माथा बाला" (१९३४) ५८ बाम्बे ११९; और (१९२८) ५१ मद्रास १; ५२ मद्रास १६०।

३. "लिंगप्पा ब० एसूदप्पा" (१९०४), २७ मद्रास १३; (१९२१), २ लाहौर २४३।

४. "एम० याइत ब० एम० चित्र", ४८ इं० अपील्स ५५३।

अब शीर्षक के दूसरे शब्द "विधि" को लें। इसके पर्यायवाची हैं—कानून, अंग्रेजी "ला"। इस "ला" शब्द में व्यवस्था और एकरूपता की भावना में समाहित है। इसलिए जहाँ इन दो गुणों की विद्यमानता होती है वहाँ "ला" का प्रयोग कर दिया जाता है। नियम के रूप मे भी इसका प्रयोग होता है, जसे गुरुत्वाकर्षण का कानून (ला आव ग्रैवीटेशन), रसायन अथवा भौतिकी का कानून। जिस पदार्थ की "ला" संज्ञा है, उसका एक अंश तो होता है प्रारूप और दूसरा होता है अन्तर्वस्तु। प्रारूप ही "ला" का व्यापक अर्थ है, जैसे "द रूल आफ ला" और "ला आफ द लैण्ड" (विधि-शासन तथा देश-विधि) में। अन्तर्वस्तु ही "ला" का ठोस, दृश्यमान अंश होता है। यही उसका संकुचित अर्थ है।

इस संकुचित अर्थ में "ला" या "विधि" के कई प्रकार होते हैं, जैसे (१) आज्ञापक कानून (इम्परेटिव ला), जिसमे कि गैर फौजी और अन्तरराष्ट्रीय कानून समाहित हैं, (२) वैज्ञानिक कानून (साइण्टिफिक ला), (३) प्राकृतिक या नैतिक कानून, (४) निरूढ (कन्वेन्शनल) कानून, (५) रिवाजी (कस्टमरी) कानून, (६) प्राविधिक (टेक्निकल) कानून, (७) अन्तरराष्ट्रीय (इण्टरनेशनल) कानून, (८) गैर फौजी राज्य का कानून (सिविल ला)। इनमें अन्तिम प्रकार वाले को ही व्यवहार विधि कहते हैं और यही असली कानून है जिसका राष्ट्र के भीतर प्रवर्तन होता है। अन्य नियमों का नाम इसी के सादृश्य से कानून पड़ गया है। विधि के इन सब प्रकारों में दो विशष गुण मिलेंग, अर्थात् व्यापकता तथा एकरूपता। यानी ये किसी एक ही व्यक्ति, एक ही स्थिति, एक ही पदार्थ के ऊपर नहीं वरन् एक ही प्रकार के सभी व्यक्तियों, सभी स्थितियों, सभी पदार्थो के ऊपर लागू होते हैं। अब व्यवहार विधि के ऊपर विचार करें।

व्यवहार की व्याख्या याज्ञवल्क्य स्मृति ने यह की है—

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः ।
निवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥

अर्थात् स्मृतियों द्वारा या प्रस्थापित (प्रथा द्वारा निहित) आचार के विपरीत कर्म करके जब कोई किसी दूसरे को सताता है और सताया हुआ व्यक्ति राजा या शासक से शिकायत करता है तो यह शिकायत व्यवहार का विषय बन जाती है। इस परिभाषा से ध्वनित होनेवाली बातें ये हैं—(१) मुकदमों का निर्णय करने वाली रीति व नियमों के पुंज को व्यवहार विधि कहते हैं, (२) कानून राजा व प्रजा दोनों पर लागू होना है, क्योंकि वह राजाज्ञा नही अपितु स्मृतियों तथा महापुरुषों के आचार

धारा विहित होता है, (३) कानून एक व्यवस्थित समाज में विद्यमान रहने वाला पदार्थ है, (४) यह पदार्थ कर्मकांड, नीति और निश्चयात्मक सदाचार से भिन्न व स्वतंत्र है।

'व्यवहार विधि' हिन्दू धर्मशास्त्र का एक विभाग है। साधारणतया धर्मशास्त्र के छः अंग ये हैं—वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण-धर्म, निमित्त धर्म, साधारण धर्म। याज्ञवल्क्य, नारद व कात्यायन वे मुख्य स्मृतिकार हैं जिन्होंने व्यवहार विधि को एक पृथक् विभाग माना है। नीति व निश्चयात्मक सदाचार के साथ इसकी इतनी घनिष्ठता है कि उनमें जो भेद छिपा हुआ है उसके ऊपर ध्यानपूर्वक विचार करना होगा।

विधि से नीति और सदाचार का अन्तर

नीति शास्त्र उन नियमों को विहित करता है जिनका पालन करना हितकर होता है। कानून उस चीज को बतलाता है जो उस काल, देश व अवसर में सुविधाजनक हो। नीति शास्त्र व्यक्तिगत चरित्र की श्रेष्ठता पर ध्यान केन्द्रित करता है, कानून मानव के सामाजिक सम्बन्धों पर। नीति शास्त्र नीयत, हेतु या प्रयोजन पर बल देता है, किन्तु कानून तब तक हेतु से मतलब नही रखता जब तक मनुष्य एक नियत स्तर को पूरा करता रहे। कानून सोचता है कि किसी कार्य का असर समाज के ऊपर क्या होगा। किन्तु नीतिशास्त्र यह विचार करने लगता है कि कर्ता के चरित्र पर क्या असर पड़ेगा। नीतिशास्त्र अपने नियमों का निष्पादन प्रशास्ति या दण्ड द्वारा नहीं करता, किन्तु कानून को इसके लिए मजबूर होना पड़ता है। एक तरह से न्यूनतम नीति ही कानून है क्योंकि कानून अनिवार्य स्तरों को कायम करके स्तब्ध हो जाता है। दोनों के क्षेत्राधिकार घटते-बढ़ते रहते हैं। उदाहरणार्थ, मालिक मजदूर के इकरार जो पहले मात्र नीति द्वारा शासित होते थे, वे सब आज कानून द्वारा नियंत्रित किये जाने लगे हैं। नीति का दण्ड लोकमत किन्तु कानून का दण्ड राष्ट्र की पूरी शक्ति होता है। नीति शास्त्र का निश्चयात्मक सदाचार से यह भेद है कि पहला कायम करता है आदर्श मापदण्डों को, जब कि दूसरा कायम करता है व्यावहारिक मापदण्डों को, तथा पहला चित्तवृत्ति के ऊपर और दूसरा आचरण के ऊपर बल देता है।

जिस तरह नीतिशास्त्र और कानून में भेद है, उसी तरह निश्चयात्मक सदाचार और कानून में भेद होता है। कानून के नियम राष्ट्र के द्वारा निष्पादित होते हैं, और उनके उल्लंघन की सजा पहले से ही निर्धारित रहती है। ये दोनों गुण निश्चयात्मक सदाचार में नहीं पाये जाते। तीसरे, इन दोनों की अन्तर्वस्तु भिन्न होती है। चौथे,

निश्चयात्मक सदाचार की भाषा उतनी यथार्थ नहीं होती जितनी कानून की। इन तीनों विषयों के भेद जान लेने से कानून की विलक्षणता अधिक स्पष्ट दीखने लगती है।

प्राचीन विधि-विज्ञानी आस्टिन के अनुसार "आज्ञा देने वाला व्यक्ति या वर्ग जिन आदेशों व नियमों को आज्ञा पालन करने वाले जन समूह के निमित्त प्रसारित करके उनका निष्पादन अपनी शक्ति का भय दिखाकर करता है उन आदेशों व नियमों के पुंज को राष्ट्रीय कानून कहते हैं।" आस्टिन रचित इस परिभाषा को आज्ञापक परिभाषा भी कहते हैं। यह उस खास अभेद्य सम्बन्ध को जाहिर नहीं करती जो नीति और कानून के बीच रहता है। बोलचाल में अदालत को न्यायालय कहते हैं। इसी में यह तथ्य या सम्बन्ध निहित है। दूसरे, सारे मान्यता प्राप्त नियम आज्ञापक नहीं होते हैं, किन्तु बहुत से अनुमति-सूचक या अनुज्ञापक भी होते हैं। जैसे दण्ड संहिता व व्यवहार प्रक्रिया संहिता के तथा संरक्षक व प्रतिपाल्य अधिनियम के नियम। तीसरे, बहुत से नियमों को बलात् निष्पादित नहीं किया जाता, जैसे अभियोगों का संयोजन या फौजदारी वाले मुकदमों का स्थानान्तरण। चौथ, दण्ड का भय (सैंक्शन) ही राष्ट्रीय आज्ञाओं के पालन का हेतु नहीं होता। आज्ञा पालन के अन्य हेतु हैं जनता की आदत तथा "अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" वाला सिद्धान्त।

महान् दार्शनिक काण्ट का कानून के विषय में जटिल मत संक्षेप में यह है कि केवल विशुद्ध ध्यान के साधन से हमको वह तत्त्व प्राप्त हो सकता है जिसके बिना कानून वाली अवधारणा का निर्माण करना सम्भव हो नहीं। कानून के भोतर भो अन्य प्राकृतिक संसार को भाँति कार्य-कारण को क्रिया चला करतो है। उसको प्रत्यक क्रिया किसी हेतु को लेकर होती है। वह व्यापक हेतु क्या है ? वह है समुदाय का संपिण्डन, यानी उसको एक में बाँध रखना। यह हेतु इतने महत्त्व का है कि उसका प्रत्यक उल्लंघन बिना अहित किय नही रह सकता। इसको सिद्ध करने का उपाय है व्यक्तिगत या विरोधी हेतुओं का अनुकूलन। इस उपाय की संज्ञा न्याय है। अतः कानून सदैव न्याय की ओर प्रयत्नशील रहता है।

स्पष्ट है कि कानून व न्याय दोनों का आधार मूलतः एक ही है। अतः कानून या न्याय वह विश्वव्यापी सिद्धान्त है जिसके आधार पर मानव समाज का अस्तित्व आश्रित है। इसी को "धारयतीति धर्मः" और "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" कहते हैं। काण्ट की परिभाषा में एक सभ्य समाज की विद्यमानता तथा उसमें बाहरी नियंत्रण को आवश्यकता मान ली गयी है और यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि इन्साफ ही कानून का लक्ष्य है। इसी मत को मानने वाले श्री डेलबोचियो की रची हुई परिभाषा यह है—"कानून मनुष्यों के सम्भावी कामों का एक निष्पक्ष समन्वय है

जो ऐसे नैतिक सिद्धान्त के अनुरूप होता है जो उसका निर्देशन करता रहता है और उसमें विघ्न-बाधा नहीं पड़ने देता।" ये दोनों दार्शनिक परिभाषाएँ वास्तविकता से थोड़ी दूर मालूम होती है।

प्रख्यात विधिविज्ञ होम्स ने कहा है—"कानून के लिए मैं इससे बढ़ कर कोई दावा नहीं कर सकता कि वह इस बात की भविष्यवाणी है कि अदालतें वास्तव में क्या करेंगी।" इस सूत्र के गर्भ में अपार अर्थ भरे है। इसमें एक शिष्ट समाज और उसके भीतर अदालतों का होना और उसके रचे हुए विधान का मौजूद होना मान्य है। अपरंच न तो दण्ड पर सारा बल दिया गया है और न न्याय, औचित्य, लोककल्याण नीति के प्रयोग का अपवर्जन हुआ है।

प्रकाण्ड विधिवेत्ता सैमण्ड की रची परिभाषा यह है—"कानून यानी राष्ट्रीय विधि (सिविल ला) उन सिद्धान्तों का निकाय कहा जा सकता है जिनको राष्ट्र की मान्यता प्राप्त है और जिनका न्याय-प्रशासन में वह अपने पार्थिव बल के सहारे प्रयोग करता है, यानी उन नियमों का पुंज जिनको न्यायालयों की मान्यता प्राप्त है और जिन पर वे अमल करते हैं।" इस परिभाषा में न्याय व कानून को पर्यायवाची न कहकर अन्तिम को प्रथम का साधन माना गया है। कानून के भीतर प्रवेश करके न्याय उसका पथ प्रदर्शन करता है, और बाहर से न्याय एक मापदण्ड बनकर कानून की परख करता है। यह याद रखना चाहिए कि न्याय की भावना के अतिरिक्त समाज के भीतर अन्य अनेक शक्तियाँ भी क्रियाशील रहती हैं और वे सब कानून के निर्माण में जुटकर काम करती हैं। राज्य के कानून का लक्ष्य बहुमुखी होता है और वह अस्थिर बना रहता है। यह कल्पना कर सकते हैं कि कानून एक अर्जुन है जो सांसारिक क्रियाकलाप रूपी द्रौपदी के स्वयंवर में सामाजिक आवश्यकताओं रूपी अस्थिर मत्स्य का लक्ष्य-वेध कर रहा है।

कानून में दण्ड की भावना निहित अवश्य है, किन्तु कानून तभी प्रभावशाली हो सकता जब दण्ड के प्रयोग की आवश्यकता कम से कम अवसरों पर पड़ती हो। मनु ने कहा है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभि रक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

कानून का लक्ष्य न्याय होता है जिसके रूप व मात्रा को प्रशासक वर्ग निर्धारित करता रहता है। एक पहलू से देखिए तो कानून नियमों का निराकार पुंज लगता है। दूसरे पहलू से वह मानवों के विरोधी हितों में समझौता कराने वाली एक सामाजिक

क्रिया प्रतीत होता है। हम कह सकते हैं कि समाज द्वारा अंगीकृत एक वैधिक व्यवस्था (अर्थात् राष्ट्र) के अन्तर्गत कानून उन नियमों के पुंज को कहते हैं जिनको वह समाज अपने कल्याण के लिए आवश्यक जान कर एतदर्थ निर्मित यन्त्र द्वारा निष्पादित करने को उद्यत रहता है।

इस विवेचन से विधि या कानून के रूप, गुण, लक्षण सुबोध्य हो गये होंगे। यह भी समझा दिया गया है कि "हिन्दू" किन वर्गो को समाहित करता है और यह शब्द किन लोगों को इंगित करता है। इसके बाद "हिन्दू विधि" के आशय, प्रसार व अधि-क्षेत्र का अनुसन्धान किया जायगा।

आधार--धर्मशास्त्र, नजीरें और अधिनियम

साधारण रूप से हिन्दू विधि का अर्थ होगा उन नियमों का पुंज जिनको हिन्दू जाति ने अपने यहाँ कानूनी व्यवस्था बनाये रखने के हेतु अंगीकार करके संस्थापित कर लिया है। इन नियमों को धर्मशास्त्रों में अन्तर्वेष्टित किया गया है। धर्मशास्त्रों का संग्रह भारतरत्न महामहोपाध्याय श्री पांडुरंग वामन काणे प्रणीत **हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र** में सुलभ होता है। किन्तु "हिन्दू विधि (ला)" का प्रयोग इस साधारण अर्थ में नहीं हो रहा है। यह शब्द जनता में इतना प्रचलित हो गया है कि इसका आशय समझने में कठिनाई नहीं होती। लोग अच्छी तरह समझते हैं कि "हिन्दू ला" उन नियमों का पुंज है जिनको भारत की उच्च अदालतों ने तथा इंग्लैण्ड की प्रिवी कौंसिल ने धर्मशास्त्रों पर आधारित समझ कर हिन्दुओं के उन विवादों को निर्णीत करने के लिए प्रयुक्त किया है, जो दायप्राप्ति, उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, विवाह, धार्मिक प्रथाओं व संस्थाओं, संरक्षकत्व, कौटुम्बिक नातों, दान, इच्छापत्र और विभाजन से सम्बन्धित मालूम पड़ें। संविदा, दण्ड संहिता, दण्ड प्रक्रिया विधि आदि अनेक एसे मामले हैं जिनका निर्णय हिन्दू धर्मशास्त्र का सहारा लिये बिना उन अधिनियमों के आधार पर कर दिया जाता है जो शासन ने पारित करके लागू कर दिये हों। ध्यान रहे कि जब से न्याय-प्रशासन का कार्यभार अंग्रजी हुकूमत ने अपने हाथ में लिया (लगभग सन् १७५० ई० से) तब से उन उपरोक्त विषयों के सम्बन्ध में भी अधिनियम पारित होते आये है जिनके लिए धर्मशास्त्र ही प्रमाण माने जाते थे। पारित होने के बाद वे अधिनियम ही प्रमाण बन गये हैं और उस हद तक धर्मशास्त्र के नियम निराकृत समझे जाते हैं।

हिन्दू विधि या हिन्दू ला राज्य क्षेत्रीय नही, हिन्दुओं का व्यक्तिगत कानून है। यह परम्परागत कानून क्यों प्रयुक्त होता आया है ? अंग्रेजी शासन की अधीनता में जब देश में अदालतें स्थापित हुई, तो रानी विक्टोरिया की उद्घोषणा (प्रोक्लेमेशन)

के द्वारा और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट[१] व भारतीय विधान सभाओं से पारित परिनियमों के द्वारा उनको हिन्दू ला का प्रयोग करने का अधिकार प्रदान किया गया था और भारतीय संविधान की धारा ३७२ ने इस अधिकार को जीवित रखा है। न्याय प्रशासन के लिए कई श्रेणियों की निम्नोच्च अदालतें कायम हुई थीं। प्रत्येक प्रदेश में सर्वोच्च अदालत या हाईकोर्ट स्थापित हुआ। हाईकोर्ट का निर्णय उस प्रान्त की सब निम्न अदालतों पर लागू होता है किन्तु एक हाईकोर्ट का निणय दूसरे पर लागू नहीं है। पहले इंग्लैण्ड स्थित प्रिवी कौंसिल के फैसले, फिर दिल्ली स्थित फेड्रल कोर्ट और तत्पश्चात् सुप्रीम कोर्ट के फैसले हाईकोर्टों पर लागू या बाध्यकारी होने लग। इस प्रणाली का फल यह हुआ कि नजीरों के द्वारा रचा हुआ "हिन्दू ला" सारे देश में व्याप्त हो गया और उसी के अनुसार न्याय प्रशासन चलने लगा। जिन प्रश्नों पर नजीरें मौजूद हैं उनके समाधान के लिए धर्मशास्त्र की अपेक्षा नजीरों की खोज होने लगी।

नजीरें अंग्रेज जजों की बनायी हुई थीं जो कर्तव्यपरायण, न्यायशील और अत्यधिक चिन्तनशील होने पर भी संस्कृत भाषा, हिन्दू विचारधारा, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू विश्वासों से प्रायः अपरिचित होते थ। इसलिए संस्कृत के पंडित अदालतों के साथ संलग्न कर दिये जाते थे, जो धर्मशास्त्रों का निर्वचन जजों को सुना देते थे। उसी निर्वचन के सहारे प्रश्नों के ऊपर पूरा गौर करने के बाद जज लोग निर्णय देते थे। सन् १८६४ ई० के बाद पंडितों को हटा दिया गया, क्योंकि उस समय तक नजीरों का बड़ा निकाय एकत्र हो चुका था, तथा कोलब्रुक, मैकनाटन, स्ट्रेंजमेन, ट्रेवेलियन प्रभृति अंग्रज विद्वानों ने अद्‌भुत परिश्रम से कुछ स्मृतियों का अंग्रजी अनुवाद कर डाला था और अपनी व्याख्याएं भी प्रकाशित कर दी थीं। अब अंग्रेज जजों को यह आत्मविश्वास होने लगा कि हमको इस विधि प्रणाली (शास्त्रीय विधि) का पूरा ज्ञान हो गया है। आत्मविश्वास के अतिरिक्त एक और कारण हो सकता है। कहते हैं कि अंग्रेज एक रूढिप्रिय या अनुदार जाति है, जिसका अपनी रहन-सहन, परम्परा, रीति-रिवाज और विचार धारा, यहाँ तक कि वस्त्र-भूषा के साथ इतना अपनत्व होता है कि उनमें परिवर्तन जल्दी से नहीं करते। इसीलिए नजीरों का महत्व जितना उनके यहाँ है उतना यूरोप के अन्य देशों में नही है। इसी स्वभाववश अंग्रज जजों ने जितना आदर व भरोसा नजीरों का और अंग्रेज लेखकों के ग्रन्थों का किया, उतना धर्मशास्त्रों का नहीं। याद रहे कि हाईकोर्ट के जज प्रधानतः अंग्रज ही होते थ। परिणाम वही हुआ जो मौखिक

१. ११, ४, १७८० का रेगुलेशन; रेगुलेटिंग ऐक्ट १७८२; एड्मिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस रेगुलेशन १७८१।

व्याख्याओं के अभाव में होता है, अर्थात् कहीं मतिभ्रम, कही दिशाभ्रम, कहीं अशुद्ध अयु त निष्कर्ष। कभी-कभी एसे टीकाकारों के मत का अनुवर्तन कर लिया जाता था जिनको मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी या ऐसी व्याख्या का प्रयोग कर दिया जाता था जो परिवर्तित देश, काल, अवसर के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाती थी। धीरे-धीरे हिन्दू ला में इतनी अनम्यता व कट्टरपन आ गया कि अब जनसमाज के भीतर और प्रगतिशील बौद्धिक वर्ग में असंतोष फैलने लगा। एसे असंतोष का उपाय मात्र आमूल परिवर्तन हुआ करता है। परिवर्तन या तो नयी नजोरों के माध्यम से किया जाता है जिसमें अमित समय लग जाता है, क्योंकि जब तक प्रश्न हाईकोर्ट के सामने नही पहुँचता, तब तक उस पर नजीर कहाँ से बने ? दूसरा उपाय है विधान द्वारा संहिताकरण। यहाँ पर हमें जजों से उद्‌भावित तथा विधान-सर्जित कानून के सापेक्ष गुण-दोषों के ऊपर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

एक तो विद्यमान कानून के निराकरण की शक्ति विधान में होती है, किन्तु नजीर इसके अन्तर्गत नहीं आतो। बिगड़ी हुई स्थिति को बनाने को सामर्थ्य केवल विधान में होती है। दूसरे, विधि-निर्माण और उपस्थित विवाद का निर्णय दोनों पृथक् कार्यों को जज के ऊपर छोड़ देने की अपेक्षा यह अधिक हितकर होता है कि श्रम-विभाजन वाली नीति के अनुसार विधि-निर्माण कार्य विधान सभा को सौंप दिया जाय। तीसरे, नजीर जमी हुई प्रत्याशाओं को उखाड़ फेंकती है किन्तु परिनियम एक परन्तुक (अपवाद) जोड़कर इस दोष को मिटा सकता है। चौथे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नजीर तभी पैदा होगी जब विवाद ऊँचो अदालत (हाईकोर्ट) तक पहुँचे। विधान को एसी प्रतोक्षा नही करनी पड़ती। दुविधा के निवारण में भी विधान वाला उपाय अविलम्ब होता है। अत: नजीर वाला उपाय अपूर्ण, अनिश्चित और अक्रमबद्ध होता हैं। पाँचवे, विधान-प्रणीत नियम का रूप होता है कल्पनात्मक प्रस्थापना। वह जल्दी पकड़ और समझ मे आ जाता है। किन्तु जजों से उद्‌भावित नियम या सारभूत कारण (रेशियो डिसाइडेण्डी) डूबा रहता है वास्तविक मुकदमे के ठोस और उलझ हुए तथ्यों तथा विवरणों के पुंज के भीतर। छठे, अदालत में दो चार मस्तिष्कों के विचाराश से निकाला हुआ निष्कर्ष उतनो वरीयता नहीं रखता जितना विधानसभाओ वाले इसके सौ गुने मस्तिष्कों द्वारा किया हुआ निर्णय। इन कारणों से हिन्दू ला का जो आंशिक संहिताकरण (हिन्दू कोड) १९५५–५६ में किया गया है वंह अच्छा ही हुआ।

भारतीय परिनियमों ने हिन्दू ला का प्रयोग जिन निदेशित विषयों में करने की छूट

यहाँ की अदालतों को अंग्रेजी शासन काल में प्रदान की थी, उनका परिगणन यहाँ पर किया जाता है—

(१) प्रेसीडेन्सी स्माल काजेज ऐक्ट १८८२; (२) बंगाल आगरा एण्ड आसाम सिविल कोर्ट्स ऐक्ट १८८७; (३) बाम्बे रेगुलेशन ४ सन् १८२७; (४) मद्रास सिविल कोर्ट्स ऐक्ट १८७३; (५) पंजाब लाज ऐक्ट १८७२; (६) अवध लाज ऐक्ट १८७८; (७) अजमेर कोर्ट्स रेगुलेशन १८७७; (८) सेण्ट्रल प्राविंसेज लाज ऐक्ट १८७५; (९) बर्मा लाज ऐक्ट १८९८।

ऊपर कहा गया है कि अंग्रजी शासन काल में समय-समय पर ऐसे अधिनियम पारित होते रहे हैं जिन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्र का रूपभेद या अनुपूरण कर दिया। उनका विवरण यहाँ पर दिया जाता है—

(१) "द कास्ट डिस्एबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट" १८५०, जिसकी दूसरी संज्ञा है "फ्रीडम आव रेलीजन ऐक्ट।" धर्मशास्त्र के अनुसार धर्म परित्याग का और जाति-बिरादरी से बहिष्कार का परिणाम होता था सम्पत्ति और दायप्राप्ति तथा उत्तराधिकार से अपवर्जन। इस ऐक्ट में इस कुपरिणाम का शमन किया गया।

(२) "द हिन्दू विडोज रीमैरेज ऐक्ट" १८५६, जो पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अथक प्रयास की बदौलत ही पारित हुआ था। इसका अभिप्राय था बालविधवाओं का पुनर्विवाह और दुर्दशा निवारण।

(३) "द इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट" १९२५, धारा ५७, २१४, जिनके अनुसार संक्षेपत: किसी हिन्दू द्वारा किया हुआ इच्छापत्र लिखित होना चाहिए और उसके ऊपर दो गवाहों का अभिप्रमाणन होना अनिवार्य है।

(४) "द स्पेशल मैरेज एक्ट" १८७२ (संशोधित १९२३), जो स्पेशल मैरेज ऐक्ट, १९५४ द्वारा निरस्त हो गया है। इस प्रकार से विवाह करने वाले का संयुक्त कुटुम्ब से विच्छद हो जाता था।

(५) "द नेटिव कनवर्ट्स मैरेज दि सोल्यूशन एक्ट" १८६६, जिसके अनुसार कोई हिन्दू यदि ईसाई हो जाय तो वह अदालत के द्वारा अपनी हिन्दू पत्नी से विच्छेद प्राप्त कर सकता है।

(६) "द ट्रान्सफर आफ प्रापर्टी एक्ट" १८८२ (१९२९ में संशोधित), जिसने सम्पत्ति के हस्तान्तरण विषयक सारी हिन्दू शास्त्रीय विधि को निष्प्रभाव कर दिया है।

(७) "द इण्डियन मैजारिटी ऐक्ट" १८७५, जिसने सारे देश के लिए वयस्कता की आयु १८ वर्ष निश्चित कर दी, यद्यपि उसके पहले धर्मशास्त्र के अनुसार बंगाल

में १५ वर्ष पूरे होने पर और बाकी देश भर में १६ वर्ष पूरे होने पर वयस्कता प्राप्त होती थी। "कोर्ट आफ वार्ड्स" और "गार्जियन एण्ड वार्ड्स" वाले अवयस्क के लिए वयस्कता की आयु २१ वर्ष है। यह ऐक्ट विवाह, तलाक, मेहर और दत्तक ग्रहण वाले मामलों में लागू नहीं होता।

(८) "द गार्जियन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट" १८९०, जिसके अनुसार अभिभावक की नियुक्ति करते वक्त अदालत धर्मशास्त्र वाले नियमों की अपेक्षा इस अधिनियम के उपबन्धों पर गौर करेगी।

(९) "द हिन्दू इन्हेरिटेन्स (रिमूवल आफ डिस्एबिलीटीज) एक्ट" १९२८, जो हिन्दू ला की दायभाग शाखा में नहीं लागू होता। यह विहित करता है कि पैदाइशी पागलपन और विमूढता को छोड़कर कोई व्यक्ति किसी रोग, विकलांगता या अन्य मानसिक या कायिक रोग के कारण दायप्राप्ति से अथवा संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा में भाग पाने से वंचित नही किया जायगा, धर्मशास्त्र और रिवाज चाहे इस नियम का समर्थन करें या न करें।

(१०) "द हिन्दू ला आफ इन्हेरीटेन्स (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" १९२९, जो हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट, १९५६ द्वारा निरस्त हो चुका है। धर्मशास्त्रीय दायादों की सूची में पितामह तथा पितृव्य के बीच में इस परिनियम ने पौत्री, पुत्री की पुत्री, भगिनी और भागिनेय को पुनः स्थापित कर दिया है।

(११) "द चाइल्ड मैरेज रिस्टण्ड ऐक्ट" १९२९ (१९३८ में संशोधित), जो १८ वर्ष से कम के वर और १५ से नीचे की कन्या के विवाह करने-कराने वालों को दण्डनीय घोषित करता है। ध्यान रहे कि यह परिनियम ऐसे विवाह को अवैध नहीं घोषित करता।

(१२) "द हिन्दू गेन्स आफ लर्निंग ऐक्ट" १९३०, जिसके पहले वह सम्पदा भी विभाज्य गिनी जाती थी, जो किसी एक ही सदस्य द्वारा अर्जित होने के बावजूद संयुक्त कुटुम्ब की पैतृक सम्पत्ति के साथ एकरूप बन जाती हो। इस परिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया है कि खास विद्वत्ता या हुनर से अर्जित की गयी सम्पदा विभाज्य नहीं हो सकती, चाहे उस खास विद्वत्ता या हुनर की प्रशिक्षा में संयुक्त कुटुम्ब का ही धन लगा हो।

(१३) "द हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" १९३७, जिसका हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट, सन् १९५६ से निरसन हो गया है। संक्षप में, मिताक्षरा के नियम में आमूल परिवर्तन करते हुए इस अधिनियम ने विधवा को पैतृक सम्पत्ति में अपने पति के लग-

भग बराबर हित प्रदान कर दिया था। उसकी शिथिल शब्दावली के कारण हाईकोर्टों ने विभिन्न अर्थ निकाले थे जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

(१४) "द हिन्दू मैरिज विमेन्स राइट टु सेपरेट रेजीडेन्स एण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" १९४६, जिसका निरसन "द हिन्दू एडाप्शन्स एण्ड मेण्टीनेन्स एक्ट १९५७" (संशोधित १९६२) ने कर दिया है। इस अधिनियम ने नारियों की आज्ञाकारिता व पराधीनता वाली पुरातन मान्यताओं में परिवर्तन प्रसारित कर दिया था।

हिन्दू विधि या हिन्दू ला का सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूपभेद १९५५–५६ में हुआ है। सन् १९५५ में "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" पारित हुआ। सन् १९५६ में पारित हुए "हिन्दू सक्सेशन एक्ट", "हिन्दू माइनारिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट", "हिन्दू एडाप्शन्स एण्ड मेण्टीनेन्स एक्ट।" ऊपर हिन्दू शब्द की परिभाषा करने का प्रयास किया गया है। किन्तु इन चारों अधिनियमों के लिए उस परिभाषा की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि इनमें हिन्दू की स्वतंत्र परिभाषा निर्धारित है।

इस तरह इन पराधीनता वाले लगभग दो सौ वर्षों में जो रूपभेद या विकास हिन्दू विधि में हुए वे छिटपुट, अक्रमबद्ध और आपातीय थ। स्वतंत्रता के बाद जो परिवर्तन हुए वे आमूल, दूरगामी और गम्भीर हैं। पराधीनता और स्वाधीनता का प्रभाव विकास के अंग-प्रत्यंग पर पड़ता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष है कि विकास का अवरोध नहीं हुआ। इसका मतलब यह है कि हिन्दू विधि एक विकासशील शास्त्र है। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि जब हम स्मृति युग और सूत्र युग वाले धर्मशास्त्र को स्मृति युग के बाद वाले धर्मशास्त्र के साथ या अधिक प्राचीन स्मृतियों को कम प्राचीन स्मृतियों के साथ तुलना करते हैं तो हमें प्रगति तथा विकास के स्पष्ट और अनेक चिह्न मिलते हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

सूत्रकारों में गौतम, बौधायन, आपस्तंव, हारीत, वसिष्ठ आदि मुख्य हैं, जिनका समय ईसा के पहले ८०० और ३०० वर्ष के बीच में माना गया है। उनके बाद कम से कम अस्सी स्मृतिकार हुए हैं। **मनुस्मृति** सबसे प्राचीन है और उसका समय ईसा से २०० वर्ष पूर्व है और उसका अष्टम अध्याय व्यवहार (मुकदमेबाजी) से सम्बन्धित है। उसके बाद **या वल्क्य स्मृति** है जिसका समय ईसा के १०० वर्ष बाद माना गया है। उसमें अपराधों के लिए विहित दण्ड कम उग्र हैं, नारियों तथा शूद्रों को अधिक अधिकार दिय गये हैं और समाज में उनको कुछ ऊँचा स्थान मिला है; प्रक्रिया तथा साक्ष्य के नियम अधिक विकसित दिखाई देते हैं, राजा के दिव्य अधिकार को स्वीकर करने के बजाय उसके ऊपर प्रजा के पालन व सेवा के कर्त्तव्यों का बोझ डाला गया है।

नारद स्मृति का काल ईसा के २०० वर्ष बाद आता है। इसमें हिन्दू ला को

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तनों के समनुरूप बनाने के लिए पुरातन नियमों को उत्सादित करने का साहस किया गया है, शास्त्र के ऊपर प्रथा की वरीयता स्वीकार कर ली गयी है; सूद लेने के अनेक नियम दिये गये हैं, मुद्दई व मुद्दालेह के अभिकथनों के ऐसे विविध प्रारूप व नियम दिये गये हैं जो अर्वाचीन से प्रतीत होते हैं। नारद पहले स्मृतिकार हैं, जिन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राजपारित विधि धर्मशास्त्र को भी निरस्त कर सकती है—"गरीयो राजशासनम्।"

बृहस्पति स्मृति का समय ईसा के ३०० या ४०० वर्ष बाद है। इसमें साझेदारी व निगम के विवरण मिलते हैं और मौलिक विधि व प्रक्रिया विधि के इतने सूक्ष्म व सविस्तर नियमों का उल्लेख है कि आँखें खुल जायँ। साम्य (औचित्य) का समर्थन करते हुए इसमें कहा गया है—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः ।
युक्तिहीने विचारें तु धर्महानिः प्रजायते ।।

इसमें अपकृत्यों का विभाजन करके **व्यावहारिक** (दीवानी) को **दण्ड्य** (फौजदारी) से पृथक् कर दिया गया है, यथा—

द्विपदो व्यवहारश्च धन-हिंसा समुद्भवः।

नारद स्मृति की तरह इसमें भी गतिशील समाज की आवश्यकताओं के साथ हिन्दू विधि के समनुरूपण कराने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

कात्यायन स्मृति का समय ईसा के ५०० वर्ष बाद है। प्रक्रिया विधि और साक्ष्य के नियमों का अनेक दृष्टिकोणों से इसमें जो विवेचन हुआ है उसकी गहराई और अन्तर्दृष्टि देखकर विस्मय होता है। कात्यायन पहले स्मृतिकार हैं जिन्होंने राजा के आधिपत्य को स्वीकार करने के बावजूद उसको भूमि का स्वामी स्वीकार नहीं किया है। उनके विचार से भूमि का स्वामित्व प्रजा में अवस्थित है, जिससे उपज का छठा अंशमात्र प्राप्त करने का वह भागी होता है। इसमें दिया हुआ स्त्रीधन का निरूपण विख्यात है और वह हिन्दू विधि की प्रत्येक शाखा को मान्य है। अपनी पूर्ववर्ती स्मृतियों के नियमों का कात्यायन ने प्रसारण और स्पष्टीकरण किया है। इन मुख्य स्मृतियों की तुलना से यह बात प्रमाणित होती है कि प्राचीन काल में हिन्दू ला निर्जीव व स्थैतिक नहीं अपितु प्रगतिशील व उन्नतिशील विद्या थी। इस बात का एक और भी उदाहरण है। मनुस्मृति में ब्राह्मण को अदण्ड्य कहा गया है। नारद व याज्ञवल्क्य ने उसके लिए धनदण्ड, देश निकाला, मुण्डन, गर्दभयान की सजाएँ विहित कीं। मिताक्षरा की व्याख्या के अनुसार केवल प्रथम अपराध क्षम्य है। कात्यायन ने चोरी, स्त्री हत्या, भ्रूण/हत्या वाले अप-

राधों के लिए ब्राह्मण को अदण्डनीय नहीं माना। अर्थात् धीरे-धीरे इस सिद्धान्त का विकास हुआ कि कानून के सामने सब लोग समान हैं।

स्मृतियों का युग बीत जाने के बाद विधिविज्ञों ने दो बातें देखीं; एक तो स्मृतियों में मतभेद, दूसरे, स्मृति के पाठ में संदिग्धता। अब उनके ठीक अर्थ मालूम करने की आवश्यकता सामने आयी। इस आवश्यकता ने मीमांसा शास्त्र को जन्म दिया। आरम्भ में मीमांसा के नियमों का प्रयोग धर्मशास्त्र तथा वेद के उन नियमों का निर्वचन करने में होता था जो संस्कारों व कर्मकांड और यज्ञ से सम्बद्ध थे। अब वही नियम व्यवहार-विधि के अर्थ निकालने में प्रयुक्त होने लगे। जैमिनि का मीमांसासूत्र, उसका शाबर भाष्य और कुमारिल भट्ट का तंत्रवार्तिक एवं मण्डन मिश्र का विधिविवेक विख्यात ग्रन्थ हैं। उत्तर स्मृतियुग में उस आलोचनात्मक भावना का संचार हुआ जिसको मीमांसा की शरण लेनी पड़ी और इस युग में प्रधान स्मृतियों के ऊपर बड़ी ही महत्त्व तथा पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गयी और संग्रहों तथा निबन्धों की रचना हुई। यद्यपि इस युग वाले भाष्यकारों तथा निबन्धकारों ने इस बात की बलपूर्वक घोषणा स्पष्ट रूप से की है कि हम ने नवीन नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना कदापि नहीं की है, तथापि उनके ग्रन्थों ने हिन्दू विधि की रचनात्मक वृद्धि अवश्य की। हिन्दू विधि के विकास, उन्नयन और प्रगति का प्रवाह जो स्मृतियुग की समाप्ति पर स्थगित हो गया था इन ग्रन्थों की बदौलत फिर से चलायमान हो उठा। बदली हुई तथा नवीन परिस्थितियों में भिन्न वातावरण की आवश्यकताओं का समनुरूपण करने के लिए और न्याय सम्बन्धी प्रचलित विचारों का अनुकूलन करने के लिए, भाष्यकारों को स्मृति के शब्दों का रूपभेद करना पड़ता था और उनकी अवहेलना भी करनी पड़ती थी। इसके लिए वे विवश थे। इतने पर भी उनकी विद्वत्ता इतनी विशाल और उनका पुनीत जीवन इतना निर्मल तथा निष्कलंक था कि उनके वाक्यों पर जनता का विश्वास सहज भाव से ही अटल हो जाता था। समय के बीतने पर श्रद्धा विश्वास और भी दृढ़ हो गये और भाष्यों व टीकाओं की महिमा इतनी अपार हो गयी कि समस्या को सुलझाने के लिए विद्वज्जन स्मृतियों का नहीं वरन् उनका ही आश्रय लेने लगे।

याज्ञवल्क्य स्मृति की पृष्ठभूमि में हिन्दू कानून की दो धाराएँ प्रचलित हुईं—एक **मिताक्षरा**, दूसरी **दायभाग**। ये दोनों स्वतः हिन्दू ला के विकास की प्रतीक हैं याज्ञवल्क्य स्मृति की प्रमुख व्याख्या मिताक्षरा का समय सन् ११२५ ई० कहा जाता है। याज्ञवल्क्य के ऊपर दूसरी विख्यात टीका सत्रहवीं शताब्दी में मित्र मिश्र ने लिखी। उसका नाम है **वीरमित्रोदय** जिसके व्यवहार वाले भाग के चार खण्ड हैं। प्रथम में न्यायतंत्र और प्रक्रिया विधि की, दूसरे में साक्ष्य की, तीसरे में व्यवहार के विख्यात

१८ शीर्षकों की और चौथे मे दाण्डिक प्रक्रिया की चर्चा है। याज्ञवल्क्य के ऊपर एक तीसरी टीका **अपरार्क** ने तेरहवीं शताब्दी में लिखी थी किन्तु उसका प्रचार अधिकाश मे कश्मीर तक ही सीमित रहा। सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर ने **निर्णयसिन्धु** और **विव दताण्डव** लिखकर प्रकाशित किये जिनमे दायप्राप्ति तथा सम्पत्ति के अवक्रमण सम्बन्धी नियमों की चर्चा है। कमलाकर से प्रायः २०० वर्ष पहले वाचस्पति ने **विवादचिन्तामणि** और **व्यवहारचिन्तामणि** नामक दो ग्रन्थ लिखे थ जो व्याख्या नहीं किन्तु निबन्ध है। उसी प्रकार का निबन्ध **मदनपारिजात** नामक ग्रन्थ है जो १२वीं या १३वीं शताब्दी में रचा गया। इसके प्रणता थे विश्वेश्वर भट्ट जिनकी सुबोधिनी नामक मिताक्षरा की टीका विख्यात है।

जिस समय में वीरमित्रोदय की रचना हुई उसी काल में नीलकंठ भट्ट कृत **भगवन्तभास्कर** नामक बारह खण्डों वाले महान् ग्रन्थ की रचना हुई थी। उसी का एक खण्ड **व्यवहारमयूख** के नाम से विख्यात है जिसने अपना आधिपत्य बम्बई, गुजरात व उत्तरी कोंकण के प्रदेश मे जमा लिया है। इसका मिताक्षरा से संघर्ष नही है; किन्तु उसकी अपेक्षा नारियों के हक व स्त्रीधन तथा दायप्राप्ति के सम्बन्ध मे मयूख के विचार व नियम अधिक उदार हैं। विज्ञानेश्वर के प्रायः सौ वर्ष बाद दक्षिण भारत में महापण्डित देवण्णभट्ट ने **स्मृतिचन्द्रिका** की रचना की, जो ग्रन्थ मिताक्षरा का प्रतिद्वन्द्वी नही अपितु अनुपूरक है, और इसी रूप में वह भारत के दक्षिणी भाग में समादृत होता आया है। स्मृतिचन्द्रिका व्याख्या नही किन्तु निबन्ध है। दक्षिण भारत में प्रचलित हिन्दू ला के ऊपर अन्य टीकाओं तथा भाष्यों के नाम हैं **व्यवहारनिर्णय** और **स्मृतिमुक्ताफल**।

उसी समय के लगभग जब मिताक्षरा की रचना हुई थी, बंगाल में जीमूतवाहन ने **दायभाग** का निर्माण किया, जो हिन्दू ला की महत्त्वपूर्ण शाखा बन गया। संयुक्त कुटुम्ब, बँटवारा और दायप्राप्ति के विषय में इन दोनों शाखाओं में आमूल मतभेद हैं। तर्क और युक्ति का अपूर्व चमत्कार इस महान् ग्रन्थ में खूब देख पड़ता है। कानूनी कल्पनाएं और बारीकियाँ भरी पड़ी हैं। इसके ऊपर जो पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ लिखी गयीं उनमें मुख्य है जगन्नाथ तर्कपंचानन प्रणीत **विवादभंगार्णव**, रघुनन्दन शिरोमणि कृत **दायतत्त्व**, श्रीकृष्ण तर्कालंकार कृत **दायक्रमसंग्रह**।

इन विख्यात रचनाओं के अतिरिक्त **दत्तकमीमांसा** और **दत्तकचन्द्रिका** विशेष उपयोगी ग्रन्थ हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय में हिन्दू विधि के विभिन्न विभागों के विशषज्ञ भी पैदा हो गये थे। बहुत से ग्रन्थ लुप्त भी हो गये हैं। कुछ का अन्वेषण हो रहा है, कुछ मिलते जा रहे हैं। इस प्रचुर भण्डार से हम उस सीमा

का अनुमान कर सकते हैं जहाँ तक हिन्दू विधि का विकास तथा उन्नयन १७वीं शताब्दी तक पहुँच चुका था। याद रहे कि उस जमाने में कानून की रचना न तो विधान मण्डल वाले यंत्र से होती थी और न नजीरों के द्वारा। अतः हिन्दू विधि को सजीव बनाये रखने का, अर्थात् परिवर्तनशील समय की जरूरतों व उन्नतिशील समाज की माँगों का निरन्तर समनुरूपण करने का श्रेय मात्र इन व्याख्याकारों और निबन्धकारों को ही है। यद्यपि ये अद्वितीय विद्वज्जन प्रकट में अपनी विशाल बुद्धि को पुरातन सूत्रों, गाथाओं और स्मृतियों से अवरुद्ध मानते थे, तथापि वास्तव में अनेक युक्तियों और उपायों यथा, कल्पनाओं, बारीकियों और सादृश्य या अतिदेश) का आधार लेकर वे अप्रयोज्य पुरातन नियमों का परित्याग करने में और नूतन प्रस्थापित प्रथाओं को कानून के भीतर समाविष्ट कर लेने में नहीं सकुचाते थे। अतः वास्तव में यही लोग हिन्दू विधि के स्रष्टा, सुधारक तथा नवप्रवर्तक थे। उपरोक्त उपायों का प्रयोग करने के अतिरिक्त, इन लोगों ने स्मृतिवाक्यों को प्रथा अर्थात् आचार, सदाचार या शिष्टाचार के अधीनस्थ रखने का साहस किया है। इसीलिए "द कलेक्टर आफ मदुरा बनाम मुट्टू रामलिंग" (१८६२–१२ मू० इ० अ० ३९७) वाले मुकदमे में प्रिवी कौंसिल ने यह विहित कर दिया कि व्याख्याओं व टीकाओं में प्रतिपादित नियमों का अनुसरण करना अदालतों का कर्त्तव्य है, भले ही उनको वे स्मृतिवाक्य के प्रतिकूल मालूम पड़ते हों, क्योंकि मनु आदि के अनेक आदेशों का नवीन कानून तथा प्रथा ने रूपभेद और परिवर्तन कर दिया है। अभी हाल में भारत के सुप्रीम कोर्ट ने यह घोषित कर दिया है कि शास्त्रीय मूलपाठ के अभाव में अदालत को औचित्य, न्याय और शुद्ध अन्तःकरण वाले सिद्धान्तों के अनुसार विवादों का निर्णय करने की छूट होती है, यदि ऐसा निर्णय हिन्दू विधि के किसी मत अथवा मान्यता के प्रतिकूल न जान पड़े। देखिए "गुरुनाथ बनाम कमलाबाई" नामक मुकदमा जो (१९५५) १ ऐस० सी० आर० ११३५ में छपा है।

मिश्रण और विकास

औचित्य, न्याय और शुद्ध अन्तःकरण वाले विख्यात सिद्धान्त की प्रेरणा से शास्त्रीय हिन्दू विधि रूपी देशी गुलाब में अंग्रेजी वैधिक विचार शैली रूपी विलायती गुलाब की कलम बंध गयी है। उससे नजीरों रूपी रंग-बिरंगे मनोहर फूल तो खिले किन्तु नैसर्गिकता और स्वाभाविक सुगन्धि का ह्रास हो गया, अर्थात् सहज स्फुटित प्राकृतिक विकास का पहिया १८वीं शताब्दी के बाद रुक गया, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। विदेशी विचारधारा के लैटिन सूत्रों में से मुख्य ये हैं जिनका रोपण शास्त्रीय विधि पर किया गया है या जिनका प्रयोग भारत के विदेशी जजों ने किया है—

(१) "कम्यूनिस एरर फैसिट जूस", अर्थात् कानून की सामान्य भूल एक कानूनी नियम की नींव डाल सकती है। शास्त्र की अनभिज्ञता ने तथा उसके पाठ के आशय के मिथ्या निरूपण ने एसी घोर चूकों का सर्जन कर दिया जो स्थायी बन गयी हैं। उनको मिटाना अब इसलिए असम्भव है कि इतने लम्बे समय में उनको सही कानून मानकर जनता ने असंख्य व्यवहार कर डाले होंगे (२) "फैक्टम बैलेट" अर्थात् जब कोई अकरणीय कृति सम्पादित हो चुकी, तो वह वैधिक रूप से बन्धनकारी बन जाती है। इसका प्रयोग शास्त्रीय कानून के सम्बन्ध में भी किया जाता है और रूढिप्राप्त कानून के भी विषय में।[1] जीमूतवाहन कृत दायभाग में इस सूत्र का संस्कृत प्रतिरूप यह उल्लिखित है—**"वचनशतेनापि वस्तुनोऽन्यथाकरणाशक्तेः।"** इस वाक्य में 'वस्तु' शब्द के अर्थ पर मतभेद है। एक मत के अनुसार उसका अर्थ है घटना या तथ्य। दूसरा मत यह है कि वस्तु का अर्थ है चीज या पदार्थ। देखिए डा० यू० सी० सरकार कृत "हिन्दू लीगल हिस्ट्री", पृष्ठ ३८०-८१ ।(३) "स्टारे डिसैसिस" अर्थात् पहले से निर्णीत प्रश्न का तात्पर्य यह है कि नजीर का अनुसरण होना चाहिए और यदि उसको ५०—६० वर्ष तक प्रत्यादिष्ट (अमान्य, ओवर रूल) नही किया गया है तो उसको कानून के बराबर मान्यता मिल जानी चाहिए, चाहे वह गलत ही हो। इसलिए वांछनीय यह है कि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के ऊपर फुल बेन्च की नजीरें बनायी जायँ।

ऊपर जो कहा गया है कि १८वी शताब्दी के बाद प्राकृतिक विकास का पहिया रुक गया था, तो इसका मतलब है कि धर्मशास्त्र का, न कि हिन्दू विधि का। धर्मशास्त्र का विकास सहज रूप से तब जारी रह सकता था जब नये-नये मसलों या समस्याओं को सुलझाने का पूरा भार उसी के सिर पर बना रहता। समाधानों में यदि गलतियाँ होतीं, त्रुटियाँ निकलतीं तो वे सुधारी जातीं, त्रुटियाँ पूरी की जातीं, यदि समाधान शुद्ध और निर्दोष प्रतीत होते, तो वे पथ प्रदर्शक बन जाते। दोनों दशाओं में धर्मशास्त्र की वृद्धि और उन्नति होती, प्रगति और विकास हिन्दू विधि का नहीं अपितु धर्मशास्त्र का होता। उत्तरवादिता से बुद्धि प्रखर होती है, विचारशीलता आती है, साहस बढ़ता

१. देखिए "बलूसू ब० बलूसू" (१८९९) २६, इ० ए० ११३ और राव बलवन्त ब० रानी किशोरी (१८९८) २५, इ० ए० ५४ और बृन्दाबन ब० चन्द्रा (१८८६) १२, कल० १४० और देइवनाइ ब० चिदम्बरम (१९५५) १, मद्रास ला० ज० १२० और वृमादेवी ब० गोकुलानन्द ५, इ० ए० ४० और खेमजी ब० नरसी (१९१५) ३९, ब्राम्बे ६८२ और गनेश प्र० ब० दमयन्ती (१९४६) नागपुर १।

है। देशी धर्मशास्त्रियों की अवहेलना करके विदेशी धर्मशास्त्रियों को धर्मासन पर आसीन करते हुए अंग्रज प्रशासकों ने धर्मशास्त्र के प्राकृतिक उत्थान को उसी प्रकार से स्थगित कर दिया जैसे मैन्चेस्टर की मलमल का आयात करके ढाका व नदिया के मसलिन का। जिस न्यायतंत्री प्रशासन को गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ ई० में स्थापित किया था और जो आज तक भारत में प्रचलित है उसमें इतने गुण भरे हैं कि प्रशासन के ऊपर जो जनता का विश्वास व श्रद्धा है उसका आधार न्यायतंत्र की प्रवीणता व निष्पक्षता ही है। हिन्दू विधि का जो कुछ सीधा या उलटा विकास हुआ है उसका श्रय उसी न्यायतंत्री प्रणाली को है। क्या उसी प्रणाली के माध्यम से हिन्दू धर्मशास्त्र का भी विकास न हुआ होता ? उल्लिखित न्यायतंत्र के निम्नोच्च क्रम (निचली अदालत से उच्च न्यायालय तक जाना) से पाठक अवश्य परिचित होंगे। अतः उसकी चर्चा न करके अब मुस्लिम काल के न्याय प्रशासन का सिंहावलोकन कराया जायगा।

मुस्लिम काल लगभग सन् ९०० ई० से सन् १७५० ई० तक माना जाता है, क्योंकि प्रायः सन् १७५० ई० में अंग्रेजों अर्थात् ई० इं० कम्पनी ने न्याय प्रशासन का कार्य सँभाला था। प्रायः इसी ८०० वर्ष की कालावधि में प्रसिद्ध व्याख्याओं व निबन्धों की रचना हुई थी। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि अन्य धर्मावलम्बियों के राज्य-काल में धर्मशास्त्रीय कानून का विकास कैसे हो सका। इसका उत्तर जानने के लिए यह मालूम होना चाहिए कि उस काल में न्याय प्रशासन की प्रणाली क्या थी ? उसका वर्णन संक्षप में यह है—

मुस्लिम सम्राटों ने जब भारत में अपना आधिपत्य स्थापित किया तब उनको पहले अपने राज्य की नीव दृढतापूर्वक जमा लेने की चिन्ता हुई। दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता ने उनको यह सुझाया कि विजित जाति को वशीभूत करने के उपायों में से एक यह है कि विजता उनके धर्म, धार्मिक विश्वासों, धार्मिक संस्थाओं और प्रथाओं में हस्तक्षप न करें। इसलिए हिन्दुओं के दोवानी वाले विवाद विजेता शासकों द्वारा उनकी पंचायतों और धर्मशास्त्रियों के माध्यम से निर्णीत होने दिये जाते थे। मुसलमानों के दीवानी वाले झगड़ शरियत के अनुसार काजी और मुफ्तियों के द्वारा निर्णीत होते थे। फौजदारी वाले वादों के विषय में शरियत और धर्मशास्त्र में कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं था। जिस कर्म को एक धर्म पाप या जुर्म समझता, दूसरा भी उसे वही मानता था। फौजदारी की प्रक्रिया न इस धर्म में जटिल थी न उसमें। निष्पक्षता पूर्वक न्याय का संचालन करना मुख्य राजकीय कर्त्तव्य दोनों धर्मों में समझा जाता था। इसलिए यद्यपि फौजदारी वाले मामले मुस्लिम कर्मचारियों के द्वारा शरियत के अनुसार निर्णीत

होते रहे, तथापि इस प्रणाली का कोई अहितकर प्रभाव हिन्दू धर्मशास्त्र के ऊपर नहीं पड़ा। धर्मशास्त्र में हस्तक्षेप करने के लिए मुस्लिम सम्राटों के पास अवकाश भी नहीं था। अतः मुस्लिम राज्य की अवधि दीर्घ कालीन होने के बावजूद, हिन्दू धर्मशास्त्र के उन्नयन और विकास में कोई रुकावट नही आयी।

मुगल बादशाहों के समय मे और इसके पहले भी सम्राट् ही अपील का सर्वोच्च न्यायाधीश गिना जाता था। किन्तु सम्राट् के अतिरिक्त मुख्य काजी और दीवाने आला, दरोगाय आला, सदर आला संज्ञक प्रधान न्यायप्रशासक राजधानी में रहते थे। राजधानी के न्याय प्रशासकीय आदर्श की पुनरावृत्ति राज्य के प्रान्तों में भी दिखाई पड़ती थी। प्रान्तीय नगरों में काजी, मुहतेसीब, सद्र, कोतवाल, बख्शी होते थ, जिनको विभिन्न राजकीय कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व सौपे जाते थ। देखिए डा० यू० सी० सरकार रचित "हिन्दू लीगल हिस्ट्री", पृष्ठ २००–२३८। न्याय प्रशासन की इस परिपाटी के गुण-दोष जानने की इस प्रसंग में कोई आवश्यकता नहीं। दोषमय तो वह थी ही। अंग्रेजी प्रणाली उससे हजार गुनी श्रेष्ठ है। चिन्तनीय प्रश्न तो यह है कि अंग्रेजी काल में धर्मशास्त्र का विकास उसकी श्रेष्ठता के बावजूद रुक क्यों गया ? इसी का उत्तर देने का ऊपर प्रयास किया गया है।

यही पर हिन्दू कालावधि वाले न्याय प्रशासन की संक्षिप्त चर्चा कर देना असंगत न होगा। विवरण के लिए देखिए जायसवाल कृत "हिन्दू पालिटी" तथा भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० काण प्रणीत "धर्मशास्त्र का इतिहास" (अनुवाद)। प्राचीन काल में सभा और समिति कहलाने वाले जनता के अग्रणी या पंचों द्वारा न्याय प्रशासन चलता था। राजा लोग उसमें हस्तक्षेप नहीं करते थ। कौटिल्य के समय में अर्थात् ईसा से तीन चार सौ वर्ष पहले राजकीय अदालतें कायम हो गयी थीं—"संग्रह" अर्थात् दस ग्रामों के समूह के लिए एक अदालत, "द्रोणमुख" अर्थात् चार सौ ग्रामों के लिए एक अदालत, "स्थानीय" अर्थात् आठ सौ ग्रामों के लिए एक अदालत और उन सब से ऊँची वह अदालत जिसकी अध्यक्षता राजा द्वारा नियुक्त किये गये जज करते थे। इनके अतिरिक्त लोक पंचायतें भी क्रियाशील थीं। इसके पश्चात् अर्थात् स्मृतियों के काल में कुल, श्रेणी, पूग नामक अदालतें क्रियाशील होने लगीं जो निजी पंचायतों से भिन्न थीं और जिनको राजा तथा प्रजा दोनों की मान्यता प्राप्त थी। कुल नामक अदालत एक ही प्रकार के व्यापारियों या शिल्पियों के विवादों का निर्णय करती थी। पूग या गण उस अदालत का नाम था जो किसी निर्धारित क्षेत्र या वर्ग के मुकदमों का फैसला करती थी। कुल की अपेक्षा श्रेणी का, श्रेणी की अपेक्षा पूग या गण का, गण की अपेक्षा राजा के द्वारा नियुक्त जजों वाली अदालत का पद उत्कृष्ट होता था। इस अन्तिम

अदालत की संज्ञा "मुद्रिता" थी। एक अदालत के निर्णय की अपील उच्चतर अदालत में हो सकती थी। आखिरी अपील स्वतः सम्राट् सुनता था। मुख्य जज का नाम था प्राड्विवाक या धर्माध्यक्ष। देखिए याज्ञवल्क्य स्मृति—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहार विधौ नृणाम् ॥ (२-३०)

और नारद, बृहस्पति तथा पितामह भी। निम्नोच्च क्रम (अपील) के ऊपर पितामह का वचन यह है—

ग्रामे दृष्टः पुरे यायात् पुरे दृष्टस्तु राजनि।
राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥

कुछ विचारकों का कहना है कि उपरोक्त श्लोकों में वास्तविकता का नहीं किन्तु एक वांछनीय आदर्श का चित्रण किया गया है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्लोकों की भाषा इसके विपरीत है। फिर देश में इतनी आर्थिक व सामाजिक प्रगति हो चुकी थी कि नाना प्रकार के विवादों को शान्तिपूर्वक निपटाने के लिए किसी न्यायतंत्री प्रबन्ध का होना एक अनिवार्य बात प्रतीत होती है। अन्यथा कात्यायनस्मृति में कार्य-चिन्तकों के लिए ये अर्हताएँ निर्दिष्ट न हुई होतीं—

शुचयो वेदधर्मज्ञा दक्षा दान्ताः कुलोद्भवाः।
सर्वकार्यं प्रवीणाश्चालुब्धा वृद्धा महत्तराः ॥

यदि उपरोक्त अदालतें राजमान्यता-प्राप्त न होकर मात्र निजी पंचायतें होतीं तो ऐसा विधान भी न मिलता—

अनिर्दिष्टास्तु ये कुर्युः व्यवहार-विनिश्चयम्।
राजवृत्ति प्रवृत्तास्ते तेषां दण्डं प्रकल्पयेत् ॥

देखिए महामहोपाध्याय डा० काणे प्रणीत "धर्मशास्त्र का इतिहास", खण्ड २, जिसमें अपार विवरण समेत यह विषय उल्लिखित है। इस पुस्तक के क्षेत्र के भीतर न्याय-तंत्र का पूरा और सुनिश्चित चित्रण करना न तो सम्भव है न आवश्यक, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू कालावधि, यानी ईसा के पूर्व १००० से लेकर ईसा के पश्चात् ११०० वर्षों में धर्मशास्त्र के उन्नयन और विकास का क्रम निरन्तर चलता रहा था। यानी यह मानना पड़ेगा कि "हिन्दू विधि" अपने प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों रूपों में सदैव एक विकासशील शास्त्र रहा है। वह स्थैतिक कभी नहीं था। स्थैतिक चीज निर्जीव हो जाती है। "हिन्दू विधि" सजीव विद्या है।

हम देख] चुके हैं कि विधि या "ला" एवं नीति और निश्चयात्मक सदाचार में समानता होने पर भी भेद होता है। यह भी कि न्याय का व्यवहार या कानून (ला) से एक अभेद्य नाता रहते हुए भी दोनों वही चीज नहीं हैं। इनमें पहला सदैव दूसरे का उद्देश्य रहता है और अदालतें कानून के अनुसार हो न्याय वितरण का प्रयास करती रहती हैं, और विधान सभाएं कानून का न्याय के साथ समीकरण कर डालने की ताक में रहती हैं। यदि व्यवहार एक स्वतंत्र वस्तु है तो प्रश्न यह उठता है कि धर्मशास्त्रों में उसका उल्लेख किया ही क्यों गया ?

धर्म की परिभाषा है 'धारयतीति धर्मः', अर्थात् वह पदार्थ या तत्त्व जो सृष्टि को कायम रखता है। मानवीय सृष्टि को कायम रखने का उपाय है उसको दैहिक, भौतिक, दैविक तीनों तापों से बचाय रखना, अर्थात् उसके जीवन को लौकिक, वैज्ञानिक तथा पारलौकिक नियमों के द्वारा नियंत्रित, नियमित और निर्देशित करना। लौकिक नियमों के अन्तर्गत आते है नैतिक, वैधिक तथा सामाजिक नियम। पारलौकिक के अन्तर्गत है संस्कार, यज्ञ, उपासना, ज्ञान इत्यादि। वैज्ञानिक नियमों में स्वच्छता और स्वास्-य इत्यादि के नियमों का समावेश है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ कहा गया है, जिसके बिना वह सर्वांगपूर्ण सुख अलभ्य है जिसको जीवन का लक्ष्य कहते है। इन चारों पदार्थो को प्राप्त करने को ओर ले जाने या हाँकने वाले नियमों का समूह ह। 'धर्म' की संज्ञा धारण करता है--"चोदनालक्षणः अर्थः धर्म्मः।" धर्म-सूत्रों और स्मृतियों के प्रणता महान् ऋषिगण थे, जिनका सारा जीवन "सर्वभूत हिते रताः" वाले सिद्धान्त से विनियमित और प्रतिमानित रहता था। उन्होंने महान् ग्रन्थों की रचना सर्व हिताय, सर्वसुखाय की थी, न कि उनको "वेस्ट सेलर" (लाभप्रद विक्रता) बनाने के अभिप्राय से। वे धर्म को विभाजित करके मात्र व्यवहार (कानून) का प्रतिपादन कैसे कर सकते थ। क्या यही कारण है कि धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में विभिन्न विषयों का सम्मिलन, सम्मिश्रण या संगम पाया जाता है।

हिन्दू विधि क सार

यह उन्नतिशील, विकासशोल, वैयक्तिक कानून प्रत्येक हिन्दू का सहगामी है। जहाँ वह जायगा या बसेगा उसका "ला" वहीं उसके साथ रहेगा। सारे बरमा देश के और सारे पाकिस्तान के हिन्दू नागरिकों पर "हिन्दू विधि" लागू है। पाण्डिचेरी व माही जो पहले फ्रान्सीसी उपनिवेश थ उनमें "हिन्दू विधि" हिन्दू नागरिकों पर लागू थी और है। हाँ, उनको यह घोषित करने का विकल्प उपलब्ध था कि वे फ्रान्सीसी कोड (फ्रान्स के सार्वजनिक कानून) द्वारा विनियमित हुआ करेंगे। पुर्तगाल के उपनिवेश (गोआ, डामन-ड्यू) मे, जो अब भारत का अंग है, "हिन्दू विधि" का प्रयोग हिन्दुओं

के ऊपर नाममात्र ही होता था, क्योंकि वास्तव में पुर्तगाल का ही कानून सब नागरिकों को विनियमित करता था। मलय देश में "हिन्दू विधि" हिन्दू निवासियों के ऊपर रीतिरिवाज के आधार पर अब भी लागू की जाती है। हाँगकाँग में इंग्लैण्ड के कानून अभिभावी है। किन्तु शायद वहाँ के अध्यादेश ने हिन्दू निवासियों को "हिन्दू विधि" से विनियमित होने की गुंजाइश छोड़ रखी है। पूर्वी अफ्रीका—केनिया, उगाण्डा, टँगानिका, जंजीबार में हिन्दू निवासियों के ऊपर "हिन्दू विधि" का प्रयोग अवश्य किया जाता है, किन्तु शर्तों के साथ। अपरंच "हिन्दू विधि" का वहाँ परिनियमों के द्वारा रूपान्तर भी कर दिया गया है। सिंगापुर के "चार्टर" में यह उपबन्ध लिखा है कि विवाह, उत्तराधिकार और दत्तकग्रहण के मामले निवासियों के रीति-रिवाजों द्वारा विनियमित होंगे, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आंशिक रूप में "हिन्दू विधि" वहाँ के हिन्दू नागरिकों पर लागू है।

प्रकरण २

हिन्दू विधि के स्रोत या धर्ममूल

कानून के स्रोत स्थूल रूप से दो प्रकार के होते हैं—ज्ञापक या पार्थिव तथा औपचारिक। अर्थात् स्रोत की जिज्ञासा दो प्रश्न उठाती है—एक यह कि कानून की अन्तर्वस्तु या ठोस सामग्री कहाँ से आयी ? दूसरे यह कि उस ठोस निर्जीव पदार्थ को अनुप्राणित किसने किया ? सम्बन्धनकारी शक्ति किसने प्रदान की ? पार्थिव स्रोत के दो भेद हैं; वैधिक व ऐतिहासिक। उदाहरण से यह भेद स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि आज के किसी अदालती निर्णय से एक नियम पैदा हुआ। उस निर्णय को उस नियम का वैधिक स्रोत कहेंगे। सम्भव है कि जिन सामाजिक व आर्थिक शक्तियों ने उस निर्णय को आज केन्द्रित होकर प्रेरित किया है वे सैकड़ों वर्ष प्राचीन हों। वे शक्तियाँ उस नियम की व्यवहित या ऐतिहासिक स्रोत हैं। फिर मान लीजिए कि अदालत के सामने एक प्रश्न पर दो नजीरें पेश हैं। एक उसी प्रान्त के हाईकोर्ट की है जो बाध्यकारी होने से अदालती निर्णय का वैधिक स्रोत कहलायेगी। दूसरी नजीर यदि अमेरिका की है तो वह मात्र परामर्शक होने से ऐतिहासिक स्रोत कहलायेगी। नया सिद्धान्त कानून के भीतर वैधिक स्रोत के माध्यम से भी प्रवेश करता है और ऐतिहासिक स्रोत के माध्यम से भी। इनमें प्रथम सीधा और अव्यवहित मार्ग है, और द्वितीय घुमावदार और मध्यवर्ती मार्ग है।

कानून का और पार्थिव स्रोत के वैधिक अंग का विभाजन इस प्रकार से समझा जा सकता है—

(१) अधिनियमित कानून का वैधिक स्रोत—विधान
(२) नजीर द्वारा निर्मित कानून ,, ,, ,, —नजीरें
(३) रिवाजी कानून ,, ,, ,, —रिवाजें
(४) निरूढ कानून ,, ,, ,, —निरूढियाँ

"हिन्दू विधि" समाहित करती है—

(१) धर्मशास्त्रीय कानून—वैधिक स्रोत=धर्मशास्त्र
(२) अधिनियमित कानून— ,, ,, =विधान
(३) रिवाजी कानून— ,, ,, =रिवाजें
(४) नजीरी कानून— ,, ,, =नजीरें

इन वैधिक स्रोतों की ही संज्ञा है ज्ञापक और पार्थिव। आजकल साहित्यिक स्रोत की भी गणना स्रोतों के प्रकारों में होने लगी है। अतः कानूनी वाङ्मय को कानून का साहित्यिक स्रोत कहते हैं। हिन्दू ला के पार्थिव और औपचारिक स्रोतों का वर्णन करने के पहले कुछ व्यापक रूप से औपचारिक स्रोत के ऊपर विचार कर लिया जाय।

मान लीजिए कि नगरपालिका ने नियम बनाया कि बिना रोशनी के कोई वाहन सड़क पर न चले। इसमें बाध्यकारी शक्ति कहाँ से आयी ? नगरपालिका अधिनियम से। उस अधिनियम में कहाँ से शक्ति आयी ?संसद से। संसद में शक्ति कहाँ से आयी ? संविधान से। संविधान को यदि हम "अन्तिम कानूनी सिद्धान्त" नहीं मान लेते, आदि कारण नहीं गिनते, तो नियमों की क्रमानुगत परम्परा की खोज करते-करते हमें नाकों दम (अनवस्था दोष) हो जायगा। कानूनी नियम के आदि कारण या अन्तिम वैधिक सिद्धान्त से ही उसकी शक्ति उपजती है, अर्थात् वही है नियम का औपचरिक स्रोत। इस व्यापक मान्यता के अतिरिक्त राष्ट्रीय विधि के औपचारिक स्रोत की अन्य मान्यताएँ संक्षेप में य हैं—

(१) यदि कानून राष्ट्र की देन है तो राष्ट्र उसका औपचारिक स्रोत है। यदि सार्वभौम सत्ता या लोक मानस या प्रथा से कानून का सर्जन माना जाय तो यही क्रमशः उसके औपचारिक स्रोत माने जायेंग।

(२) नैसर्गिक विधि या कुदरती कानून मानवीय कानून का औपचारिक स्रोत है।
(३) न्याय या युक्ति ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(४) ईसाई धर्म, ईश्वरीय इच्छा, नैसर्गिक युक्ति ,, ,, ,, ,, ,,
(५) मानवीय अन्तःकरण यानी समाजप्रियता
व युक्तिप्रियता ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(६) प्राकृतिक हक ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(७) परिवर्तनशील अन्तर्वस्तु युक्त नैसर्गिक विधि
(नेचुरल ला विद ए वैरिएबिल कोण्टेण्ट) - ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(८) सभ्यता (तर्क का आद्यन्त साम्राज्य) ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(९) आदर्श समाज की रचना (अर्थात् विधि का लक्ष्य),, ,, ,, ,,
(१०) मानव मानसस्थित दिव्य वाणी ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(११) राष्ट्र व राष्ट्रकल्याण अपवर्जी रूप से (फैसिज्म) ,, ,, ,, ,,

यद्यपि ऐसा कहना पुनरावर्तन है, तथापि आरम्भ में ही यह जान लेना जरूरी है कि धर्म और व्यवहार दो पृथक् पदार्थ हैं। कानून धर्म का एक गौण अंग मात्र है।

धर्मशास्त्र धर्म का पार्थिव स्रोत है और वेद उसका औपचारिक स्रोत है। उसी तरह धर्मशास्त्र का एक अंश व्यवहार का पार्थिव स्रोत है और वेद (जो धर्मशास्त्र का मूल व आदि कारण है) उसका औपचारिक स्रोत है। इस औपचारिक स्रोत (वेद) की अपार महिमा के विषय में मनु ने कहा है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्यत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

और यह विहित किया है कि उनको आँख मींचकर प्रमाण मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रुति की दिव्यता व अनादिता तथा स्मृतिकारों को तपोमय पावनता एक ही स्रोत से निकली हुई धार्मिक, नैतिक, वैधिक आदि सब विचारधाराओं को समान रूप से परिष्कृत करती हैं और उनको आदरणीय तथा परिवर्तनोय बनातो हैं। फिर जैसा कि कहा जा चुका है, श्रुतियों व स्मृतियों का लक्ष्य है एक सर्वगुण सम्पन्न मनुज का उद्विकास करना, जिसमें कि एक तर्कमय सभ्यता युक्त आदर्श समाज का सर्जन हो। अतः उपरोक्त ८वीं और ९वीं मान्यताओं के अनुसार श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ स्वतः अपने गर्भ में उस व्यवहार विधि के औपचारिक स्रोत को धारण किय हुए हैं जो उनके ऊपर आधारित है। वही लक्ष्य और उद्देश्य उस विधि का दण्ड या अनुशास्ति (सैन्कशन) भी है। औपचारिक स्रोत होने के अतिरिक्त श्रुति और स्मृतियाँ "हिन्दू विधि" को ऐतिहासिक तथा साहित्यिक स्रोत भी है।

प्रकरण (१) में उन परिनियमों का उल्लेख है जिन्होंने ब्रिटिश शासन काल में भारतीय अदालतों को "हिन्दू विधि" का कुछ निर्दिष्ट मामलों में प्रयोग करने का अधिकार दिया था। वही परिनियम "हिन्दू विधि" के औपचारिक स्रोत कहे जायँगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में भी "रेगुलेशन" कहलाने वाले ऐसे हो नियम प्रख्यापित हुए थे। वारेन हेस्टिंग्स ने सन् १७७२ ई० में "जुडीशल रेगुलेशन" प्रख्यापित करके आदेश दिया कि विवाह, जाति, उत्तराधिकार, धार्मिक संस्थाओं तथा रीतियों से सम्बन्धित मामलों में हिन्दुओं के विषय में "हिन्दू ला" का और मुसलमानों के विषय में "मोहम्डेन ला" का प्रयोग होगा। ११ अप्रैल सन् १७८० वाले "रेगुलेशन" में विवेक और विचार का प्रयोग करने की आज्ञा है। ५ जुलाई, सन् १७८१ वाले "रेगुलेशन" में "हिन्दू ला" के तथा औचित्य, न्याय और शुद्ध अन्तःकरण के प्रयोग का निर्देश है। सन् १७९३ ई० के "रेगुलेशन्स" ५ व ६ में और सन् १७९५ ई० के "रेगुलेशन"

८ में भी वही आदेश प्रसारित हुआ। सन् १८३१ के "रेगुलेशन" नं० ५ में उसी निदेश का पुनःकथन किया गया। य सारे "रेगुलेशन" भी "हिन्दू विधि" के औपचारिक स्रोत समझे जायेंगे। अब उसके प थिंव स्रोतों का अध्ययन किया जाय।

उस व्यापक धर्म के, जिसका व्यवहार (कानून) एक न्यून अंग है, चार मूल हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु २–१२)
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलम् इदं स्मृतम्॥ (याज्ञव० १–७)

पहले श्लोक में मनु ने चार स्रोत बताये हैं, और दूसरे में याज्ञवल्क्य ने पाँच स्रोत गिनाये हैं। किन्तु—

पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

में याज्ञवल्क्य ने धर्म के चौदह स्रोतों का उल्लेख किया है। धर्म के उस न्यून अंग के, जिसका विवाद या व्यवहार नाम है, चार पहलू या पाद कहे गये हैं, यथा—

धर्मस्य व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थं चतुष्पादाः पश्चिमः पूर्व बाधकः॥
तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥ (कौटिल्य)

नारद स्मृति तथा हारीत धर्मसूत्र में भी थोड़े से पाठभद के साथ ये श्लोक उल्लिखित हैं। पाठभद केवल यह है कि उनमें पहले श्लोक की दूसरी पंक्ति यह है—"चतुष्पाद् व्यवहारोयमुत्तरः पूर्वबाधकः"। कहीं-कहीं दूसरे श्लोक की दूसरी पंक्ति में "चरित्रं संग्रहे पुंमाम्" को जगह "चरित्रं पुंस करणे" या "चरित्रं तु स्वीकरणे" मिलता है। कुछ चिन्तकों के मत में पहला श्लोक "व्यवहार" यानी मुकदमा या दावा के चार चरणों को सूचित करता है, यथा अर्जी दावा, जवाब दावा, साक्ष्य, निर्णय। "विवाद" का अर्थ कानून नहीं दावा लगाया जाता है। कुछ चिन्तक विवाद को कानून संज्ञक मानकर "धर्म" को सत्य या धर्मशास्त्र का

१. देखिए, डा० यू० सी० सरकार प्रणीत 'हिन्दू लीगल हिस्ट्री'।

द्योतक, "व्यवहार" को निर्णयों यानी नजीरों का, "चरित्र" को रीति-रिवाज का, "राजशासन" को विधान का द्योतक मानते हैं। उसी तरह से "राजशासनम्" के विषय में भी मतान्तर हैं। हिन्दू विधिविज्ञान में राजा को कानून के अधीन माना गया है। अतः उसको कानून के निर्माण का नहीं केवल प्रशासन का अधिकार प्राप्त है। राजा और कानून दोनों की ही सृष्टि प्रजा करती है। इसलिए "राजशासन" का अर्थ राजाज्ञा या फरमान नहीं राजनिर्णय है, अर्थात् सर्वोच्च अदालत की हैसियत से दिया हुआ फैसला।

धर्मशास्त्रीय इतिहास में कौटिल्य ने ही पहले-पहल स्वीकार किया था कि राजाज्ञा या फरमान निकाल कर उनसे प्रजा को आबद्ध करने की सामर्थ्य राजा को होती है। उसके प्रायः ४०० वर्षों के बाद याज्ञवल्क्य ने यह वाक्य लिखा—"धर्मो राजकृतश्च यः"। फिर प्रायः १०० वर्ष के बाद नारद ने यही तथ्य स्वीकार किया। आज तो चूँकि प्रजातंत्र शासन में प्रजा ही राजा है इसलिए राष्ट्र द्वारा विधि निर्माण की वैधता स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थ है। उसमें सामाजिक विज्ञानों को, अर्थशास्त्र, राजनय, व्यवहार विधि इत्यादि विषयों को धर्म से पृथक् रखा गया है और किसी विद्या के लिए दैवी उद्‌भव का दावा नहीं किया गया है। अब मनु और याज्ञवल्क्य के बताये हुए स्रोतों पर विचार करेंगे। पहले चार की चौदह के साथ तुलना की जाय।

चार स्रोत	चौदह स्रोत
१. वेद	१—४. चारों वेद=१. ऋग्वेद, २. सामवेद, ३. यजुर्वेद =४. अथर्ववेद।
२. स्मृति ३. सदाचार	५—१० छः वेदांग=(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) छन्द, (५) ज्योतिष, (६) निरुक्त।
४. शुद्ध अन्तःकरण द्वारा पर्याप्त पर्यालोचन के बाद जो वस्तु ग्राह्य हो।	११. धर्मशास्त्र अर्थात् धर्मसूत्र व स्मृतियाँ। १२. मीमांसा अर्थात् निर्वचन के नियम। १३. न्याय अर्थात् तर्क के नियम। १४. पुराण यानी प्राचीन अभिलेख।

विचारपूर्वक तुलना करने से मालूम होगा कि चौदह में से नम्बर १ से

१० चार वाले के नं० एक के बराबर हैं; नं० ११ व नं० १२ चार वाले के नं० नं० दो के समान हैं; नं० १४ चार वाले के नं० तीन के बराबर है; और नं० १३ चार वाले के नं० चार के सदृश है। यदि हम याद रखें कि य सब स्रोत धर्म के हैं, जिसका कि व्यवहार एक न्यून अंग है, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि धर्मशास्त्र और सदाचार ही ऐसे स्रोत हैं जिन पर ध्यान केन्द्रित करना "हिन्दू विधि" के अध्ययन में लाभप्रद हो सकता है। कारण यह है कि वेद तथा वेदांग में व्यवहार विषयक सामग्री नगण्य के बराबर है। सदाचार को विनिश्चित करने में पुराण, स्मृतियों के निर्वचन में मीमांसा और अन्तःकरण के पर्याप्त पर्यालोचन करने में न्याय सहायक होता है। यह बात इससे प्रकट हो जाती है कि जहाँ पर चार स्रोत बताय गय हैं वहाँ पर "धर्ममूल" एवं "धर्मलक्षण" शब्दों का प्रयोग हुआ है और जहाँ चौदह बताये गय हैं वहाँ पर "धर्मस्थान" का प्रयोग किया गया है। धर्मस्थान वाली अधिकांश विद्याएँ मूल या प्रमाण अर्थात् ज्ञापक हेतु नहीं; केवल सहायक या व्यवहित स्रोत हैं। 'मिताक्षरा' में और 'वीरमित्रोदय' में स्पष्ट रूप से यह भेद समझाया गया है। देखिए महामहोपाध्याय डा० काणे कृत 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', वाल्यूम ३, पृष्ठ ८२७।

धर्मशास्त्र तीन खण्डों में विभाज्य है—(१) गाथाएँ, (२) धर्मसूत्र और (३) स्मृतियाँ। गाथाएँ अब नहीं मिलतीं। उनकी चर्चा से, जो धर्मसूत्रों में मिलती है, यह पता चलता है कि वे व्यवहार तथा रीति-रिवाज के अभिलेख थ। धर्मसूत्रों में गौतम, बौधायन, आपस्तंव, हारीत, वसिष्ठ और विष्णु के सूत्र मुख्य हैं। इनका वेद ही आधार है और मालूम पड़ता है कि शिष्यों के अध्यापन के निमित्त वे रचे गये थे। स्मृतियों की तरह इनमें भी एसे धार्मिक, नैतिक और लौकिक नियमों का सम्मिश्रण मिलता है जो मनुज के लिए विहित किये गय थे। इन सूत्रों में मुक्त विचार के चिह्न और कट्टरपन का अभाव मिलता है। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—**आपस्तंव सूत्र** में विवाह, दायप्राप्ति तथा दण्ड विधि के नियम मिलते है और इसके ऊपर हरदत्त रचित उज्ज्वला नामक टीका भी मौजूद है। ये सूत्रकार दक्षिण भारत के रत्न थे। **गौतम सूत्र** में दायप्राप्ति, बँटवारा, स्त्रीधन से सम्बन्धित नियमों की चर्चा मिलती है। हरदत्त ने इस पर भी टीका रची है। **बौधायन सूत्र** में कई प्रथाओं का तथा दायप्राप्ति, विवाह, दत्तक ग्रहण और पुत्रत्व का उल्लेख हुआ है। **हारीत सूत्र** में भी विवाह, बँटवारा, प्रक्रिया विधि इत्यादि के विवरण मिलते है। **वसिष्ठ सूत्र** में भी उपरोक्त विषयों का और प्रथाओं का उल्लेख है। **विष्णु सूत्र** में दायप्राप्ति, विवाह, ऋण, ब्याज, गड़ा धन, व्यवहार विधि और दण्ड विधि से सम्बन्धित नियम मिलते हैं। वैजयन्ती नाम की

टीका इसके ऊपर नन्द पंडित ने लिखी है। शंख-लिखित, वैखानस सूत्रों की भी गणना धर्मसूत्रों में होती है।[1]

धर्मसूत्रों का महत्त्व क्या है? एक तो उनसे यह पता चलता है कि उनमें लिखे हुए नियम ऐसे प्राचीन रिवाजों पर आधारित हैं जो पक्के होकर कानून के संघटक बन चुके थे। दूसरें, वे विहित करते हैं कि प्रत्यक परिवार, जाति और प्रदेश के आचार तथा रिवाज शासन के द्वारा माननीय और संरक्षणीय होते हैं। तीसरे, उनका ऐतिहासिक मूल्य यह है कि अतीत में हिन्दुओं की बुद्धि विधिविज्ञान की दृष्टि से किस सीमा तक विकसित हो चुकी थी, इसका अनुमान उनसे होता है।

धर्मशास्त्रियों के जो नाम याज्ञवल्क्य ने गिनाये हैं वे निःशेषी नहीं; केवल निदर्शी (उदाहरण) हैं, यथा—

मन्वत्रि-विष्णु-हारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽगिराः।
यमापस्तंव-संवर्त्ताः कात्यायन—बृहस्पती ॥
पराशर-व्यास—शंख-लिखिता दक्ष—गौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्र-प्रयोजकाः ॥ (याज्ञ० १–४।५)

नेयं परिसंख्या किन्तु प्रदर्शनार्थम्, अतो बौधायनादेरपि धर्मशास्त्रत्वम् अविरुद्धम्। (मिताक्षरा)

पहले प्रकरण में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन इन पाँच स्मृतिकारों का संक्षिप्त वर्णन लिखा जा चुका है। सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर द्वारा प्रणीत निर्णयसिंधु में सौ से अधिक स्मृतियों का उल्लेख हुआ है। पद्मपुराण में याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित बीस नामों के अतिरिक्त ये नाम और गिनाये गय हैं—मरीचि, पुलस्त्य, प्रचेता, भृगु, नारद, कश्यप, विश्वामित्र, देवल, ऋष्यशृंग, गार्ग्य, बौधायन, पैठीनसि, जाबालि, सुमन्तु, पारस्कर, लौगाक्षि, कुथुमि। इन अनेक स्मृतियों में से बहुतों की खोज अभी तक हो रही है और किसी-किसी का पता भी चल गया है। उन राजनीतिक उथल-पुथल और संक्षोभों को देखते हुए, जो देश में घटित होते रहे हैं और यह याद रखते हुए कि पुस्तकालय-विज्ञान एक अति नवीन विद्या है, यह एक विस्मय ही है कि इतनी स्मृतियाँ पूर्णतः अथवा खण्डतः प्राप्त हो चुकी हैं। सर्वशिरोमणि और सर्वमान्य है मनुस्मृति। उसमें तथा अन्य उपलब्ध स्मृतियों में विशेष मतान्तर नहीं देखा जाता। सबमें एक विलक्षण समता मिलती है और ऐसा लगता है कि वे परस्पर अनुपूरक हैं।

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन के वीच में लगभग सात सौ वर्षों का अन्तर है। इस विचित्र अनुहारिता का रहस्य क्या है?

१. देखिए, "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३, अध्याय ३२।

इस रहस्य को खोलना शायद एतिहासिकों का काम है। सरसरी तौर से ये दो चार कारण प्रतीत होते हैं—एक तो उस कालावधि में बाहरी आक्रमण नही हुए थे और देश मे शान्ति था। देशी रजवाड़े यदि आपस मे लड़ते थे तो जन-जीवन के ऊपर उसका प्रभाव नही पड़ने पाता था, युद्ध योद्धाओं के बीच और रणक्षेत्र तक सीमित रह जाता था। राजनीतिक उलट-पलट और संक्षोभों का प्रभाव विचारकों के ऊपर नही पड़ने पाता था। चिन्तक वर्ग राजनीति से पृथक् रहकर स्वतंत्र रूप से अपने बौद्धिक कार्य मे निरत रह सकते थे। दूसरे, स्मृतिकार स्वतः आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाले निष्काम तपस्वी थे, जिनका चरित्र गोस्वामी तुलसीदास जी के इस वचन को चरितार्थ करने वाला होता था—"निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासों करहि विरोध।" केवल विवाद के लिए वे अन्य चिन्तकों से विरोध नही करते थे। तीसरे, उनका प्रतिपाद्य विषय था धर्म। जैमिनि ने धर्म की परिभाषा यह की है—'दुःख विवर्जित सुख ही अभीप्सित लक्ष्य होता है। उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है धर्म। धर्म को जानने का मात्र उपाय है वेद।' इस प्रकार के धर्म या सत्य का अन्वेषण एक ऐसी आध्यात्मिक कृति, ऐसी पवित्र क्रिया, ऐसी तपोमय गतिविधि है जो अन्तःकरण को निर्मल करती है और जो केवल शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा प्रेरित हो सकती है। ऐसी क्रिया के अन्दर मात्र विवादार्थ विरोध के लिए अवकाश कहाँ ? चौथे, धर्म अर्थात् सत्य के अनुसन्धान में निरत जनों में निष्पक्षता की प्रधानता और मुख्य सिद्धान्तों की ओर सहमति विद्यमान रहा करती है, जिसके कारण उनके निर्णयों, निष्कर्षों, व्यवस्थाओं और उपदेशों में न्यूनतम मतभेद प्रतीत होता है। यह आक्षेप करना नास्तिकवाद, अवमान और तुच्छता है कि महान् स्मृतियाँ एक दूसरी का अनुकरण या छाया मात्र हैं। वे एक दूसरी से स्वतंत्र हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परस्पर अनुपूरक हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है—"ग्रेट माइण्ड्स थिन्क एलाइक", यानी महान् मस्तिष्कों में समान विचारधाराएँ प्रवाहित होती हैं। क्या इस विचित्र अनुहारिता का एक कारण यह भी हो सकता है ?

उपरोक्त पाँच प्रमुख स्मृतियों के अतिरिक्त **पराशरस्मृति** का नाम भी विख्यात है। इसका अधिकांश भाग कर्मकांड, प्रायश्चित्त, संस्कार तथा आचार से सम्बद्ध होने के कारण हिन्दू विधि के लिए इसकी उपादेयता बहुत कम है। किन्तु यह बात उल्लेख्य है कि रीति-रिवाजों के अनुसार निर्णय देने के ऊपर इसमें भी पर्याप्त बल दिया गया है। इसके ऊपर माधवाचार्य द्वारा लगभग १४वीं शताब्दी में रचा हुआ **पराशरमाधवीय** नामक भाष्य दक्षिण में बहुत समादृत और प्रचलित है। इस भाष्य की तरह जो अन्य स्मृतियों के नाना भाष्य या निबन्ध हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

मनुस्मृति के ऊपर अनेक टीकाएं लिखी गयी, जिनमें से मेधातिथि, गोविन्दराज तथा कुल्लूक भट्ट की टीकाएँ अधिक विख्यात हैं और उनमें सबसे अधिक ख्याति प्राप्त है कुल्लूक रचित **मन्वर्थमुक्तावली** को। गोविन्दराज की टीका का नाम है मनुटीका, और मेधातिथि वाली का **मनुभाष्य**। सायणाचार्य कृत माधवीय तथा नन्द राजा कृत नन्दराज भी उल्लेखनीय भाष्य हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के ऊपर विज्ञानेश्वर का भाष्य ११२५ ई० में लिखा गया जो **मिताक्षरा** के नाम से जगत में समादृत हो रहा है। फिर उसी शताब्दी में विश्वेश्वर भट्ट ने **मदनपारिजात** और **सुबोधिनी** नामक भाष्य तैयार किये। तेरहवीं शताब्दी में **स्मृतिचन्द्रिका** नामक निबन्ध को देवण्ण भट्ट ने रचा और **याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्र निबंध** को अपरार्क ने। चौदहवीं शताब्दी में **दीपकलिका** नामक व्याख्या की रचना हुई और माधवाचार्य ने **दायविभाग** रचा। यह शताब्दी अधिक उर्वरा निकली और इसी में लक्ष्मीदत्त ने **विवादचन्द्र** तथा चण्डेश्वर ने **विवादरत्नाकर** तथा माधवाचार्य ने **व्यवहार-माधव** की रचना की। पन्द्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने **विवादचिन्तामणि** तथा **व्यवहारचिन्तामणि** नामक निबन्ध लिखे। सोलहवीं शताब्दी में **स्मृतिमुक्ताफल** तथा वरदराज कृत **व्यवहारनिर्णय** नामक निबन्ध रचे गये। **निर्णयसिंधु** और **विवादताण्डव** नामक व्याख्या लगभग सोलहवीं शताब्दी में कमलाकर द्वारा प्रणीत हुई। सत्रहवीं शताब्दी में ओरछा के वीरसिंहदेव की संरक्षा में मित्र मिश्र ने **वीरमित्रोदय** की और नीलकण्ठ ने **व्यवहारमयूख** की रचना की जो मिताक्षरा की टीकाएँ हैं। यह एक अनोखी सी बात है कि उपरोक्त ग्रन्थकारों में से अनेक दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे और उक्त रचनाओं का आदर सारे भारत में होने लगा। यह भारत की एकता का हेतु भी है और प्रमाण भी।

ऊपर कहा जा चुका है कि "हिन्दू विधि" की दो मुख्य शाखाएँ अदालतों में मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं, यानी मिताक्षरा (सम्प्रदाय) शाखा, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, और दायभाग (सम्प्रदाय) शाखा। **दायभाग** मिताक्षरा के कुछ समय अनन्तर किन्तु उसी (१२वी) शताब्दी के भीतर प्रणीत हुआ था और इसको बंगाल के जीमूतवाहन नामक राज मंत्री ने रचा था। जीमूतवाहन महान् विधिवेत्ता एवं प्रकाण्ड पंडित थ और दायभाग उनके विशाल ग्रन्थ **धर्मरत्न** का एक अंश है। मिताक्षरा की तरह यह रचना किसी विशेष स्मृति के ऊपर नहीं लिखी गयी है, किन्तु यह सर्व स्मृतियों को समाहित करती है। यद्यपि मिताक्षरा को बंगाल समेत सारे भारत में मान्यता प्राप्त है, तथापि जिन प्रश्नों पर उससे दायभाग का मतभेद है, उन पर वंगदेश में दायभाग

को ही वरीयता मिलती है।[१] उसमें रूढि और प्राधिकार की अपेक्षा युक्ति और तर्क के ऊपर अधिक बल दिया गया है; प्रथा और परम्परा को भी उचित आदर मिला है, और कुछ चिन्तकों का यह विश्वास है कि अपने को प्रादेशिक रीतियों के ऊपर आधारित करने से ही कुछ प्रश्नों पर जीमूतवाहन का विज्ञानेश्वर से मतभेद हो गया था। यह एक रोचक वार्ता है कि जीमूतवाहन के सातवें पूर्वज श्री भट्ट नारायण उन पाँच पुनीत और विद्वान् ब्राह्मणों में थे जिनको दसवी शताब्दी में तत्कालीन कन्नौज नरेश ने बंगाल नरेश आदिशूर की बिनती पर बंगाल की राजधानी गौड़ में भेज दिया था।[२]

जीमूतवाहन के दायभाग का प्रचार और महत्त्व वंग प्रान्त में बिजली के समान फैल गया और थोड़े ही दिनों में उसके ऊपर कम से कम छः विद्वानों ने टीकाएँ लिख डालीं। उनके नाम हैं श्रीनाथाचार्य चूड़ामणि, रामभद्र न्यायालंकार, अच्युतानन्द चक्रवर्ती, महेश्वर भट्टाचार्य, रघुनन्दन भट्टाचार्य और श्रीकृष्ण तर्कालंकार। १६वीं शताब्दी का रघुनन्दन प्रणीत दायतत्त्व, १८वीं शताब्दी का श्रीकृष्ण-प्रणीत दायक्रमसंग्रह और जगन्नाथ तर्कपंचानन प्रणीत विवादभंगार्णव इस शाखा के प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। शूलपाणि-प्रणीत दीपकलिका भी याज्ञवल्क्य स्मृति के ऊपर एक प्रामाणिक टीका है जिसका बंगाल प्रान्त में आदर होता है। श्रीकर का दायनिर्णय तथा रामनाथ कृत दायरहस्य निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं।

उपरोक्त व्यवहारमयूख को गुजरात, बम्बई द्वीप और उत्तरी कोंकण में मिताक्षरा की अपेक्षा भी वरीयता दी जाती है। इस बात के समर्थन में बम्बई हाईकोर्ट की अनेक नजीरें है जिनमें से सबसे ताजी १९१६ ई० की है।[३] यह अद्‌भुत घटना है कि व्यवहारमयूख इन तीन प्रान्तों की उपज और वहाँ के रीति-रिवाजों की साकार मूर्ति है। सत्य यह है कि इसके प्रणेता पं० नीलकण्ठ भट्ट एक महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिनका जन्म काशी में हुआ था। ये अद्वितीय विद्वान्, स्वतन्त्र चिन्तक तथा पूर्व मीमांसा के अपूर्व ज्ञाता थे। इन्होंने बारह काण्डों वाला भगवन्तभास्कर नामक विशाल ग्रन्थ रचा जिसके काण्डों को उन्होंने मयूख की संज्ञा दी है। व्यवहारमयूख उन्हीं बारह में से एक किरण है। यह मिताक्षरा की टीका है और निबन्ध के रूप में सकल स्मृतियों

१. देखिए, १२ मूर्स, इण्डियन अपील्स ३९७।
   ११ मू० इण्डियन अपील्स ४८७।
   "केरी कोलिटनी बनाम मौनीराम" (१८७४) १९, वीक्ली रिपोर्ट ३६७।
२. देखिए, एडू मिश्र कृत कुलकारिका।
३. देखिए, "नरहरि ब० भाऊ" (१९१६) ४०, बम्बई ६२१।

को समाहित करती है। उन दिनों गुजरात प्रदेश में बहु कालीन मुसलमानी राज्य के कारण नागरिकों ने अपनी विद्या और संस्कृति को प्रायः भुला दिया था। जब उस प्रदेश को महाराष्ट्रियों ने जीत लिया तो वे वहाँ बस भी गये और अपने ग्रन्थों तथा पद्धतियों को साथ ले गये। इसी तरह प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में व्यवहारमयूख का आधिपत्य उन प्रदेशों में स्थापित हो गया।[1] "ऐसे हि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत-अनत छबि लहहीं ।।" (गो० तुलसीदास)

नारद स्मृति के ऊपर असहाय ने **नारदभाष्य** टीका सातवीं शताब्दी में लिखी थी। उसकी दूसरी व्याख्या वरदराज ने लिखी और वह इसी नाम से दक्षिण भारत में प्रचलित है। विष्णु स्मृति के ऊपर नन्द पंडित ने सन् १६२३ ई० में **वैजयन्ती** टीका राजा केशव के आदेश से लिखी थी। हेमाद्रि भट्ट काशीतरण ने **चतुर्वर्गचिन्तामणि** निबन्ध चौदहवीं शताब्दी में संकलित किया। बारहवीं शताब्दी में लक्ष्मीधर ने काशिराज गोविन्दचन्द्र के आदेश से **कल्पतरु** निबन्ध रचा। चौदहवीं शताब्दी में राजा प्रतापरुद्र देव ने **सरस्वतीविलास** टीका लिखी। उनका राज्य कटक देश में था। एक और व्याख्या उल्लेखनीय है जिसका समय अविदित है। उसका नाम है **स्मृतिसार** या **स्मृत्यर्थसार**। उसके प्रणेता हैं श्रीधराचार्य और उसका प्रचार मिथिला प्रदेश में है।[2]

उपरोक्त सारी सामग्री हिन्दू विधि (ला) का स्रोत है इसलिए पाठकों को अनुज्ञात करायी गयी है। ध्यान रहे कि हिन्दू विधि की दो मुख्य शाखाएं हैं—मिताक्षरा व दायभाग, तथा मिताक्षरा की स्वतः चार उपशाखाएँ विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित हैं। उन उपशाखाओं को भी जान लेना चाहिए। किन्तु यह बात याद रहे कि वे सब मिताक्षरा के आधिपत्य को पूर्णतया अंगीकार करती हैं। उनमें और मिताक्षरा में केवल कुछ ब्यौरों का अन्तर है जो विशेषतः दायप्राप्ति और दत्तकग्रहण से सम्बद्ध हैं। उपशाखाएँ किसी-किसी ग्रन्थ और टीका को वरीयता देती हैं किन्तु वास्तव में हैं सब की सब मिताक्षरा की अनुपूरक। प्रत्येक शंका के समाधान के लिए सर्वप्रथम मिताक्षरा को देखने के बाद यदि सन्देह रह जाय तभी यह जिज्ञासा और निर्देश करना चाहिए कि वह ग्रन्थ अथवा टीका क्या कहती है जिसको उस प्रदेश में वरीयता दी जाती है। जब उक्त निर्देश करना पड़े तो उसके उद्देश्य को यथार्थतः समझ कर उस उद्देश्य से संगत पाठ या श्लोकों को टीका या ग्रन्थ में ढूँढ़ना चाहिए। जब संगत पाठ मिल जाय तो देखना चाहिए कि किस प्रकरण या अध्याय के अन्तर्गत वह उल्लिखित है। तब

१. प्रस्तावना, पृष्ठ ५६, मुल्ला का 'हिन्दू ला' (१९५९)।
२. जी० एस० सरकार कृत 'हिन्दू ला', पृष्ठ ३४ (अष्टम संस्करण)।

जाकर उस पाठ का अर्थ व आशय ठीक-ठीक समझ में आयेगा। इस रीति में व्यतिक्रम हो जाने से गलती हो जाने की सँभावना बढ़ जाती है।[1] ऐसी गलतियाँ १९वीं शताब्दी में हिन्दू ला की नजीरों में मिलती है। वे नजीरें या तो केवल अंशतः शुद्ध हैं या निःसंकोच भाव से अशुद्ध कही जा सकती हैं, जिसका कारण यह था कि पाश्चात्य जजों को सही मौखिक स्पष्टीकरण न मिलने से मतिभ्रम स्वभावतः हो जाता था।[2]

वाराणसी उपशाखा उत्तर भारत में (पंजाब को छोड़कर) प्रचलित है और वहाँ मिताक्षरा तथा वीरमित्रोदय का आधिपत्य है।[3] **निर्णयसिंधु** तथा **विवादताण्डव** का भी आदर किया जाता है। यह कट्टर मत वाली प्रशाखा गिनी जाती है। पंजाब नदियों और रिवाजों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ की प्रथाओं ने मिताक्षरा का बहुत कुछ रूपान्तर कर डाला है। उपरोक्त नि० सिंधु और वि० ताण्डव आम तौर से उन सभी प्रदेशों में आदरणीय है जहाँ मिताक्षरा प्रचलित है।

मैथिली उपशाखा का प्रचार बिहार प्रान्त में पाया जाता है। मिताक्षरा के अतिरिक्त वहाँ पर **विवादचिन्तामणि, विवादरत्नाकर, मदनपारिजात** तथा लक्ष्मीदत्त प्रणीत **विवादचन्द्र,** श्रीकराचार्यकृत **स्मृतिसार,** लक्ष्मीधर कृत **कल्पतरु** की मान्यता है।[4]

महाराष्ट्री या बम्बई उपशाखा भारत के उस पश्चिम खण्ड में प्रचलित है जिसको पहले बम्बई प्रसीडेंसी कहते थे। इसको उदार मत वाली उपशाखा भी कहते हैं। मिताक्षरा के प्राधिकार में किसी को वहाँ पर सन्देह नही है और उस भाग में जिसको महाराष्ट्र, रत्नागिरि और उत्तरी कनारा कहते हैं, मिताक्षरा को ही प्रधानता मिलती है। किन्तु उस भाग में जिसको गुजरात, उत्तरी कोंकण और बम्बई कहते हैं, **व्यवहारमयूख** को मिताक्षरा के मुकाबले में भी उन विषयों में प्रधानता दी जाती है जिन पर उनका परस्परमतभेद हो। पूना, खानदेश और अहमदनगर में मयूख को मिताक्षरा के समकक्ष माना जाता है।[5] वहाँ **वीरमित्रोदय, निर्णयसिन्धु, सुबोधिनी** और **संस्कारकौस्तुभ** को भी प्रतिष्ठा प्राप्त है।

१. देखिए प्रस्तावना, पृष्ठ ५०, मुल्ला का 'हिन्दू ला' (१९५९)।

२. देखिए प्रो० जे० डी० एम० डेरेट कृत 'माडर्न हिन्दू ला', पृष्ठ ६ (१९६३)।

३. देखिए "रामसिंह ब० उजागर सिंह" १३ मूर्स, इण्डियन अपील्स ३७३।

४. देखिए ११ मूर्स०, इ० अपील्स ४८७ व १३९ और देखिए (१९४९) २८ पटना, १२३ व १००८।

५. देखिए (१९१६) ४० बम्बई, ६२१ और देखिए (१८७५) १२ बम्बई एच० सी०, ६५ तथा देखिए (१८७८) २ बम्बई, ३८८ और देखिए (१८९०) १४ बम्बई ६१२।

द्राविड़ी या मद्रासी उपशाखा का प्रचार भारत के दक्षिणी खण्ड में मिलता है। वहाँ **स्मृतिचन्द्रिका** तथा **पराशरमाधवीय** को मिताक्षरा का अनिवार्य अनुपूरक मानते हैं।[1] इन दोनों के अतिरिक्त वहाँ **सरस्वतीविलास**[2] व **निर्णयसिंधु, सुबोधिनी, व्यवहारनिर्णय** तथा **स्मृतिमुक्ताफल**[3] की भी महिमा है, किन्तु उनमें से कोई मिताक्षरा को प्रत्यादिष्ट या विस्थापित नही कर सकता।

मिताक्षरा का वास्तविक मतभेद है **दायभाग** या **बंगाली** या **गौड़ीय शाखा** से। दायभाग का प्रसार बंगाल व असम प्रान्तों में है, जैसा कि आरम्भ में बताया जा चुका है। याद रहे कि उस प्रान्त में भी मिताक्षरा का सम्मान होता है।[4] प्रतिलोमतः दायभाग का निर्देश ऐसे मिताक्षरा वाले मुकदमे में किया जा सकता है जिसके अन्तर्ग्रस्त प्रश्न के ऊपर मिताक्षरा में कुछ लिखा न हो।[5] दायभाग पर लिखित टीकाओं का उल्लेख किया जा चुका है। उनमें से रघुनन्दन शिरोमणि कृत दायतत्त्व पर कई एक नजीरें आधारित हो चुकी हैं।[6]

यहाँ तक हिन्दू विधि के एक स्रोत अर्थात् स्मृति की वस्तुस्थिति संक्षेपतः बतला दी गयी है। यह एक ऐतिहासिक विषय था। अब यह शंका उठ सकती है कि हिन्दू विधि के अन्दर इतनी शाखा-उपशाखाओं की विद्यमानता का कारण क्या है? यह कल्पना या अनुमान का विषय है। उन कारणों को अब संक्षेप में देखना चाहिए।

भारत इतना विशाल देश है कि उसमें किसी भी प्रकार की एकरूपता व्याप्त नहीं हो सकती। उसके प्रत्येक खण्ड में जिस प्रकार पृथ्वी, जल, वायु और वातावरण की विलक्षणता के फलस्वरूप विभिन्न जाति के अन्न, फल, वनस्पति आदि उपजते हैं, उसी प्रकार उसी विलक्षणतावश वहाँ के निवासियों में भाषा, भूषा, रहन-सहन, आचार-

१. देखिए (१९१५) ३७ इलाहाबाद ६०४ (पी० सी०) और देखिए (१८८०) २ मद्रास २६५।

२. (१८९८) २१ मद्रास ५८।

३. (१९१५) ३७ इलाहाबाद ६०४ (पी० सी०) और (१८८०) २ मद्रास २६५।

४. (१८८०) ५ कल० ७७६० (पी० सी०) और (१८६७) ११ मूर्स० इ० अ० ४८७।

५. ११ इ० अपील्स १६४ और (१९४३) १८ लखनऊ ५८५।

६. देखिए (१९१३) ४० कल० ६५०।

विचार, व्यवहार और मनोवृत्ति में विभिन्नता पैदा हो जाती है। प्रदेश-प्रदेश की अपनी आत्मा या प्रकृति होती है जो उस विभिन्नता में से प्रस्फुटित होकर स्थायित्व धारण कर लेती है। उसी प्रकृति के समनुरूप उस प्रदेश में सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक प्रथाओं या चरित्र या समय का प्रादुर्भाव होने लगता है और उनमें से या उनके आधार पर वैधिक नियमों का निर्माण होता है। उन नियमों का चयन, विनिमयन, एकत्रीकरण और वर्गीकरण समाज के विवेकी विद्वानों के माध्यम से होता है। उन विद्वानों में जो सबकी अपेक्षा शुद्ध निष्पक्ष, चिन्तनशील, निर्लेप होता है उसी की रचना सार्वजनिक रूप से अंगीकृत, सम्मानित और प्रतिष्ठित होकर उस प्रदेश की उपशाखा बन जाती है।

"मदुरा बनाम मुटू" नामक मुकदमे में प्रायः सौ वर्ष पहले प्रिवी कौंसिल[1] ने यह मूल बताया था कि "अतीत में हिन्दू विधि की सब शाखाओं का स्रोत एक ही था। उसके सर्जन की विधि कुछ ऐसी प्रतीत होती है कि जो रचनाएँ सार्वजनिक या व्यापक रूप से अंगीकृत हो गयीं उन पर बाद में व्याख्याएँ लिखी गयीं। प्राचीन पाठ के ऊपर व्याख्याकार अपनी निजी टिप्पणी चढ़ा देता था। उसका प्राधिकार भारत के किसी खण्ड में स्वीकृत, किसी में अस्वीकृत होने से विभिन्न शाखाएँ निकल पड़ीं, यथा मिताक्षरा, जिसे बंगाल को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान की सब शाखाओं में तथा बंगाल में भी सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है, सिवा उन गिने-चुने प्रश्नों को छोड़कर जिनमें उसका दायभाग से मतभेद है। वह भी याज्ञवल्क्य-स्मृति का भाष्य है; उसी तरह दायभाग भी, जो बंगाल में उन प्रश्नों पर प्रभुत्व रखता है जिनमें उसका तथा अन्य शाखाओं का मिताक्षरा के साथ मतैक्य न हो, याज्ञवल्क्य के प्राधिकार की दुहाई देता है। ठीक वैसे ही मिताक्षरा की टीका-टिप्पणियाँ हैं जिनमें उस महान् ग्रन्थ के सर्वोच्च प्राधिकार को मानने वालों में से कुछ तो अंगीकार करते हैं किन्तु सब नहीं।"

यहाँ पर एक अपूर्व घटना उल्लेखनीय है। सन् १९०९ में संसार भर में एक कौतूहल मच गया जब डा० श्री शाम शास्त्री ने **कौटिल्य अर्थशास्त्र** का अनूदित संस्करण प्रकाशित किया। इसमें पन्द्रह अधिकरण हैं जिनमें राजनीति या राजनय के सारे अवयवों के ऊपर सूक्ष्म विवरणों के समेत आश्चर्यजनक पूर्ण प्रकाश डाला गया है। कौटिल्य या विष्णुगुप्त या चाणक्य एक ही व्यक्ति के नाम हैं जिसने नन्द वंशीय राजाओं का निर्मूलन करके चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र की राजधानी में सिंहासनारूढ़ कराया था,

१. १२ मूर्स, इण्डियन अपील्स ३९७, ४३५ और देखिए "बलवन्त ब० बाजी" ४७, इण्डियन अपील्स २१३।

उस राज्य को हिमालय से विन्ध्य तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक विस्तीर्ण कर दिया था और सेल्यूकस को परास्त करके भारत में से विदेशी आधिपत्य विनष्ट कर राज्य की नींव को इतनी दृढता से गाड़ दिया था कि मौर्य वंश कई पीढ़ियों तक इस विशाल साम्राज्य का भोग करता रहा। इस चमत्कारी पुरुष और उसकी रचना का समय ईसा के पूर्व ४०० और ३०० वर्ष के बीच माना जाता है। संसारी वैभव, सुख, एश्वर्य से नितान्त विरक्त इस साम्राज्य-निर्माता के अतिशय सरल, साधारण जीवन की झाँकी "मुद्राराक्षस" नाटक के पहले व तीसरे अंक में देखी जा सकती है। धर्म की सर्वोपरिता को अंगीकार करते हुए भी कौटिल्य ने राजनीति, राजनय, व्यवहार-विधि, न्याय-तंत्र, समाज शास्त्र , स्वास्थ्य शास्त्र, अर्थशास्त्र को धर्म से पृथक् रखा है।[1] उसने उन विषयों पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, साधुता-असाधुता के नही, केवल उपादेयता, नीति, राष्ट्रीय कल्याण के दृष्टिकोण से विचार किया है। यद्यपि उसने अपने ग्रन्थ को धर्म-निरपेक्ष रखने का प्रयास आद्योपान्त किया, तथापि "हिन्दू विधि" नामक इस पुस्तक के शास्त्रीय खण्ड के अन्तर्गत कौटिलीय का प्रसंग लाना आवश्यक-सा प्रतीत होता है। एक तो वह ग्रन्थ धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों के बीच एक सेतु के समान है, क्योंकि वह दोनों के काल के बीच में प्रणीत हुआ। दूसरे—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव च ॥ (विष्णु पुराण)

के अनुसार अर्थशास्त्र एक उपवेद है जिसकी अथर्ववेद के साथ बन्धुता है। अतएव वह धर्मशास्त्र (व्यापक अर्थ में) का एक अंग हो है। तीसरे, विज्ञानेश्वर के वचन "धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणार्थशास्त्रमिदं विवक्षितम्" (२–२१) से भी इस बात का अनुमोदन होता है। चौथे, कौटिलीय के तीसरे व चौथे अधिकरणों में केवल न्याय-प्रशासन के विवरण उल्लिखित हुए हैं जो हिन्दू विधि के ही अंग है। अब हम अन्य स्मृतियों की भाँति कौटिलीय की भी अन्तर्वस्तु का संक्षेप में वर्णन करेंगे। यद्यपि इसका मूल्य ऐतिहासिक मात्र है, तथापि उसको जान लेने से संस्कृत भाषा तथा अपनी संस्कृति के ऊपर श्रद्धा और आस्था बढ़ती है।

तीसरे अधिकरण में २० प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में अदालतों, संविदाओं, संविदाभंग व उसके परिणाम और छल-कपट, मुकदमे के पक्षों व उसके अन्वीक्षण-विचार का उल्लेख है। दूसरे से चौथे प्रकरणों में विवाह, स्त्रीधन, पति-पत्नी के पारस्परिक

१. संस्थायां धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत् ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र)

सम्बन्ध और भ्रष्टता के परिणामों का वर्णन है। उसमें स्त्री-पुरुष के अधिकारों की समता मिलती है और सांसारिक विचारों का अपवर्जी रूप से ध्यान रखा गया है, जिसमें आध्यात्मिक या पारलौकिक विचारों का प्रवेश नहीं होने पाया है। पाँच से दस तक प्रकरण बँटवारे और दायप्राप्ति पर निरत हैं, और उनमें जल-प्रवाह व मार्ग के नियम भी पाये जाते हैं, तथा स्थावर-जंगम वस्तुओं के विक्रय के नियम भी। ग्यारहवें-बारहवें प्रकरण में उत्तमर्ण-अधमर्णों (धनी-ऋणी) के बीच व्यवहार सम्बन्धी नियम, ब्याज का नियंत्रण, गिरवी तथा धरोहर के और वाहक के दायित्व के नियम उल्लिखित हैं। तेरहवें-चौदहवें प्रकरण में दासों, मजदूरों, सेवकों तथा सहकारिता से सम्बद्ध नियम मिलते हैं। पन्द्रहवें प्र० में संविदा के खण्डन और दान या माफी की जब्ती के नियम है। सोलहवें प्र० में कब्जा मुखालिफ़ाना, व्यवहित तथा अव्यवहित कब्जा और चोरी वाले माल पर कब्जे की चर्चा है। बाकी चार प्रकरणों में दाण्डिक दायित्वों या जुर्मों का उल्लेख है, जैसे चोरी, मानहानि, आक्रमण, आघात, उत्पात, गबन या व्यपहरण त्यादि।[१]

चौथे अधिकरण में तेरह प्रकरण हैं और उसमें कंटक-शोधन पर विचार किया गया है। कंटक का अर्थ शिल्पी और कलाकार या हानिकारक है। कौटिल्य के विचार से यह समुदाय काँटों की तरह कठोर नियंत्रण और अविरल पर्यवेक्षण का पात्र होता है, अन्यथा ये लोग छल-कपट के प्रयोग से प्रजा को लूट और ठग कर राष्ट्र में क्षोभ और अपार हानि फैला सकते हैं। इसके निवारण के उपायों के साथ-साथ प्रशासी कृत्यों का वर्णन और सुझाव इस अधिकरण में विस्तार समेत मिलता है। आधि-व्याधियों का वर्णन तथा उनके शमन की विधि इसमें उल्लिखित है। अवैध वृत्तिधारी नौ तरह के खलों की सूची लिखी है और उनके अवरोध के लिए पुलिस कर्मचारियों की नियुक्ति विहित की गयी है। नरहत्या और आत्महत्या के मामलों में विशेष प्रक्रिया बतायी गयी है। योनि-सम्बन्धी अपराधों तथा उनके उपयुक्त दण्डों का पृथक् उल्लेख मिलता है। घरेलू पशुओं द्वारा पहुँची हुई क्षतियों और उनके प्रतिशोधों का विवरण भी इसमें मिलता है।[२]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ऐसे विचारों, धारणाओं और भावनाओं को व्यक्त करता है कि पढ़ने वाले को सहसा फ्लोरेन्स निवासी निकोलो मैकियावेल (१४६९–१५२७) तथा इंग्लैण्ड के लार्ड चेस्टर्फील्ड के प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्मरण हो आता है।

१. डा० यू० सी० सरकार कृत "हिन्दू लीगल हिस्ट्री", पृ० ८५–१०२।

२. पी० वी० काणे प्रणीत "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३–पृ० २५२–५८।

अर्थशास्त्र में इतने विविध विषयों के ऊपर प्रकाश डाला गया है और उनके ऊपर ऐसे धर्मनिरपेक्ष ढंग तथा ऐसे दृष्टिकोण से चिन्तन और विचार किया गया है कि पाठक को फ्रान्सीसी लेखक माण्टेस्कू (१६वीं शताब्दी) रचित "द स्प्रिट आव लाज" अर्थात् "विधि विधानों की प्रकृति" की भी याद आ जाती है।

इस प्रसंग मे यह विस्मय होता है कि धर्मसूत्रों की जैसी शैली वाले इस ग्रन्थ की चर्चा न तो किसी स्मृतिकार ने की, न व्याख्याकार या निबन्धकार ने; यहाँ तक कि नारद, बृहस्पति तथा कात्यायन, जो प्रायः अपवर्जी रूप से व्यवहार विधि के ग्रन्थ हैं, उनमें भी कौटिलीय का प्रसंग नही मिलता। सन् १९०९ में इसका प्रकाशन हो चुका था, किन्तु उसके पश्चात् वाली नजीरों में भी कौटिलीय का प्रोद्धरण नही मिलता और न किसी शाखा-उपशाखा वाले ग्रन्थ में। इसका क्या रहस्य है ? क्या धर्मनिरपेक्षता अथवा धार्मिक भावनाओं का आमूल विच्छेद भारत की आत्मा या प्रकृति (स्प्रिट) के प्रतिकूल पड़ना इसका कारण हो सकता है ? अथवा, क्या ग्रन्थकार के व्यक्तिगत स्वभाव और प्रकृति का प्रभाव उसकी बौद्धिक कृति की लोकप्रियता के ऊपर पड़ता है ? यदि पड़ता है तो चाणक्य (कौटिल्य) के स्वभाव का उसी के मुँह से कवि ने यह वर्णन कराया है—

श्यामीकृत्याननेन्दून् नृपयुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य ।
दग्ध्वा सम्भ्रान्त पौर द्विज गण रहितान् नन्दवंश प्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ॥ (मुद्राराः० अंक १)

कारण जो भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि कौटिलीय की गणना विधि शास्त्र के या व्यवहार शास्त्र के प्रवर्तकों में नहीं पायी जाती।

हिन्दू विधि के दूसरे स्रोत, अर्थात् प्रथा पर आने के पूर्व थोड़ी देर के लिए हमें उपशाखाओं के प्रसंग पर लौट आना होगा। हर मुकदमे में यह वैधिक पूर्व धारणा कर ली जाती है कि कोई पक्ष जिस प्रदेश का निवासी हो, वहाँ की उपशाखा द्वारा वह प्रशासित होता है, जब तक वह यह सिद्ध न करे कि उसका कुटुम्ब अन्य प्रदेश से वहाँ की उपशाखा अपने साथ लाकर वहाँ बस गया है। ऐसा सिद्ध करने पर विलोम का सबूत (या सिद्धिभार) प्रतिद्वन्द्वी पर लौट जाता है, अर्थात् प्रतिवादी को यह सिद्ध करना पड़ता है कि आगन्तुक कुटुम्ब ने इसी प्रदेश की उपशाखा को अंगीकार कर लिया था। यदि मातृ-प्रदेश के हिन्दू कानून में नजीरों द्वारा हेरफेर हो गया है तो उपरोक्त पक्ष के ऊपर भी वह उपशाखा उस हेरफेर के समेत प्रयुक्त होगी।[1] यदि वह

१. देखिए "लछमन ब० झागर" (१९३९) इलाहाबाद ४०६।

हेरफेर नजीरों द्वारा नहीं अपितु मातृप्रदेशीय परिनियम द्वार. पुनः स्थापित हुआ हो, तो उपरोक्त पक्ष पर ऐसा हेरफेर लागू नहीं कि ा जा सकता, क्योंकि प्रदेशीय परिनियम का प्रभाव उसी प्रदेश में अवरुद्ध रहता है। परन्तु याद रहे कि प्रदेश के भीतर अवस्थित भूमि के अवक्रमण के ऊपर वहाँ का परिनियम अवश्य लागू किया जायगा; इसकी अपेक्षा किये बिना (या बिना लिहाज) कि भूमिपति किसी अ य प्रदेश में बसा है अथवा किसी अन्य उपशाखा (सम्प्रदाय, स्कूल) का अनुयायी था या है।[1]

यह भी याद रखने की बात है कि भारत भर के सारे हिन्दू अधिवासी भारत के अधिवासी माने जाते हैं, न कि अलग-अलग प्रान्तों के। इस बात का एक उदाहरण लिया जाय; मान लीजिए कि कुछ भूमि अवस्थित है इलाहाबाद हाईकोर्ट के अधिक्षेत्र में, कुछ बम्बई हाईकोर्ट के अधिक्षत्र के भीतर और दोनों का एक बंगाली भूमिपति सन् १९५५ ई० (यानी हिन्दू कोड के पूर्व) में परलोक गामी हो जाता है। बंगाली तो एक भारतीय माना जायगा, किन्तु उसका दायाद चुना जायगा दायभाग कानून के उस निर्वचन के अनुसार जो उन हाईकोर्टों ने किया हो। यदि निर्वचन में अन्तर है तो यह सम्भव है कि उसी दायभाग कानून के अन्तर्गत दो विभिन्न दायादों का चुनाव उस सम्पत्ति पर हो जाय। नजीरी कानून के दोष और संहिताकरण की वांछनीयता का यह एक उदाहरण है। दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि प्रान्तों के पुनः संगठन के सिलसिले में यदि कोई भूखण्ड एक हाईकोर्ट के अधिक्षेत्र में से निकाल कर अन्य हाईकोर्ट के अधिक्षेत्र के भीतर डाल दिया जाय तो भी निवासियों के व्यक्तिगत कानून में परिवर्तन नहीं होता है। यह बात कानूनी लोगों को विदित है कि मिताक्षरा कानून के निर्वचन के ऊपर मद्रास व बम्बई हाईकोर्टों में तीक्ष्ण मतभेद है। अतः बम्बई वाले निर्वचन को मद्रास में मान्यता नहीं मिलती। अर्थात् बम्बई हाईकोर्ट जिस बात अथवा नियम को मिताक्षरा-सम्मत मानता है वह उसके अधीनस्थ सारे प्रान्त में शुद्ध कानून माना जायगा और जब उस प्रान्त में से कोई भूभाग निकाल कर मसूर हाईकोर्ट के अधीनस्थ प्रान्त में मिला दिया जाता है तो भी उस भूभाग के नागरिकों पर वही कानून लागू होना चाहिए।[2] अस्तु, यह तो धर्मशास्त्र रूपी प्रथम स्रोत की चर्चा हुई।

प्रथा या रिवाज

"हिन्दू विधि" का दूसरा स्रोत है सदाचार, समय, चरित्र, प्रथा या रिवाज। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है—

१. देखिए "केशव ब० राम" (१९४६), मैसूर ला जर्नल २५—पृष्ठ ९४।

२. देखिए, प्रो० जे० डी० एम० डेरेट कृत "माडर्न हिन्दू ला", पृ० २५–२७।

श्रुतिः प्रमाणं न स्मृतिः प्रमाणं नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

हारीत ने कहा है—

साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते ॥ (पराशरमाधवीय)

मनु ने कहा है—,

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥ (४–१७८)

बृहस्पति ने कहा है—

देश जाति कुलानां च ये धर्मास्ते प्रवर्तिताः ।
तथैव ते पालनीयाः प्रक्षुभ्यन्त्यन्यथा प्रजाः ॥

इस प्रकार के कई स्मृति वाक्यों ने सदाचार को मान्यता प्रदान की है। युक्ति यह है कि शिष्टों व धर्मज्ञों के आचरण एवं प्रथाएँ वेदानुकूल होती हैं, क्योंकि वे श्रुति-स्मृति के ज्ञाता समझे जाते हैं। यदि किसी प्रचलित प्रथा की परिपुष्टि में धर्मशास्त्र का वाक्य न मिल रहा हो, तो यह अनुमान कर लेना चाहिए कि अनुमोदनकारी वाक्य विद्यमान था और शिष्टों को ज्ञात भी था, किन्तु स्मरण नहीं आ रहा है। अर्थात् श्रुति-स्मृति की परिपुष्टि के अभाव में भी प्रथा को प्रमाण मान लेना चाहिए। प्रथा को यहाँ तक महत्त्व दिया गया है कि स्मृति के पाठ के विपरीत भी उसको वरीयता मिलती है। मनुस्मृति स्वतः विहित करती है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ (१–८)

इसी आधार पर प्रिवी कौंसिल ने प्रायः सौ वर्ष हुए, यह निर्णय दे दिया है कि स्पष्टतया प्रमाणित आचार लिखित पाठों से अधिक वरीयता रखता है।[1] युक्तिवाद के दृष्टिकोण से इस बात का अनुमोदन एक अन्य तर्क से हो सकता है। विधिविज्ञान

१. देखिए "कलेक्टर आफ मदुरा ब० मुट्टू रामलिंग" १२, मू० इ० अपील्स ३९७, ४३६ और देखिए "भैया रामसिंह ब० भैया उगुरसिंह" १३, मू० इ० अ० ३७८, ३९० और देखिए "रून्शो पट्टी ब० राजेन्द्र" २, मू० इ० अ० ३२ और "जगदम्बा ब० सेक्रेटरी आफ स्टेट" १६, कल० ३७५। देखिए "बलवन्त राय ब० बाजी राव" ४८, कल० ३०। देखिए "वी० कोने ब० वी अम्मल" (१९२८) ५१, मद्रास–१–१०८।

के मुख्य सम्प्रदायों में एक का नाम है ऐतिहासिक, जिसका जन्म १८१४ ई० में श्री सैविनी के मस्तिष्क में हुआ था, और जो एक लहर उस तूफान रूपी युक्तिवाद की थी जो यूरोप में १८वीं शताब्दी में उमड़ पड़ा था। युक्तिवाद के आदि प्रवर्तक श्री ग्रोशियस (१५८३–१६४५) की प्रसिद्ध उक्ति यह है—"निश्चयात्मक कानून रूपी शिशु के जनक-जननी तो हैं प्राकृतिक कानून, तथा मानवीय प्रकृति है उसकी पिता-मही।" ऐतिहासिक सम्प्रदाय का तर्क यह है कि कानून का उद्‌गम न तो सार्वभौम का आदेश है और न समाज की आदतें, अपितु न्याय की स्वजात प्रेरणा-जनित वह चेतना जो प्रत्येक जाति के मानस में आसीन रहती है। अतः जाति के चरित्र, आचार, समय या प्रथाएँ स्वतः कानून के प्रमाण होते हैं, उसकी वैधता के रहस्य होते हैं।[१] उपरोक्त मत का एक अंश में समर्थन आपस्तंब के इन दो सूत्रों से होता है—"**अथातः समयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः**।" (१–१–१) जिसकी टिप्पणी में हरदत्त ने कहा है—"**समयाचारिकाः पौरुषेयी व्यवस्था**", अर्थात् जनता की रीतियाँ व निरूढ़ियाँ, और '**धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्, वेदाश्च**।" (२–३)

प्रिवी कौंसिल ने प्रथा की परिभाषा करते हुए कहा है—"किसी विशेष कुटुम्ब या मण्डल के भीतर दीर्घ काल तक प्रचलित रहने से जिस नियम में कानून की शक्ति आ जाती है उसको प्रथा या रीति-रिवाज कहते हैं।"[२] इस परिभाषा से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्रथाएँ आम तौर से व्यापक कानूनी नियमों को काट देती हैं, क्योंकि कुछ एसी भी प्रथाएँ हैं जो उन नियमों की अनुपूर्ति करती हैं। प्रथाएँ तीन भाँति की होती हैं–(१)स्थानीय रिवाज, जो किसी स्थान के, यथा गाँव, नगर, मण्डल, प्रान्त या सारे देश के सब निवासियों के ऊपर बन्धनकारी हों। (२) श्रेणीय या वर्गीय प्रथाएँ, जो किसी वर्ण, जाति, पन्थ या वृत्ति, धन्धे, व्यवसाय के अनुयायियों में प्रचलित हों।(३) कुटुम्बी रीतियाँ जो विशेष कुटुम्बों के भीतर सीमित रहती हैं।

वैसे तो तीनों तरह की प्रथाओं के अनिवार्य अवयव समान हैं, जो आगे दिये जायेंगे, किन्तु प्राचीनता के विषय में श्रेणीय प्रथाओं के लिए एक विशेषाधिकार है। प्रिवी कौंसिल का मत है कि "जो प्राचीनता, ख्याति, एकरूपता लौकिक प्रथा के लिए कही गयी है वे श्रेणीय प्रथा पर लागू नहीं होतीं। सम्भव है कि श्रेणीय प्रथा अभी प्रौढता ही प्राप्त कर रही हो, अतः प्रत्येक मामले में उसका प्रमाण देना पड़े। किन्तु यदि वह इस हद तक विख्यात और अंगीकृत हो चुकी हो तो पर्याप्त होगा कि ऐसी

१. देखिए, जी० डब्लू० पेटन रचित 'जूरिस्प्रूडेन्स', पृ० १६।

२. देखिए "हरप्रसाद ब० शिव" ३, इ० अपील्स २५९, २८५।

पूर्व धारणा की जा सके कि दोनों पक्षों ने उस प्रथा को अपनी संविदा में उपनिहित या ध्वनित मान लिया था।"[1] दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि कुटुम्बी व स्थानीय प्रथाओं के बीच में भी अविरामता के विषय में एक भेद है। कुटुम्बी प्रथा के विराम का फल होता है उसका निर्वापण या समाप्ति, किन्तु स्थानीय प्रथा के ऊपर विराम का यह फल नहीं होता, क्योंकि वह तो एक ऐसा क्षेत्रीय कानून बन जाता है जो सब निवासियों पर बाध्यकारी होता है। जैसे राष्ट्रीय कानून के कतिपय उल्लंघनों से उसका निर्मूलन नहीं होता, वैसे ही स्थानीय प्रथा का विघटन नहीं हो सकता।[2] इन दोनों अन्तरों को याद रखकर प्रथा के अनिवार्य अवयवों को देखना चाहिए।

(१) प्रथा को एक ऐसा नियम होना चाहिए जिसमें बहुकालीन एक समता और निरन्तरता के गुण हों। बहुकालीन या स्मरणातीत का माप याज्ञवल्क्य ने १०० वर्ष माना है (देखिए मिताक्षरा २–२७) और नजीरों में लगभग ४० वर्ष तक माना गया है।[3] (२) चिरकालीन प्रचार के कारण प्रथा में कानून के समान बन्धनकारी सामर्थ्य आ चुकनी चाहिए। (३) उसको निश्चित होना चाहिए। जो पक्ष प्रथा का अभिकथन करे उसका यह कर्त्तव्य है कि उसके यथार्थ रूप का वर्णन करे और सिद्ध करे। संदिग्धता एक घातक दोष होता है। जैसे यह कहना कि लड़की को दायप्राप्ति में भाग मिलता है और भाग की मात्रा न खोलना इत्यादि।[4] (४) उसको युक्तिहीन या अनैतिक नहीं होना चाहिए और न अधिनियम अथवा लोककल्याण नीति के विपरीत।[5]

साधारण कानूनी नियम को अतिदेश के प्रयोग से विस्तृत किया जा सकता है।

१. देखिए "जगमोहन ब० मनीचन्द" ७, मूर्स० इ० अपील्स २६९, २८२।

२. "राजकिशन ब० राम जय" (१८७६) १, कल० १८६, १९६।
"सर्वजीत ब० इन्द्रजीत" (१९०५) २७, इलाहाबाद २०३।

३. "गोकुलचन्द्र ब० प्रवीनकुमारी" ए०आई०आर० (१९५२), एस०सी० २३१।
"सुभानी ब० नवाब" (१९४५) ६८, आई० ए० १
"एन० वेंकट ब० टी० भुजंगैया" ए०आई०आर० १९६० ए० एन०पी० ४१२।

४. "रामलक्ष्मी ब० शिवनाथ" १४, मू० इ० अ० ५७०, ५८५।
"मीरा बीबी ब० देलायन्ना" ८, मद्रास ४६४।
"गुलाबचन्द ब० मन्नी लाल" १६, लखनऊ ३०२।

५. "शिवनारायण ब० भूतनाथ" ४५, कल० ४७५, ४७९।
"वालू सामी ब० रामकृष्ण" १९५७, मद्रास ९७।
"राजा ब० रावी" ४, इ० अपील्स ७६।

किन्तु इस उपाय का प्रयोग प्रथा के सम्बन्ध में नहीं होता है। प्रथा मान्यता का नहीं अपितु वस्तुस्थिति का विषय है, अतः उसको निगमन को रोति से सिद्ध करना चाहिए।[१] प्रथा का अर्थ बड़ो कठोरता व अशिथिलता के साथ लगाया जाता है।[२] पंजाब में अदालत उन रिवाजों की न्यायिक सूचना ले लेतो है जो रिवाजे आम या रैटिगन साहब के निबन्ध (१८७६) में उल्लिखित हों। अन्य प्रदेशों में कहीं-कहीं वाजिबुल-अर्ज पाय जाते है या कोई-कोई प्रथा इतनी दफ या हद तक प्रमाणित हो चुकी होती है कि अदालत को न्यायिक सूचना लेनी पड़ती है। दृष्टान्त देकर प्रथा को प्रमाणित करना, यह तो श्रष्ठतम उपाय है ही, जैसा कि कहा जा चुका है। किन्तु इस तरह का व्यापक साक्ष्य भी पर्याप्त मान लिया जाता है, जैसे कहना कि जाति या बिरादरी के सदस्यों के व्यवहार की व्याख्या हो हो नही सकती यदि अमुक प्रथा प्रचलित न होती।[३]

नजीरें

आधुनिक विधिविज्ञान में कानून के दो स्रोत माने गय हैं; यानी विधान तथा नजीरें। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दू विधि के प्रायः सब महत्वपूर्ण प्रश्नों के ऊपर हाई कोर्टों, प्रिवो कौंसिल और सुप्रोम कोर्ट के निर्णय निकल चुके हैं। प्रिवो कौंसिल तथा सुप्रोम कोर्ट के निर्णय भारत की सारी अदालतों पर बाध्यकारी होते हैं और यद्यपि एक हाई कोर्ट के निर्णय अन्य हाई कोर्ट पर बाध्यकारी नही होते तथापि वे अधीनस्थ अदालतों के ऊपर पूरी बाध्यकारिता रखते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दू विधि का प्रमुख स्रोत नजोरों का भण्डार हो है। इस भण्डार के उद्गम चार प्रतीत होते हैं, यथा—(१) वह निष्कर्ष जो धर्मशास्त्रों के पाठों का अदालतें अपनी मति के अनुसार निकाला करती थीं। (२) शास्त्राज्ञाओं में से वह चुनाव जो अदालतें इस सिद्धान्त के ऊपर करती रहती थीं कि प्रशासन की

१. "सरस्वती ब० जगदम्बल", ए० आई० आर० १९५३, एस० सी० २०१।
२. "अल्लाह ब० सोना", ए० आई० आर० १९४२, इलाहाबाद ३३१।
"मुन्नालाल ब० राजकुमार", ए० आई० आर० १९६२, एस० सी० १४९३।
३. "अहमद ब० चन्नी" (१९२५) ५२, इ० अपील्स ३७९।
"विष्णु ब० रामेश्वरी" (१९२८) ५५, इ० अ० ४०७।
"बालगोविन्द ब० बद्री प्रसाद" ५०, इ० अ० ४१३।

व्यावहारिक आवश्यकताओं के निमित्त क्या हितकर होगा। (३) पाश्चात्य न्यायतंत्र वाले "फैक्टम वैलेट", "स्टारे डेसाइसिस" इत्यादि सूत्र, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। (४) सार्वभौम रूप से प्रयोज्य न्याय, औचित्य, शुद्ध अन्तःकरण वाला अवशिष्ट सिद्धान्त।[1] नजीरों वाला कानून चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध अब तो वह स्थायी बन गया है। उसके आधार पर अगणित स्वत्वों का निर्माण और विघटन हो चुका है। न जाने कितनी आशाओं-प्रत्याशाओं को प्रोत्साहन मिल चुका है और कितनों के ऊपर पानी फिर गया है। निर्णयों की एक लम्बी भरी-पूरी नदी बन गयी है, जिसमें शुद्धियाँ-अशुद्धियाँ घुल-मिलकर एकाकार हो चुकी हैं। उसके प्रवाह को इतने विलम्ब के बाद परिष्कार और संशोधन के नाम पर पलटना तो असम्भव है, रोकना या मन्द करना भी सम्बन्धित हितों के लिए हानिप्रद होता है। हाँ, अनिवार्यता की तो बात ही और है।[2] इसलिए नजीरों के संशोधन करने की आशा छोड़ दी गयी है।

विधान मंडल

कानून का दूसरा आधुनिक स्रोत विधान है। उसके माध्यम से पिछली शताब्दी से लेकर सन् १९५५ ई० तक हिन्दू विधि के जो रूपान्तर हो गये थे उनका उल्लेख किया जा चुका है। सन् १९५५ ई० में "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" पारित हुआ तथा सन् '५६ में तीन और अधिनियम पारित हुए। इन चारों के सम्पुट को "हिन्दू कोड" भी कहते हैं। इसका थोड़ा सा इतिहास द्रष्टव्य है। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के चार्टर ऐक्ट १८३३ के अनुसार भारत के न्यायिक प्रशासन में सुधार करने के लिए ला कमीशन या विधि आयोगों की नियुक्ति की योजना की गयी थी। पहला आयोग सन् १८३४ में नियुक्त हुआ और दूसरा सन् १८५६ में। दूसरे आयोग ने हिन्दू कानून और मोहम्डेन कानून के संहिताकरण के विरुद्ध प्रतिवेदन दिया और कहा कि "नागरिकों की दशा देखते हुए हम लोगों की राय में इस प्रकार का विधान उनकी क्रमबद्ध प्रगति में उन्नति करने के बजाय बाधा डालेगा। इसके विरुद्ध जो दूसरी आपत्ति है वह हम लोगों को निश्चयकारक लगती है हिन्दू कानून और मोहम्डन कानून का प्राधिकार क्रमशः हिन्दू तथा मुसलिम धर्म से उपजा है। निष्कर्ष यह निकला कि चूँकि ब्रिटिश विधान-मण्डल हिन्दू

१. देखिए प्रो० जे० डी० एम० डेरेट कृत 'माडर्न हिन्दू ला', पृष्ठ ८।

२. "श्रीनिवास ब० नारायन", ए० आई० आर० (१९५४), एस० सी० ३७९। "दोलगोविन्द ब० निमाई" (१९६०), ऐन० सी० जे० ८७९, ८९१।

व मुसलिम धर्मों का प्रवर्तन नहीं कर सकता, इसलिए वह हिन्दू कानून और मोहम्डेन कानून का भी निर्माण नही कर सकता।"[१] तीसरे व चौथे (१८६१ व १८७९) आयोग ने भी हिन्दू-मोहम्डन कानूनों में हस्तक्षेप नहीं किया। सन् १९४१ ई० में सरकार ने "हिन्दू ला कमेटी" नियुक्त की जो सन् १९४४ में पुनरुज्जीवित होकर प्रसिद्ध विधि-वेत्ता स्वर्गीय सर बेनेगल नरसिंह राव की अध्यक्षता मे अधूरे कार्य को समाप्त करने के लिए फिर से बैठी। उसको यह कार्य भी सम्पन्न करना था कि देश के प्रान्तों में प्रचलित हिन्दू कानून की विविध शाखाओं के सर्वाधिक प्रगतिशील अवयवों को सम्मिश्रित करके हिन्दू कानून को एक संहिता के स्वरूप में विकसित करे, जो सब हिन्दुओं पर लागू हो सके। उस समिति ने संहिता का प्रारूप उपस्थित भी किया। उसके ऊपर आधारित विधेयक पार्लियामेण्ट में बहुत दिन अटका रहा क्योंकि उससे देश भर में क्षोभ, उत्तेजना व आन्दोलन फैल गया। तब सरकार ने यह तय किया कि हिन्दू कानून सम्पूर्ण रूप में नही खण्ड-खण्ड करके पारित किया जाय। यद्यपि सम्पूर्ण संहिता होने से सुधार की गुंजाइश अधिक रहती है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से चार खण्डों को फिलहाल पारित कर लेना ही ठीक था। "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" मई सन् १९५५ मे, "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" जून सन् '५६ में, "हिन्दू माइनारिटी एण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" अगस्त सन् '५६ में और "हिन्दू एडाप्शन एण्ड मेण्टिनेन्स ऐक्ट" दिसम्बर '५६ मे पारित हुए।

यद्यपि "हिन्दू कानून" विधेयक का विरोध देश भर में काफी उठा था, तथापि यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन काल से अंग्रेजी शासन काल तक हिन्दू व्यवहार विधि स्थैतिक कभी नहीं थी, अपितु उसमे निरन्तर प्रगति होती रही है। यह भी मानना पड़ेगा कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्त्तनों के कारण हिन्दू समाज का अग्रगामी भाग हिन्दू विधि में ठोस और आमूल हेर-फेर करने का आग्रह कर रहा था और इसका उपाय मात्र संहिताकरण ही था। परस्पर विरोधी नजीरों की संकुलता भी इतनी बढ़ गयी थी कि हिन्दू विधि में नवीन भ्रम और शंकाएँ उठती जा रही थीं। उनके निवारण का भी मात्र उपाय संहिताकरण था।

जनमत पुरुषों के बहुविवाह का विरोधी और इसके पक्ष में था कि उत्तराधिकार के नियम औचित्यपूर्ण और अधिक उदार बनाये जायँ। अतः "हि० मै० ऐक्ट" ने यह नया नियम बना दिया कि एक-पत्नीव्रत का निष्पादन किया जाय और बहु-विवाह को जुर्म मानकर दण्डनीय बनाया जाय। हिन्दू विवाह की पद्धति अति सरल कर दी गयी।

१. बी० के० आचार्य कृत "कोडीफिकेशन इन इण्डिया।"

अब कोई भी हिन्दू पुरुष चाहे तो अपना विवाह उक्त विधि से करा सकता है। हिन्दू शब्द में बौद्ध, सिक्ख, जैन अन्तर्निहित है। न्यायिक वियोग, विवाह की नास्तिता की घोषणा और तलाक इस अधिनियम के अधीन अनुज्ञात हो गये हैं। "हि० मै० ऐक्ट" के ये प्रधान अंग हैं। उसी तरह से "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" काल की उन विलक्षणताओं को प्रतिबिम्बित करता है जो उच्च आदर्शों और सवेग परिवर्तनशील मूल्यों व मान्यताओं के रूप में प्रकट होती दिखाई दे रही हैं। इस अधिनियम का प्रखरतम रूप यह है कि दायप्राप्ति का जो क्रम उसमें विहित है वह सारे देश के लिए एकरूप है। दूसरे, हिन्दू पुरुष हो अथवा स्त्री, उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम अति ऋजु कर दिये गये हैं। तीसरे, इस अधिनियम के आरम्भ के बाद जिस हिन्दू पुरुष की मृत्यु इच्छापत्र विहीन घटित होगी, उसकी सम्पत्ति समान भागों में उसकी माता, विधवा, पुत्र तथा पुत्री के ऊपर अवतरित होगी। चौथे, योनि के आधार पर दायादों के बीच जो भेदभाव था वह मिटा दिया गया है। पाँचवें, हिन्दू स्त्री के कब्जे में जो सम्पत्ति रहेगी वह उसकी ऐसी परम सम्पदा मान ली जायगी जिसके हस्तान्तरण या इच्छापत्र लिखने की उसको पूरी सामर्थ्य है। सम्पत्ति सम्बन्धी रोकथाम तथा मर्यादाएँ, जो अभी तक स्त्री के अधिकार को सीमित या अवरुद्ध करती थीं वे विघटित कर दी गयी हैं।

"हिन्दू माइनारिटी एण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" में विशेषतः यह विहित किया गया है कि कौन लोग हिन्दू नाबालिग (पोगण्ड) के प्राकृतिक एवं इच्छापत्रीय अभिभावक नियुक्त हो सकते है, तथा पोगण्ड की अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण और प्रबन्ध के विषय में उनको कौन-कौन से अधिकार प्राप्य हैं। प्राकृतिक, इच्छापत्रीय और वास्तविक अभिभावकों के ऊपर नाबालिग की सम्पत्ति के विषय में समान नियंत्रण विहित करके इस अधिनियम ने उन अनेकों नजीरों को निराकृत कर दिया है जिनमें वास्तविक अभिभावक की यह सामर्थ्य स्वीकार कर ली गयी थी कि आवश्यकता उपस्थित होने पर वह पोगण्ड की अचल सम्पत्ति का हस्तान्तरण कर सकता है।[१] इस अधिनियम की विशषताएँ तो यही मालूम देती हैं। आम सिद्धान्त नये तथा पुराने दोनों ऐक्टों का यही है कि नाबालिग के सम्बन्ध में जो भी कार्रवाई की जाय उसमें पोगण्ड के कल्याण का आद्योपान्त सर्वोच्च ध्यान रखना अदालत का कर्त्तव्य है। इस अधिनियम

१. देखिए, ६ मू० इ० अ० ३९३। २० इलाहाबाद १३५।
४ कल० ७६। ४५ इलाहाबाद ७७।
२० बम्बई २८६। ५३ बम्बई ४१९।

का अंग्रेज था १८९० का "गार्जियन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट।" उसने हिन्दू नाबालिग के प्राकृतिक और वास्तविक अभिभावक के अधिकारों व दायित्वों के निमित्त कोई नियम नहीं गढ़े थे। जो नियम थे वे अदालत से नियुक्त होने वाले अभिभावक पर ही लागू थे। इस नये अधिनियम ने सर्व प्रकार के अभिभावकों के अधिकारों को नियंत्रित और विहित तथा स्पष्ट करके एक-सम कर दिया है।

"हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टिनैन्स ऐक्ट" में दत्तक ग्रहण और आश्रितों के पोषण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। हिन्दुओं मे पुत्र का तो दत्तक-ग्रहण प्रचलित था किन्तु पुत्री का नही; यद्यपि नन्द पडित प्रणीन "दत्तकमोमांस" मे पुत्र और पुत्री दोनों के दत्तक-ग्रहण से समान पारलौकिक लाभ की प्राप्ति का वर्णन आया है। इससे प्रतीत होता है कि पुत्री का दत्तक-ग्रहण शास्त्र-विपरीत नही है। और फिर हमारे संविधान ने योनि के आधार पर नागरिकों मे किसी भाँति का भेद-भाव करना वर्जित कर दिया है। इसी लिए इस अधिनियम में पुत्र तथा पुत्री दोनों के दत्तक-ग्रहण को मान्यता प्रदान की गयी है। यही इस अधिनियम का मुख्य स्वरूप है। इसी अधिनियम में पोषण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख हुआ है, जिसके प्रधान अंग निम्नोक्त हैं—पत्नी के पोषण का समाज्ञापक भार पति के ऊपर तथा वैध या अवैध नाबालिग सन्तान का भार माता-पिता पर, वयोवृद्ध एवं अशक्त माता-पिता का पोषण भार पुत्र और पुत्री दोनों के ऊपर डाला गया है। आश्रित व्यक्तियों के पोषण का भार मृतक पुरुष और नारी दोनों की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर डाला गया है। योनि के ऊपर आधारित भेदभाव को मिटाने का प्रयास इस अधिनियम में भी दृष्टिगोचर होता है।

इन चार अधिनियमों में समावेष्टित जो कानून है उसके स्रोत यही अधिनियम हैं। इस अधिनियम-चतुष्टय के विरोध में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देश में जो उत्तेजना फैली थी उसका अनुमान इस अर्थगर्भित उदगार से हो सकता है--

"जो कुछ चाहें उनको पारित कर लेने दो। हम लोग अदालतों से दूर रहने का भरसक प्रयत्न करेंगे। रही हिन्दू कोड कहे जाने वाले विधेयक की बात; उनको मन-मानी संहिता गढ़ लेने दो, किन्तु इतनी दया हो कि उसको हिन्दू विधि (ला) की संज्ञा न दें, क्योंकि वह हिन्दू विधि (ला) कदापि नहीं है!" देखिए ए० आई० आर० (१९५३) पत्रिका का पृष्ठ ५२। सोचने की बात यह है कि जब नजीरों के द्वारा धर्मशास्त्र का रूपभेद होता रहा तब तो उसे "हिन्दू ला" कहने में किसी हिन्दू विधि-विज्ञ या महान् वकील, वैरिस्टर को आपत्ति नहीं हुई, अब क्यों हो रही है? दूसरे, धार्मिक मतों, कृत्यों व संस्कारों तथा आध्यात्मिक व पारलौकिक विद्याओं और दर्शनों में परिवर्तन या हस्तक्षेप करने का अधिकार शासन को न हो, तो यह ठीक लगता

है। किन्तु व्यवहार विधि (दीवानी मामले) को व्यापक धर्म का एक अंग मानते हुए भी, उसका पृथक्करण याज्ञवल्क्य, नारद प्रभृति स्मृतिकारों को वांछनीय और आवश्यक क्यों लगा ? क्यों कि व्यवहार विधि एक लौकिक विद्या है और इसी कारण से वह रूप-भेदों की पात्र है। वस्तुतः स्मृतिकाल में और उनकी व्याख्याओं व निबन्धों के काल में भी व्यवहार विधि मे परिवर्तन होते रहते थे। तब शासन के द्वारा रूप-भेद करने में आपत्ति अब क्यों होती है ? क्या रूप-भेद की क्रिया में नहीं, क्रिया के माध्यम में आपत्ति है ? तो तीसरे, यह सोचना चाहिए कि पुरातन काल के तपस्वी, निस्संग, निर्विकार ऋषि अब कहाँ मिलेंगे जो परिवर्तन के माध्यम बन सकें ? माध्यम भी तो काल की अनुहारिता करते हैं। आजकल सचार के साधन तार और वायरलैस हैं; परिवहन व यातायात के साधन रेलगाड़ी व वायुयान हैं। उसी तरह से वर्तमान युग के उपयुक्त हिन्दू ला में परिवर्तन करने का साधन है "विधान मण्डल।" उसको छोड़कर किस माध्यम का प्रयोग किया जा सकता है ?

यहाँ यह देख लिया गया कि हिन्दू विधि (ला) के स्रोत कौन-कौन हैं। यथा—(१) आदि-मूल वेद माने गये हैं। (२) धर्मसूत्र, स्मृतियाँ और एक अर्थ में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जो धर्मसूत्रों के अनन्तर तथा स्मृतियों के पूर्व प्रणीत हुआ था। (३) स्मृतियों की व्याख्याएँ, टीकाएँ व निबन्ध। (४) सदाचार या प्रथाएँ, चरित्र, समय या रिवाजें। (५) प्रिवी कौंसिल, हाई कोर्टों, फेडरल कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट की नजीरें। (६) विधान—ब्रिटिश शासन काल वाले अधिनियम तथा १९५५–५६ वाले अधिनियम-चतुष्टय।

प्रकरण ३

हिन्दू विधि की शाखाएँ तथा अन्य व्यापक बातें

ऊपर कहा जा चुका है कि "हिन्दू विधि" की दो शाखाएँ या सम्प्रदाय हैं—**मिताक्षरा,** जो बगाल व असम को छोड़कर भारत भर मे प्रतिष्ठित है, और **दायभाग,** जो बंगाल व असम में केवल उन प्रश्नों पर मिताक्षरा से वरीयता पाता है जिन पर दोनों मे मतभेद है। दायभाग व मिताक्षरा का मतभेद मुख्यतः चार प्रकार का है—(१) मिताक्षरा से प्रतिपाद्य इस मान्यता को दायभाग अस्वीकार करता है कि रिक्थ या सम्पत्ति में जन्म द्वारा स्वत्व पैदा हो जाता है। इस मान्यता का नाम है **जन्म-स्वत्ववाद**। दायभाग की मान्यता का नाम है **उपरम-स्वत्ववाद,** अर्थात् मृत्यु घटित होने पर ही स्वत्व पैदा होता है। (२) दायभाग का यह मत है कि दायप्राप्ति का हक तथा दायादों का क्रम इस विचार के द्वारा निर्णीत है कि मृतक की आत्मा को किस हकदार से अधिक लाभ व शान्ति मिल सकेगी। इसके विपरीत मिताक्षरा कहती है कि उपरोक्त प्रश्नों का समाधान इस आधार पर होना चाहिए कि किस हकदार का रक्त-सम्बन्ध अधिक निकट पाया जाता है। (३) दायभाग का कहना है कि सयुक्त कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का कब्जा कुटुम्बीय सम्पदा के निश्चित अश पर रहता है। अथात् प्रत्येक सदस्य अपने अश का जानता रहता है, इसलिए वह अपने अंश का हस्तान्तरण भी कर सकता है। हस्तान्तरण के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसका अश नापजोख के उपरान्त सीमाबद्ध भी कर दिया जाय। इसके विपरीत मिताक्षरा का मत यह है कि संयुक्त कुटुम्ब भर का शामिलाती कब्जा सारी सम्पत्ति के ऊपर रहता है। जब तक बंटवारा नही होता, कोई सदस्य नहीं कह सकता कि मेरा अश इतना है, क्योंकि जन्म और मरण के कारण कुटुम्बियों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है और उसी हिसाब से सदस्यों के अश भी बदलते रहते हैं। अतः कोई सदस्य शामिलाती सम्पत्ति का आंशिक हस्तान्तरण नहीं कर सकता, जब तक सारे कुटुम्ब की अनुमति न हो। (४) दायभाग का मत है कि सयुक्त कुटुम्ब में भी पुत्रहीन विधवा अपने मृतक पति के अंश की उत्तराधिकारिणी हो जाती है, किन्तु मिताक्षरा में वह उत्तराधिकारिणी नही समझी जाती। "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट १९३७" ने इस अयोग्यता को अब दूर कर दिया है और "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट सन् १९५६" ने उक्त अधिनियम की परिपुष्टि कर दी है।

इन चार मुख्य भेदों के कारण दोनों शाखाओं में निम्नोक्त अन्तर प्रतीत होने लगे थे--(१) उपरम-स्वत्ववाद के फलस्वरूप दायभाग मे दाय प्राप्ति सदैव **सप्रतिबन्ध** होती है, **अप्रतिबन्ध** कदापि नही। यह याद रखने की बात है कि दोनों ही सम्प्रदायों मे दायाद वही होंगे, क्योंकि दाय की प्राप्ति दोनों मे सम्बन्ध के ऊपर निर्भर रहती है। अर्थात् पुत्र-पौत्रादि दोनों सम्प्रदायो मे दायाद माने जाते हैं—दायभाग में उस धार्मिक उपकार के कारण, जो मृतक को पुत्र-पौत्रादि के माध्यम से उपलब्ध होता है और मिताक्षरा में केवल रक्त की समानता के कारण। धार्मिक उपकार वाली मान्यता जीमूतवाहन के अपने मस्तिष्क की देन है। किसी अन्य ग्रन्थ में उसका उल्लेख नहीं मिलता। (२) जब दो या अधिक लोग किसी सम्पत्ति की दाय प्राप्ति करते हैं तो वे सह-आभोगी (टेनैण्ट्स इन कामन) दायभाग में, किन्तु संयुक्त-आभोगी (ज्वाइन्ट टेनैण्ट्स) मिताक्षरा म समझे जाते है। इस नियम में कुछ अपवाद है। (३) यदि दा या आधक सह-दायाद साथ ही साथ सयुक्त दाय को पात है, तो दायभाग में प्रत्येक दायाद का हक मात्र उस अश को समाहित करेगा जो तात्कालिक बटवारा होने पर उसका मिलता। इसके विपरीत मिताक्षरा मे उसका हक सारी सम्पत्ति को समाहित करता है। (४) दायभाग की पद्धति से ये दो वैधिक निष्कष निकलते हैं कि एक साझेदार बिना दूसरों की अनुमति के अपने अश को हस्तान्तरित कर सकता है, और यह कि सह-दायाद क आवभक्त अश पर उत्तरजीविता वाला सिद्धान्त अप्रयोज्य होता है। (५) चूँकि दायभाग पद्धति के अनुसार प्रत्येक साझेदार का अश निश्चित रहता है, इसालए बॅटवारा उस क्रिया को कहते है जिसके प्रयोग के बाद प्रत्येक साझेदार कह सक कि सम्पात्त का अमुक मापित और सीमित खण्ड मेरा है। इसके विपरीत चूंकि मिताक्षरा म काई भी साझेदार अपने अश की मात्रा जानता नही—अर्थात् कह नही सकता कि मेरा भाग पाँचवाँ है या तिहाई। इसालए बॅटवारा या संयुक्त कुटुम्ब का विघटन उसी क्षण सम्पन्न हा जाता है जब प्रत्येक साझेदार का अश निर्धारित हो जाय। याद रहे कि दानों सम्प्रदाय यह मानते है कि संयुक्त दशा मे हित का सह-स्वामित्व रहता है। अत: सह-स्वामित्व की समाप्ति ही पृथक्ता की असली कसौटी होती है। (६) मिताक्षरा के विपरीत, दायभाग के अनुसार पैतृक सम्पत्ति में पिता के जीते पुत्र का हक नही होता। इसलिए पिता के जीते पुत्र केवल उसकी रजामन्दी से और अपनी माता के उस आयु तक पहुँचने के बाद ही बॅटवारा करा सकता है जब सन्तान-जनन की संभावना न रह गयी हो। मिताक्षरा में पिता को पुत्र के बराबर, किन्तु दायभाग मे पुत्र का दुगुना हिस्सा मिलता है। यह न समझिए कि दायभाग में पिता को पैतृक सम्पत्ति के साथ मनमानी करने की पूरी छूट रहती है। न तो वह बिना आव-

श्यकता के उसका हस्तान्तरण कर सकता है और न अपने पुत्रों के बीच उसका असम विभाजन, और वह बटवारे के अवसर पर दुगुने से अधिक अंश भी नहीं ले सकता है। यद्यपि पुत्र पिता को बटवारे के लिए विवश नहीं कर सकता, तथापि पुत्र उसको पैतृक सम्पत्ति में से भरण-पोषण पाने के लिए बाध्य कर सकता है। (७) दायभाग के अनुसार पुत्र की स्वार्जित सम्पदा में भी पिता का आधा भाग होता है, किन्तु यदि उस सम्पदा को पैदा करने में कुटुम्बीय धन थोड़ा भी लगा हो तो वैसी स्वार्जित सम्पदा में भी पिता को पुत्र से दुगुना हिस्सा मिलना चाहिए। (८) यह भेद महत्वपूर्ण है कि 'दाय' व 'दान' दोनों "दा" धातु से निकले है जिसका अर्थ है देना, जिस शब्द में दाता का स्वामित्व अन्तर्निहित है। अतः उस स्वामित्व की समाप्ति के बिना न तो दान सार्थक हो सकता है, और न दाय का सूत्रपात। दूसरे शब्दों में, दाय का ध्वनित आशय स्वतः दायभाग के इस मत का समर्थन करता है कि दाय प्राप्ति तभी होती है जब सम्पत्ति किसी अन्य अर्थात् पिता की अनन्य रूप से हो, और जब उस स्वामी का उपरम अर्थात् शारीरिक किंवा व्यावहारिक निधन हो चुके।

इस आठवें भेद के तारतम्य में कुछ बातें उल्लेखनीय है। पहली बात यह है कि उपरोक्त भेद मिताक्षरा और दायभाग के प्रादुर्भाव के पहले से मौजूद था। मनु, नारद, देवल, जो बड़े प्राचीन स्मृतिकार है, तथा धारेश्वर व उद्योत जो महान् निबन्धकार गिने जाते हैं, उन्होंने "उपरम -स्वत्ववाद" को तथा याज्ञवल्क्य, विष्णु व बृहस्पति ने "जन्म-स्वत्ववाद" को अपनाया था। विश्वरूप की व्याख्या में भी, जो मिताक्षरा से प्राचीन है, जन्म-स्वत्ववाद का पक्ष लिया गया था। दूसरी बात यह है कि शंका उठती है कि उत्तराधिकार व दायप्राप्ति के नियम बंगाल तथा असम प्रान्तों में सारे भारत से भिन्न क्यों हो गये ? इसका संतोषजनक ससाधान नहीं मिलता। कुछ विज्ञ जनों का मत है कि बौद्ध धर्म का आधिपत्य तथा विदेशियों का प्रभाव इन प्रान्तों में प्रचुर था। कुछ विद्वान् कहते हैं कि उन प्रान्तों की आत्मा या प्रकृति बाकी देश से भिन्न है[1] और यही भेद का कारण है।

शायद पाठकों को यह जिज्ञासा हो कि उस समाज का रूप क्या था जिसमें हिन्दू विधि का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। आज भी ८० प्रतिशत के लगभग नागरिक ग्रामों में निवास करते हैं, पहले और भी ज्यादा थे। शहर पहले भी थ किन्तु इतने बड़े-बड़े नहीं, क्योंकि उद्योगीकरण इतने पैमाने तक नहीं हुआ था। एक या अनेक कुटुम्ब

१. देखिए, भारतरत्न महामहोपाध्याय काणे कृत "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३–पृ० ५५९–६०।

गाँवों में बसते थे। प्रत्येक गाँव के बीच में आबादी या बस्ती रहती थी, उसके चारों तरफ गोचर होता था। गोचर के बाद खेत होते थे। खेतों तथा गोचर को ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ अलग करती थीं।[1] समाज की इकाई कुटुम्ब होता था, न कि व्यक्ति। कुटुम्ब की साधारण स्थिति संयुक्त होती थी, यहाँ तक कि हिन्दू कुटुम्ब के विषय में यह पूर्व धारणा कर ली जाती है कि वह सयुक्त है।[2] पिता कुटुम्ब का कर्ता या मुखिया होता था, कभी-कभी कोई होनहार प्रवीण किन्तु कनिष्ठ सदस्य भी कर्ता मान लिया जाता था। उसके शासन और प्रबन्ध को सारा कुटुम्ब अपने को उसके अधीन मानकर स्वीकार करता था। सयुक्त कुटुम्ब की अवधारणा आत्मसंयम, समवेदना और त्याग के भावों और छोटों के द्वारा बड़ों के सम्मान पर अवलम्बित है। इन गुणों से क्षमा व पारस्परिक निर्भरता उपजती है। हिन्दू जाति में इसीलिए धर्म, न्याय व व्यवस्था के प्रति प्रेम पाया जाता है। वृद्धों, सामर्थ्य-हीनों, बच्चों, विकलांगों, अबला-जनों का भरण-पोषण सहज रूप से अपने आप होता रहता है। इस संस्था में गुणों के साथ दुर्गुण भी है। शायद यह काल-धर्म के प्रतिकूल है। इसका उत्सादन शायद इसी हेतु स होता जा रहा है।

दाय प्राप्ति के भेद

यह भी शंका हो सकती है कि दायप्राप्ति किस हालत में और उत्तरजीविता किस हालत मे पैदा होती है। मिताक्षरा के मत में सम्पत्ति का अवक्रमण दो प्रकार से होता है; एक तो उत्तराधिकार या दायप्राप्ति से, दूसरा उत्तरजीविता से। उत्तरजीविता का नियम सह-दायादता (सहभागिता, समांशिता) वाली सम्पत्ति (कोपार्सनरी प्रापर्टी) पर लागू होता है, जिसके अनुसार सह-दायादों का वृन्द सयुक्त रूप से उस सम्पत्ति का स्वामी होता है। अतः एक के मरने पर बाकी वृन्द सहज रूप से स्वामित्व को धारण कर कर लेता है, और इसमें न उत्तराधिकार का, न दायप्राप्ति का सवाल उठता है। दायप्राप्ति या उत्तराधिकार के नियम उस सम्पत्ति पर लागू होते [illegible] अनन्याधिकृत रूप से व्यक्तिगत हो और जिसका स्वामी बिना इच्छापत्र लिखे मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। इसके विपरीत दायभाग के संयुक्त परिवार में भी प्रत्येक सदस्य अपने विनिश्चित अंश का, न कि सदस्यों के साथ-साथ पूरी सम्पत्ति का, स्वामी

१. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ३—पृष्ठ १३४ तथा मनु, ८, २३७–२३८ और याज्ञ०, २, १६६–१६७।

२. "पी० अम्मल ब० एम० वेंकटचेला", १९२५ प्रि० कौ० ४९। "भगवानी ब० मोहन", १९२५ प्रि० कौ० १३२।

होता है और उसके स्वामित्व का रूप अनन्याधिकृत कल्प का होता है। इस मान्यता का फल यह है कि उत्तरजीविता का सवाल उठता ही नहीं, अपितु सम्पत्ति का अवक्रमण मात्र एक प्रकार से अर्थात उत्तराधिकार या दायप्राप्ति से होता है। इसीलिए दायभाग वाला अवक्रमण ऋजु लगता है। निम्नोक्त उदाहरण से उपरोक्त दोनों प्रकारों का स्पष्टीकरण हो जायगा। मान लीजिए कि लालता व राम संयुक्त कुटुम्ब के दो भाई एक मकान के स्वामी हैं और राम अपनी विधवा को छोड़कर मर जाता है। यदि मिताक्षरा विधान लागू है तो उत्तरजीविता वाले नियम से लालता पूरे मकान का एकल स्वामी बन जायगा। यहाँ यह अन्तर द्रष्टव्य है कि यदि दायभाग का विधान लागू है, तो लालता को आधे मकान का स्वामी तथा विधवा को अपने पति के दायाद के रूप में बाकी आधे मकान की स्वामिनी मानेंगे।

किसी सम्पत्ति का स्वामी या तो पुरुष होता है या स्त्री। स्त्री-स्वामित्व की दशा में सम्पत्ति की संज्ञा स्त्रीधन होती है और उसके अवक्रमण के नियम पृथक् हैं। दोनों दशाओं में सम्पत्ति के दायाद पुरुष भी हो सकते हैं और नारी भी। अब यह ज्ञातव्य है कि पुरुष मृतक की दायादा नारी वर्ग में से केवल पाँच को (बंगाल, मिथिला, बनारस उपशाखा) उत्तराधिकार दिया गया है; अर्थात् विधवा, पुत्री, माता, पितामही, प्रपितामही। किन्तु सन् १९२९ ई० वाले "हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" ने पौत्री, नातिन, बहन इन तीन नारियों को भी दायाद निर्धारित कर दिया था। द्रविड़ उपशाखा मे उपरोक्त आठ के अतिरिक्त भी कतिपय दायादाओं को मान्यता प्राप्त है। दायादों की सबसे बड़ी सारणी मयूख या महाराष्ट्री उपशाखा की है। सन् १९३७ ई० वाले "द हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट न० १८" ने सब उपशाखाओं की सारणी को और भी बढ़ा दिया। पिता से पहले मरे हुए पुत्र की विधवा को और ऐसे पुत्र की विधवा पुत्रवधू को, यदि उसका पति अपने बाबा से पहले मर गया हो, इन दो नारियों को भी सारणी मे शामिल कर लिया गया।

यह सिद्धान्त भी ध्यान में रखना चाहिए कि जितने पुरुष दायाद हैं, चाहे स्त्री के हों चाहे पुरुष के, वे अनुपाधि या अखण्ड स्वामित्व पाते हैं और जितनी नारी दायाद हैं, चाहे स्त्री की हों चाहे पुरुष की; वे खंडित या सोपाधि स्वामित्व पाती है। इस नियम में इतना परन्तुक और जोड़ना चाहिए कि बम्बई प्रान्त के भीतर कहीं-कहीं स्त्री दायाद को भी अखण्ड स्वामित्व मिल जाता है, और यह कि "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट सन् १९५६" की धारा १४ ने इस नियम में यह विहित करके पटरा बदल दिया है कि कुछ शर्तों के साथ सब स्त्री दायादाएं अखंड स्वामित्व प्राप्त करेंगी, चाहे सम्पत्ति उनको इस अधिनियम के पहले मिल चुकी हो या बाद में मिले।

उक्त कानून के अंग्रेजी वाक्यांश "फ्रेश स्टाक ग्राव डिसेण्ट" का आशय है सम्पत्ति के अवक्रमण के प्रारम्भ होने का बिन्दु, या वह व्यक्ति जिसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दायाद को दायप्राप्ति हो। उदाहरणार्थ, राम अपने भाई श्याम से अलग है और अपनी विधवा को छोड़कर मरता है। दायाद की हैसियत से विधवा सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी है, किन्तु वह **अवक्रमण का आरम्भिक बिन्दु** नहीं है, क्योंकि उसका स्वामित्व खण्डित या सोपाधि है। उसके मरने पर उसके व्यक्तिगत दायाद नही अपितु उसके भर्ता का व्यक्तिगत दायाद यानी श्याम उत्तराधिकारी बन जायगा। पहले अवक्रमण का आरम्भिक बिन्दु राम था किन्तु अब श्याम हो गया, चूँकि उसका स्वामित्व अखण्ड या अनुपाधि है, अर्थात श्याम के मरने के बाद स्वतः उसी का दायाद सम्पत्ति पायेगा। आम तौर से पुरुष दायाद ही, स्त्रीधन को छोड़कर बाकी सारी सम्पदा का अखण्ड स्वामी हो सकता था। किन्तु "हि० स० ऐक्ट" पारित होने के बाद दशा बदल गयी है और एक नारी दायाद भी अखण्ड स्वामी बना दी गयी है, अतः वह भी "अवक्रमण का आरम्भिक बिन्दु" बन सकती है।

प्रकृति को शून्यक या रिक्तता असह्य होती है। कानून का भी यही हाल है, उसमें भी स्वामित्व का पद खाली नहीं रह सकता। सम्पत्ति-स्वामी मरा नहीं कि स्वामित्व उसके दायाद में निहित हुआ नहीं। इस बात को यों समझिए कि राम एक पुत्र श्याम व एक पहले मरे हुए पुत्र के पुत्र गोविन्द को छोड़कर मरा। राम की निजी सम्पत्ति श्याम व गोविन्द में निहित हो जायगी। इसके बाद एक तीसरे, पहले मरे पुत्र के पुत्र शिव का जन्म होता है। शिव को उसमें भाग नहीं मिलेगा यदि वह राम के मरने के वक्त गर्भ में नहीं था, अर्थात् निहित हो चुकी हुई सम्पत्ति को शिव वियुक्त नहीं कर सकता, या शिव के जन्म की प्रत्याशा में स्वामित्व का अवक्रमण स्थगित नहीं रह सकता। इसमे इतनी विशेषता जान लेनी चाहिए कि उपरोक्त उदाहरण में श्याम और गोविन्द दोनों एक ही साथ राम के दाय को प्राप्त करेंगे, मानो वे एकल या सामूहिक दायाद हों। कारण यह है कि गोविन्द अपने मृतक पिता का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् यदि गोविन्द का पिता जिन्दा होता, तो श्याम का सह-दायाद बनता। अतः गोविन्द भी प्रतिनिधि के रूप में श्याम का सह-दायाद बन गया है। इसको **प्रतिनिधित्व वाला सिद्धान्त** कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रयोग पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र को छोड़कर अन्य दायादों पर नहीं किया जाता। यदि श्याम व गोविन्द राम की सम्पत्ति को बाँटें तो आधा-आधा भाग पायेंगे। यदि गोविन्द का एक दूसरा भाई कालू होता तो ये दोनों भाई चौथाई-चौथाई भाग पाते। अर्थात् श्याम, गोविन्द व कालू तिहाई-तिहाई भाग

न पाते। वैधिक भाषा में कहेंगे कि तीनों दायादों में **पितृ-परक** विभाजन होगा; **व्यक्ति-परक** नहीं होगा।

स्त्रीधन को छोड़कर नारी किसी अन्य सम्पत्ति में अखण्ड स्वामित्व (हिन्दू स० ऐक्ट के पहले) नहीं पाती थी और नारी दायाद या दायादों की मृत्यु के बाद सम्पत्ति का अवक्रमण उस व्यक्ति के ऊपर होता था जो अन्तिम अखण्ड स्वामी (जो पुरुष ही होता था) का दायाद हो। विधवा के मरने के बाद जिन अन्य खण्डित स्वामिनी अथवा अखण्ड स्वामी को उत्तराधिकार मिलता है उनको नजीरों में "रिवर्शनर" संज्ञा दी गयी है। इस अंग्रेजी शब्द का कोई यथार्थ संस्कृत पर्याय नहीं है। देखिए श्री पी० वी० काणे कृत 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', खण्ड ३ पृष्ठ ७११। "रिवर्शनर" को "प्रत्यावर्ती" या "उत्तरभोगी" कह सकते हैं और प्रत्यावर्ती पुरुष एवं नारी, कोई भी हो सकता है। उत्तरभोगी में कोई हक निहित नहीं होता, अतएव उसका हित एक हक नहीं, मात्र संयोग माना गया है। अंग्रेजी में ऐसे हित को "स्पेस सक्सेसिओनिस" या उत्तराधिकारी सयोग कहते है। योग, दैवयोग या सयोग का हस्तान्तरण निषिद्ध व अवैध होता है। अतः यदि राम अपनी विधवा, एक पुत्री व एक भाई छोड़कर मरे, तो पुत्री और भाई दोनों प्रत्यावर्ती सज्ञक हैं। न पुत्री अपनी माता के जीवन काल में, न भाई अपनी भावज के उपरान्त अपनी भतीजी के जीवनकाल में अपने उत्तराधिकारी सयोग का हस्तान्तरण कर सकता है। "ट्रान्सफर आफ प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा ६ में ऐसा हस्तान्तरण अवैध एवं शून्य घोषित हो चुका है। याद रहे कि उपरोक्त उदाहरण में विधवा की मृत्यु के बाद उसकी पुत्री प्रत्यावर्ती तो हुई, किन्तु इसलिए कि वह राम की दायाद है, न कि इसलिए कि वह अपनी माता की दायाद है। उसी तरह पुत्री के मरने पर राम के दायाद के नाते उसका भाई उत्तराधिकारी बनता है।

ऊपर बताया गया है कि मृतक की सम्पत्ति के यदि अनेक दायाद हैं तो वे दो प्रकार से दाय प्राप्त करते हैं—पितृ-परक और व्यक्ति-परक। ये पारिभाषिक शब्द हैं। पितृ-परक का उदाहरण दिखाया गया है। उसमें यदि स्पष्टीकरण ठीक न हुआ हो, तो अब समझ के साथ यह याद रहे कि पितृ-परक वाले उत्तराधिकार का नियम केवल दो दशाओं में प्रयोज्य है। एक तो जब पुरुष मृतक के दायाद हों उसके पुत्र, पौत्र व प्रपौत्र। दूसरे, जब नारी मृतक के स्त्रीधन के दायाद हों उसके पौत्र, दुहिता या दुहिता की पुत्रियाँ। इन दोनों दशाओं को सामान्य नियम का अपवाद मानना चाहिए। वह सामान्य नियम यह है कि यदि मृतक के कई दायाद हों और वे उससे समान सम्बन्ध रखते हों, तो वे सब बराबर-बराबर भाग पाते हैं। अर्थात् उन पर व्यक्ति-परक वाला

नियम लागू होता है। उदाहरणार्थ, यदि राम का एक भाई दो पुत्रों को और एक भाई तीन पुत्रों को छोड़कर उससे पहले मर चुके हों, तो राम के पाँचों भतीजे उसके दायादों के रूप में उसकी सम्पत्ति में बराबर भाग पायेंगे। इस नियम का हेतु यह है कि भतीजों के ऊपर प्रतिनिधित्व वाला उपरोक्त सिद्धान्त लागू होता ही नही। धर्म-शास्त्रों में लिखा है—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना। (याज्ञवल्क्य २–१२०)

समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।
तत्पुत्रा विषमसमाः पितृभागहराः स्मृताः॥ (बृहस्पति)

अविभक्ते ऽनुजे प्रेते तत्सुतं रिक्थभागिनम्।
कुर्वीत जीवनं येन लब्धेनैव पितामहात्॥
लभेतांशं स पित्र्यं तु पितृव्यात्तस्य वा सुतात्।
स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातृणां न्यायतो भवेत्।
लभेत तत्सुतो वापि निवृत्तिः परतो भवेत्॥ (कात्यायन)

अपितृका बहवोपि च भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च पितुरेकमंशं हरेयुः। सोदर्याणाम् अनेकपितृकाणांपितृतो दायविभागः। (कौ० अर्थ शा० ३-५)

एक मृतक के अनेक ऐसे दायाद हो सकते हैं जो समान रूप से उसके साथ सम्बन्धित हों; यथा राम के कई पुत्र या कई भाई, या कई भतीजे हो सकते हैं। ऐसे दायादों को **सह-दायाद** कहते है। सामान्य नियम तो यह है कि सह-दायादों की हैसियत सह-आभोगी की जैसी होती है। इस नियम मे कुछ अपवाद हैं, जैसा प्रकरण २ में कहा गया था। मिताक्षरा में चार तथा दायभाग में दो अपवाद मिलते हैं। दायभाग वाले हैं विधवाएँ और दुहिताएँ। ये दो सयुक्त-आभोगी होती हैं न कि सह-आभोगी और इन पर उत्तरजीविता का नियम लागू होता है। मिताक्षरा वाले चार अपवाद ये हैं-(१) ऐसे दो या अधिक पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र जो एक संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों की हैसियत से अपने पैतृक पूवज की वियुक्त या स्वाजित सम्पत्ति के उत्तराधिकारी बने हों। (२) ऐसी दो या अधिक दुहिताएँ जो एक सयुक्त कुटुम्ब के सदस्य की हैसियत से अपने नाना की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी बनी हों। बाकी दो वही हैं जो दायभाग में हैं, किन्तु इस सोपाधिता के साथ कि बम्बई प्रान्त की मयूख प्रणाली के अनुसार पुत्रियाँ अपने मृत पिता की सम्पत्ति में अखण्ड व अनन्याधिकृत स्वामित्व (ऐब्सोल्यूट स्टेट इन सेवराल्टी) पाती हैं।

ऊपर संयुक्त-आभोगी व सह-आभोगी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनके अंग्रेजी पर्याय क्रमशः हैं "ज्वाइण्ट टेनैण्टस" तथा "टेनैण्टस इन कामन"। असल में हिन्दू विधि के लिए ये अवधारणाएं अंग्रेजी कानून की देन मालूम होती हैं। सयुक्त सम्पत्ति के साझेदारों के ये दो प्रकार है—जब एक विलेख (या दस्तावेज) अथवा इच्छापत्र के द्वारा कोई सम्पदा दो या अधिक व्यक्तियों को शामिलाती दी जाती है तो उस अनुदान को सयुक्त-आभोग कहते हैं। अंग्रेजी कानून में जिन दो या अधिक जनों को सयुक्त आभोगी कहते हैं उनकी स्थिति हिन्दू विधि के समांशियों (कोपार्सनर्स) से मिलती है। इसलिए अतिदेश का प्रयोग करके समांशियों को सयुक्त आभोगी कहने की रीति पड़ गयी है। किन्तु दोनों अवधारणाओं में अन्तर है। एक तो, अंग्रेजी कानून का संयुक्त आभोग सदैव हस्तान्तरण से और हिन्दू विधि की समांशिता सदैव अवक्रमण से उपजती है। दूसरे, प्रत्येक संयुक्त आभोगी के सम्पत्ति में दो तरह के हक होते हैं, अर्थात् सारी सम्पत्ति में व्याप्त हक और साथ ही साथ अपने अविभक्त भाग में व्याप्त हक। इसके विपरीत समांशिता में प्रत्येक समांशी को मात्र एक तरह का हक रहता है, अर्थात् सारी सम्पदा मे व्याप्त होने वाला, और वह निश्चयपूर्वक अपना अंश जानता ही नहीं। फलतः अंग्रेजी कानून वाला सयुक्त आभोगी अपने अंश का हस्तान्तरण इच्छापत्र छोड़ कर सब प्रकार से कर सकता है। किन्तु हिन्दू कानून वाले समांशी को यह सामर्थ्य नहीं होती, क्योंकि वह अपने अंश को जानता ही नहीं। तीसरे, एक सयुक्त आभोगी जब स्वांश का हस्तान्तरण कर डालता है तो उसी क्रिया के द्वारा वह सयुक्त आभोग का विखण्डन भी कर सकता है। किन्तु एक समांशी के पास समांशिता के विघटन का मात्र एक उपाय होता है, अर्थात सम्पत्ति का विभाजन। चौथे, अंग्रेजी सयुक्त आभोग में चार तरह की एकता दीखती है; अर्थात कब्जे की, हित की, स्वत्व की और स्वत्वारम्भ के समय की। ध्यानपूर्वक विचार करने पर प्रतीत होगा कि हिन्दू विधि वाली समांशिता में इनमें से मात्र दो ही विद्यमान हैं, अर्थात कब्जे की और हित की एकता।

ध्यान रहे कि संयुक्त आभोग हिन्दू ला के लिए एक अपरिचित अवधारणा है।[1] यद्यपि मिताक्षरा में सयुक्त कुटुम्ब की संयुक्त सम्पत्ति उस अवधारणा से मिलती-जुलती है, और दायभाग में दाय प्राप्त करने वाली दो या अधिक विधवाओं तथा पुत्रियों के हक भी उसके समान होते है।

१. देखिए "बहू ब० राजेन्द्र" १९३३, प्रि० कौ० ७२।
"गौरीनाथ ब० गया" १९२८, प्रि० कौ० २५१।
"अमृतलाल ब० रजनी" २, इ० अपील्स ११३।

यह भी उल्लेखनीय है कि "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट १९५६" १७ जून, १९५६ को अभावशाली हो गया और उस अधिनियम ने हिन्दुओं के इच्छापत्रहीन उत्तराधिकार वाले सब नियमों का सहिताकरण कर दिया है। उत्तराधिकार वाले कानून में इस अधिनियम ने आमूल तथा मौलिक हेर-फेर कर दिये हैं, जिनकी सरसरी चर्चा दूसरे प्रकरण में प्रस्तुत की जा चुकी है। उसके लिए अभिभावी शब्द प्रयुक्त हुआ है। फलतः उस विषय से सम्बन्धित सारे पूर्ववर्ती नियमों को उस अधिनियम ने निरस्त कर डाला है; वे नियम धर्मशास्त्रीय, रूढ या परिनियमित चाहे जिस प्रकार के हों। तो फिर प्राचीन निरस्त कानून को जानने से क्या लाभ हो सकता है? इसके दो कारण हैं। कुछ अपवादों के सिवा उसके नियम भूतलक्षी (पूर्वकालव्यापी) नहीं किये गये हैं। इसका परिणाम यह है कि यदि सम्पत्ति का स्वामी १७ जून, सन १९५६ से पहले मर चुका हो, तो उसका अवक्रमण पूर्ववर्ती कानून द्वारा विनियमित होगा। अतः पूर्ववर्ती कानून भी जानना चाहिए, और फिर नये कानून की पृष्ठभूमि भी तो वही है। इसलिए भी पुराना कानून ज्ञातव्य है।

मृतक की परिभाषा

मृत्यु का उल्लेख ऊपर कई सन्दर्भों में आ चुका है। "हिन्दू विधि" में शारीरिक या भौतिक मृत्यु की ही तरह व्यावहारिक मृत्यु का परिणाम भी माना गया है। दोनों प्रकार की मृत्यु के बाद दायादों के लिए उत्तराधिकार का रास्ता खुल जाता है। संन्यास लेने से, तीव्र वैराग्य प्राप्त होने से तथा ऐसा घोर पाप करने से कि पातकी जातिच्युत हो जाय, मनुष्य की व्यावहारिक मृत्यु मान ली जाती है। उसी प्रकार से दत्तक पुत्र की दत्तक-ग्रहण होने के बाद अपने असली कुटुम्ब में मृत्यु गिनी जाती है, यथा—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्त्रिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ (मनु ९–१४२)

संन्यास के आधार पर मृत्यु का अभिकथन किया जाय तो यह सिद्ध करना अनिवार्य है कि संन्यास लेने की सारी विधि व क्रियाएँ पूरी तरह से करायी गयी थीं।[1] जब "कानून शहादत" में भौतिक मृत्यु की इस तथ्य से पूर्व धारणा कर ली जाती है कि उसका समाचार उसके सगे-सम्बन्धियों को सात वर्ष से नहीं मिला है, तो उसके

१. "सीतल ब० सन्त", ए० आई० आर० १९५४, एस० सी० ६०६।
"बलदेव ब० आर्य", ए० आई० आर० १९३०, इलाहाबाद ६४३।

दायाद उसकी सम्पत्ति को बाँट ले सकते हैं। किन्तु यदि दैवात् वह प्रकट हो जाय, तो कानूनी अवधि का ध्यान रखते हुए, वह उनसे अपनी सम्पत्ति वापस पा सकता है; अलबत्ता वह अन्तःकालीन लाभ नहीं पायेगा। जब दो ऐसे व्यक्तियों के मरण की तिथियाँ संदिग्ध हों जो एक दूसरे के दायाद होते, तो उत्तराधिकार का प्रश्न जटिल बन जाता है। इसके समाधान का "हि० स० ऐक्ट" की धारा २१ ने यह सरल उपाय विहित कर दिया है कि ज्येष्ठ व्यक्ति के पहले मरने की और कनिष्ठ व्यक्ति के बाद में मरने की पूर्व धारणा कर ली जाय।

प्रकरण ४

उत्तराधिकार या दायप्राप्ति—मिताक्षरा

सम्पत्ति के स्वामी की जब शारीरिक या व्यावहारिक मृत्यु हो जाती है तब उत्तराधिकार का सवाल उठता है। यदि मृतक ने कोई इच्छापत्र छोड़ा है तो उसको "इच्छापत्र सहित उत्तराधिकार" और यदि नहीं छोड़ा है तो उसको "इच्छापत्र रहित उत्तराधिकार" कहते हैं। इच्छापत्र सहित उत्तराधिकार के ऊपर अलग प्रकरण में कानून प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ पर इतना कह देना पर्याप्त है कि यद्यपि किसी को यह विहित करने का हक नहीं है कि मेरे मरणोपरान्त मेरी सम्पत्ति का भोग किस रीति से किया जाय; तथापि समाज ने कुछ नियम, प्रारूप, मर्यादाएँ, औपचारिकताएँ व नियम निर्धारित कर दिये हैं, जिनके अनुसार वह इस विषय में अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है और इन सीमाओं के भीतर कानून उसकी वांछाओं की पूर्ति को अधिकृत करेगा। यदि इस विषय में अपनी इच्छा निर्धारित रीति से घोषित किये बिना वह शरीर पात कर देता है, तो ऐसी आपत्ति का उचित उपबन्ध भी समाज किये रहता है। उन्हीं उपबन्धों को उत्तराधिकारी नियम कहते हैं। वे नियम मृतक के लिए भी इस पूर्वधारणा के अनुसार न्यायोचित मान लिये जाते हैं कि प्रचलित व स्वाभाविक आसक्तियाँ, हित और प्रेम ही अपने दायादों के चुनाव में मृतक का पथ प्रदर्शन करते यदि वह जीवित होता। इस अर्थ में दायप्राप्ति के कानून को "राष्ट्रीय इच्छापत्र" कह सकते हैं। यह तो एक व्यापक बात कही गयी है। प्रत्येक व्यक्ति के निजी इष्ट व हित भी होते हैं, जिनके निमित्त उपबन्ध न कर देने से मरणासन्न व्यक्ति को पश्चात्ताप होने की आशंका रहती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कल्याण इसमें है कि बाल-बच्चे जब बड़े हो चुकें, तो वृद्धताजन्य शारीरिक व मानसिक शक्तियों के ह्रास के पहले अपना इच्छापत्र औपचारिक ढंग से तैयार कर डाले।

इच्छापत्र रहित उत्तराधिकार वाले नियम समांशिता को और समांशिता वाली सम्पत्ति को बद्ध नहीं करते, क्योंकि उस दशा में उत्तरजीविता वाला सिद्धान्त क्रियाशील हो जाता है। किन्तु[1] यदि किसी समांशी ने स्वार्जित या व्यक्तिगत (पृथक्)

१. "कृस्टिय ब० वेंकट रमैया" (१९०३) १९, मद्रासलाजर्नल ७३३ (फुलबेंच)। "समुद्रल ब० समुद्रल" ३३, मद्रास १६५।

सम्पत्ति छोड़ी है, तो उस सम्पत्ति का अवक्रमण उन नियमों द्वारा निदेशित होगा।[१] यदि समांशिता मे एक ही सदस्य बचा हो तो एकल तथा आखिरी उत्तरजीवी के नाते वह पूरी सम्पत्ति का स्वामी होगा और उसके मरने के बाद उत्तराधिकारी नियम लागू होंगे।[२] यदि मृतक समांशिता या संयुक्त कुटुम्ब से वियुक्त हो चुका था तो उसकी सारी सम्पत्ति पर (वह चाहे जैसे आयी हो) वही नियम लागू होंगे। इन तीन नियमों के प्रकाश में यह शका हो सकती है कि वियुक्त सदस्य यदि अपने कुटुम्ब में फिर शामिल हो गया हो तो ऐसी दशा मे कौन नियम लागू होंगे ? ऐसे सदस्य की सज्ञा ससृष्ट होती है और वह समांशिता का सदस्य फिर से बन जाता है, और उत्तरजीविता वाला सिद्धान्त उस पर भी लागू होने लगता है। यदि संसृष्ट के पास निजी व स्वार्जित सम्पत्ति है तो उसका अवक्रमण किंचित् भिन्न रूप से होगा, अर्थात् उस क्रम में और सामान्य क्रम मे थोड़ा सा अन्तर है। यथा—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टो सोदरस्य तु सोदरः।
दद्याच्च प्रहरेद् अंशं जातस्य च मृतस्य च ॥
अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टो नान्योदर्य्यो धनं हरेत्।
असंसृष्ट्यपि चादद्यात् संसृष्टो नान्यमातृजः ॥ (याज्ञ० २-१३८-३९)

वह अन्तर आगे चलकर बता दिया जायगा।

उत्तराधिकारी नियमों को जानने के पहले यह याद रखना होगा कि सन् १९३७ ई० मे "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" पारित हुआ था। यह केन्द्रीय अधिनियम था और उस समय के संविधान के अनुसार कृषि-भूमि विषयक कानून पारित करने के लिए केवल प्रान्तीय सरकारें अधिकृत थीं। अतः फेडरल कोर्ट में दो बार उस नियम को शक्ति-परस्तात्, असमथ (अल्ट्रा वैरिस) घोषित करने के दो मुकदमे पहुँचे, जिनमें निर्णय यह दिया गया कि वह शक्ति-परस्तात् नहीं, यद्यपि कृषि-भूमि पर लागू नहीं हो सकता। यह अधिनियम उन अनर्हताओं व अपात्रताओं में से कुछ को मिटाने के लिए पारित हुआ था जो नारियों के विपरीत हिन्दू ला में प्रचलित मानी जाती थीं। सामाजिक सुधार उसका लक्ष्य था और इसलिए उसके माध्यम से उत्तराधिकारी नियमों में महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रविष्ट किये गये थे। उसका संशोधन सन् १९३८ ई० में हुआ। सन् १९५६ में "हि० स० ऐक्ट" धारा ३१ ने उसका निरसन कर दिया है। अपने जीवन

१. (१९४१) एफ० सी० आर० ७२।
२. (१९४५) एफ० सी० आर० १।

काल में उसने हाई कोर्टो के बीच कई विषयों पर उग्र मतभेद का सर्जन कर दिया था।[1] अधिनियम म केवल ५ धाराएं है। उसके मुख्य अग ये है—एक तो यह कि मिताक्षरा वाले सयुक्त कुटुम्ब के भीतर विधवा अपने मृत पति का स्थान ग्रहण करती है। दूसरा, यह कि याद पति ने पृथक् व निजी सम्पत्ति छोड़ी है, तो उसमे विधवा का पुत्र के बराबर भाग है। यदि मृतक के एक पुत्रहीन व विधवा पुत्रवधू है तो वह पुत्रवधू अपने मृत पति के समान दाय प्राप्त करेगी। यदि विधवा पुत्रवधू के पुत्र या पौत्र हो तो वह अपने पुत्र या पौत्र के समान दाय प्राप्त करेगी। उसी तरह विधवा पौत्रवधू का अपने मृत ससुर के मृत पिता की सम्पत्ति में अपने मृत पति अथवा जीवित पुत्र के समान उत्तराधिकार होगा। व्यापक रूप से इस अधिनियम ने उपरोक्त तीन विधवाओं के पद को ऊँचा उठाकर अपने-अपने मृत पतियों अथवा जीवित या मृत पुत्र के समान कर दिया, जो एक बड़ा भारी सुधार और उत्तराधिकारी कानून में मौलिक परिवर्तन है।

उत्तराधिकारियों के भेद

"सपिण्ड" शब्द के दो अर्थ होते हैं; मिताक्षरा ने उसका अर्थ यह माना है कि एक ही पिण्ड या भौतिक शरीर के कण जिस-जिस देही में मौजूद हों उन सब देह-धारियों को सपिण्ड कहेंगे। दायभाग में पिण्ड के इस दूसरे अर्थ को अंगीकार किया गया है कि श्राद्ध वाले कव्य के पिण्ड में जो पूर्वज भाग पाते हैं वे सपिण्ड माने जायेंगे। दोनों शाखाएँ मनु के इस वाक्य का आश्रय लेती हैं—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु निवर्तेता चतुर्दशात्।
जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्पर गोत्रमुच्यते ॥ (मिताक्षरीय बृहन्मनुवचन)

मिताक्षरा ने सपिण्ड के व्यापक अर्थ को सीमित करके कहा है कि केवल सात पीढ़ी के भीतर वाले पितृबन्धुओं को सपिण्ड कहते हैं। अतः किसी पुरुष के पितृपरंपरा वाले छः पूर्वज और छः वशज ये बारह उसके सपिण्ड हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक छः पूर्वज के छः-छः वंशज मिलाकर छत्तीस हुए; सब मिलाकर ४८ सपिण्ड होते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्र में पत्नी अर्धांगिनी होती है। अतः उस पुरुष की तथा इन ४८ जनों की पत्नियाँ भी सपिण्ड होनी चाहिए। किन्तु उन सब नारियों को यह पदवी नहीं मिली

१. **देखिए मुल्ला का 'हिन्दू ला' (१२वां सं०), पृष्ठ १०३–११२।**
देखिए प्रो० डेरेट कृत 'माडर्न हिन्दू ला', पृ० २५३-२५६, २३७, ३४५-३७४, ३८२, ५३२।

है। उस पुरुष के पिता, पितामह इत्यादि की छः पत्नियाँ सपिण्ड हैं तथा स्वतः उसकी पत्नी व दुहिता व दौहित्र ये तीन भी। कुल मिला कर ४८+६+३=५७ **सपिण्ड** कहे जाते हैं। इन्हीं की संज्ञा **गोत्रज सपिण्ड** भी है। अब "समानोदक" की परिभाषा बतलायी जायगी।

पितृ-परंपरा वाली आठवीं से चौदहवीं पीढ़ी तक के पूर्वज	—७
" " " " " " " " " वंशज	—७
प्रत्येक सात पूर्वजों के छः-छः पीढ़ी दूर वाले वंशज ७×६	—४२
छः से ऊपर वाली पीढ़ी के प्रत्येक सात पूर्वजों के तेरह-तेरह वंशज	—९१
	१४७

इन दूरस्थ १४७ पितृ-बन्धुओं को **समानोदक** कहा जाता है। ये लोग पिण्डदान में नहीं, केवल उदक (जल) दान में अर्थात तर्पण किये हुए जल में भाग पाते हैं। समानोदक का अर्थ है वे लोग जो उसी एक व्यक्ति को जल अर्पण करते, या उसी एक व्यक्ति से जल दान पाते हैं। पूर्वज या तो सपिण्ड होते हैं या समानोदक। यथा—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ (मनु ५–६०)

समानोदकभावस्तु निर्वतता चतुर्दशात्।
जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोव मुच्यते ॥ (मिताक्षरा २–१३६)

चौदहवीं पीढ़ी के ऊपर वाले पितृ-बन्धुओं या उनकी सन्तति की गणना समानोदकों में भी नही होती।[1] साधारणतया मानवीय स्मृति इसके आगे नहीं पहुँचती है।

तीसरे प्रकार के दायादों को **बन्धु** कहते हैं। यह शब्द "बन्ध्" धातु से उपजा है जिसका अर्थ है बाँधना। बोल-चाल के व्यापक अर्थ में तो बान्धव शब्द गैरों को भी समाहित करता है, यथा

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥

किन्तु धर्मशास्त्रों में भी इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में पाया जाता है।[2] मिताक्षरा में तीन प्रकार के बन्धु कहे गये हैं—आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु। किन्तु वास्तव में बन्धु शब्द का प्रयोग दायप्राप्ति के संदर्भ में ही मिलता है। उसका आशय है भिन्न-

१. "आत्माराम ब० बाजीराव", एल० आर० ६२, इ० अपील्स १३९।
२. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ७५२–५४, टिप्पणी।

गोत्र सपिण्ड, जिनकी परिभाषा के लिए मिताक्षरा में ये वचन उद्धृत हैं और जो बौधायन या वृद्ध शातातप के बताये जाते हैं—

आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥
मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥

इन परिभाषाओं के अनुसार निम्नोक्त तीन श्रेणी के बन्धु दायाद बन सकते हैं—

तीन आत्मबन्धु	तीन पितृबन्धु	तीन मातृबन्धु
अपनी बुआ का पुत्र	पिता की बुआ का पुत्र	माता की बुआ का पुत्र
अपनी मौसी का पुत्र	पिता की मौसी का पुत्र	माता की मौसी का पुत्र
अपने मामा का पुत्र	पिता के मामा का पुत्र	माता के मामा का पुत्र

यह सूची क्या निश्शेषी (पूर्ण) है अथवा मात्र उदाहरणात्मक ? क्या यह कहना तर्क और न्याय संगत है कि मामा का पुत्र तो दायाद है, किन्तु मामा और नाना उत्तराधिकारी नहीं हैं ? पहले यह सूची निश्शेषी (पूर्ण) मानी जाती थी।[1] किन्तु अब उसको केवल निर्देशी मानकर बहुत विस्तृत बना दिया गया है।[2] अब यह ज्ञात हो गया कि सपिण्ड, समानोदक और बन्धु किसको कहते हैं। तत्सम्बन्धी उत्तराधिकार के प्रशासी नियम इस प्रकार है—

यह तो ज्ञात ही है कि दायभाग के अन्तर्गत दाय प्राप्त करने का हक उस आध्यात्मिक प्रलाभ या पारलौकिक हित से पैदा होता है जो कोई व्यक्ति प्रेतात्मा या पितरों (सपिण्डीकरण क्रिया के प्रभाव से प्रेतात्मा पितरों में सम्मिलित हो जाता है—यह श्राद्ध मृत्यु के बारहवें दिन होता है) को पहुँचा सकता है। किन्तु मिताक्षरा के अन्दर यह नहीं; दूसरी कसौटी रखी गयी है, यानी दाय प्राप्ति का हक उस प्रत्यासत्ति (प्रापिंकुमिटी) या सम्बन्धी-सान्निध्य से पैदा होता है जो दायार्थी तथा मृतक के बीच हो। दायभाग वाली कसौटी का प्रयोग कभी-कभी मिताक्षरा के भीतर भी करना पड़ता है, यानी जब दो गोत्रज सपिण्डों में होड़ लग जाती है, या जब प्रत्यासत्ति

१. "गजाधर ब० गौरी" ५४, इला० ६९८।
२. "गिरधारी लाल ब० बंगाल गवर्नमेण्ट" (१८६८) १२, मूर्स, इ० अपील्स ४४८।

वाली कसौटी से कोई निश्चित निष्कर्ष नही निकलता।[1] दायभागीय नियम को सुनकर यह विचार पैदा होता है कि यदि वह एक तरफ पितरों की स्वार्थपरता का सूचक है, तो दूसरी तरफ दायादों की कतव्य-परायणता का प्रवर्तनकारी भी है। मिताक्षरीय नियम में किसी प्रतिदेय की झलक नहीं दीख पड़ती।

दाय के अधिकारियो का क्रम

मिताक्षरा ने दायादों की ये तीन कक्षाएँ विहित की है और उनका क्रम उनकी पारस्परिक वरीयता का परिचायक है—(क) गोत्रज सपिण्ड, (ख) समानोदक, (ग) बन्धु। प्रत्येक कक्षा के दायादों के बीच सम्पत्ति का अवक्रमण किन नियमों तथा क्रमों के अनुसार होता है यह बाद में बताया जायगा। यहाँ पर वह थोड़ा-सा अन्तर ज्ञातव्य है, जो मिताक्षरीय अधिक्षेत्र के भीतर बम्बई प्रान्त तथा बाकी बचे देश में इस सयोग-वश पैदा हो गया है कि वहाँ पर कई ऐसी नारियों को दाय मिल गया है जिनको यहाँ उत्तराधिकारी नही गिनते। पहले यहाँ पर केवल पाँच ही नारियों को दायप्राप्ति का हक माना गया था। बम्बई हाई कोर्ट ने इस गिनती का उल्लंघन निम्नोक्त कारणवश किया। मनुस्मृति के वाक्य "अनन्तरः सपिण्डाद् यः तस्य तस्य धन भवेत्" (९–१८७) मे सापण्डात् शब्द के बाद नर या नारी का विशेषण नही लिखा है, फिर भी उसका अंग्रेजी अनुवाद करते समय सर विलियम जोन्स ने इन दो शब्दों को कुल्लूक कृत टीका के आधार पर जोड़ दिया और यह कहा—"तदुपरान्त दाय का अधिकारी निकटतम सपिण्ड होता है—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री"। हाई कोर्ट ने रेखांकित शब्दों को सार-वान् समझते हुए यह निर्णय दिया कि गोत्रज सपिण्डों की पत्नियाँ भी दाय की अधि-कारिणी होती है।[2] यथा—सगी बहन दायादों की सारणी में पितामही के बाद किन्तु पितामह के पहले रखी गयी है, भाई की विधवा को चचेरे भाई की अपेक्षा निकटतम दायाद माना गया है, किन्तु बुआ की अपेक्षा पिता का चचेरा भाई निकटतर दायाद समझा गया है, क्योंकि बुआ का गोत्र विवाहोपरान्त बदल जाता है।[3] किन्तु बहन के

देखिए जी० सी० सरकार कृत 'हिन्दू ला' (८वां सं०) पृ० ४४३।
देखिए मुल्ला का 'हि० ला' (१२वां सं०) पृष्ठ १३२।
१. "बुद्धासिंह ब० ललतासिंह" (१९२५) ४२, इ० अपील्स २०८।
२. "वेदचेला ब० सुब्रह्मण्य" (१९२१) ४८, इ० अपील्स ३४९।
"यतीन्द्र नाथ राय ब० नगेन्द्र नाथ राय" (१९३१) ५८, इ० अ० ३७२।
३. "लल्लूभाई ब० मनकुँवर बाई" २, बम्बई ३८८ और ७ इ० अ० २१२।

विषय मे गोत्र परिवर्तन वाली युक्ति इसलिए लागू नही की जाती है कि बृहस्पति का उसके पक्ष में यह वाक्य है—

या तस्य भगिनी सा तु ततोऽशं लब्धुम् अर्हति ।
अनपत्यस्य धर्म्मोऽयम् अभार्य्यापितृकस्य च ॥

इन प्रश्नों को विशेष रूप से जानने के लिए द्रष्टव्य है भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० काणे प्रणीत "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३, पृष्ठ ७३३–३६ व ७५१–५३। बम्बई में प्रचलित दाय प्राप्त करने वाले सपिण्डों की सारणी के लिए द्रष्टव्य—मुल्ला का "हिन्दू ला" (१२वाँ सं०), पृष्ठ १६३ से १६७ तक। समानोदकों के दायप्राप्ति वाले क्रम दोनों क्षेत्रों में समान हैं, इसलिए उनकी पृथक् रूप से चर्चा करना अनावश्यक है। सपिण्डों तथा उनकी विधवाओं के अभाव में समानोदकों की, और इनके अभाव में बन्धुओं की बारी आती है। बन्धुओं के उत्तराधिकार के विषय में भी दोनों क्षेत्रों में कोई अन्तर नहीं है। बन्धुओं के बाद आध्यात्मिक गुरु या चेला या गुरुभाई का नम्बर आता है, और उनके अभाव में राष्ट्र का। ये नियम भी दोनों क्षेत्रों में समान हैं।

बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत गुजरात, बम्बई द्वीप और उत्तरी कोंकण में 'व्यवहार-मयूख' का ही आधिपत्य है जिसने केवल सपिण्ड दायादों के क्रम में थोड़ा-सा हेर-फेर कर दिया है, यथा—(१) उस क्षेत्र में पिता का उत्तराधिकार माता के पूर्व रखा गया है; (२) सगे भाई के बाद सौतेले भाई को न रखकर इसको कई दर्जे उतारकर मृतक के बाबा के साथ समभागी दायाद बना दिया गया है। (३) सगे भाइयों में से यदि कोई मर चुका हो तो उसके पुत्रों को सगे भाई के साथ समभागी दायाद माना गया है। (४) सगे भाई के अभाव में सगे भतीजे को तो हक दिया गया है, किन्तु इसके बाद सौतेले भाई के पुत्र को दायाद नहीं माना गया है।

इस थोड़े से विषयान्तर के बाद अब हम मिताक्षरीय उत्तराधिकार के ज्ञानार्थ पहले गोत्रज सपिण्डों के उत्तराधिकार का मनन करेंगे। याज्ञवल्क्यस्मृति के ऊपर विज्ञानेश्वर ने जो परम विख्यात और अद्भुत व्याख्या लिख छोड़ी है उससे निम्न लिखित उत्तराधिकारी क्रम निकाला गया है। इस प्रसंग के सारगर्भित श्लोक हैं—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुता गोत्रजा बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥
एषाम् अभावे पूर्वस्य धनभाग् उत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्वं वर्णेष्वयं विधिः ॥ (या० २, १३६–३७)

"लक्ष्मी ब० दादा" ४, बम्बई २१० और २१४।

"गांधी मगनलाल ब० बाई जादव" २४, बम्बई १९२।

"अपुत्रस्य" का आशय है "अनपत्यस्य पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रहीनस्य" (विवादचिन्तामणि) तथा "अत्र अपुत्रपदं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राभावपरं तेषां पार्वणपिण्डदातृत्वाविशेषात्" (दायतत्त्व) तथा "अपुत्रपदं पत्नीत्यादिषु श्रूयमाणं पौत्र-प्रपौत्राभावोपलक्षणम्" (व्य० मयूख)। गोत्रज सपिण्डों का उत्तराधिकारी क्रम निम्नलिखित है—

१–३} **पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र**, जो उत्तरजीविताधिकार समेत एक साथ दाय प्राप्त करते
४–६} है। १४ अप्रैल सन् १९३७ के बाद मृतक की **विधवा, विधवा पुत्रवधू व विधवा पौत्रवधू** का भी स्थान यहीं आ गया है, शर्त यह है कि पुत्रवधू व पौत्रवधू दोनों मृतक के सामने विधवा हो चुकी हों। पितृपरक और प्रतिनिधित्व वाले सिद्धान्त, जैसा बताया जा चुका है, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र पर लागू होते हैं, विधवाओं पर नहीं।

इसके अतिरिक्त पुत्रों तथा विधवा दायादों से सम्बद्ध निम्नलिखित बातें भी ज्ञातव्य हैं। पहले विधवा को लीजिए—विधवा को अपने मृत पति की विवाहिता व साध्वी पत्नी होना चाहिए, किन्तु यह शर्त पौत्रवधू व पुत्रवधू पर लागू नहीं है। साध्वी से आशय साधारण पतिव्रता का है, यद्यपि—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकम् आप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

मनु (५–१६५) का यह आदर्श तो बड़ा उच्च है। पुनर्विवाह तथा दत्तक-ग्रहण वियुक्तकारी घटनाएँ हैं किन्तु परवर्ती दुराचार नहीं। कारण यह है कि विधवा अपने पति की अर्धांगिनी के रूप से दाय पाती है और पुनर्विवाह इस रूप को विनष्ट कर देता है। मुसलमान हो जाने से भी दायादीय हक छिन जाता है—इलाहाबाद को[1] छोड़कर अन्य हाई कोर्टों का यही अधिकांश मत है। यदि प्रथा के अनुसार किसी जाति में विधवाविवाह वैध हो तो पुनर्विवाह से दाय का हक नहीं छिनता—यह भी इलाहाबाद[2] व अवध[3] की राय है जो अन्य हाई कोर्टों के विरुद्ध है।[4]

पुत्र के विषय में कई प्रश्न उठते हैं—(१) राम अपने पुत्र श्याम से अलग

१. **"अ० अजीज ब० निरमा" (१९१३) ३५, इ० ४६६।**
२. **"गजाधर ब० कौसिला" (१९०९) ३१, इ० १६१।**
३. **"रामलाल ब० मु० ज्वाला" (१९२८) ३, लखनऊ ६१०।**
४. **(१९५४) ५६ बम्बई—एल० आर० २२७ और (१९२२) १ पटना ७०६, (१९२३) ५० कल० ७२७।**

है। अब राम के एक दूसरा पुत्र हीरा पैदा होता है। राम दो पुत्र श्याम व हीरा को छोड़कर मरता है। हीरा, जो अपने पिता से सयुक्त था, सारा दाय पायेगा और श्याम को, जो राम से वियुक्त था, कोई भाग नहीं मिलेगा। (२) राम अपने दो पुत्रों, श्याम व हीरा को लेकर बाकी दो पुत्रों, हरी व बली से अलग हो जाता है और उसी दशा में मर जाता है। उसकी सारी सम्पत्ति श्याम व हीरा को मिलेगी और हरी व बली वचित रह जायँगे। (३) द्विजों के जारज पुत्र को मात्र भरण का हक है, दाय पाने का नही; किन्तु शूद्र का जारज पुत्र दाय प्राप्त कर सकता है। शूद्र के जारज पुत्र को औरस के समान नहीं वरंच औरस का आधा ही भाग मिलता है।[1] यदि जारज पुत्र का सामना औरस पुत्र से नहीं औरस पुत्री के साथ हो जाय, तो जारज पुत्र को और औरस पुत्री को समान भाग मिलता है।[2] शूद्र के औरस पुत्र व जारज पुत्र "सयुक्त स्वामित्व" प्राप्त करते है। यदि शामिलाती दशा में औरस एक पुत्री छोड़कर मर जाय तो जारज पूरी सम्पत्ति उस पुत्री को वचित करके पाता है।[3] याद रहे कि जारज को उत्तराधिकारी हक महज परवरिश की एवज में नही दिया गया है, न वह व्यक्तिगत हक होता है, वरंच वह एक ठोस हक है जो उसके पुत्रत्व को मान्यता प्रदान करता है; और शूद्र जारज के हक का अवक्रमण उसकी मृत्यु के बाद उसके वैध दायाद पर हो सकता है। यह भी याद रहे कि जारज शूद्र का अपने पिता के ही दाय में, न कि (औरस की भाँति) पिता के सांपार्श्विक सम्बन्धियों के दाय मे, हक होता है।[4] अतः पिता की धर्मपत्नी ने यदि स्त्रीधन छोड़ा है तो शूद्र जारज उसे नही पा सकता है।[5] इस विषय पर स्मृतियों के वाक्य ये है—

> **दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।**
> **सोऽनुज्ञातो हरेद् अंशम् इति धर्म्मो व्यवस्थितः ।। (मनु)**
> **जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत् ।**

१. "क० अम्मल ब० वि० स्वामी" १९२३) ५०, इ० अपील्स ३२
"गु० न० दास ब० गु० ट० दास" (१९५२) सुप्रीम कोर्ट रि० ८६९, ८७५।
२. "शेष गिरि ब० गिरीव" (१८९०) ३४, बम्बई २८२।
"मीनाक्षी ब० अप्पाकुट्टी" (१९१९) ३३, मद्रास ३६६।
३. १७ इ० अ० १२८।
४. "जिप्रू ब० बोमत्या" (१९२२) ४६, बम्बई ४२४। ५. ४९ मद्रास ११६।

मृते पितरि कुर्य्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिनम् ।
अभ्रातृको हरेत् सर्व्वं दुहितॄणां सुतादृते ।। (याज्ञवल्क्य)

उपरोक्त उद्धरण शूद्र जारज पुत्र से सम्बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त द्विज के जारज पुत्र से सम्बन्धित यह वाक्य है—

अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवान् शूद्रयोनिजः ।
लभेताजीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः ।। (बृहस्पति)

ब्राह्मण पति के शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को वैध पुत्र माना गया है, क्योंकि ऐसा विवाह अनुलोम कहलाता है। ऐसा पुत्र अपने पिता तथा चाचा की सम्पत्ति के दशांश का भागीदार बम्बई क्षेत्र में ठहराया गया है।[1] इन छः उत्तराधिकारियों के अनन्तर पुत्री का नम्बर आता है।

७} **पुत्री या दुहिता**—"हिन्दू वीमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट" १९३७–३८ ने पुत्री का पाँचवाँ स्थान हटाकर सातवाँ कर दिया है; क्योंकि पहले मृतक की विधवा के बाद पुत्री दायाद गिनी जाती थी, किन्तु अब विधवा के बाद पुत्रवधू तथा पौत्रवधू दायाद मानी गयी हैं जिनके पति मृतक के पहले मर चुके हों। यदि पुत्रियाँ अनेक हों, तो कुमारी को विवाहिता से वरीयता, और विवाहिता अकिंचन पुत्री को सम्पन्न विवाहिता पुत्री से वरीयता मिलती है,[2] यथा—

तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा । (कात्यायन)

तत्र प्रथमं कन्यैवैका पितृधनहारिणी। यथा पराशरः—अपुत्रस्य मृतस्य कुमारी रिक्थं गृह्णीयात् तदभावे चोढा, ऊढापदं पूर्वोक्तविशेषपरम्। (दायभाग ११–२–४) तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितानां समवाये अप्रतिष्ठितैव· तदभावे प्रतिष्ठिता। (मिताक्षरा २–१३५। अप्रतिष्ठिता=निर्धना।)

दुहिता सम्बन्धी शंकाएँ भी अनेक हैं। पाठकों को उन चार अपवादी उत्तराधिकारियों का स्मरण होगा जो संयुक्त स्वामित्व के रूप से दायप्राप्त करते हैं (मृतक की पुत्रियाँ, पुत्रादि, दौहित्र, विधवाएँ)। यदि दो या अधिक पुत्रियाँ उत्तराधिकारिणी हों तो बम्बई

१. "नाथू ब० मेहता छोटेलाल" (१९३१) ५५ बम्बई १।
२. "जमनाबाई ब० खेमजी" (१८९०) १४ बम्बई १।
"गोविन्द ब० रामाधार" (१९३३) ८ लखनऊ १८२।
"मनकी ब० कुन्दन" (१९२५) ४७ इलाहाबाद ४०३।
"राजरानी ब० गोमती" (१९२८) ७ पटना ८२०।
"शिव प्र० ब० जानकी" (१९५२) ५४, बम्बई एल० आर० ९४०।

प्रान्त के बाहर उत्तरजीविता वाली प्रणाली उन पर लागू होती है। किन्तु अपने-अपने हित का हस्तान्तरण प्रत्येक पुत्री इस शर्त के साथ कर सकती है कि उत्तरजीवियों के हक पर आँच न आय।[1] उपभोग के सुविधार्थ वे अपने-अपने हिस्से को अलग करके कब्जा भी कर सकती है, किन्तु उत्तरजीविता वाला नियम फिर भी लागू रहेगा, यदि उस नियम के तोड़ने का वे आपसी इकरार न कर चुकी हों।[2] पुत्रियों का हित विधवाओं के समान सीमित और मर्यादाबद्ध होता था। किन्तु बम्बई प्रान्त में वह पूर्ण स्वामित्व का रूप पहले से ही धारण किये हुए था और अब तो उस रूप को सन् १९५६ वाले "सक्सेशन ऐक्ट" की धारा १४ ने सारे भारत में प्रचलित कर दिया है।

क्या पत्नी की तरह पुत्री का भी साध्वी होना विहित है? नहीं, किन्तु साध्वी पुत्री को व्यभिचारिणी की अपेक्षा वरीयता मिलना उचित लगता है।[3] क्या शूद्र जारज पुत्र की भाँति शूद्रा जारज पुत्री भी दायप्राप्ति कर सकती है? नहीं।[4] पहले कानून यह था कि प्रथा के आधार पर पुत्री उत्तराधिकार से अपवर्जित हो सकती है[5] और खास कर सीतापुर (अवध) के राजपूत वंशों में यह रिवाज प्रतिष्ठित मान लिया गया था।[6] दुहिता के बाद दौहित्र का नम्बर आता है।

८} **दौहित्र**—गौतम, आपस्तंव, विष्णु तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में और याज्ञवल्क्यस्मृति में दौहित्र के उत्तराधिकार का उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि विष्णु का एक सूत्र मिताक्षरा, दायभाग और व्यवहारमयूख में उद्धृत हुआ है, जिसके आधार पर इन भाष्यों में उसको दायाद माना गया है। मनुस्मृति ने दौहित्र को दायाद कहा तो है, किन्तु कुल्लूक ने अपनी टीका में दौहित्र का अर्थ उस सदर्भ मे पुत्रिका-पुत्र (पुत्रोत्पन्न करने के निमित्त विवाह की गयी पुत्री का पुत्र) माना है। बृहस्पतिस्मृति में कहा है—

यथा पितृधने स्वाम्यं तस्याः सत्स्वपि बन्धुषु।
तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने॥

१. "आलोमल ब० बेलू" (१९२०) ४३ मद्रास ८४९।
२. "सुन्दर सिव ब० वियम्मा" (१९२५) ४८ मद्रास ९३३।
३. "तारा ब० किशन" (१९०७) ३१ बम्बई ४९५।
४. "भीखा ब० बाबू" (१९०८) ३१ बम्बई ५६२।
५. "बजरंगी ब० मणिकर्णिका" ३५ इ० अ० १।
"राजबचनसिंह ब० भवर" (१९२९) ४ लखनऊ ६९०।
६. "अजय ब० विजय" ४३, क० वीकली नोट्स ५८५ (प्रि० कौंसिल)।

वास्तव में दौहित्र एक भिन्नगोत्र सपिण्ड और मात्र एक बन्धु होता है। किन्तु अपने मातामह की आत्मा को पिण्डदान द्वारा तृप्ति पहुँचाने की सामर्थ्य रखने के कारण दायादों के बीच उसको उच्च स्थान दिया गया है। इसका संक्षिप्त इतिहास यह है—अतीत युग में एक पुत्रहीन पुरुष अपनी कन्या का इस निमित्त से किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह करता था कि उसकी आत्मा के उद्धार के लिए वह पुत्र उत्पन्न करेगी। इस करार के फलस्वरूप कन्या तो उस अन्य पुरुष की धर्मपत्नी बनी रहती थी, किन्तु उसका पुत्र उस अपुत्र पिता का पुत्र बन जाता था।[1] पुत्रिका-पुत्र की प्रथा अब सिवा नम्बूदिरी ब्राह्मणों के कहीं नहीं पायी जाती। किन्तु वैधिक अतिदेश के आधार पर दौहित्र में भी आध्यात्मिक सुख-शान्ति व तृप्ति प्रदान करने की सामर्थ्य उपारोपित कर ली जाती है।

दौहित्र अपनी माता के माध्यम से नहीं, अपने व्यक्तिगत गुण, शक्ति के बल पर अपने मातामह का दायाद बनता है और उसका स्वामित्व अपनी माता के समान खण्डित या सीमित नहीं होता किन्तु पुत्र के समान अखण्ड और असीम रहता है। उसके मरणोपरान्त सम्पत्ति का अवक्रमण उसी के, न कि उसके नाना के, दायादों पर होता है। दौहित्रगणों पर पितृपरक या मातृपरक वाला नहीं, व्यक्तिपरक वाला नियम लागू होता है। अर्थात् यदि राम की दोनों दुहिताएँ मर चुकी है और वह एक से एक व दूसरी से दो नातियों को छोड़कर मरता है, तो उसकी सम्पत्ति दो मे नहीं तीन अंशों में विभाजित होगी। अपरंच उस दशा मे उत्तरजीविता वाला नियम भी नहीं लागू होगा, क्योंकि दो या अधिक विवाहिता बहनें समाशिता का सर्जन नहीं कर सकतीं। यदि राम एक ही पुत्री से जन्मे हुए ऐसे अनेक नातियों को छोड़कर मरे जो सयुक्त कुटुम्बी हों, तो स्थिति दूसरी हो जायेगी।[2] किन्तु अब प्रिवी कौंसिल ने अपने २९ इ० अ० १५६ वाले फैसले को निरस्त कर दिया है।[3] ऊपर देखा गया कि प्रथा के आधार पर पुत्री का उत्तराधिकार से अपवर्जन हो सकता है। क्या उस दशा मे दौहित्र भी उत्तराधिकार से वंचित हो जायगा? उत्तर है—हाँ। किन्तु यह सुनकर विस्मय होता है, क्योंकि, जब दौहित्र अपनी माता के माध्यम से नही अपितु सीधे नाना से दायाधिकार

१. म० म० पाध्याय डा० काणे कृत 'हि० आव ध० शास्त्र', ३–६५७, ६५८।
२. "वी० यम्मा ब० बी० रमनयम्मा" २९ इ० अ० १५६, २५ मद्रास ६७८।
३. "एम० एच० खां ब० बी० के० सहाय" (१९३४) ६४ इ० अ० २५०।
"पं० मोहनलाल ब० पं० रामदयाल (१९४१) १६ लखनऊ ७०८।

पाता है, तो उसकी माता की अयोग्यता या अनर्हता कैसे उसके हक में बाधा डाल सकती है ? दौहित्र के बाद माता की बारी आती है।

९} **माता**—मिताक्षरा ने माता को पिता से वरीयता दी है जरूर, किन्तु इस प्रश्न पर मतभेद है। याज्ञवल्क्य के २–१३६ श्लोक में 'पितरौ' शब्द आया है। यह एकशेष द्वन्द्व समास है जिसका विग्रह आम तौर से होता है "माता च पिता"। बोल-चाल में भी हम कहा करते हैं—"माता-पिता या माँ-बाप"। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है "जो केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।" अमरकोश में भी कहा है—"मातापितरौ पितरौ"। अर्थात् साधारणतया माता को पहले और पिता को बाद में उच्चारण करते हैं। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा का कहना है कि चूँकि पिता के अनेक पुत्र विभिन्न पत्नियों से उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिए सगी माता की प्रत्यासत्ति पिता की अपेक्षा निकट-तर होती है। इस मत के विपरीत विष्णुधमसूत्र का यह वाक्य प्रोद्धृत किया जाता है—

अपुत्रधनं पत्न्याभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे। मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि . . . इत्यादि।"

बृहस्पति स्मृति का यह वचन भी है—

भार्यासुतविहीनस्य तनयस्य मृतस्य च।
माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया ।।

फल यह है कि जहाँ माता की वरीयता का अनुमोदन करते है—मिताक्षरा, मदन-पारिजात, सरस्वतीविलास, वीरमित्रोदय व विवादचन्द्रिका; वहाँ पिता की वरीयता का समर्थन करते है दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका, मदनरत्न व व्यवहारमयूख।[१] इसलिए मयूख के अधिक्षेत्र बम्बई टापू, उत्तरी कोंकण व गुजरात मे और दायभाग के अधिक्षेत्र असम व बंगाल मे तो पिता का नम्बर पहले आता है[२], और शेष भारत में माता का। माता का स्वामित्व भी खण्डित, सीमित होता है, किन्तु १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा १४ ने इस रूप को बदल दिया है। विमाता को उत्तराधिकार नही मिलता। ऊपर कहा गया है कि बम्बई प्रदेश मे नारी दायादों की सख्या अधिक है। उन सबके अभाव मे वहाँ पर विमाता को दायप्राप्ति होती है।[३] किन्तु दत्तकग्रहिणी

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, ३–७२१, ७२२।
२. "खोदाबाई ब० बहद्धर" (१८८२), ६ बम्बई ५४१।
३. "केसर बाई ब० वल्लभ" (१८८०) ४ बम्बई १८८।

माता की बात दूसरी है। वह तो अब जननी के पद पर आसीन हो जाती है। अतः वह दत्तकग्राही पिता के पहले दाय प्राप्त करती है।[1] यदि कोई पुरुष दत्तकग्राहिणी माता को और असली जननी को छोड़कर मरे तो दोनों जनी संयुक्त दायादाओं के रूप में उत्तराधिकार पाती हैं।[2] जैसे पत्नी के उत्तराधिकार पर पातिव्रत का प्रतिबन्ध लगा है, वैसे माता के ऊपर नहीं है। पुनर्विवाह भी उसको दायप्राप्ति से वंचित नहीं करता।[3] माता के बाद पिता का हक है।

१०) **पिता**—दायभाग व मयूख में पिता का नम्बर माता के पहले पड़ता है, मिताक्षरा में माता के बाद।

११) **भ्राता; सगा, सौतेला**—सौतेले का आशय है एक पिता के दो या अधिक माताओं से उत्पन्न पुत्र। यदि एक ही माता के दो या अधिक पतियों से पुत्र पैदा हों, तो वे भी सौतेले भाई कहलायेंगे, किन्तु एक दूसरे के उत्तराधिकारी नहीं होंगे।[4] एक ही जनक वाले सगे-सौतेले भाइयों में, सगे भाई को सौतेले भाई की अपेक्षा वरीयता मिलती है।[5] यदि राम एक भाई और एक सगा भतीजा छोड़कर मरे तो भाई दाय प्राप्त करेगा भतीजा नहीं; क्योंकि चाचा के सामने भतीजे का हक नहीं होता। अर्थात् निकटतर सांपाश्विक सपिण्ड दूर-तर सांपाश्विक सपिण्ड को अपवर्जित कर देता है।

अभी पुत्र वाले शीर्षक में कहा गया है कि यदि पिता दो पुत्रों से अलग किन्तु दो पुत्रों में शामिल है और ऐसी दशा में वह चार पुत्रों को छोड़कर मर जाता है, तो उसकी सारी सम्पत्ति के दायाद केवल वही दो पुत्र होंगे जो उसके शामिल-शरीक थे। यह नियम भाइयों पर लागू नहीं होता। अतः उपरोक्त उदाहरण में यदि पिता की मृत्यु के बाद शामिलात वालों में से एक भाई मरता है तो उस भाई की पृथक् सम्पत्ति का अवक्रमण केवल शामिलात वालों में से बचे हुए एक भाई पर नहीं वरंच

१. **"अनन्दी ब० हरी"** (१९०९) ३३ बम्बई ४०४।
२. **"बासप्पा ब० गुरुलिंगम"** (१९३३) ५७ बम्बई ७४।
"कट्टवा ब० संगन कौंडा" (१९४२) बम्बई ३४०।
३. **"बलदेव ब० मथुरा"** (१९११) ३३ इला० ७०२।
"दाईसिंह ब० दीनी" (१९२०) ३२ इला० १५५।
४. **"एकोबा ब० काशीराम"** (१९२२) ४६ बम्बई ७१६।
५. **"अनन्तसिंह ब० दुर्गासिंह"** (१९१०) ३७, इ० अपील्स १९१।

जीवित तीनों भाइयो पर होगा।[1] मिताक्षरा में सगे भाई के अभाव में सौतेले भाई का नम्बर तुरन्त आ जाता है और वह भतीजे से पूर्व उत्तराधिकार पा जाता है। किन्तु मयूख की पद्धति में सौतेले भाई का नम्बर गिरकर दादी के भी बाद और दादा के साथ आता है। यहाँ पर दत्तक पुत्र के विषय में भी एक बात ज्ञातव्य है। यदि तीन भाइयों में से एक दत्तक दे दिया गया है और तब बने हुए दो में से एक मर जाता है, तो दत्तक वाले को उत्तराधिकार नहीं मिलेगा।[2] सारी सम्पत्ति एक ही भाई को मिल जायगी। भाई के बाद नम्बर आता है भतीजों का।

१२} **भ्रातृपुत्र (भतीजा), सगे व सौतेले भाई का पुत्र**—सगे भाई के पुत्र का हक सौतेले भाई के पुत्र की अपेक्षा अधिक बलवान होता है। इन दोनों तरह के भतीजों के अभाव में ही भ्रातृपौत्र (भाई के पोता) की बारी आती है। यदि भ्रातृपुत्र अनेक हों तो पितृ-परक नहीं; व्यक्ति-परक वाला नियम प्रयुक्त होगा।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि भ्रातृपुत्र पर्यन्त दायादों की मिताक्षरा आदि ग्रन्थों में **बद्धक्रम** संज्ञा है जिसका अर्थ है दायादों का सघन क्रम। कारण यह है कि याज्ञवल्क्य ने भ्रातृपुत्र तक सपिण्ड दायादों को गिनाने के बाद शिष्य व गुरुभाई को दायाद माना है। यथा—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।
तत्सुता गोत्रजा बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥ (२–१३६)

मदनपारिजात, स्मृतिचन्द्रिका व सुबोधिनी का मत है कि भ्रातृपुत्र के पश्चात बद्धक्रम समाप्त हो जाता है, इसलिए दादी का नम्बर आना चाहिए। इसके विपरीत अपरार्क, वरदराज, वैजयन्ती का मत है कि भ्रातृपौत्र भी बद्धक्रम के भीतर आता है, तदुपरान्त दादी की बारी आती है। मिताक्षरा पहले मत का अनुमोदन करती है और दायभाग दूसरे का। प्रिवी कौंसिल का निर्णय दूसरे मत के पक्ष में है।[3]

१३} **भ्रातृपौत्र (भतीजे का पुत्र)**—अभी कह चुके हैं कि सगे भाई के पुत्र को सौतेले भाई के पुत्र से वरीयता मिलती है। वही नियम भाई के पौत्रों पर भी

१. "शाम राव ब० कृष्णराव" १९४१, नागपुर ५९८।
"देवनायकम ब० मुत्विया" (१९५४), मद्रास ७४१।

२. "तिवारी ब० सुभद्रा" १९२८, प्रिवी कौंसिल ८७।

३. "बुद्धूसिंह ब० ललतूसिंह" १९०५, इ० अपील्स २०८। देखिए श्री गुलाब चन्द्र सरकार प्रणीत 'हिन्दू ला' (८ सं०), ४३५–४३७। 'हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र', ३–७४९, ७५०।

लागू होता है। व्यक्तिपरक वाले व्यापक नियम के चार अपवाद होते हैं। उनके अन्तर्गत भ्रातृपौत्र का उत्तराधिकार नहीं आता। फलतः भ्रातृपुत्रों के सदृश भ्रातृपौत्रों पर भी व्यक्तिपरक वाला नियम लागू होता है। अब पितामही का नम्बर आता है।

१४} **पितामही**—यह शब्द सौतेली दादी को समाहित नहीं करता है।[१]

१५} **पितामह**—मालूम होता है कि जैसे माता का हक पिता से पहले माना गया है, उन्हीं युक्तियों के आधार पर पितामही का नम्बर पितामह से पहले रखा गया है। प्राचीन हिन्दू विधि के अनुसार पितामह के पश्चात् पितृव्य का नम्बर आता था, फिर पितृव्य-पुत्र का, फिर पितृव्य-पौत्र का। किन्तु सन् १९२९ ई० में जो "हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" पारित हुआ था उसने पाँच नये दायादों का नाम बढ़ा दिया; अर्थात् क्रमशः पुत्र की पुत्री, पुत्री की पुत्री, भगिनी (तीन नारी दायाद), सगी बहन का पुत्र, सौतेली बहन का पुत्र (दो पुरुष दायाद)। उस अधिनियम ने इन पाँच नये दायादों का स्थान पितामह के अनन्तर और पितृव्य के पूर्व नियत कर दिया। फलतः पितामह के बाद पौत्री का नम्बर आता है।

१६} **पौत्री (पुत्र की पुत्री)**—ज्ञातव्य है कि उक्त अधिनियम के पहले केवल मद्रास और बम्बई प्रान्तों मे पौत्री उत्तराधिकारी गिनी जाती थी और बन्धु समझी जाती थी। अब तो इन तीनों नारी दायादों का नाम सपिण्डों की सारणी म आ गया है।

व्यवहारमयूख और मिताक्षरा वाले सारे अधिक्षेत्रों मे पौत्री का नम्बर पितामह के बाद आता है; किन्तु मयूख प्रणाली मे स्वतः पितामह का नम्बर देर मे, और मिता० प्रणाली मे स्वतः पितामह का नम्बर जल्दी आ जाने से परिणाम यह होता है कि दायादों की सूची मे मिताक्षरीय अधिक्षेत्र के भीतर पौत्री की बारी सोलहवी, लेकिन बम्बई प्रान्त के भीतर उसकी बारी पैंतीसवी पड़ती है। उपरोक्त अधिनियम ने बम्बई प्रान्तान्तर्गत उसके स्थान मे परिवतन नही किया है, अतएव वहाँ उसका हक प्राचीनतर होने के बावजूद, अन्यत्र की अपेक्षा वह घाटे मे रह गयी है। किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से वह अब भी अन्यत्र की अपेक्षा फायदे में है, क्योंकि वहाँ उसका स्वामित्व अखण्ड और अन्यत्र खण्डित व सीमित बना रहा। परन्तु सन् १९५६ वाले "हि०

१. "लुगन कौंडा ब० तुलसाना" १७, बम्बई ला रिपोर्ट्स ३१५।

स० ऐक्ट" की धारा १४ ने वहाँ की तरह यहाँ भी उसके स्वामित्व को पूर्णत्व प्रदान कर दिया है।

१७) **दौहित्री (पुत्री की पुत्री)**—सन् १९२९ के पहले दौहित्री का हक केवल मद्रास व बम्बई प्रान्तों में माना जाता था, और उसकी श्रेणी बन्धु की थी। मयूख वाले अधिक्षेत्र मे वह सदा से पूर्ण स्वामिनी रही है, किन्तु उसका नम्बर छत्तीसवाँ पहले की तरह अब भी है (पितामहोपरान्त)। अन्यत्र सन् १९२९ वाले अधिनियम ने दौहित्री को पौत्री के बाद दायाद बनाकर सपिण्ड भी बना दिया[1], किन्तु प्रदान किया मात्र खण्डित स्वामित्व। अब सन १९५६ वाले "हि० स० ऐक्ट" की धारा १४ ने खण्डित को उन्नत करके अखण्ड स्वामित्व दे दिया है।

१८) **भगिनी या अनुजा**—अन्यत्र तो यह तीसरी नवीन दायाद है, किन्तु बम्बई व मद्रास प्रान्तों के भीतर वह बन्धु रूप में एक चिरपरिचित उत्तराधिकारी होती चली आ रही है। बम्बई में उसका नम्बर पितामही के पश्चात् अर्थात् चौदहवाँ पड़ता था और वही अब तक है।[2] अन्यत्र सन् १९२९ वाले उपरोक्त अधिनियम ने उसको पितामह के उपरान्त रखकर उसका नम्बर अठारहवाँ विहित किया है।

यह विचित्र बात है कि अनुजा की प्रत्यासत्ति भाई के साथ इतनी घनिष्ठ होते हुए भी मिताक्षरा ने उसके हक की अवहेलना कर दी। व्यवहारमयूख ने मनु व बृहस्पति के वाक्यों का आश्रय लेकर भगिनी के हक को मान्यता दे रखी थी, जिसने सन् १९२९ वाले अधिनियम के लिए मार्ग प्रस्तुत कर दिया। यथा—

अनन्तरः सपिण्डाद् यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। (मनु)
बहवो ज्ञातयो यत्र सकुल्या बान्धवास्तथा।
यस्त्वासन्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधनं हरेत्॥ (बृहस्पति)

१. "दलसिंगारसिंह ब० जयनाथ कुँवर" (१९४०) १५ लखनऊ २२९।
२. "शिद्रामप्पा ब० नीलमबाई" (१९३३) ५७ बम्बई ३७७।
"वीरभद्रप्पा ब० बाबू वीरभद्रप्पा" (१९४६) बम्बई १००३, किन्तु विरुद्ध देखिए "भगवान ब० राधा" ८, लखनऊ ६४६।
देखिए "बेन मघू ब० कालीदास" (१९४९) बम्बई ७२२।

एक शंका यह उठती है कि यदि मृतक ने सौतेली बहन छोड़ी है तो क्या वह दाय को पायेगी ? इस प्रश्न पर मतभेद खड़ा हो गया, क्योंकि अधिनियम उस पर मौन था। ज्ञातव्य है कि सौतेली माता को तो दायाद नहीं माना गया है, किन्तु सौतेले भाई और उसके पुत्र व पौत्र का उत्तराधिकारी गिना गया है। इसी भेदभाव के कारण मतान्तर उठ खड़ा हुआ, जिसको प्रिवी कौंसिल ने यह निर्णय देकर विश्रान्त कर दिया कि सोदरा भगिनी तथा सौतेली भगिनी दोनों को उक्त अधिनियम समाहित करता है।[1] ज्ञात हो कि बम्बई प्रान्त में तो अनेक नारी दायाद अखण्ड स्वामिनी होती है तथा अन्यत्र सीमित व खण्डित। यही व्यापक नियम भगिनी पर लागू था। किन्तु अब "हि० स० ऐक्ट १९५६" की धारा १४ ने सब उत्तराधिकारिनों को पूर्ण स्वामिनीत्व प्रदान कर दिया है। प्रकरण ३ में "अवक्रमण के प्रारम्भिक बिन्दु" का जो विवेचन किया गया है वह स्मर्तव्य है। यदि उस प्रारम्भिक बिन्दु का प्रादुर्भाव उक्त अधिनियम के पहले हो चुका था तब तो नहीं और यदि बाद में हुआ है तब उक्त अधिनियम प्रयोज्य होगा।[2] भगिनी के पश्चात् भागिनेय या भानजे का नम्बर आता है।

१९) **भागिनेय या भानजा**—भानजे का सुहृद् सम्बन्धियों के मध्य में एक अनुपम स्थान है और मामा-भानजे का अनोखा प्रेमबन्धन सभी प्राच्य देशों तथा धर्मों के भीतर विख्यात है। उसकी अलौकिक घनिष्ठता, पवित्रता, निःस्वार्थता और प्रखरता की अनेक लोककथाएँ प्रचलित है। लखनऊ शहर मे एक प्राचीन मोहल्ले का नाम ही मामू-भानजे की कब्र पड़ गया है। जो नाता इतनी आत्मीयता और अनुराग से परिपूर्ण हो उसकी अवहेलना जीमूतवाहन को छोड़कर अन्य उत्तराधिकारीय नियमावलियों के स्रष्टागण करते रहे यह आश्चर्य की बात है। किन्तु ज्ञातव्य है कि दायभाग ने भानजे की गणना सपिण्डों में करके उसको दायादों की मण्डली के बीच एक उच्च स्थान—अर्थात् भ्रातृपौत्र के बाद लेकिन पितामह से ऊपर (नम्बर १२)—प्रदान किया है। यह उचित ही है क्योंकि दायभाग मे, पितरों को श्राद्ध-तर्पण कर्मों के द्वारा कौन सम्बन्धी अधिक सुख-

१. **"मु० सुभद्रा ब रामबाबू" (१९४३) ६९, इण्डियन अपील्स १४५।**
२. **"बिन्देसरीसिंह ब० बैजनाथसिंह" (१९३८) १३, लखनऊ ३८०।**
"मु० राजपाली कुँअर ब० सरजू राय" (१९३६) ५८, इला० १०४१।
"कन्हैयालाल ब० मु० चम्पा देई" (१९२५) १५३, इण्डियन केसेज ५४५।
"पोखन ब० मनुआ" (१९३७) १६, पटना २१५ (फुल बेंच)।

शान्ति पहुंचा सकता है, इस विचार को महत्व दिया गया है। इस विचार से भानजा एक श्रेष्ठ उत्तराधिकारी है, क्योंकि वह मृतक के पिता, पितामह व प्रपितामह को अपने मातामह, प्रमातामह, वृद्ध-प्रमातामह के रूप मे जल तथा पिण्ड का दान करता है।

ऐसा लगता है कि दायभागीय पद्धति से संवल और प्रेरणा लेकर ब्रिटिश काल में भारत सरकार ने सन् १९२९ मे "हि० ला० आव० इ० (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" पास किया और भानजे को एक दायाद ठहरा दिया; अन्यथा वह बन्धुओं की कोटि में ही पड़ा रह जाता। इस अधिनियम के परिणाम से उसका जो उच्च स्थान दायभाग के भीतर था वह गिरा नहीं, क्योंकि उस (अधिनियम) की क्रियाशीलता मिताक्षरीय अधिक्षेत्र में ही लागू है। किन्तु मयूख वाले अधिक्षेत्र के भीतर दायादों की सूची में उसका नाम ३७वें नम्बर पर आँका गया है, अर्थात् पितामह के नीचे। ध्यान रहे कि भगिनी का नम्बर उस सूची में १४वाँ है। क्या माता-पुत्र का यह विच्छेद और इतना लम्बा विछोह अनुचित तथा असगत नहीं प्रतीत होता है? एवं दायभागीय उत्तराधिकार के अन्दर भागिनेय की माता का अपवर्जन एक निश्चित सिद्धान्त पर आधारित होने से क्षम्य होने पर भी, क्या यह बात खटकती नहीं है कि पुत्र तो हकदार बने और उसकी जननी दूध की मक्खी समझी जाय? जैसे एक देसी कहावत है कि "सास से बैर और पतोहू से नाता।" भगिनी के विषय में "अवक्रमण का प्रारम्भिक बिन्दु" वाले नियम की संक्रिया देखी जा चुकी है। इस दायाद के सम्बन्ध में भी वैसी ही संक्रिया होती है; अर्थात् उपरोक्त अधिनियम का लाभ भागिनेय को उसी दशा में मिल सकता है जब परिसीमित दायाद की (यदि कोई अन्तःस्थ हो) मृत्यु अधिनियम की क्रियाशीलता (२१-२-२९) के पश्चात् हुई हो। यह विदित ही है कि इस अधिनियम का प्रलाभ वैमात्र भगिनी को भी मिलता है। उसी युक्ति से विमाता का पुत्र भी उससे लाभान्वित हो सकता है। किन्तु उसकी बारी आयेगी सहोदरा के पुत्र के अनन्तर। इन नये उत्तराधिकारियों के बाद वही प्राचीन शैली चालू हो जायगी।

२०} **पितृव्य**—इसका नम्बर पहले चौदहवाँ था। बाद मे "हिन्दू ला आव इ० (ए०) ऐक्ट" सन् १९२९ ने चार नये दायादों को और "हि० वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" ने दो नयी दायादाओं को अन्तःस्थापित कर दिया। इसलिए चाचा का नम्बर अब २०वाँ पड़ गया है।

२१} **पितृव्य-पुत्र**—चाचा का पुत्र।

२२} पितृव्य-पौत्र—चाचा का पौत्र।
२३} पितामह की माता या प्रपितामही।
२४} ,, का पिता या प्रपितामह।
२५} पिता का पितृव्य या चाचा।
२६} ,, के ,, ,, ,, का पुत्र अर्थात् पिता का चचेरा भाई।
२७} ,, ,, ,, ,, ,, का पौत्र ,, ,, के ,, ,, का पुत्र।
२८} भाई के पौत्र का पुत्र या भाई का प्रपौत्र।
२९} चाचा के ,, ,, ,, ,, चाचा का प्रपौत्र।

इसी क्रम के सादृश्य या अतिदेश की सहायता से २९ नम्बर के आगे वाले उत्तराधिकारियों का निर्धारण हो सकता है। अतः उपरोक्त सूची को परिवर्धित करने में कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है। पारमार्थिक या आध्यात्मिक प्रलाभ, जो तर्पण श्राद्धादि क्रियाओं के माध्यम से पितरों को पहुंच सकता है, उसके दृष्टिकोण से देखा जाय, तो उपरोक्त सूची के उपरान्त वाले सांपार्श्विक दायादों में वरीयता का निर्धारण करना असम्भव प्रतीत होता है। अधिमान या वरीयता की परख उस दशा में शायद इन दो नियमो के आधार पर करनी पड़े[1]—

(१) जो हकदार एक निकटतर पूर्वज के द्वारा अपने हक का अनुरेखण करता है वह ऐसे दूसरे हकदार की अपेक्षा अधिमान पायेगा जो एक दूरतर पूर्वज के द्वारा अपने हक का अनुरेखण करता है। (२) एक ही पंक्ति वाले पूर्वजों में से निकटतर पूर्वज दूरतर पूर्वज को अपवर्जित कर देगा।

माननीय मुल्ला के "हिन्दू ला" (१२वाँ संस्करण) में पृष्ठ ११७ पर निम्नलिखित सारणी छपी है जो बड़ी उपयोगी है—

१. देखिए जी० सी० सरकार कृत 'हिन्दू ला' (८वां सं०), पृ० ४३८-३९।

मिताक्षरा के अनुसार सपिण्डों तथा समानोदकों की सारणी

(आरोही या पूर्वज उत्तराधिकारी)

पिता$_{१३}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{१२}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{११}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{१०}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{९}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{८}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
पिता$_{७}$–क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{६}$ =पिता$_{६}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{५}$ =पिता$_{५}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{४}$ =पिता$_{४}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{३}$ =पिता$_{३}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{२}$ =पिता$_{२}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
माता$_{१}$ =पिता$_{१}$ –क$_{१}$–क$_{२}$–क$_{३}$–क$_{४}$–क$_{५}$–क$_{६}$–क$_{७}$ से क$_{१३}$ तक
↑
विधवा$_{१}$ =**स्वामी** (मृतक)

(अवरोही या वंशज उत्तराधिकारी)

↓ ↓
दुहिता$_{२}$ पुत्र$_{१}$
↓ ↓
दौहित्र$_{३}$ पुत्र$_{२}$
↓
पुत्र$_{३}$
↓
पुत्र$_{४}$
↓
पुत्र$_{५}$
↓
पुत्र$_{६}$

पुत्र ७–पुत्र १३ तक

इस सारणी की तालिका का स्पष्टीकरण यह है—मृतक सम्पत्ति का स्वामी है, और उसकी बाँयी ओर उसकी विधवा पत्नी है, तथा विधवा के नीचे उसकी दुहिता और दुहिता के नीचे दौहित्र। स्वामी के नीचे अवरोही क्रम में छः पीढ़ियों पर्यन्त उसके वशज; यानी पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि है, और फिर पुत्र$_{७}$ से पुत्र$_{१३}$ तक वंशजों की सात बाकी पीढ़ियाँ है। स्वामी के ऊपर आरोही क्रम मे छः पीढ़ियों पर्यन्त उसके पूर्वज; यानी पिता, पितामह, प्रपितामह आदि है, और उनमे से प्रत्येक की बायीं ओर उसकी पत्नी दिखायी गयी है। अर्थात् माता$_{१}$ से माता$_{६}$ तक स्वामी की माता, पितामही, प्रपितामही इत्यादि आसीन है। पिता, पितामह इत्यादि पूर्वजों की छः पीढ़ियों के ऊपर वाली सात बाकी पीढ़ियाँ पिता$_{७}$ से पिता$_{१३}$ तक करके दिखायी गयी हैं। यहाँ पर उदग्र या खड़ी पंक्तियाँ समाप्त हुई। अब उनकी दाहिनी ओर अनुप्रस्थ या बेंड़ी पंक्तियों को देखिए। पिता$_{१}$ तो स्वामी का पिता है और उसके सामने क$_{१}$ से क$_{१३}$ तक उस (पिता) के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इत्यादि तेरह वंशज है। अर्थात् क$_{१}$ तो स्वामी का भाई है, और क$_{२}$ भतीजा, क$_{३}$ भतीजे का पुत्र, क$_{४}$ पौत्र इत्यादि हैं। उसी तरह पिता$_{२}$ स्वामी का पितामह तथा क$_{१}$ से क$_{१३}$ तक उस (पितामह) के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इ० हैं। अर्थात् उनमें से क$_{१}$ तो है स्वामी का पितृव्य या चाचा, और क$_{२}$ है चचेरा भाई, और क$_{३}$ चचेरा भतीजा इ०। उसी तरह अन्य अनुप्रस्थ या बेंड़ी पक्तियों का निर्वचन जान लीजिए।

इस रीति से निर्वचन की हुई उपरोक्त सारणी यह प्रदर्शित करेगी कि रेखांकित पूर्वजों तथा वशजों को छोड़कर बाकी बचे ६+१२+३६+३=५७ कुटुम्बी तो सपिण्डों की परिभाषा के अन्तर्गत आते है। सारणी में जो रेखांकित कुटुम्बी जन हैं उनकी सज्ञा समानोदक है, तथा यदि उनको गिनेंगे तो उनकी संख्या निकलेगी ७+७+४२+९१=१४७।

इस प्रसंग में पूर्वोक्त यह नियम फिर दोहरा दिया जाय तो अच्छा है कि "सगा सपिण्ड सौतेले से वरीयता पाता है।" यह नियम एक ही पीढ़ी वाले सपिण्डों पर, न कि भिन्न पीढ़ियों वाले सपिण्डों पर, प्रयोज्य है।[1] उदाहरणार्थ, यदि राम एक सोतेले भाई गोपी व एक सगे चाचा हरी को छोड़कर मरे, तो हरी अपने सगेपन के आधार पर गोपी के हक का अपहरण नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों हकदारों की पीढ़ियों में

१. **"सूजासिंह ब० सरफराज" १९ इला० २१५।**
"गंगासहाय ब० केसरी" (१९१५) ४२, इ० अपील्स १७७।

भेद है। यह नियम मिताक्षरा वाले सारे अधिक्षेत्र में प्रयोज्य है, चाहे मिथिला, चाहे बम्बई, चाहे मद्रास वाली उपशाखा का वहाँ प्रचार हो।[1]

समानोदक और बन्धु उत्तराधिकारी

सपिण्डों के उत्तराधिकार का हाल सविस्तर बतला दिया गया। अधिकांश मामले सपिण्ड-दाय-प्राप्ति के ही होते है। सपिण्डों के अभाव में समानोदकों का हक आता है। यह आरम्भिक नियम प्रसिद्ध ही है। साथ ही, वे दो व्यापक नियम भी, कि (१) जो हकदार एक निकटतर पूर्वज के द्वारा अपने हक का अनुरेखण करता है, वह ऐसे दूसरे हकदार की अपेक्षा अधिमान पायेगा जो एक दूरतर पूर्वज के द्वारा अपने हक का अनुरेखण करता है—दूसरे शब्दों में, समीप वाली पूर्वजों की पंक्ति दूर वाली पंक्ति का अपवर्जन करती है। (२) एक ही पंक्ति वाले पूर्वजों में से निकटतर पूर्वज दूरतर पूर्वज को अपवर्जित कर देता है। ये दोनों नियम समानोदक कुटुम्बियों पर भी लागू होते हैं। समानोदक और सगोत्र एक ही बात है। गोत्र का अर्थ है गौओं का परित्राण प्रदायक स्थल, अर्थात् गोचर भूमि। उसी गोचर में जो लोग संयुक्त हों वे सगोत्र हैं। उदक का अर्थ है जल। जलाशय में जो लोग संयुक्त हों वे समानोदक हैं। अतीत काल में जलाशय और गोचर संयुक्त कुटुम्बों या सगोत्रियों के बीच में सदैव सार्वजनिक तथा अविभाज्य रहते थे, क्योंकि जीविका व जीवन के ये अनिवार्य साधन थे। यथा—

अविभक्तधनास्त्वेते सपिण्डाः परिकीर्तिताः। (ब्रह्मपुराण)

यह ऐतिहासिक या कल्पित अर्थ है। समानोदक का दूसरा अर्थ है, जैसा कि ऊपर कहा गया था, वे सब लोग, जो किसी मृत व्यक्ति को तिलांजलि समर्पण करते या एक ही व्यक्ति से तिलांजलि प्राप्त करते हैं, यथा—

अत ऊर्ध्वं समानार्थजन्मपिण्डोदकगोत्राणां पूर्वः पूर्वो गरीयान्। (वसिष्ठ १७-७९)

समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ (मनु ५-६०)

समानोदकभावस्तु निवर्तेता चतुर्दशात्।

जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते॥ (मिताक्षरा २-१३६)[2]

ये बातें स्पष्टीकरण के लिए दोहरा दी गयी हैं। जब सपिण्ड तथा समानोदक दोनों निश्शेष हो जाते हैं तब जाकर उत्तराधिकार बन्धुओं को मिलता है।

१. "गरुड़दास ब० लालदास" (१९३३) ६०, इ० अ० १८९।

२. 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' ३७, ७५२–७५३।

बन्धु की परिभाषा, उसका आशय व प्रसार तो संक्षेप में पहले बतलाया जा चुका है। नारी अथवा नारियों के माध्यम से जो लोग सम्पत्ति के मृत स्वामी के साथ सम्बन्धित होते हैं, उनकी संख्या स्पष्टतः विशाल हो सकती है। तब उनमे से चुनाव किस विधि से किया जाय ? इस शंका का कोई शास्त्रीय और प्रत्यक्ष समाधान नहीं पाया जाता। यद्यपि हाई कोर्टों व प्रिवी कौंसिल ने समाधान खोज निकालने का प्रयास बहुत किया है, जिसके कारण नजीरों की संकुलता बढ़ गयी है। सन् १९१४ में "रामचन्द्र ब० विनायक" नामक मुकदमा[१] प्रिवी कौंसिल में गया, जिसके तथ्य संक्षेपतः ये थे—आदि पूर्वज के दो पुत्र थे। एक पुत्र का पुत्र, जो कि सम्पत्ति का स्वामी था, एक पुत्री को छोड़ कर मर गया। उस पुत्री के मरने पर अर्थात् खण्डित स्वामित्व के समाप्त होने पर उत्तराधिकार का सवाल उठा। दावेदार दूसरे पुत्र के पुत्र की पुत्री की पुत्री का पुत्र था। निम्नलिखित वृक्ष से बात स्पष्ट हो जायगी—

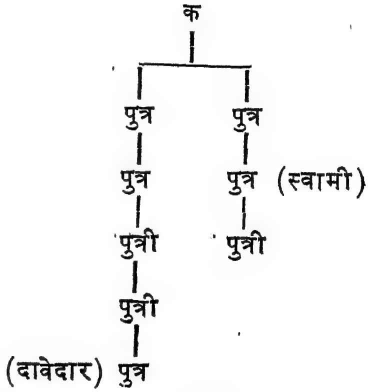

दावेदार मृत स्वामी का बन्धु अवश्य था, किन्तु सवाल यह था कि वह भिन्न-गोत्र सपिण्ड, अर्थात् दायाधिकारी बन्धु है या नहीं। मिताक्षरा में सपिण्डता का सीमित अर्थ में प्रयोग हुआ है, अर्थात् मृतक के साथ नारी के माध्यम से सम्बन्धित व्यक्ति को पाँच पीढ़ी के भीतर, तथा पुरुष के माध्यम से सम्बन्धित व्यक्ति को सात पीढ़ियों के भीतर होना चाहिए। उपरोक्त दावेदार का हक मृत स्वामी के साथ अपनी माता के माध्यम से हुआ था। अतः उसको पाँच पीढ़ियों के भीतर होना चाहिए। किन्तु क से उसका अन्तर छः पीढ़ियों का पाया जाता है। इस बाधा को अभिभूत करने के लिए उसकी ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि पाँच व सात पीढ़ियों की संख्या विवाह वाले मामलों के लिए, अर्थात् उन पीढ़ियों के भीतर वैवाहिक सम्बन्ध का निषेध करने के लिए निर्धारित की गयी थी और वह सांख्यिक सीमा दायाधिकार वाले मामलों में अप्रयोज्य है। बहस में कहा गया कि ऐसे मामलों के लिए पीढ़ियों की कोई भी अवधि नहीं है। इस तर्क का प्रतिवारण करते हुए प्रिवी कौंसिल ने दावा खारिज कर दिया और "उम्मेद

१. (१९१४) ४१, इ० अपील्स २९०, ३१२।

बहादुर ब० उदयचन्द"[1] वाली नजीर का अनुमोदन करते हुए दो नियम विहित कर दिये—(१) दावेदार यदि नारी के माध्यम से आता है तो उसको आदि पूर्वज से पाँच पीढ़ियों के भीतर होना चाहिए। (२) दावेदार और मृत स्वामी को अन्योन्य का सपिण्ड भी होना चाहिए।

पहली शर्त से दो शंकाएँ उठती हैं। एक तो यह कि यदि दावेदार अपने पिता के माध्यम से मृतक के साथ सम्बन्धित हो तो पाँच पीढ़ी की सीमा लागू होगी या सात की ? बम्बई व इलाहाबाद का मत है कि पाँच वाली अवधि प्रयोज्य होगी।[2] मद्रास के मत से सात वाली अवधि लागू होगी।[3] दूसरी शंका यह कि उस दशा में क्या होगा जब दावेदार अपने पिता के माध्यम से सम्बन्धित हो और आदि पूर्वज से सात ही पीढ़ी दूर हो, किन्तु उस (दावेदार) का पिता स्वतः, जो छः (यानी पाँच से अधिक) पीढ़ी दूर है, अपनी माता के माध्यम से सम्बन्धित रहा हो ? पाठक असमंजस में पड़ जायेंगे। सरसरी दृष्टि से तो लगता है कि दावेदार का हक पक्का है। किन्तु गौर करने से यह लगता है कि जो पिता स्वतः अपवर्जित है वह अपने माध्यम से अपने पुत्र को कैसे हक प्रदान कर सकता है। दूसरे शब्दों में, पुत्र अपने पिता की अनर्हता का छलांग मार कर कैसे उल्लंघन कर सकता है। इस छलाग को डा० सर्वाधिकारी ने मण्डूक-प्लुति (फ्राग्स लीप, मेढक की फलांग) की संज्ञा दी है।[4] शुद्ध उत्तर होगा कि दावेदार को हम उत्तराधिकारी बन्धु नहीं मान सकते।

दूसरी शर्त को मनु के इस प्रसिद्ध वाक्य से अवलम्बन मिलता है—

"अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्।"

या **"अनन्तरः सपिण्डो यस्तस्य तस्य धनं भवेत्॥"**

या **"यो यो ह्यनन्तरः पिण्डात्तस्य तस्य धनं भवेत्।" (मनु ९–१८७)**

"सपिण्डाद् यः" और "तस्य तस्य" शब्दों से अन्योन्यता का आशय लिया गया है। दोनो (मृत स्वामी, दावेदार) की अन्योन्य सपिण्डता को माननीय मुल्ला ने 'हिन्दू ला' (पृ० १३५) मे इन रेखाचित्रों से समझाया है—

१. ६ कलकत्ता ११९, १२८।

२. "ब्रजमोहन ब० किशन लाल", १९३८, इला० ला जर्नल ६७०।
"केसर ब० विनायक" (१९४७) बम्बई ७७०।

३. "केसरसिंह ब० भारत सचिव" (१९२६) ४९, मद्रास ६५२, ६८९।

४. सर्वाधिकारी कृत 'हिन्दू ला,' २ सं०, पृष्ठ ५९२।

(१)

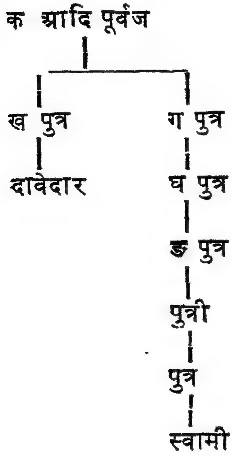

(२)

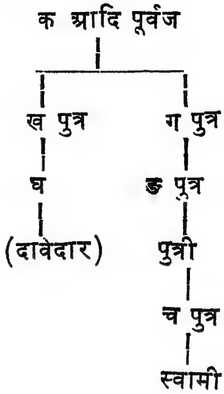

चित्र (१) में स्वामी का पिता **च** पुत्री के माध्यम से आया है और पाँच पीढ़ियों के बाहर है अतः **च** दावेदार का सपिण्ड नहीं है और **च** का पुत्र (स्वामी) भी दावेदार का सपिण्ड नहीं है। उपर्युक्त मंडूक-प्लुति द्वारा दावेदार को हम स्वामी का उत्तराधिकारी सपिण्ड नहीं मान सकते। चित्र (१) के अनुसार स्वामी भी दावेदार का उत्तराधिकारी सपिण्ड नहीं बन सकता। अर्थात् दावेदार और स्वामी में पारस्परिक सपिण्डता प्रमाणित नहीं होती। अन्योन्य या पारस्परिक सपिण्डता का अर्थ अब समझ में आ जायगा। चित्र (२) से यही चीज और भी स्पष्ट होती है। उसमें स्वामी एक नारी के माध्यम से आने के बावजूद, पाँच पीढ़ियों के भीतर होने के कारण, दावेदार का उत्तराधिकारी सपिण्ड बनता है, और इसके विलोमतः दावेदार भी स्वामी का उत्तराधिकारी सपिण्ड बन जाता है। चित्र (३) से स्पष्ट है कि स्वामी व दावेदार अन्योन्य उत्तराधिकारी सपिण्ड है। समझने की सुगमता के लिए चित्र (४) भी लिखा जा रहा है जो चित्र (१) का विलोम है—

(३)

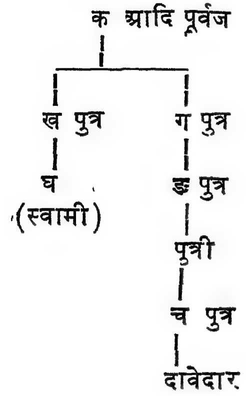

(४)

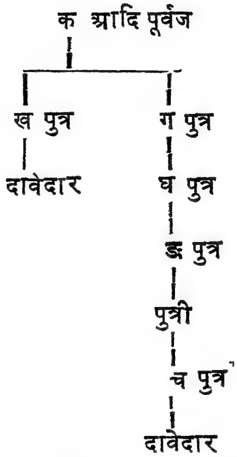

चित्र (२) व (३) से साबित होता है कि दावेदार "रामचन्द्र ब० विनायक" वाली दोनों शर्तों को पूरी करता है। इसलिए उसका हक पक्का है। उसी तरह से चित्र (१) व (४) से साबित होता है कि दावेदार उस नजीर की शर्तों को पूरी नहीं करता है। फलतः उसका हक कच्चा और अप्रवर्तनीय है। इन दोनों शर्तों को पूरी करने वाले बन्धुओं की भी विशाल संख्या हो सकती है। दायादों के इतने विस्तृत व अभेद्य व्यूह से छूटकर मृत व्यक्ति की सम्पदा बाहर आयेगी और तब राजगमन (एस्चीट) या जप्ती के द्वारा राष्ट्र या जनता के उपयोग में आयेगी, जिसका सयोग अति क्षीण और सुदूर प्रतीत होता है। एक ही खानदान के भीतर सम्पत्ति का प्रतिबन्धित होकर अमित काल तक पड़ा रहना जनहित के प्रतिकूल है। जैसे "दर्वेश रवाँ रहे तो बेहतर", वैसे ही सम्पत्ति रूपी नदी का प्रवाहित रहना ही सबके हित में कल्याणकारी होता है।

बन्धुओं का निर्धारण

विन्ध्य की परिवर्धनशील दुर्गमता का निवारण जैसे कुम्भज ऋषि ने किया, वैसे ही उत्तराधिकारी बन्धुओ के परिवर्धनशील विस्तार को रोकने का प्रयास डाक्टर सर्वाधिकारी जी ने किया है। भगीरथ परिश्रम, प्रवीण गवेषणा, पारदर्शी बुद्धिमत्ता समेत उन्होंने निम्नोक्त विद्वत्तापूर्ण प्रस्थापना की रचना की—यह देखकर कि वही लोग बन्धु कहे गये है जो चार परिवारों में किसी एक के सदस्य हों, यानी (१) मृतक या उसके पितृपरक पूर्वजों के परिवार, (२) मृतक की माता के पितृपरक पूर्वजों के परि-

वार, (३) मृतक की पितामही के पितृपरक पूर्वजों के परिवार, (४) मृतक की मातामही के पितृपरक पूर्वजों के परिवार। उनके मत से, बन्धुओं की मिताक्षरा वाली तीन श्लोकीय परिभाषा से यही निष्कर्ष निकलता है। इस निष्कर्ष के ऊपर अन्योन्यता की कसौटी लगाकर उन्होंने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि एक तरफ तो धनी या स्वामी को ऐसे आदि पूर्वज की सन्तान होना चाहिए, जो दावेदार के इन चार परिवारों का सदस्य हो—(१) दावेदार का पितृपरक परिवार, (२) दावेदार की माता का पितृपरक परिवार, (३) दावेदार की पितामही का पितृपरक परिवार और (४) दावेदार की मातामही का पितृपरक परिवार। दूसरी तरफ और दूसरे शब्दों में, दावेदार[१] (१) यदि स्वतः उपरोक्त दूसरे, तीसरे, चौथे परिवार का सदस्य है, या (२) इन चारों परिवारों के किसी पितृपरक सदस्य का दौहित्र है, या (३) इन चारों परिवारों के किसी पितृ-परक सदस्य का दौहित्रात्मज (दौहित्र का पुत्र) है, या (४) इन चार परिवारों के किसी पितृपरक सदस्य का दौहित्रेय (दौहित्री का पुत्र) है, तो ऐसे दावेदार को उत्तराधिकारी बन्धु कहेंगे और उसका हक प्रवर्तनीय होगा।

इस मत को इलाहाबाद[१] के सिवा अन्य हाई कोर्टों ने मान्यता नहीं प्रदान की है।[२] किन्तु डा० सर्वाधिकारी की तर्कपूर्ण युक्तियाँ एक तरफ तो कुशाग्रता की और दूसरी तरफ उनके गम्भीर मनन की परिचायक है।[३] महामहोपाध्याय डा० काणे ने डा० सर्वाधिकारी से मतभेद व्यक्त किया है।[४] डा० जे० डी० एम० डेरेट का भी उक्त प्रस्थापना से मतभेद है।[५]

उत्तराधिकारी बन्धु कौन है ? इसका उत्तर शायद यही होगा कि उपरोक्त दो पहचानें तो निश्चित है और एक संदिग्ध। एक तो यह मत प्रतिष्ठापित है कि दावेदार संकुचित अर्थ में स्वामी का सपिण्ड हो। दूसरे, दावेदार तथा स्वामी के बीच अन्योन्यता विद्यमान हो। तीसरी कसौटी, जिस पर मतभेद है वह इलाहाबाद के अनु-

१. "गजाधर ब० गौरीशंकर" (१९३२) ५४ इला० ६९८।
२. "नागम्मा ब० लिंगरेड्डी" (१९४३) मद्रास ७५९।
"पांचू गोपाल ब० नाटामल" (१९४९) ए० सी० १५७।
"कसा ब० विनायक" (१९४७) बम्बई ७७०।
"केसर सिंह ब० सेक्रेटरी आव इण्डिया" (१९२६) ४९ मद्रास ६५२।
३. टैगोर ला लेक्चर्स आन हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, संस्करण २, पृ० ५७१-६४०।
४. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृ० ७६०—६३।
५. डेरेट (जे० डी० एम०) कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ३८७।

सार यह है कि दावेदार को उपरोक्त चार में से किसी एक परिवार के पितृपरक सदस्य का ऐसा वंशज होना चाहिए जो आदि पूर्वज से पाँच पीढ़ियों के भीतर हो।

उत्तराधिकारी बन्धुओं की अवली (पंगत) जब निर्धारित हो चुकी, तब उसमें से चुनाव किस रीति से होगा ? "मुठूस्वामी ब० (सुनामवेडू) मुठूकुमार स्वामी" वाले मुकदमे में चुनाव का **पहला नियम** प्रिवी कौंसिल[1] ने यह विहित किया है कि (१) आत्मबन्धु वरीय हैं पितृबन्धुओं से और पितृबन्धु वरीय हैं मातृबन्धुओं से। इस नियम का उदाहरण यह है—(क) मौसी का पौत्र (आत्मबन्धु) वरीय है माता की बुआ के पुत्र (मातृबन्धु) से।[2] (ख) बुआ का दौहित्र (आत्मबन्धु) वरीय है पितामह के भागिनेय (पितृबन्धु) से।[3] इस नियम के बाद, मुठूस्वामी वाली नजीर मे से दो और नियम निष्कर्ष के रूप मे निकले।

"वेदा चेला ब० सुब्रह्मण्य" वाले मुकदमे में प्रिवी कौन्सिल ने यह घोषित किया कि "प्राधिकारो रूप से जब तक यह नियम स्पष्टतया बदला नहीं जाता, तब तक यह मानना पड़ेगा कि मुठूस्वामी वाली नजीर मे परिगणित प्रस्थापनाएँ पथ-प्रदर्शन करने के लिए विश्वनीय हैं।" (१) उपरोक्त दो नियम अर्थात् **दूसरा व तीसरा नियम** ये हैं—(२) मुठूस्वामी वाली नजीर मे जो दृष्टान्त उल्लिखित है उन्हीं के अनुसार प्रत्यासत्ति या सम्बन्धी-संनिधि को निर्धारित करना चाहिए, अर्थात् निकटतर प्रत्यासत्ति वाला दूरतर प्रत्यासत्ति वाले को परास्त कर देता है। (३) जब दोनों बन्धु एक ही श्रेणी के हों, तो वरीयता निर्धारित करने के लिए यह देखना चाहिए कि पारलौकिक लाभ अधिक कौन पहुँचायेगा। इन दोनों कसौटियों का प्रयोग पूर्वानुपर करना चाहिए।[4] जब ये नियम निरर्थक हो जायें तो चौथे नियम वाली कसौटी लगानी चाहिए, जो यह है—

मेन, डा० जी० सी० सरकार तथा भट्टाचार्य के रचे हुए 'हिन्दू ला' के ग्रन्थों में उल्लिखित मत का अवलम्ब लेते हुए और इस बात पर बल देते हुए कि चौथी कसौटी तभी लगानी चाहिए जब पहले तीन नियम निष्फल पड़ जायँ, प्रिवी कौंसिल ने यह **चौथा नियम** विहित किया कि (४) जब दोनों प्रतिद्वन्द्वी बन्धु एक ही श्रेणी और समान

१. (१८९६) १९ मद्रास ४०५।
२. "आदित ना० ब० महाबीर प्र०" (१९२१) ४८, इ० एपील्स ८६।
३. "के० अय्यंगर ब० वी० अय्यंगर" (१९०६) २९ मद्रास ११५।
४. "वेदाचेला ब० सुब्रह्मण्य (१९२१), ४८ इ० ए० ३४९।
५. "जे० एन० राय ब० एन० एन० राय" (१९३२), ५९ कल० ५७६।

प्रत्यासत्ति वाले हों, तो वह बन्धु जो पिता के माध्यम से सम्बन्धित हो उस बन्धु की अपेक्षा वरीय माना जायगा जो माता के माध्यम से सम्बन्धित हो। ये चारों नियम प्रिवी कौंसिल के मुख से निर्गत होने के कारण सर्वथा मान्य हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न हाई कोर्टों की नजीरों में दो-चार और नियम भी विहित किये गये हैं, जिनके एकत्रीकरण का प्रयास मद्रास हाई कोर्ट ने किया था।[1] संक्षेपतः वे नियम निम्नोक्त हैं—

(१) आत्मबन्धुओं को पितृबन्धुओं से तथा पितृबन्धुओं को मातृबन्धुओं से वरीयता मिलती है।

(२) प्रत्येक श्रेणी में निकटतर प्रत्यासत्ति वाला बन्धु दूरतर प्रत्यासत्ति वाले बन्धु से वरीय होता है।

(३) एक ही श्रेणी के प्रतिद्वन्द्वी बन्धुओं में पारलौकिक प्रलाभ एक निर्णायक कारक माना जाता है।

(४) उपरोक्त कसौटियों की विफलता के बाद यह कसौटी लगायी जाय कि पिता के माध्यम से कौन सम्बन्धित है और कौन माता के माध्यम से। इनमें प्रथम द्वितीय से वरीय माना जायगा।

(५) उत्तराधिकारी बन्धुओं के समूह में वह वरीयता पायेगा जिसके और मृत स्वामी के बीच मे अन्तरित नारियों की सख्या अपेक्षया कम हो।

(६) जो बन्धु मृत स्वामी का वशज है वह उस बन्धु की अपेक्षा वरीयता पायेगा जो मृतक का पूर्वज है।

(७) यदि प्रतिद्वन्द्वी बन्धु एक ही श्रेणी के हों और समान रूप से मृतक के वंशज हों, तो ऐसे वशज बन्धुओं में जिसकी वंशावली निकटतर हो वह दूरतर वंशावली वाले से वरीयता पायेगा।[2]

(८) दो समान प्रतिद्वन्द्वियों मे यदि एक सगा हो और दूसरा सौतेला, तो उस दशा में पहला दूसरे से वरीयता पायेगा।[3]

उपरोक्त नियमावली[4] उन मामलों में लागू होगी, जिनमें अन्तर्ग्रस्त बन्धुगण या तो स्वतः स्वामी के वशज हैं, या उसके (स्वामी के) पिता के, या पितामह के

१. "कलीमुट्ठू ब० अम्मामुट्ठू" (१९३५) ५८, मद्रास २३८, २४६।
२. "देवीदास ब० मुकुट बिहारी" (१९४३), इलाहाबाद १३१।
३. "जे० एन० राय ब० एन० एन० राय" (१९३१) ५८, इ० एपील्स ३७२।,
४. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ७५९।
प्रो० जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ३८५–८६।

या उसके (स्वामी के) प्रपितामह के। उपरोक्त बन्धुओं की सारणी माननीय मुल्ला के "हिन्दू ला" (१२ वां सं०) के पृष्ठ १४७–१५१ में मिलेगी। उस सारणी में १८० से ऊपर उत्तराधिकारी बन्धु गिनाये गये हैं, फिर भी वह अन्तिम नहीं है। प्रपितामह के ऊपर वाले पूर्वजों के वंशजों में भी बन्धु पाये जा सकते हैं, किन्तु ऐसे दावेदारों के मामले अभी तक हाई कोर्टों के सामने पहुँचे नहीं हैं। अतः उनके विषय में विचार करना व्यवहारतः उपयोगी नहीं प्रतीत होता है।

बन्धुओं की पूर्वोक्त तीन श्लोकात्मक मिताक्षरीय परिभाषा में एक भी नारी की गणना नहीं है। किन्तु मिताक्षरा के दो उप-अधिक्षेत्रों में कतिपय नारी बन्धुओं को मान्यता दी गयी है। इस अन्तिम मत के लिए युक्ति यह दी गयी है कि जैसे "सपिण्ड" नारियों को समाहित करता है, वैसे ही "भिन्नगोत्र सपिण्ड" नारी बन्धुओं को समाहित करता है। मद्रास में पुत्री और बम्बई में भगिनी, पुत्री, बुआ तो सपिण्डों की श्रेणी में आकर दायाद गिनी गयी हैं। अन्य ऐसी नारियाँ भी उन प्रान्तों में उत्तराधिकारी बन्धु समझी जाती हैं जो यदि पुरुष होतीं तो उत्तराधिकारी बन्धु वाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो जातीं। मद्रासी नजीरों के[1] अनुसार पुरुष बन्धुओं का हक नारी बन्धुओं की अपेक्षा अधिक बलशाली होता है। बम्बई में योनि-भेद को वरीयता का आधार नहीं माना गया है।[2]

यहाँ तक मृत स्वामी के उन दायादों का वर्णन हुआ जो उसके सगे-सम्बन्धी अथवा आत्मीय या सजातीय हैं। जब इस विशाल समूह से सम्पदा उबर पाये तब जाकर बाहरी लोग उससे लाभान्वित हो पाते हैं। "हिन्दू ला" ने बाहरी दायादों का भी क्रम विहित कर दिया है। *यथा*—

"**शिष्यः सब्रह्मचारिणः**" (याज्ञवल्क्य २–१३६) ; और "**अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्याद् आचार्य्यः शिष्यः एव वा**" (मनु ९–१८७) और "**बन्धूनामभावे आचार्यः। तदभावे शिष्यः। पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डस्तदभावे आचार्यः, आचार्याभावे अन्तेवासी-त्यापस्तंवस्मरणात्।**" (मिताक्षरा) और "**शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक् येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः स सब्रह्मचारी।**" (मिताक्षरा)।

सजातीय के अभाव में चारों वर्णों के धनी की सम्पदा का उत्तराधिकारी पहले

१. "नरसिंह बनाम नरगम्मन" (१८९०) १३, मद्रास १०।
"राजा वेंकट ब० राजा सुरनेनी" (१९०८) ३१, मद्रास ३२१।
२. "किशन ढंडू ब० शरन्त बाई" (१९४९) ५२, बम्बई एल० आर० ३२७।

आध्यात्मिक गुरु माना गया है, फिर शिष्य, फिर गुरुभाई। यह सांसारिक धनी की सम्पदा के अवक्रमण का सवाद है। यदि कोई द्विज वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने के बाद मरता है तो उसी आश्रम म रहने वाला सह-वानप्रस्थ उसका दायाद होगा। सन्यासी का दायाद होगा उसका पुनीत पुण्यात्मा चेला। ब्रह्मचारी का उत्तराधिकारी होगा उसका मत्रदाता गुरु। ऐसे लोगों के उत्तराधिकारी उनके ससारी कुटुम्बी नहीं हो सकते है।

उपरोक्त ससारी तथा आध्यात्मिक दायादों के अभाव मे सम्पदा राजगमन या जप्ती के द्वारा राष्ट्र को प्राप्त हो जाती है और राष्ट्र के माध्यम से जनता उससे लाभान्वित होने लगती है। सम्पदा पाने के परिणामस्वरूप राष्ट्र के ऊपर उन न्यासों, आभारों और भरण-पोषणादि का दायित्व भी आ जाता है जो सम्पदा से सलग्न रहे हों।[1] अपरंच मृत धनी ने कोई दायाद नही छोड़ा है[2], इसका प्रमाणभार राष्ट्र के ऊपर रहता है। दायप्राप्ति की व्यवस्था लम्बी है, किन्तु रुचिकर प्रश्नों से समावेष्टित होने के कारण श्रान्तकारी नही है।

साधारण संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य या वियुक्त सदस्य की स्वार्जित सम्पत्ति के अवक्रमण की विधि पाठका ने जान ली। अब शका यह उठती है कि ससृष्टि (या अलग होने के बाद शामिल होने) का क्या परिणाम दायप्राप्ति के ऊपर होगा। इसके उत्तर मे स्मृतिवाक्य यह है––

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च॥
अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत्।
असंसृष्ट्यपि वादद्यात्संसृष्टो नान्यमातृजः॥ (याज्ञ० २. १३८–३९)

संसृष्ट के बाद उत्तरजीविता वाला नियम उसी प्रकार से सक्रिय हो उठता है जैसे अलग होने के पहले, अर्थात् एक समांशिता फिर से सज-धज कर तैयार हो जाती है।[3]

१. "गोलाब कुँवर ब० कलेक्टर आव बनारस" (१८४७) ४, मूर्स इण्डियन एपील्स २४६।
"कलेक्टर आव मुस्लीपटम ब० सी० वेंकेट" (१८६०) ८, मूर्स इण्डियन एपील्स ५००।
२. "कलेक्टर हरदोई ब० कन्हैयालाल इ०" (१९४१) १६, लखनऊ ५५१।
३. "समुद्रल ब० समुद्रल" (१९१०), ३३ मद्रास १६५।
"यसोदा ब० शिव" (१८९०), १७ कलकत्ता ३३।

मृत धनी की पृथक् या व्यक्तिगत सम्पदा के अवक्रमण के नियम भी वही हैं जो ऊपर लिखे जा चुके है, अर्थात् जो अलग होने के पहले लागू होते। उपरोक्त क्रम में समृष्टि के प्रभाव से वीरमित्रोदय ने केवल निम्नलिखित परिवर्तन कर दिया है—

नं० १. पुत्र पौत्र प्रपौत्र	नं० ५. संसृष्ट पिता	नं० १०. विधवा
नं० २. संसृष्ट सगा भाई	नं० ६. अन्य संसृष्ट समांशी	नं० ११. पुत्री
नं० ३. संसृष्ट सौतेला भाई तथा अलग सगा भाई	नं० ७. असंसृष्ट सौतेला भाई	नं० १२. दौहित्री
	नं० ८. ,, माता	नं० १३. भगिनी[1]
नं० ४. संसृष्ट माता	नं० ९. ,, पिता	

याद रहे कि पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के विषय में वही चिरपरिचित पितृपरक वाला नियम संसृष्टि के पश्चात लागू होगा।[1] व्यवहारमयूख का मत यह है कि संसृष्ट दायाद को असंसृष्ट दायाद की अपेक्षा सर्वदा वरीयता मिलती है। मयूख में यह क्रम विहित है—

नं० १. संसृष्ट पुत्र	नं० ४. संसृष्ट सगा भाई	नं० ६. संसृष्ट पितृव्य
नं० २. असंसृष्ट पुत्र	नं० ५. असंसृष्ट सगा भाई	नं० ७. संसृष्ट अन्य पुरुष कुटुम्बी
नं० ३. संसृष्ट मातापिता	ससृष्ट सौतेला ,,	नं० ८. संसृष्ट विधवा
	नं० ९. सगी बहिन	नं० १०. अन्य निकटतम सपिण्ड

यह भी ज्ञातव्य है कि संसृष्टि वाले मामले यदा-कदा ही उठते हैं।[2]

नारी उत्तराधिकारी

तीसरे प्रकरण और इस प्रकरण में यह बतलाया गया है कि नारियाँ भी दाय प्राप्त कर सकती हैं। उसी विषय का समुच्चय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। धर्मशास्त्र के वाक्य हैं—

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम्॥ (मनु ८–४१६)
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ (मनु ९–३)
रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्राश्च वार्द्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं स्त्रियाः क्वचित्॥ (याज्ञ० १–८५)

१. डा० जी० सी० सरकार कृत "हिन्दू ला", ८वां सं०, पृ० ४५५।
२. "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३, पृष्ठ ७६७, ७६८, ७६९।

पूर्व काल में पैतृक आधिपत्य, शारीरिक व मानसिक दुर्बलताओं तथा दासप्रथा के कारण नारी वग के अधिकार अतीव इने-गिने और सीमित होते थे।[1] यहाँ तक कि बौधायन ने कहा है कि "(अहात स्त्री) न दायम्। निरिन्द्रिया ह्यदायादाः स्त्रियोऽनृतम् इति श्रुतेः।" फलतः बहुकालान सघष के बाद विधवा को उत्तराधिकार का हक मिला था।[2] उसी तरह पुत्री क उत्तराधिकार का बहुत दिनों के बाद मान्यता मिली थी।[3] शनैः शनैः नारी उत्तराधिकारियों की सख्या पाँच तक पहुँची गयी। १९२९ ई० तक मिथिला व बनारस उपशाखाओं मे तो सख्या यही बनी रही; किन्तु द्रविड़ तथा महाराष्ट्र वाली उपशाखाओं ने उन पांच (विधवा, दुहिता, माता, पितामही, प्रपितामही) में क्रमशः दो व अनेक नारी दायादों को जोड़ दिया। महाराष्ट्र ने (१) भ्रातृपुत्री, (२) भागिनेयी, (३) पितृव्यपुत्री और (४) पिता की बुआ की पुत्री को दायाद मान लिया है।[4] द्रविड़ देश मे (१) भ्रतृपुत्री, (२) भ्रातृपौत्री दो को अभी तक मान्यता मिल चुकी है।[5] इनके अतिरिक्त, जैसा ऊपर कहा गया है, मद्रास में पुत्री और बम्बई में पुत्री, भगिनी, बुआ पहले से ही गोत्रज सपिण्डों के रूप में दायाद मानी जाती थीं। यह भी कहा जा चुका है कि "उन दोनों प्रान्तों में अन्य ऐसी नारियाँ भी उत्तराधिकारी बन्धु समझ ली जाती हैं जो यदि पुरुष होती तो उत्तराधिकारी बन्धु वाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो जातीं।" ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि बम्बई प्रान्त मे गोत्रज सपिण्डों व समानोदकों की विधवाएँ भी दाय की अधिकारी मानी गयी हैं। अर्थात् नारी दायादों की संख्या बढ़ती जा रही है और बम्बई प्रान्त में तो वह अथाह है। सन् १९२९ व १९३७–३८ वाले अधिनियमों ने जिन नारी दायादों को मान्यता दे दी है उनको भी इस प्रसंग में याद रखना चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी बन्धु की विधवा अभी तक किसी प्रान्त में उत्तराधिकारी नहीं मानी गयी है। यहाँ पर प्रश्न उठता है

१. "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र", खण्ड ३, पृ० ७०१–७०६।
२. "हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र", खण्ड ३, पृ० ७१३–१४।
३. "बालकृष्ण ब० रामकृष्ण" (१९२१), ४५ बम्बई ३५३।
"दत्तात्रेय ब० गंगादेई" (१९२२), ४६ बम्बई ५५१।
"केनचावा ब० गिरिमलप्पा" (१९२४), ४८ बम्बई ५६९।
"बाई बिजली ब० प्रभालक्ष्मी" (१९०७), ९ बम्बई ला रिपोर्ट ११२९।
४. "वी० सुब्रह्मण्य ब० वी० थायप्पा" (१८९८), २ मद्रास २६३।
"जगन्नाथन ब० आदिल" (१९४०), मद्रास ७३४।
५. जी० सी० सरकार कृत "हिन्दू ला" (८वां सं०), पृ० ५५१–५२।

कि सपिण्डों की विधवाएँ किस क्रम से बम्बई प्रान्त में उत्तराधिकार पाती हैं। मुल्ला के "हिन्दू ला" में पृष्ठ १६१ पर निम्नलिखित पाँच नियम दिये गये है—

(१) बद्धक्रम वाले दायाद, जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है। बद्धक्रम दायादों तथा सगी-सौतेली बहनों के विद्यमान होते किसी सपिण्ड की विधवा दाय प्राप्ति नहीं कर सकती।[1] किन्तु इससे बद्धक्रम वाली विधवाओं के स्थान में विक्षोभ नहीं आता।

(२) दावेदार विधवा के मृत पति की छः पीढ़ियों के अन्दर यदि कोई पुरुष सपिण्ड जीवित न हो तो उस विधवा का हक उसी स्तर का होगा जो उसके मृत पति का होता।[2]

(३) यदि दावेदार विधवा का मृत पति वशावली की निकटतर रेखा में उत्पन्न हुआ था और उसका प्रतिद्वन्द्वी पुरुष होने पर भी दूरतर रेखा में है, तो विधवा उस पुरुष सपिण्ड से बाजी मार ले जायगी।[3]

(४) यदि नारी सपिण्ड एक पुरुष की उत्तराधिकारी हो, तो ऐसी विधवा को सीमित स्वामित्व मिलता है। यदि वह किसी नारी की उत्तराधिकारी हो, तो उसको अखण्ड स्वानित्व मिलेगा।[4]

(५) पुनर्विवाह के बाद सपिण्ड विधवा मृत पति के वश में उत्तराधिकार से वंचित हो जाती है।[5] किन्तु वैधव्य के अनन्तर वाली भ्रष्टता को अनर्हता नहीं समझते।[6] इन नियमों की परिपोषक नजीरें मुल्ला के "हिन्दू ला" के उसी पृष्ठ की टिप्पणी में उल्लिखित है। यहाँ पर मिताक्षरीय उत्तराधिकार की वार्ता समाप्त हुई।

१. "नहालचन्द ब० हेमचन्द" (१८८५). ९, बम्बई ३१।
"विट्ठलदास ब० जेठाबाई" (१८८०), ४ बम्बई २१९।
२. "लल्लूभाय ब० कस्सीबाई" (१८८०) ५, बम्बई ११०।
"बसनगाडवा ब० बसनगाडवा" (१९१५) ३९, बम्बई ८७।
३. "इच्छावा ब० कलिंगप्पा" (१९९२) १६, बम्बई ७१६।
४. "नारायण ब० वमन" (१९२२) ४६, बम्बई १७।
"गान्धी मगनलाल ब० बाई जादव" (१९००) २४, बम्बई १९२।
५. "प्राणजीवन ब० बाई भिकी" (१९२१) ४५, बम्बई १२४७।
६. "अकोबा लक्षमन ब० साई जेनू" (१९४१), बम्बई ४३८।

प्रकरण ५

उत्तराधिकार—दायभाग

मिताक्षरा और दायभाग का अन्तर पिछले प्रकरणों में बताया जा चुका है। उत्तराधिकार और श्राद्धतर्पणाधिकार में एक सहज संलग्नता हिन्दू धर्म में मानी गयी है। "यश्चार्थहरः स पिण्डदायी स्मृतः" (विष्णु धर्मसूत्र १५–४०)। इसी संलग्नता के ऊपर बल देते हुए दायभाग में पारलौकिक प्रलाभ पहुँचाने की पात्रता को दायप्राप्ति के अधिकार का आधार माना गया है। यह बात अभी विवादास्पद बनी हुई है कि श्राद्धाधिकार से उत्तराधिकार पैदा होता है, अथवा उत्तराधिकार पाने से श्राद्धादि का कर्त्तव्य या दायित्व दायाद के ऊपर आता है। इस विषयान्तर को न उठाया जाय। श्राद्ध-तर्पणादि के प्रभाव से मृत पूर्वजों की आत्मा का कल्याण होता है, इसलिए जो श्राद्धाधिकारी हैं, चाहें वे इस क्रिया को करें या असमर्थता, अविश्वास अथवा प्रमाद के वश न करें; उन्हीं को जीमूतवाहन ने दायाद माना है।

श्राद्ध दो प्रकार के हैं—**एकोद्दिष्ट** व **पार्वण**। प्रथम केवल मृतक के निमित्त मरने के ११वें दिन या मरने की तिथि पर किया जाता है। विधवा तथा दुहिता को इसी के करने का अधिकार है। द्वितीय श्राद्ध का अधिकार उनको नहीं है। यह श्राद्ध पूर्वजों के कल्याणार्थ निश्चित समयों के ऊपर किया जाता है। यथा

एकः उद्दिष्टः यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टम् इति कर्मनामधेयम्।

और **तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। (मिताक्षरा)**

पार्वण श्राद्ध अमावस, पूर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी, संक्रान्ति के दिन किया जाता है और इसे केवल पुत्र-पौत्रादि करते हैं। पार्वण श्राद्ध को **त्रैपुरुषिक** भी कहते हैं, क्योंकि इसमें श्राद्धाधिकारी अपने पिता. पितामह, प्रपितामह तथा माता के तीन पूर्वजों को आमन्त्रित करता है। उनको खीर के पिण्ड दिये जाते हैं और भात का जो अंश हाथों में लगा रह जाता है उसे **पिण्डलेप** कहते हैं। **पिण्डलेप** दूर वाले पूर्वजों को और समूचे पिण्ड नजदीक वाले पूर्वजों को समर्पण किये जाते हैं। तर्पण क्रिया से अधिक दूर के पूर्वजों को जल समर्पण किया जाता है।[1] पिण्ड-दान अपने तथा माता के तीन पीढ़ियों तक के पूर्वजों को और पिण्डलेप-दान तीन से ऊपर अर्थात् चार से छः पीढ़ियों तक

१. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड २, अध्याय १७, २० व खण्ड ३,७४६।

के पूर्वजों को किया जाता है। इनसे भी ऊपर अर्थात् सात से तेरह पीढ़ियों तक के पूर्वजों को केवल जलदान किया जाता है। इसी विभाजन के अनुसार दायादों का वर्गीकरण किया गया है। पिण्डदाता तथा पिण्ड-ग्रहीताओं को **सपिण्ड**, पिण्डलेप के दाता व ग्रहीता को **सकुल्य**, जल के दाता व ग्रहीता को परस्पर **समानोदक** कहते हैं। पूर्ण पिण्ड में शान्ति व कल्याण दायिनी शक्ति अधिक, उससे कम शक्ति पिण्डलेप में और उससे कम जल दान में मानकर दायभाग में सपिण्डों का ऊँचा हक, सकुल्यों का उनके बाद तथा समानोदकों का सबसे पीछे विहित हुआ है।

ऊपर जो तेरह पीढ़ियाँ पिण्ड, पिण्डलेप तथा जल के ग्रहीताओं की गिनायी गयी हैं उनमें अन्य सपिण्डों, सकुल्यों, समानोदकों को भी जोड़ देने की आवश्यकता है। कारण यह है कि एक हिन्दू उन श्राद्ध-तर्पणादि से भी तृप्ति व कल्याण प्राप्त करता रहता है जो ऐसे पैतृक पूर्वजों को अन्य व्यक्तियों के द्वारा समर्पित होते हैं, जिनको पिण्ड-जलादि समर्पित करना स्वतः उसका कर्त्तव्य था। इसका परिणाम यह होता है कि वे सब लोग भी परस्पर सपिण्ड, सकुल्य या समानोदक बन जाते हैं जो उसी एक पैतृक पूर्वज को क्रमशः पिण्ड या पिण्डलेप या जल समर्पित करते हैं। यह याद रखना चाहिए कि अपने मातृक पूर्वजों को समर्पित पिण्डादि दान से कोई व्यक्ति लाभान्वित नहीं होता है।

सपिण्ड, सकुल्य, समानोदक सम्बन्धों में से प्रत्येक सम्बन्ध तीन भाँति से बनता है। अर्थात् (१) एक व्यक्ति उन लोगों का सपिण्ड है जिनके लिए पिण्डदान करना उसका कर्त्तव्य है। अर्थात् उसके तीन व उसकी माता के तीन पूर्वज =६।

(२) वह उन लोगों का भी सपिण्ड है जिनका उसके लिए पिण्डदान करना कर्तव्य है। अर्थात् उसके पुत्रादि तीन वंशज और उसका दौहित्र, उसके पुत्र का दौहित्र, उसके पौत्र का दौहित्र=६।

(३) वह उन लोगों का भी सपिण्ड है जिनका ऐसे पूर्वजों के लिए पिण्डदान करना कर्तव्य है जिनके निमित्त पिण्डदान करने को वह स्वतः बाध्य होता। अर्थात् उसके तीन मातृक व तीन पैतृक पूर्वजों को पिण्डदान करना जिन लोगों का कर्तव्य होता है। इस तीसरी श्रेणी के सपिण्ड चार वर्गों में विभक्त हो सकते हैं। **पहले वर्ग** में हैं उसके भाई, भ्रातृपुत्र, भ्रातृपौत्र (-३); उसके पितृव्य, पितृव्य पुत्र व पौत्र (-३); उसके पितामह का भ्राता व उस भ्राता के पुत्र व पौत्र (-३) =९। **दूसरे वर्ग** में हैं भगिनी का पुत्र, पिता की भगिनी का व पितामह की भगिनी का पुत्र, अर्थात् अपना भागिनेय व पिता और पितामह के भागिनेय (-३); भ्राता का दौहित्र, भ्रातृपुत्र का दौहित्र (-२); पितृव्य का दौहित्र, पितृव्य का भागिनेय, पितृव्य-पुत्र का दौहित्र, पितृव्य के

भाई का दौहित्र (–४) =९। **तीसरे वर्ग** में हैं मातुल, मातुलेय (मामा व उसका पुत्र), मातुल का पौत्र (–३); मातामह, मातामह का पुत्र व पौत्र (–३); प्रमातामह, प्रमातामह का पुत्र व पौत्र (–३) =९। **चौथे वर्ग** में है मौसी का पुत्र, मौसी का भाई व चाचा (–३); मातुल का दौहित्र, मातुलेय का दौहित्र, नाना के भाई का दौहित्र (–३); नाना के भाई के पुत्र का दौहित्र, नाना के चाचा का दौहित्र, नाना के चाचा के पुत्र का दौहित्र (–३)=९। कुल मिला कर २६ सदस्य तीसरी श्रेणी के हुए।

दायभाग और मिताक्षरा का अन्तर

यह ज्ञात है कि दायभाग में पाँच नारियाँ भी सपिण्ड मानी गयी है, अर्थात् विधवा, दुहिता, माता, पितामही, प्रपितामही। इनके सिवा किसी नारी को उत्तराधिकारी नही गिना जाता है। उपरोक्त १२+३६ यानी ४८ तो पुरुष सपिण्ड और ये ५ नारी सपिण्ड; कुल ५३ सपिण्ड होते हैं। पाठकों को यह ज्ञात होगा कि ४८ पुरुष सपिण्डों में कई व्यक्ति ऐसे समाहित है जो नारी के माध्यम द्वारा सम्बन्धित होने के प्रभाव से मिताक्षरा में सपिण्ड नहीं, किन्तु बन्धु गिने जाते हैं; अतः वहाँ इनको उत्तराधिकार सपिण्डों व समानोदकों के पश्चात् मिलता है। दोनों शाखाओं में यही मुख्य अन्तर है, जो पहले भी बताया जा चुका है। इस भेद का कारण है जीमूतवाहन की पारलौकिक कल्याण प्रदान करने की क्षमता वाली मान्यता।

उसी मान्यता के प्रभाव से तीसरी श्रेणी वाले चार वर्ग सपिण्ड माने गये हैं। इनमें पहले वर्ग वाले व्यक्ति अपने उन्हीं पैतृक पूर्वजों के लिए पिण्ड दान करते हैं जो मृतक के भी पैतृक पूर्वज निकलते हैं। दूसरे वर्ग वाले व्यक्ति अपने उन्हीं तीन मातृक पूर्वजों के निमित्त पिण्ड दान करते है, जिनमें से या तो सब या कुछ मृतक के भी पैतृक पूर्वज निकलते हैं। तीसरे वर्ग के लोग अपने उन्हीं पैतृक पूर्वजों को पिण्ड दान करते है, जिनमें से या तो सब या कुछ मृत धनी के मातृक पूर्वज निकलते हैं। चौथे वर्ग वाले व्यक्ति अपने उन्हीं मातृक पूर्वजों के लिए पिण्ड दान करते हैं, जिनमें से कुछ या सब मृत स्वामी के भी मातृक पूर्वज निकलते हैं। यदि मृतक ने अनेक भाई, पितृव्य, मातुल, मौसी छोड़ी हैं तो उसके सपिण्डों की संख्या भी ५३ से कहीं आगे पहुँच जायगी। जीमूतवाहन की मान्यता की आलोचना करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। यदि किसी की रुचि हो तो जी० सी० सरकार के "हिन्दू ला" पृष्ठ ४७७–५०१ तथा "हिस्ट्री आफ धमशास्त्र" के तीसरे खण्ड में पृष्ठ ७३३–४३ पर उसकी विस्तृत समालोचना पढ़ सकता है। सपिण्डों के पश्चात् सकुल्यों की बारी आती है।

दायभाग के अनुसार एक व्यक्ति उस समूह का सकुल्य है जिनके निमित्त पिण्ड-

लेप प्रदान करना उसका कर्त्तव्य है; तथा उन लोगों का भी, जिनका उसके निमित्त पिण्डलेप प्रदान करना कत्तव्य है; तथा उन लोगों का भी, जिनका कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियों के निमित्त पिण्डलेप प्रदान करें जिनको वह स्वतः पिण्डलेप प्रदान करता है। इस वर्ग वाले सब लोग पुरुष होते हैं। अर्थात् चौथी से छठी पीढ़ी तक के पूर्वज और और चौथी से छठी पीढ़ी तक वाले वशज। गिनती में ये ६ होते हैं। इनके अतिरिक्त २७ और है—अर्थात् चौथी, पाँचवीं व छठी पीढ़ी वाले पुरुष पूर्वजों में प्रत्येक के छः-छः पुरुष वशज जो १८ होते हैं; तथा पिता, पितामह व प्रपितामह में प्रत्येक के चौथी से छठी पीढ़ी तक वाले पुरुष वंशज जो ९ होते है—१८+९=२७। इन २७ में उपरोक्त ६ जोड़ देने से ३३ सकुल्य होते हैं। इस शब्द का अर्थ है एक ही कुल या खानदान के सदस्य। इस शब्द का प्रयोग मिताक्षरा में नहीं हुआ है, किन्तु मनुस्मृति (९–१८७) में कहा है—"अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्याद् आचार्यः शिष्य एव वा" और इस व्यापक अर्थ में समानोदक भी समाविष्ट हैं। दायभाग में जीमूतवाहन ने भी साफ कहा है कि सपिण्डों व सकुल्यों का उपरोक्त भेद केवल उत्तराधिकार के विषय में किया गया है, अशौच के विषय में दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। विष्णु-धर्मसूत्र में भी सकुल्य एवं बन्धु (अर्थात् सपिण्ड) में भेद किया गया है, यथा "तदभावे भ्रातृपुत्रगामि। तदभावे बन्धुगामि। तदभावे सकुल्यगामि" (१७–६–११)। ऐसा ही भेद बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है, यथा "सपिण्डाभावे सकुल्यः" (१–५–११४–११६)। सकुल्यों के पश्चात् उत्तराधिकार की बारी समानोदकों की आती है।

मिताक्षरा में **सगोत्र** तथा **समानोदक** पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु दायभाग में एक व्यक्ति उन सब लोगों का समानोदक होता है जिनको जलप्रदान (तर्पण) करना उसका धर्म है। वह उन सब लोगों का भी समानोदक होता है जिनका धर्म है उसको जलांजलि देना। वह उन लोगों का भी समानोदक होता है जिनका धर्म है उन मृतकों को जलांजलि देना जिनको वह स्वतः जल प्रदान करता है। उपरोक्त सब लोग परस्पर समानोदक होते हैं। मृतक के तेरह पुरुष वंशज व तेरह पुरुष पूर्वज और तेरहों पूर्वजों में प्रत्येक के तेरह-तेरह वशज—१६९+२६=१९५ हुए। इनमें से ४८ पुरुष सपिण्डों को निकालने पर १९५—४८=१४७ समानोदक बचे। यह गणना व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक ही है, क्योंकि मर्त्य लोक में किसका आयुर्दाय इतना दीर्घ हो सकता है कि वह इतने दूरस्थ कुटुम्बियों को छोड़कर मरे। सपिंड, सकुल्य, समानोदकों की परिभाषा जानने के बाद प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों भाँति के दायादों में अंतरंग वरीयता किस विधि से निर्धारित की जाती है। इसके निमित्त चार नियम ये हैं—

(१) सपिण्डों इत्यादि के समूह में से वह वर्ग वरीयता पाता है जो मृतक को

पिण्ड या पिण्डलेप या जलांजलि देता है—उस वर्ग की अपेक्षा जो उससे पिण्ड या पिण्डलेप या जलांजलि ग्रहण करता था।

(२) उपरोक्त नियम के प्रयोग के बाद यह देखना चाहिए कि उनमें से कौन-कौन पितृवर्ग तथा मातृवर्ग; दोनों को पिण्ड या पिण्डलेप या जलांजलि प्रदान करता है और कौन केवल पितृवर्ग को। प्रथम का हक द्वितीय की अपेक्षा वरीय होता है।

(३) अब यह विचार करना चाहिए कि मृत धनी के पैतृक पूर्वजों के निमित्त कौन पिण्ड दान करता है, पिण्डलेप या जल अर्पण करता है और कौन उसके मातृक पूर्वजों के निमित्त। प्रथम को द्वितीय से वरीयता मिलती है।

(४) यदि दो प्रतिद्वन्द्वी दायादों द्वारा उसी भाँति के पिण्ड दिये जाते हैं, तो फिर यह देखना होगा कि उनमें से अधिक सख्या में पिण्ड कौन देता है। क्योंकि अधिक संख्या वाले को वरीयता मिलेगी। यदि दोनों की संख्या समान निकले तो यह देखा जाता है कि कौन समीप वाले पूर्वजों को पिण्डदान करता है और कौन दूर वाले पूर्वजों को। प्रथम को द्वितीय से वरीयता मिलेगी।[1]

पिछले प्रकरण (४) में मिताक्षरा वाले सपिण्डों के उत्तराधिकारी क्रम का उल्लेख किया गया था। दायभाग के अनुसार उसी क्रम का वर्णन अब यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

१-२-३} **पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र**—इनके उत्तराधिकार का विवरण वही है जो मिताक्षरा वाले प्रकारण (४) में बताया जा चुका है।[1]

४-५-६} **विधवाएँ**—१९३७ वाले ऐक्ट नं० १८ (हिन्दू विमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट) के अनुसार विधवा को पुत्र के बराबर भाग मिलता है। पति के जीवन-काल में उसको सतीत्व निवाहना चाहिए।

पहले इनको सीमित स्वामित्व मिलता था, किन्तु "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" सन् १९५६ की धारा १४ ने अखण्ड स्वामित्व में परिणत कर दिया है। सन् १९३७ वाले ऐक्ट १८ के अनुसार सबकी सब सह-विधवाओं को मिलाकर एक पुत्र के समान भाग मिलता था। अन्य सूक्ष्म प्रश्नों के लिए, जो विधवा के सम्बन्ध में पैदा होते हैं, प्रकरण ४ के "विधवा" शीर्षक में देखना चाहिए। मृत धनी की विधवा के अतिरिक्त उसकी विधवा पुत्रवधू व विधवा पौत्रवधू (बशर्ते कि पुत्र व पौत्र धनी के पहले मर चुके हों) को भी दायाद मान लिया गया है (सन १९३७ वाले ऐक्ट १८ से) और उनको मृतक की विधवा के साथ यहीं क्रमिक स्थान दिया गया है। सन् |५६ वाले हि०

१. प्रोफेसर जे० डी० एम० डेरेट कृत "माडर्न हिन्दू ला", पृ० ३९१-९२।

स० ऐक्ट ने इन दोनों विधवाओं को भी अखण्ड स्वामित्व प्रदान कर दिया है। इन दो विधवाओं के ऊपर सतीत्व वाली शर्त लागू नहीं है।

७} **दुहिता**—पुत्रियों में पहला हक कुमारी का और दूसरा हक विवाहिता का होता है। पुत्रहीन विधवा-दुहिता, बाँझ पुत्री, केवल पुत्रियों को जनने वाली दुहिता दाय से इसलिए वंचित कर दी जाती है कि उनके माध्यम से पितरों के कल्याण की प्रत्याशा नहीं होती।

पहले इसको भी सीमित स्वामित्व मिलता था, किन्तु सन् '५६ वाले हि० स० ऐक्ट ने उसको भी पूर्ण स्वामित्व में परिणत कर दिया है। फिर भी बंगाल व असम प्रान्तों मे चरित्र भ्रष्टा दुहिता उत्तराधिकार नहीं पाती।[1] अन्य विवरणों को प्रकरण ४ में "पुत्री" शीर्षक के नीचे देखना चाहिए।

८} **दौहित्र**—यदि अनेक दौहित्र हैं तो वे व्यक्तिपरक, न कि पितृपरक, विधि से उत्तराधिकार पाते है। अन्य विवरण प्रकरण ४ के "दौहित्र" शीर्षक मे देखना चाहिए।

यह ज्ञातव्य है कि दौहित्रायण (दौहित्र के पुत्र) को दाय में हक नही होता, क्योंकि वह पिण्डदान व जलदान द्वारा मृत धनी या उसके पितरों को तृप्त करने का अधिकारी नही है।[2]

९-१०} **पिता, माता**—याद होगा कि मिताक्षरा में माता के बाद पिता का नम्बर आता है। किन्तु दायभाग और मयूख में पिता को वरीय मानते हैं। यह ध्यान रहे कि विमाता दायाद नही होती।

बंगाल-असम मे असती माता को दाय से वंचित कर दिया जाता है। किन्तु दाय-प्राप्ति के अनन्तर वाला व्यभिचार वियुक्तकारी तथ्य नहीं समझा जाता।[3]

११} **भ्राता**—पहले सोदर, फिर वैमात्र भ्राता उत्तराधिकार पाता है। यह सगे-सौतेले का भेद सब सापार्श्विक दायादों पर लागू होता है, जैसे भ्रातृज, पितृव्य इत्यादि। ज्ञातव्य है कि सौतेला होने के बावजूद एक भ्राता सगे भतीजे की अपेक्षा वरीयता पाता है।[4]

१. **"रामानन्द ब० रामकिशोरी" (१८९५) २२, कलकत्ता ३४७।**
"सुन्दरी ब० पितम्बरी" (१९०५) ३२, कलकत्ता ८७१।
२. **"नेपालदास ब० प्रभास" (१९२५) ३०, क० वीकली नोट्स ३५७।**
३. **"राम ब० दुर्गा" ४, कलकत्ता ५५०।**
४. **"सुशील ब० विष्णु" (१९३३), कलकत्ता ६२२।**

१२} भ्रातृज—पहले सगा, फिर सौतेला। यह उल्लेखनीय है कि संसृष्ट भाई का पुत्र पृथक् भतीजे की अपेक्षा वरीयता पाता है।[1]

१३} भ्रातृपौत्र—पहले सगा, बाद में सौतेला।

१४} भागिनेय—किन्तु भगिनी का सौतेला पुत्र दायाद नहीं होता।[2] परन्तु सौतेली बहन का पुत्र सगी बहन के पुत्र का सह-दायाद होता है, क्योंकि दोनों के द्वारा पितरों को समान पारलौकिक कल्याण उपलब्ध होता है।[3]

१५–२०} पितामह, पितामही, पितृव्य, पितृव्य-पुत्र, पितृव्य-पौत्र, पिता का भागिनेय।

२१–२६} प्रपितामह, प्रपितामही, पितामह का भ्राता, पितामह का भ्रातृज, पितामह का भ्रातृपौत्र, पितामह का भागिनेय।

अब यहाँ पर नजीरों ने दायभाग वाले उत्तराधिकारी क्रम में कम से कम आठ मातृ-बन्धुओं का प्रक्षेप करके परिवर्तन की एक लड़ी बाँध दी और उनको मातृक सम्बन्धियों के पूर्व स्थान प्रदान कर दिया है। पहले इनमें से कोई भी दायाद नहीं गिना जाता था; और निस्सन्देह पदावनत मातृक सम्बन्धी इनकी अपेक्षा मृत धनी के अधिक प्रेमपात्र होते हैं।[4] वे आठ दायाद निम्नोक्त है।

२७–३४} आठ मातृबन्धु—पौत्री का पुत्र अर्थात् पुत्र का दौहित्र, पौत्र का दौहित्र, भ्राता का दौहित्र, भ्रातृज का दौहित्र, पितृव्य का दौहित्र, पितृव्य के पुत्र का दौहित्र, पितामह के भ्राता का दौहित्र, पितामह के भ्राता के पुत्र का दौहित्र।[5]

३५–३७} मातामह, मातुल, मातुलपुत्र।

३८–४०} मातुलपौत्र, मौसी का पुत्र, प्रमातामह।

४१–४४} प्रमातामह का पुत्र, प्रमातामह का पौत्र, प्रमातामह का प्रपौत्र व दौहित्र।

१. "अक्षय ब० हरी" ३५, कलकत्ता ७२१।
२. "ललितमोहन ब० प्राविन्स आव बंगाल" (१९५५) ६०, क० वीकली नोट्स ३५९।
३. "भोला ब० रालाल" ११, कलकत्ता ६९।
४. जी० सी० सरकार कृत "हिन्दू ला" (८वां सं०), पृ० ४७५–७६।
५. "दिगंबर ब० मोतीलाल" (१८८३) ९, कलकत्ता ५६३।
"प्रेमनाथ ब० शरच्चन्द्र" (१८८२) ८, कलकत्ता ४६०।
"गौरगोविन्द ब० अनन्तलाल" (१८७०) ५, बंगाल ला रिपोर्ट १५।
"ब्रजलाल ब० जीवन" (१८९९) २६, कलकत्ता २८५।

४५-४९} वृद्ध प्रमातामह, उसका पुत्र, उसका पौत्र तथा उसका प्रपौत्र, वृद्ध प्रमातामह का दौहित्र।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि वृद्ध-प्रमातामह का दौहित्रायण दायभाग में तो दायाद नहीं माना जाता,[1] किन्तु मिताक्षरा में मातृबन्धु के नाते वह उत्तराधिकारी होता है।

५०-५१} मातामह के पुत्र का दौहित्र, मातामह के पौत्र का दौहित्र।

५२-५३} प्रमातामह के पुत्र का दौहित्र, प्रमातामह के पौत्र का दौहित्र।

५४-५५} वृद्ध-प्रमातामह के पुत्र का दौहित्र, वृद्ध-प्रमातामह के पौत्र का दौहित्र।

उपरोक्त दायादों में से अनेक ऐसे हैं जिनकी अपेक्षा सकुल्य अधिक निकट और प्रिय लगते हैं। अतः उनके निमित्त सकुल्यों के हक को स्थगित कर देना या टाल देना शीलाघाती (रूखापन) प्रतीत होता है।

दायभाग वाले सपिण्डों का उत्तराधिकारी क्रम समाप्त हुआ। ऊपर इसके चार नियम बताये जा चुके हैं, जिनके अनुसार सपिण्डों, सकुल्यों और समानोदकों में अंतरंग वरीयता निर्धारित की जाती है। इन तीन प्रकार के दायादों के अभाव में गुरु का हक होता है, फिर शिष्य का, फिर गुरुभाई का। यदि ये भी न हों तो मृतक के गोत्र-धारी या प्रवरधारी को उत्तराधिकार मिलता है। उनके अभाव में मृतक के ग्राम-निवासी ब्राह्मणों को और अन्त में राजा या राष्ट्र को दाय प्राप्त होता है।[2]

मिताक्षरा वाले अधिक्षेत्र में संसृष्टि का जो उत्तराधिकार के ऊपर प्रभाव पड़ता है उससे पाठक परिचित हो चुके है। दायभाग वाले अधिक्षेत्र में संसृष्टि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; और एक संसृष्ट सदस्य की सम्पदा का अवक्रमण उसी हिसाब से होता है मानो वह पृथक् हुआ ही न हो। इतना जरूर है कि दो प्रतिद्वन्द्वी भाइयों व पितृव्यों में वह वरीयता पाता है जो पुनः सम्मिलित हो चुका है--उसकी अपेक्षा जो पृथक् बना रहा। यह वरीयता ससृष्ट-सदस्य के वंशजों को भी उपलब्ध हो जाती है। अर्थात् संसृष्ट भ्राता के पुत्र को पृथक् भ्राता के पुत्र की अपेक्षा वरीयता मिलेगी।[3] सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि संसृष्टि का अधिकार सबको नहीं; केवल पिता-पुत्र को, भाई-भाई को, चाचा-भतीजे को प्राप्त होता है। इस विषय पर भी थोड़ा-सा

१. "शम्भू ब० कार्तिक" (१९२७), कलकत्ता ११।

२. जी० सी० सरकार का "हिन्दू ला", पृ० ४७६।
"सदानन्द ब० हरीनाम", ए० आई० आर० १९५०, कलकत्ता १७९।

३. "अक्षय ब० हरी" (१९०८) ३५, कलकत्ता ७२१।

मतभेद है जिसका उल्लेख संभवतः बँटवारे के प्रकरण में किया जायगा, क्योंकि यही रीति तर्क सगत लगती है।

दोनों उपशाखाओं के अनुसार उत्तराधिकार वाली विधि का वर्णन हो गया। ज्ञातव्य है कि सन् १९५६ में "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने इसमें आमूल परिवर्तन कर दिया है जो अलग प्रकरण में प्रज्ञात किया जायगा। याद रखिए कि वह अधिनियम भूत-लक्ष्यकारी नहीं है। इसलिए जिस हिन्दू पुरुष या नारी की इच्छापत्र रहित मृत्यु, १७ जून १९५६ के पूर्व हो चुकी है, उसकी सम्पदा का अवक्रमण प्राचीन कानून के अनुरूप ही होगा। उत्तराधिकार के नियम जानने के पश्चात् स्वाभाविक जिज्ञासा होगी कि दायप्राप्ति से अपवर्जित होने के कौन-कौन से हेतु प्राचीन "हिन्दू ला" ने विहित किये थे, और उनमें से किन नियमों ने अदालतों में मान्यता प्राप्त की। यह अगले प्रकरण का शीर्षक है।

अगले प्रकरण में प्रवेश करने के पहले उभय शाखाओं के दाय-प्राप्ति विषयक मुख्य भेदों को दोहरा लेना चाहिए; (१) मिताक्षरा में तीन प्रकार के दायाद हैं—सपिण्ड, समानोदक, बन्धु; और दायभाग में भी सपिण्ड, सकुल्य, समानोदक है। दायभाग वाले सपिण्डों में मिताक्षरा के मात्र चार पीढ़ियों तक वाले सपिण्डों समेत थोड़े से बन्धु समाहित है। सकुल्यों में मिताक्षरा के पाँचवीं से सातवी पीढ़ी तक वाले सपिण्ड समाहित हैं। जिन कुटुम्बियों की दायभाग में समानोदक सज्ञा है, वे मिताक्षरा के भी समानोदक है, अर्थात् आठ से चौदह पीढ़ी तक वाले कुटुम्बी।

(२) पाठकों के ध्यान में यह बात भी आ गयी होगी कि मिताक्षरा में "ब्लड इज थिकर दैन वाटर" (जल से रक्त घनिष्ठतर होता है) वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए यह नियम विहित किया गया है कि आम तौर से पिता द्वारा सम्बन्धित कुटुम्बियों के रहते मातृपक्षीय सम्बन्धियों का हक नहीं पैदा हो सकता। इसके विरुद्ध दायभाग में अनेक मातृपक्षीय सम्बन्धी सपिण्डों में शामिल होकर सकुल्यों से और समानोदकों से भी पहले आ जाते है।

(३) दायभाग मे उत्तराधिकार का आधार, हकदार की पितरों को पारलौकिक कल्याण पहुँचाने की क्षमता मानी गयी है। अतः मिताक्षरा में उत्तराधिकारी बन्धुओं की संख्या दायभाग वाले मातृ पक्षीय दायादों की संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक दीख पड़ती है।

(४) दायभाग और मिताक्षरा दोनों ही में सपिण्ड शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रथम ने 'पिण्ड' खीर (भात) के उन गोलों को माना है जो पितरों को पार्वण

श्राद्ध में समर्पित किये जाते हैं। द्वितीय में 'पिण्ड' का अर्थ पार्थिव शरीर माना गया है। अतः उसके अनुसार जिन-जिन सम्बन्धियों में मृत धनी के शरीर के अश विद्यमान् होने की संभावना हो सकती है, वे उसके सपिण्ड या सगोत्र-सपिण्ड और भिन्नगोत्र-सपिण्ड होते हैं। दायभाग के अनुसार मृत धनी के निमित्त श्राद्ध में प्रदत्त पिण्डों या पिण्डलेपों के या जलांजलि के भागाधिकारी सभी सम्बन्धी लोग परस्पर सपिण्ड संज्ञक होते हैं।

इन चारों अन्तरों[१] को दोहराने का हेतु है पाठकों को उन्हें पूर्णतया हृदयंगम करा देना। यही मार्मिक भेद दोनों शाखाओं में है। यह ज्ञातव्य है कि पितृपक्षीय पूर्वजों को तीन पिण्ड और मातृपक्षीय पूर्वजों को तीन पिण्ड; इससे अधिक पिण्ड कोई अर्पित नहीं करता है।

१. देखिए जी० सी० सरकार प्रणीत "हिन्दू ला" (८वां सं०), ४७७–७८।

प्रकरण ६

उत्तराधिकार से अपवर्जन (अनंशता)

अनंशौ क्लीब-पतितौ जात्यन्ध-बधिरौ तथा।
उन्मत्त-जड-मूकाश्च ये केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ (मनु ९-२०१)
क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्ता भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः ॥ (याज्ञ० २-१४०)
पितृद्विट् पतितः षण्डो यश्च स्याद् औपपातिकः।
औरसा अपि नैतेऽशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः ॥ (नारद १३-३१)

ऐसे ही विधान आपस्तव, बौधायन, देवल में पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म में धन के मात्र दो प्रयोग या उपयोग माने गये हैं। धन या तो लौकिक सुख का या पुण्य दान के माध्यम से पारलौकिक कल्याण का साधन होता है; यथा—

धनार्जनस्य प्रयोजनद्वयं भोगार्थत्वं दानाद्यदृष्टार्थत्वं च। (दायभाग ११-६-१३)

जो व्यक्ति कायिक या मानसिक विकलांगतावश न तो भोग कर सकता है, न यज्ञ, दान, श्राद्ध-तर्पणादि क्रिया कर सकता है, उसके लिए धन एक निर्मूल्य व व्यर्थ का पदार्थ है। ऐसे विकल व्यक्ति को **अनंश** या **निरंशक** कहते है। कुटुम्ब या समाज के ऐसे सदस्य दाय के नहीं केवल भरण-पोषण के अधिकारी होते हैं। अनंशता या अपात्रता तीन प्रकार की होती है—नैतिक या धार्मिक, मानसिक तथा कायिक। प्रत्येक के भेद होते हैं, जिनके ऊपर अलग-अलग विचार किया जायगा। यह बात ज्ञातव्य है कि अतीत युग में साधारणतया नारियाँ अनंश समझी जाती थीं, जिसका आशय यह हुआ कि नारीत्व भी एक वैधिक अपात्रता थी।

नैतिक या धार्मिक अनंशता अपने में धर्म-परित्याग, जातिच्युतकारी महापातक, व्यभिचार, पातकी स्वभाव, पितृद्वेष और संन्यास को समाहित करती है। सन् १८३२ वाले रेगूलेशन नं० ६ तथा "कास्ट डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट" २१, सन् १८५० ने बहुत पहले ही से 'बे-धरम' हो जाने के विपरीत प्रभाव को मिटा दिया है। उसी कानून ने जातिच्युतकारी महापातक के दुष्परिणाम का निवारण कर दिया है। महापातक ये हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति। (छान्दोग्योपनिषद् ५-१०-९)

विधवा-विवाह भी जातिच्युतकारी तथ्य था। "हिन्दू विडोज रीमैरेज ऐक्ट" १५–१८५६ ने विधवा विवाह को वैध घोषित तो कर दिया है, किन्तु पुनर्विवाह के फलस्वरूप विधवा अपने मृत पति की सम्पदा में अपना उत्तराधिकार खो बैठती है।[१]

व्यभिचार के कारण हिन्दू पत्नी अपने अर्धांगिनी पद से च्युत हो जाती है, अतः पति की मृत्यु के पश्चात वह उसकी सम्पदा के विषय में या अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में उसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसलिए असती पत्नी दाय प्राप्ति से वंचित हो जाती है। किन्तु यदि सम्पत्ति एक बार निहित हो गयी है तो बाद के व्यभिचार से उसका अधिकार छिन नहीं सकता।[२] मिताक्षरा के अनुसार विधवा के सिवा अन्य कोई नारी दायाद व्यभिचार के कारण अपने हक से वंचित नहीं हो सकती।[३] इसके प्रतिकूल दायभाग में सतीत्व की शर्त अन्य नारी दायादों पर भी लागू होती है,[४] जैसे पुत्री व माता पर। यह ज्ञातव्य है कि सतीत्व की शर्त तभी लागू होती है जब मृतक स्वामी पुरुष रहा हो, न कि जब वह मृतक नारी रही हो। जब मृतक स्वामी नारी होती है, तब दायभाग वाले अधिक्षेत्र में भी सतीत्व वाली शर्त की उपेक्षा कर दी जाती है।[५] साधारण अर्थात गृहस्थाश्रमी स्त्रियों पर उपरोक्त नियमों का प्रयोग होता है। किन्तु स्वतः वेश्या की सम्पदा का अवक्रमण साधारण "हिन्दू ला" के अनुसार होता[६]

१. "मुसद्दी ब० मु० चन्दो" (१९५६) ए०, हिमाचल प्रदेश ४५।
"मु० उमर ब० मान", २१ कलकत्ता वीकली नोट्स ९०६।
२. "मनीराम ब० केरी कोलटानी" (१८८०) ७, इलाहाबाद एपील्स ११५।
३. "डालसिंह ब० दीनी" (१९१०) ३२, इलाहाबाद १५५।
"बलदेव ब० मथुरा" (१९१२) ३३, इलाहाबाद ७०२।
"रामप्रकास ब० मु० दहन वीवी" (१९२४) ३, पटना १५२।
४. "रामानन्द ब० राय किशोरी" (१८९५) २२, कलकत्ता २४७।
"राजबाला ब० श्यामा", २२, कलकत्ता वीकली नोट्स ५६६।
"सुन्दरी ब० पीतम्बरी" (१९०५) ३२, कलकत्ता ८७१।
"रामनाथ ब० दुर्गा" (१८७९) ४, कलकत्ता ५५०।
५. "नगेन्द्र ब० विनय" (१९०३) ३०, कलकत्ता ५२१।
"अगम्मल ब० वेंकट" २६, मद्रास ५०९।
"अदव्य ब० रद्रव" ४, बम्बई १०४।
६. "शेक ताले ब० शेक" २९, कलकत्ता वीकली नोट्स ६२४।
"हीरालाल ब० त्रिपुरा" ४० कलकत्ता ६५०।

रहता है। यह ध्यान देने वाली बात है कि "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" १९३७–३८ ने विधवा पुत्रवधू व विधवा पौत्रवधू को उत्तराधिकार का हक प्रदान करते समय सतीत्व की शत नहीं लगायी है।

पातकी स्वभाव भी दाय प्राप्ति से वंचित हो जाने का एक हेतु होता है, यद्यपि इस पर अभी तक कोई नजीर नही बनी है। पातकी स्वभाव वालों से तात्पय है ऐसे विलासी, ऐयाशी लोग जो पैतृक सम्पदा का मदिरा, द्यूत, वेश्यागमन इत्यादि निन्दित गति-विधियों में अपव्यय करते है। न्याय व औचित्य की दृष्टि से ये सब, विशेषतः व्यभिचार व ऐयाशी वाली शर्तें पुरुष व नारी उत्तराधिकारियों पर समानतया लागू होनी चाहिए।

पितृद्वेष अक्षम्य दूषण होता है, क्योंकि पिता देवतुल्य माना गया है। उसी ने सन्तान की प्राणप्रतिष्ठा की है। ईसाई लोग ईश्वर को पिता की सज्ञा देते हैं। पितृघाती तो और भी अधिक पतित होता है। किसी तरह भी वह पैतृक सम्पदा का अधिकारी नहीं है।[1] शास्त्र तो पितृद्वेष नामक दोष मे उत्पीडन को तथा श्राद्ध-तर्पणादि पितृयज्ञ के प्रमाद को भी सम्मिलित समझता है। यथा "पितर यो द्वेष्टि स पितृद्विट्, द्वेषश्च पितरि जीवति मारणादि फलः, मृते तु तदुद्देशेनोदकाद्यदानरूपः।" (विवादरत्नाकर) तथा "पितृद्विट् पितरि जीवति तत्ताडनादिकृत्, मृते तच्छ्राद्धादिविमुखः।" (विवाद-चिन्तामणि)। धमशास्त्र के अतिरिक्त यह तो एक विश्वव्यापी सिद्धान्त है कि कानून के भीतर अपने ही किये हुए कुकृत्य द्वारा कोई लाभान्वित नही हो सकता।[2]

संन्यास, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यावहारिक मृत्यु गिनी जाती है। संन्यास अन्तिम या चतुथ आश्रम है। कलियुग में भी वह प्रचलित है, यद्यपि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ को शास्त्रों ने वर्जित कर दिया है।[3] संन्यास या पूर्ण वैराग्य का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए[4] और यह भी साबित करना चाहिए कि संन्यास

१. **"नीलमाधव ब० जोतीन्द्र" १७, कलकत्ता वीकली नोट्स ३४१।**
"केन छ.बा ब० गिरिमलप्पा" ५१, इ० ए० ३६८।
२. **"वेदनयग ब० देवम्मल" ३१, मद्रास १००।**
३. **हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३—पृष्ठ ९४०, ९६०।**
४. **"गौरी ब० निहर" १८, कलकत्ता वीकली नोट्स ५९।**
"बलदेव प्रसाद ब० आर्य प्रतिनिधि सभा।" (१९३०) ५२, इलाहाबाद ७८९।
"कुन्दल राव ब० स्यामू लाब्रू" (१९१७), मद्रास ला जर्नल ६३।

की शास्त्र विहित क्रियाएँ पूरी की गयी थीं। शास्त्र के अनुसार वानप्रस्थ और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य भी व्यावहारिक मृत्यु के तुल्य हैं।

विमूढता और **उन्माद** मानसिक कारण की अनशता हैं। विमूढता या जड़ता और उन्माद को अंश-विवर्जनार्थ पर्याप्त होने के लिए जन्मजात होना चाहिए। "हिन्दू इन-हेरिटेन्स (रिमूवल आव डिसएबिलिटीज) ऐक्ट" सन १९२८, २० सितम्बर के दिन क्रियाशील हुआ था, और वह अधिनियम न भूत-लक्ष्यकारी है,[1] न दायभाग पर लागू है। उसने उपरोक्त नियम पर छाप लगा दी है।

कायिक अनंशता के अन्तर्गत हैं अन्धता, मूकता, बधिरता, विकलांगता, क्लीबता, कुष्ठ तथा अन्य असाध्य रोग। इनमें से अधिकांश दूषणों को जन्मजात तथा असाध्य होना चाहिए।[1] सन १९२८ वाले उपरोक्त अधिनियम ने इन सब अनशताओं को मिटाकर केवल आजन्म उन्माद और जड़ता को कायम रखा है।

अनशता के हेतुओं को जान लेने के बाद, पहली शका यह उठती है कि यदि अनंशता का आगे चलकर निवारण हो जाता है तो क्या परिणाम होगा। उत्तर यह है कि अंशता का पुनरुत्थान तो हो जायगा, किन्तु जो सम्पत्ति अन्य पात्रों में निहित हो चुकी है वह वियुक्त नहीं होगी। दूसरी शका यह है कि यदि अनंश को बाद में एक पुत्र पैदा हो जाता है, तो इसका क्या असर होगा ? एक तरफ तो यह सिद्धान्त है कि अनंशता वाली अनर्हता व्यक्तिगत होती है। दूसरी तरफ उससे भी प्रबल यह सिद्धान्त है कि जब सम्पदा निहित हो चुकती है तब वह वियुक्त नहीं होती, और इसी की जय होकर उस उत्तरजात पुत्र को निराश रह जाना पड़ेगा।[2] तीसरी शंका यह

१. "गुनेश्वर ब० दुर्गाप्रसाद" (१९१७) ४४, इलाहाबाद एपील्स २२९।
"सावित्री बाई ब० भवत" (१९२७) ५१, बम्बई ५०।
"अनुकूल च० ब० सुरेन्द्र" (१९३९) १, कलकत्ता ५९२
"वेंकट ब० पुरुषोत्तम" (१९०३) २६, मद्रास १३६।
"देव किशन ब० बुद्ध प्रकाश" (१८८३) ५, इलाहाबाद ५०९।
"रमा बाई ब० हरन बाई" (१९२४) ५१, इलाहाबाद एपील्स १७७।
"कराली ब० आशुतोष" (१९२३) ५०, कलकत्ता ६०४।
"मानसिंह ब० गैनी" (१९१८) ४०, इलाहाबाद ७७।
"काया रोहन ब० सुब्बारैया" (१९१५) ३८, मद्रास ७४।
२. "देवकिशन ब० बुद्धप्रसाद" (१८८३) ५, इलाहाबाद ५०९।

है कि अनंशता यदि बाद में पैदा हो जाय तब क्या होगा ? इसका उत्तर सरल है कि निहित हो चुकने के पश्चात्, सम्पदा को कोई भी कारण वियुक्त नहीं कर सकता।

यह ज्ञातव्य है कि उपरोक्त हेतु जैसे पुरुष दायाद के लिए बाधक होते हैं वैसे ही नारी दायाद के लिए भी बाधक हैं, यथा

पतितादिषु तु पुंलिंगत्वमविवक्षितम् अतश्च पत्नीदुहितृमात्रादीनामभ्युक्तदोषदुष्टामनंशि वं वेदितव्यम्। (मिता० २-१४०)

यह भी ज्ञातव्य है कि अनंश को मृत समझकर और उसकी अवहेलना करके सम्पत्ति उसके अनन्तर वाले दायाद को प्राप्त हो जाती है।[1] यह प्रत्यक्ष है कि जो अनंश दायप्राप्ति से वंचित रहेगा उसको बटवारा कराने का हक या बटवारे में हिस्सा पाने का हक कैसे हो सकता है।[2] यदि निरंशता जन्मजात नहीं है, बाद में पैदा हो गयी है, तो संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य बटवारा तो नही करा सकता, किन्तु अपने उत्तरजीवताधिकार की बदौलत वह पूरी सम्पदा का स्वामी बन जा सकता है।[3] याद रहे कि सन् १९२८ वाले "हिन्दू इनहेरिटेन्स (रिमूवल आव डिसएबिलीटीज) ऐक्ट" के अनुसार केवल दो अनर्हताएँ (जन्मजात जड़ता और जन्मजात उन्माद) उत्तराधिकार में बाधक बन सकती है। अतः यदि कोई सदस्य बटवारे के समय पर विक्षिप्त हो जाता है तो उसका हक मरता नहीं, अपितु स्वस्थ हो जाने पर पुनर्जीवित हो उठता है।[4] अनंश तथा उसकी पत्नी व सन्तति को भरण-पोषण पाने का अधिकार होता है, यथा—

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्य-रोगार्ता भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः॥
औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः।
सुताश्चैषां प्रभर्तव्याः यावद् वै भर्तृसात् कृताः॥
अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥ (याज्ञ० २,१४१-४३)

अर्थात् अनंश के सारे दायित्वों का भार संयुक्त सम्पदा के उस अंश पर बना

१. "बाबू बुद्ध नारायण ब० उमराव" (१८७०) १३, मूर्स, इलाहाबाद ५११।
२. "रामसुन्दर ब० रामसहाय" (१८८२) ८, कलकत्ता ९१९।
३. "केशव ब० गोविन्दन" (१९४६), मद्रास ४५२।
"मूलचन्द ब० छहटा देवी" (१९३७), इलाहाबाद ८२५।
४. "रत्नेश्वरी नन्दन ब० भगवती" (१९४९), फीडरल कोर्ट रिपोर्टर ७१५।

रहता है जिससे वह अनर्हताओं के कारण वंचित रहता है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अश से वचित रहने के बावजूद, अनंश नुकसान में नही रहता। इसके अतिरिक्त अनंशत्व एक व्यक्तिगत दूषण होता है जो अनंश की सन्तान को कलंकित नही करता, न उसकी पत्नी या विधवा को।[१] किन्तु दत्तक पुत्र अपने अनश पालक पिता के कलुष से नहीं बचता।[२]

इसी प्रसंग में यह भी जान लेने योग्य है कि लौकिक जीवन का परित्याग करते ही संन्यासी की सारी सम्पदा तो उसके दायादों में निहित हो जाती है; किन्तु संन्यास लेने के पश्चात् यदि वह सम्पदा पैदा करता है, तो उसके ससारी दायादों को वह प्राप्त नहीं हो सकती, अपितु उसके पारलौकिक दायाद (यानी सह-आश्रमी या शिष्य इत्यादि) उस सम्पदा के उत्तराधिकारी होते है। यह भी ज्ञातव्य है कि शूद्र वर्ण के लिए संन्यासाश्रम निषिद्ध होता है। तो फिर अनशत्व वाला नियम शूद्र संन्यासी पर कैसे लागू होगा ?[३]

१. "गंगा ब० चन्द्रभागा बाई" (१९०८) ३२, बम्बई २७५।
२. जी० सी० सरकार कृत "हिन्दू ला", ५१८।
३. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ३–७६५।
"हरीशचन्द्र ब० अतिर मुहम्मद" (१९१३) ४०, कलकत्ता ५४५।
"सोमसुन्दरम ब० वैथी लिंग" (१९१७) ४०, मद्रास ८४६।

प्रकरण ७

मिताक्षरीय संयुक्त परिवार

"भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते।" अर्थात् पिता के जीवित रहते भाइयों को एक साथ रहना चाहिए। यह विधान आरम्भिक कुटुम्ब के लिए है। जब कुटुम्ब की वृद्धि होती है और निःस्वार्थता, त्याग, सहानुभूति, बड़ों का आदर-मानादि गुण उसके भीतर बने रहते हैं, तब समयान्तर में एक ही पूर्वज के कई पीढ़ियों तक के वंशज एक विशाल संयुक्त परिवार को सघटित करने लगते हैं। अदालतों में इसको 'खानदान मुश्तर्का' कहते हैं और यह शब्द इतना प्रचलित हो गया है कि आज इसका आशय एक अनपढ़ व्यक्ति भी अच्छी तरह समझ लेता है। हजारों वर्ष से यह हृदय-ग्राही प्रथा हिन्दू देशवासियों के भीतर इतनी प्रबलता के साथ प्रसारित-पल्लवित हुई है कि हिन्दू समाज में संयुक्त कुटुम्ब एक स्वाभाविक और सामान्य दशा मानी जाने लगी है।[1] इसका तात्पर्य यह नही है कि खानदान मुश्तर्का एक दूषण रहित प्रणाली है, या क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तनों की अवहेलना करके उसका दामन छोड़ा ही न जाय। किन्तु निस्संदेह यह जीवन शैली जितना अधिक नागरिक चरित्र को सुधारती थी उतना अधिक उसे बिगाड़ती नही थी।

संयुक्त परिवार को पुरुष और नारियाँ दोनों संघटित करते हैं। पुरुष सदस्य या तो एक ही पूर्वज के सन्तान (यथा पिता, पितामह, पुत्र, पौत्रादि) होते हैं; या सांपार्श्विक वंशज (यथा भाई, चाचा, भतीजे आदि); या दत्तक पुत्र; या अकिंचन आश्रित जन। नारी सदस्या होती हैं उपरोक्त पुरुष सदस्यों की पत्नियाँ या विधवाएँ, या कुमारी पुत्रियाँ। आश्रित (दीनाः समाश्रिताः) प्रायः दीन सम्बन्धी या सगोत्री होते हैं। रखैल स्त्री या दासी तथा दासी-पुत्र भी परिवार के सदस्य समझे जाते हैं।[2] यदि कोई सदस्य ईसाई या मुसलमान हो जाय तो वह तत्क्षण संयुक्त कुटुम्ब से वियुक्त हो जाता है।[3] यदि कुटुम्ब भर ईसाई हो जाय और वह अपने पुराने दायप्राप्ति वाले

१. "रेवाप्रसाद ब० राधाबीबी" (१८५६) ४, मूर्स, इलाहाबाद एपील्स १३७।
२. "रजनी ब० निताई" ४८, कलकत्ता ६४३।
३. "कुलदाप्रसाद ब० हरी पद" ४०, कल० ४०७।

नियमों को अपनाये रहे तो संयुक्त कुटुम्ब की स्थिति और तत्सम्बन्धी नियम ऐसे ई साई कुटुम्ब पर भी लागू बने रह सकते हैं।[1]

संयुक्त कुटुम्ब की विद्यमानता से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि उसमें समांशिता भी है या उसके पास संयुक्त सम्पदा है। परन्तु यदि सम्पदा है, तो पूर्व धारणा यह कर ली जाती है कि वह सयुक्त है, और जब तक उस (सम्पदा) के विभाजन का प्रमाण न दिया जाय तब तक वह कुटुम्ब संयुक्त समझा जायगा। याद रहे कि साधारणतया एक संयुक्त परिवार का रहन-सहन, खाना-पीना तथा पूजा-पाठ भी सम्मिलित पाया जाता है। किन्तु पृथक् रहन-सहन, खान-पान व पूजा-पाठ पार्थक्य की असली पहचान नही, अपितु निश्चित पहचान सम्पदा का विभाजन ही है।[2] समांशिता या सहभागिता एक सकीर्ण अवधारणा है। यदि संयुक्त कुटुम्ब को एक जाति मान लें, तो समांशिता उसकी प्रजाति है। समांशिता संयुक्त कुटुम्ब के मात्र उन सदस्यों को समाहित करती है जिनका सयुक्त सम्पदा पर हक उस कुटुम्ब के भीतर जन्म लेते ही पैदा हो जाता है। यह विशिष्ट मण्डली तीन पीढ़ियों तक चला करती है। निम्नोक्त उदाहरण द्वारा इस अवधारणा का स्पष्टीकरण किया जायगा। इस बीच में दो बातों को मनोगत कर लेने पर समांशिता को समझना आसान पड़ जायगा। एक तो यह कि समांशिता का निर्माण पक्षों या दलों की क्रिया से नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, चार-छः व्यक्ति इकरार करके जैसे एक कम्पनी या फर्म खड़ा कर लेते हैं, वैसे समांशिता या सहभागिता की स्थापना नहीं कर सकते। यह "हिन्दू ला" की एक अनोखी देन और धर्मशास्त्र की अपनी उपज या सृष्टि है। स्मृतिकारों व व्याख्याकारों ने विहित कर दिया कि एक पूर्वज की तीन पीढ़ियाँ समांशिता के विशेष लक्षणों व हकों से मण्डित हुआ करेंगी। दूसरी बात है वह भेद जो पैतामही (मौरूसी) सम्पदा और पृथक् या निजी सम्पदा के बीच में होता है। अब उदाहरण देखिए—

राम को अपने पिता या पितामह या प्रपितामह के मरने के बाद उनका एक मकान दाय में मिलता है। वह उसका एकल स्वामी है, चाहे भोगे या हस्तान्तरित कर दे। कुछ दिनों बाद राम के एक पुत्र श्याम पैदा होता है। पैदा होते ही वह राम का सहभागी या समांशी बन जायगा। समांशी के नाते वह (१) विभाजन द्वारा आधा मकान ले सकता है, (२) राम को बिना जरूरत के हस्तान्तरण करने से रोक सकता है, और (३) राम के मरने के बाद पूरे मकान का मालिक बन जा सकता है।

१. "जलभाई ब० लुई" १९, बम्बई ६८०।

२. "चौधरी गनेशदत्त ब० जवच" (१९०४) ३१, कलकत्ता २६२।

मालिक बनने के लिए उसे उत्तराधिकार का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं, जब वह राम के जीवन काल से ही उसका सहभागी बना बैठा है। राम के बाद उत्तरजीवी के नाते, न कि पुत्र के नाते, वह मकान का स्वामी हो जाता है, अर्थात् अपने स्वतंत्र तथा व्यक्तिगत हक के बल पर। यही उत्तरजीविता का नियम कहलाता है। यदि मकान राम की ही अर्जित सम्पदा हो, या दाय के रूप मे नाना अथवा चाचा से मिला हो, तो श्याम को उसमे उपरोक्त तीन हक नही पैदा हो सकते। तब राम के मरने के बाद श्याम ही एकल उत्तराधिकारी होने के नाते मकान मालिक बन जाता है और वह उसको रहन, बै या दान सब तरह से हस्तान्तर कर सकता है। लेकिन यदि वह उसको हस्तान्तर न करे और इसी बीच में श्याम के एक पुत्र गोपाल पैदा हो जाय, तो उस पुत्र का जन्म एक जादू कर देता है और परिस्थिति बदल जाती है। अब मकान पैतामही या मौरूसी सम्पदा बन जाता है, जिसमें गोपाल को उपरोक्त तीनों हक मिल जाते है। श्याम और गोपाल समांशी हो गये। अब गोपाल का पुत्र भी जन्म लेते ही समांशिता का सदस्य बन जायगा और उसको भी वे तीनों हक हासिल हो जायेंगे। उसी तरह से गोपाल का पौत्र (श्याम का प्रपौत्र) भी जन्म लेते ही समांशी बनकर उपरोक्त तीनों अधिकार प्राप्त कर लेगा। श्याम, गोपाल, गोपाल का पुत्र व पौत्र यानी चार पीढ़ियाँ समांशिता सघटित करने लगती हैं। इसके बाद वाली पीढ़ी यानी गोपाल के पौत्र का पुत्र समांशिता मे प्रविष्ट नही हो सकता और न उपरोक्त हकों से मण्डित हो सकता है। एक ही पुरुष पूर्वज से समांशिता का प्रादुर्भाव हुआ करता है और उसके तीन पीढ़ियों तक के पुरुष वंशज उसके साथ मिलकर समांशिता का महल रच देते हैं। यदि श्याम के दो या आठ पुत्र गोपाल, भोपाल इ० होते और सब के अनेक पुत्र, पौत्र इ० होते, तो चार पीढ़ियों के भीतर वाले सब वंशज श्याम के समेत तीस-चालीस या अधिक सदस्यों वाली विशाल समांशिता की रचना कर सकते।

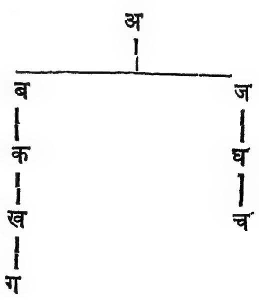

पाठकों को स्वार्जित या व्यक्तिगत तथा पैतामही या मौरूसी सम्पदा की पहचान हो गयी है। अब समांशिता की सीमा पर थोड़ा सा और गौर कर लेना चाहिए। इस रेखाचित्र में **अ, ब, ज, क, घ, ख, च** एक समांशिता को संघटित कर सकते हैं। इसी जगह सीमा समाप्त हो जाती है। **ख** का पुत्र (ग) अ से पाँचवीं पीढ़ी पर होने के कारण समांशी नहीं हो सकता। किन्तु **अ** के मरने के बाद, **ग** का **ब** से चार पीढ़ी का अन्तर रह जाता है। अतः अब तो **ब, ज, क, घ, ख, च, ग** समांशिता संघटित

कर सकते हैं। मान लीजिए कि **अ** के जीवनकाल मे **ब** मर जाता है। तो क्या **ग** की पीढ़ी ऊपर खिसक कर **अ** से चौथी हो जायगी और इस तरह क्या वह **अ** के साथ समांशी बन जायगा ? नही, **ग** को इस कुटुम्ब के भीतर जन्म लेने के आधार पर उस पैतामही (मौरूसी) सम्पदा मे अश नही मिल सकता जो कर्ता के रूप मे **अ** के कब्जे में है। अब मान लीजिए कि **ग** व **अ** को छोड़ कर सब मर जाते हैं। क्या **ग** को **अ** के साथ मौरूसी सम्पदा में समांशिता मिलेगी ? नहीं, पाँचवीं पीढ़ी अपवर्जित है, अतः **अ** एकल उत्तरजीवी के रूप से एकमात्र स्वामी बन जायगा और उसको सम्पदा के ऊपर अखण्ड अधिकार प्राप्त हो जायगा। यदि मौरूसी जायदाद को वह संयोग वश व्यय या समाप्त न कर डाले, तभी उसके मरने के बाद सम्पदा का अवक्रमण (दायाद के, न कि उत्तरजीवी के रूप में) **ग** के ऊपर हो सकता है।[१]

समांशिता के गुण व लक्षण

समांशिता के कुछ लक्षण बतलाये जा चुके हैं, उनका यहाँ पुनः उल्लेख उपयोगी होगा।[२] **पहले,** उसमें स्वामित्व की एकता होती है, यानी समांशियों के समूह का स्वामित्व होता है। जब तक कुटुम्ब सम्मिलित है, यानी जब तक विभाजन नहीं होता, तब तक कोई सदस्य अपने अश की मात्रा नहीं बता सकता है, क्योंकि उसका अश अस्थिर या उच्चावचशील बना रहता है। अर्थात् कुटुम्ब में यदि नये पुत्र पैदा हो गये तो उसका अंश घट जायगा और यदि कोई मृत्यु हो गयी तो उसका अश बढ़ जायगा। **दूसरे,** उसमें उपभोग और कब्जे की भी एकता होती है; अर्थात् प्रत्येक सदस्य का कब्जा समूह की ओर से होता है। यदि कुछ कुटुम्ब घर में और कुछ परदेस में रहते हों तो भी परदेसियो का कब्जा विद्यमान समझा जायगा। मौके पर जो सदस्य है वे सारी आय का उपभोग करते रहें, तब भी यह नहीं कह सकते कि परदेस वाले सदस्य कब्जे से अपवर्जित रहे थे, और न परदेसी सदस्य यह शिकायत कर सकते हैं कि घर में रहने वाले सब कुछ खा-पी गये। यथा—

> **बन्धुनापहृत द्रव्यं बलान्नैव प्रदापयेत्।**
> **बन्धूनामविभक्तानां भोगं नैव प्रदापयेत् ।। (कात्यायन)**

तीसरे, संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा का अवक्रमण उत्तरजीविता के नियमानुसार होता है, न कि दायप्राप्ति के। अर्थात् यदि एक सदस्य अपुत्र मर जाता है तब तो

१. "कमिश्नर आव इन्कम्टैक्स ब० लक्ष्मीनारायण" ५९, बम्बई ६१८, ६२१।
२. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३–पृष्ठ ५९१–९२।

उसके अंश का विलयन हो जाता है और यदि वह पुत्रादि छोड़ता है, तब वे लोग उसका प्रतिनिधित्व करने लगते हैं। **चौथे,** कोई **नारी** समांशिता की सदस्या नहीं बन सकती। **पांचवें,** प्रत्येक सदस्य को विभाजन करा लेने का अधिकार रहता है। **छठे,** गृहपति या प्रभु या कर्ता के पद पर अधिकतर पिता या अन्य ज्येष्ठतर सदस्य आरूढ होकर सम्पदा का प्रबन्ध तो करता है, किन्तु हस्तान्तरित करने की उसे अति सीमित तथा स्पष्टतया नियन्त्रित सामर्थ्य होती है। **सातवें,** प्रभु या कर्ता हिसाब देने का भागी नहीं होता। यथा—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः॥
मणि मुक्ता प्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः।
स्थावरस्य समस्तस्य न पिता न मितामहः॥
स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम्।
असम्भूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः॥
ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः।
वृत्तिं तेऽप्यभिकाङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः॥
अविभक्ता विभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः।
एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये॥[1]

यद्यपि एक ही अर्थात् प्रवर्तक या आदि पूर्वज के द्वारा समांशिता का प्रादुर्भाव हुआ करता है और उसके भीतर चार ही पीढ़ी तक के वंशज प्रविष्ट हो सकते हैं, तथापि उसका अवसान चार पीढ़ी के बाद नहीं हो जाता। आदि या प्रवर्तक पूर्वज की कई पीढ़ियों बाद तक समांशिता चलती रह सकती है। यदि यह मालूम करना हो कि किसी संयुक्त कुटुम्ब का अमुक सदस्य समांशी है या नहीं, तो पूछिए कि क्या वह बटवारा करा सकता है। यदि करा सकता है तो समझ लीजिए कि वह समांशी है। क्योंकि नियम यह है कि आखिरी धनी (स्वामी) से चार पीढ़ियों तक का कोई भी कुटुम्बी संयुक्त सम्पदा का विभाजन करा ले सकता है। ऐसे विभाजनाकांक्षी की पीढ़ियाँ आदि या प्रवर्तक पूर्वज (या बुनियादी पूर्वज) से नहीं अपितु सम्पदा के अन्तिम अधिकारी से गिनी जाती हैं। जैसा कि अग्रवर्ती रेखाचित्र को देखने से ज्ञात होगा। राम, जो आदि पूर्वज है, एक अमराई खरीदता है, वह उसकी स्वार्जित सम्पत्ति है

१. जी० सी० सरकार कृत हिन्दू ला, पृ० २३२।

जिसमें उसके किसी वंशज का हक नहीं है। वह अपने वंशजों—**क**, **ख**, **ग**, **घ** व **ङ** को छोड़कर मरता है। **क** निकटतम सपिण्ड के नाते अमराई को दाय मे प्राप्त करता है। **ख**, **ग**, **घ**, तुरन्त **क** के साथ समांशी बन जायेंगे। **घ** यद्यपि राम से पाँचवीं पीढ़ी पर है, तथापि अब बटवारा करा सकता है, क्योंकि **क** से (जिसके हाँथ मे पहुँच कर अमराई ने मौरूसी या पैतामह स्वत्व का रूप धारण कर लिया है) वह (घ) चार ही पीढ़ियों की दूरी पर है। यह भी देखिए कि अभी **ङ** समांशिता के भीतर प्रवेश नहीं पा रहा है। किन्तु **क** के मरने के बाद **ख** गृहपति होता है। अब समांशिता को सघटित करेंगे **ख**, **ग**, **घ**, **ङ**; यद्यपि **ङ** राम से छः पीढ़ी दूर है। अभी **च** प्रवेश नही पायेगा। जब **ख** मरेगा और **ग** गृहपति (कर्ता) बनेगा तब **च** समांशिता के भीतर प्रविष्ट हो जायगा, किन्तु **छ** को तदर्थ **ग** के मरने की राह ताकनी पड़ेगी। यद्यपि **छ** राम से आठ पीढ़ी दूर है, फिर भी अवसर आते ही **घ** के साथ वह भी समांशिता का सदस्य बन जाता है। यदि बटवारा न हो तो यह सयुक्त कुटुम्ब तथा उसकी प्रजाति रूपी यह समांशिता अनन्त काल तक चल सकती है और उस अमराई का उपभोग यह कुटुम्ब सदैव या अनन्त काल तक करता चला जा सकता है।

राम १
|
क २
|
ख ३
|
ग ४
|
घ ५
|
ङ ६
|
च ७
|
छ ८

उपरोक्त गाथा मे यह मान लिया गया है कि राम के वंशज अपने-अपने क्रम से ही मरते है। किन्तु यदि दैवात् **ख**, **ग**, **घ** तीनों **क** के सामने मर जाते है, तो जैसा ऊपर समझाया जा चुका है, **ङ** कभी समांशी का पद नही पायेगा और न **च** न **छ**। वरच इस समांशिता का अन्त होकर, अमराई साधारण उत्तराधिकारी नियमों के अनुसार निकटतम दायादों को मिलने लगेगी।

अब सवाल यह उठता है कि यदि **ख** के भाई हों और उनके भी पुत्र-पौत्र हों तो समांशिता को कौन-कौन सघटित करेगा, क्योंकि ऊपर के रेखाचित्र मे एक ही एक वशज दिखाया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि एक ही आदि-पूर्वज के अनेक पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न होकर एक विशाल सयुक्त कुटुम्ब को सघटित कर सकते है। समांशिता की भी वैसी ही रचना हो सकती है।

सांपार्श्विकी समांशिता

अब पार्श्वस्थ इस रेखाचित्र को देखना चाहिए।[१] रामचन्द्र, भालचन्द्र, **अ**, **क**, **ख**, **ग**, **च**, **ज** ये आठ पिता, पुत्र, पौत्रगण, प्रपौत्रगण एक समांशिता के सभ्य हैं। मान लीजिए कि पहले रामचन्द्र मरा, फिर भालचन्द्र, फिर क्रमशः **ख**, **क** और **अ**। जब **अ** मरता है तब समांशिता में **घ**, **ङ**, **छ** भी प्रविष्ट हो जाते हैं। **घ**, **ङ**, **छ** तीनों की पीढ़ियाँ राम से चार से अधिक दूर हैं, किन्तु **अ** से, जो अब अन्तिम गृहपति है, चार के भीतर है। अतः अब वे तीन सदस्य **ग**, **च**, **ज** के समेत छः जनों वाली समांशिता बनायेंगे। अब यदि **च**, **ग**, **घ** की मृत्यु क्रमशः घटित होती है, तो बचे हुए तीन सदस्य यानी **ज**, **छ**, **ङ** इस समांशिता को संघटित करने लगेंगे। ये तीनों एक दूसरे के **सांपार्श्विक** हैं, और **ज** से, जो सबसे ज्येष्ठ सदस्य होने के नाते गृहपति के पद पर आरूढ़ हो गया है, दोनों कनिष्ठ सदस्य **छ** व **ङ** बटवारे की माँग कर सकते है। बटवारे की माँग करने की क्षमता ही, जैसा कि कहा जा चुका है, समांशी होने की पहचान होती है। यहाँ तक समांशिता के ऊपर पर्याप्त विचार हो चुका। इसमें देखा गया कि सयुक्त सम्पदा के बिना संयुक्त कुटुम्ब तो विद्यमान हो सकता है; किन्तु समांशिता की अवधारणा में सम्पदा की विद्यमानता आरम्भ से ही सन्निहित रहती है। अतः सम्पदा के ऊपर पर्याप्त विचार करना पड़ेगा। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

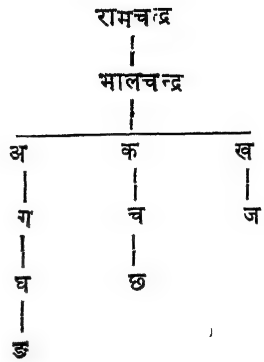

संयुक्त परिवार की सम्पदा के भेद

मिताक्षरा में सम्पदा के दो गौण और दो मुख्य भेद किये गये हैं। गौण भेद तो है **सप्रतिबन्ध दाय व अप्रतिबन्ध दाय**। यह भेद वीरमित्रोदय, व्यवहारमयूख, मदन-रत्न, व्यवहारप्रकाश को मान्य है, क्योंकि इनमें **जन्मस्वत्व वाद** का अनुसरण हुआ है। दायभाग को यह भेद अमान्य है, क्योंकि वह **उपरमस्वत्व वाद** का अनुयायी है। पैता-मही सम्पदा मे पुत्र, प्रौत्र, प्रपौत्र जन्म लेते ही स्वामित्व लाभ करते हैं और इस अर्जन

१. मुल्ला का "हिन्दू ला", (१२वां सं०), पृ० ३१७।

क्रिया में कोई रुकावट, विघ्न, बाधा नहीं पड़ती। इसलिए इसको **अप्रतिबन्ध दाय** कहते हैं। इसी को उत्तरजीविता से दायप्राप्ति का नियम कह सकते है; यद्यपि इस दूसरे नियम से दाय नाम वाली अवधारणा का मेल ठीक नहीं बैठता, क्योंकि दाय शब्द से ही अन्य के स्वामित्व का आशय ध्वनित होता है। पिता, पितामह, प्रपितामह की विद्यमानता पुत्रादि के स्वामित्वार्जन में विघ्न नहीं डालती। छहों पीढ़ियों का स्वामित्व-रूपी क्षेत्र मे सह-अस्तित्व रहता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने पुत्ररहित पुत्र या पुत्ररहित पितृव्य की सम्पदा प्राप्त करता है, तो इसको **सप्रतिबन्ध दाय** कहते हैं, क्योंकि उस अन्तिम प्रभु की विद्यमानता स्वामित्वार्जन में रुकावट डालती है। 'दाय-भाग' के अनुसार सभी दाय सप्रतिबन्ध होते है। 'दायतत्त्व' भी इसी मत का अनुयायी है। याद रखिए कि उस मत में मृत प्रभु के जीते-जी सम्पदा में किसी अन्य का स्वत्व नहीं होता।

सम्पदा के दो मुख्य भेद हैं—(१) संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा तथा (२) पृथक् सम्पदा। संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा या समांशिता की सम्पदा दो तरह से पैदा होती हैं—(क) या तो वह आरम्भ से पैतामही (मौरूसी) होती है, (ख) या आरम्भ में तो वह किसी विशेष समांशी की पृथक् सम्पदा होती है और वह समांशी बाद में उसको समांशिता वाली सम्पदा में ऐसे ढंग से सम्मिलित कर देता है कि दोनों सम्प-दाएँ एकरूप मे हो जायँ। पहले (क) का विवरण द्रष्टव्य है—

पैतामही सम्पत्ति

पिता या पितामह या प्रपितामह की मृत्यु के बाद उनकी जो सम्पदा राम को मिली वह राम की व्यक्तिगत सम्पदा तभी तक या उसी हालत में है जब तक या जिस हालत मे वह अपुत्र है। यदि उसके पहले ही से पुत्र या पौत्र या प्रपौत्र था तो वह राम का समांशी बन जायगा और प्राप्त दाय राम की व्यक्तिगत सम्पदा नहीं रह जायगी। अथवा यदि बाद में राम के जीवन काल के भीतर कोई पुत्र या पौत्र या प्रपौत्र उत्पन्न हो जाता है, तब भी पैदा होते ही यह सन्तान राम की समांशी हो जायगी। अतएव दोनों हालतों में राम को मिली हुई सम्पदा मौरूसी कहलायेगी। सिवा राम तथा उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के अन्य कोई सम्बन्धी उस सम्पदा में हक नहीं रखता। याद रखिए कि राम जब अपने तीन उपरोक्त पूर्वजों से सम्पदा पाता है तभी वह मौरूसी कहलाती है और ऐसी सम्पदा में पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के अतिरिक्त कोई भी राम का सहभागी नहीं बन सकता। यह भी याद रखिए कि यदि अपने सगे भाइयों समेत राम पिता, पितामह, प्रपितामह की स्वार्जित सम्पदा पाता है, तो ऐसी सम्पदा भी उन भाइयों

की सयुक्त सम्पदा' के रूप मे पैतामही या मौरूसी समझी जायगी और उन भाइयो के पुत्रादि समांशी हो जायेंगे।

क्या नाना से उत्तराधिकार द्वारा पायी हुई सम्पदा मौरूसी है ? नही।[२] मौरूसी "हिन्दू ला" का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका पर्यायवाची धमशास्त्रों मे पैतामह शब्द है। 'पैतामह' का अर्थ है पितामह द्वारा अर्जित या प्राप्त। पितामह के अन्तर्ग्रस्त पिता व प्रपितामह तो हो सकते है किन्तु मातामह, प्रमातामह नहीं। इसीलिए मातुल द्वारा उपलब्ध सम्पदा भी पैतामह सज्ञक नही होगी।[३] और इसीलिए जो सम्पदा सांपाश्विक सम्बन्धियों, यथा भ्राता, पितृव्य; अथवा नारी सम्बन्धियों, यथा माता से, दायप्राप्ति में मिलती है वह भी मौरूसी नही हो सकती;[४] यद्यपि पिता की अर्धांगिनी होने से माता को भी पूर्वजों की उपरोक्त त्रिपुटी मे गिन लेना सुसगत लगता है।

सम्पदा पर विभाजन का प्रभाव

अब एक अन्य परिस्थिति के ऊपर विचार करना है। दो सगे भाई राम व भाल की समांशिता मे पैतामही सम्पदा का विभाजन हो जाता है। क्या दोनों के भाग प्रत्येक की पृथक् या प्रत्येक की पैतामही सम्पदा समझे जायँगे ? यदि राम एक पुत्र शाल को और भाल एक दौहित्र लाल को छोड़कर मरता है, तो क्या शाल को भाल का भी अश इस आधार पर मिल जायगा कि सम्पदा मौरूसी होने के कारण उत्तर-जीविता वाला नियम लागू होगा, न कि दायप्राप्ति का नियम ? क्या राम अपने जीवनकाल मे अपने अश को बेचकर इस कथन के साथ शाल को उससे वंचित कर दे सकता है कि विभाजन के बाद सम्पदा का पैतामह रूप बदल कर व्यक्तिगत हो गया है ? पहले व तीसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ तक शाल का सवाल है, वह अपने पिता राम के साथ आधे अंश मे समांशी बना रहेगा, क्योंकि विभाजित सम्पदा मौरूसी थी और इसलिए राम अपने पुत्र शाल को वंचित नही कर सकता है। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि भाल का अश उसी की व्यक्तिगत सम्पदा समझी जायगी और उत्तरा-धिकार के नियमानुसार उस अश का अवक्रमण निर्धारित होगा, न कि उत्तरजीविता-

१. "मु० रामदेई ब० मु० ग्यार्से" (१९४९), इलाहाबाद १६०।
२. "मु० हुसेन खां ब० बाबू के सवानन्द सहाय" (१९३७) ६४, इण्डियन अपील्स २५।
"पं० मोहन लाल ब० पं० राम दयाल" (१९४१) १६, लखनऊ ७०८।
३. "करुप्पाई ब० शंकर नारायनन" (१९०४) २७, मद्रास ३००।
४. "राजकिशोर ब० मदनगोपाल" (१९३२) १३, लाहौर ४९१।

नुसार। अतः लाल को वह अंश मिलेगा, न कि शाल को। ज्ञातव्य है कि उपरोक्त उत्तर वही रहेंगे, चाहे शाल तथा लाल का जन्म विभाजन के पूर्व या पश्चात् हुआ हो।[1] यह भी ज्ञातव्य है कि बटवारे के बाद राम यदि अपने अंश को अपनी ही पृथक् कमाई द्वारा रहन से छुड़ा लेता है, तो भी वह उसको स्वार्जित घोषित करके शाल को वंचित नहीं कर सकता; अपितु शाल व राम के बीच, और केवल उन्हीं (पिता-पुत्र) के बीच सम्पदा का रूप पूर्ववत् मौरूसी बना रहेगा। किन्तु यदि मोचन-रोध की आज्ञप्ति (फोरक्लोजर की डिग्री) हो गयी हो, अर्थात् सम्पदा हाथ से निकल चुकी हो, तो सूरत बदल जायगी और राम उसको फिर से छुड़ा लाने के बाद स्वार्जित का रूप दे सकेगा।[2] इस सूक्ष्म भेद को याद रखना चाहिए।

इसके पश्चात् इस परिस्थिति पर गौर कीजिए। पितादि तीन पूर्वजों के माध्यम से राम को मिली हुई सम्पदा में तो उसका पुत्र शाल जन्म लेते ही समांशी बन जाता है। किन्तु यदि कोई पूर्वज अपने पुत्रादि तीन वंशजों में से राम के नाम हिबा (दान) या इच्छापत्र लिख देता है, तो इस प्रकार से मिली हुई सम्पदा में भी क्या शाल अपने पिता का समांशी बन जायगा? इस प्रश्न पर हाई कोर्टों मे मतभेद चला आ रहा है।[3] परन्तु दो तरह के मत ये मालूम देते है कि दस्तावेज की भाषा से यह पता लगाना चाहिए कि लेखक का मन्तव्य क्या था। यदि स्पष्ट शब्दों में यह आशय प्रकट नहीं किया गया है कि ग्रहीता उस सम्पदा को स्वार्जित के रूप मे धारण करेगा, तो ग्रहीता के हाथ मे वह (सम्पदा) पैतामही का रूप ले लेगी और ग्रहीता का पुत्र उसके साथ समांशी बन जायगा। अथवा जब स्पष्ट शब्दों मे यह इरादा प्रकट नही किया गया है कि ग्रहीता उस सम्पदा को पैतामही के रूप मे धारण करेगा, तब ग्रहीता के हाथ मे वह (सम्पदा) स्वार्जित का रूप ले लेगी और ग्रहीता का पुत्र उसके साथ समांशी नही बनेगा। इन दोनों तरह की नजीरों तथा शास्त्र के वाक्यों की समीक्षा करते हुए सन् १९५४ मे सुप्रीम कोर्ट ने[4] यह घोषित किया है—"ग्रहीता के हाथ मे पहुंच कर

१. "लालबहादुर ब० कन्हैयालाल" (१९०७) २९, इलाहाबाद, २४४।
"अद्वूर मोनी ब० चौधरी" (१८७८) ३, कलकत्ता १।
"विजय बहादुर ब० भूपेन्दर" (१८९५) १७, इलाहाबाद ४५६।
२. "बलवन्त सिंह ब० रानी किशोरी" (१८९८) २०, कलकत्ता २६७।
३. "नागलिंगम ब० रामचन्द्र" (१९०१) २४, मद्रास ४२९।
"जगमोहन दास ब० मंगल दास" (१८८६) १०, बम्बई ५२७।
४. "ए० मुदालियर ब० मुरुग नाथ" (१९५४), सुप्रीम कोर्ट रि० २४३।

प्रदत्त सम्पदा स्वाजित का अथवा पैतामही का रूप लेगी यह प्रदाता के इरादे पर आश्रित होता है। इरादे का पता दस्तावेज की शर्तो से लगाना होगा। यदि शर्तें अस्पष्ट हों, तो अन्वय के माने हुए नियमानुसार, प्रदाता के इरादे का पता दस्तावेज की भाषा तथा परिवेष्टित परिस्थितियों को सोचकर लगाना चाहिए और यह बात याद रखनी चाहिए कि अदालत न तो पैतामह रूप की और न स्वार्जित रूप की पूर्व धारणा करके बैठती है।" असल में मिताक्षरा के "पितृद्रव्याविरोधेन" वाक्य के अन्वय पर मतभेद[1] है, जो निम्नलिखित श्लोक मे पाया जाता है—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।
मैत्रम् औद्वाहिकं चैव दायादानां न तद् भवेत् ।। (१-४-१)

कलकत्ता के हाई कोर्ट ने यह मत प्रकट किया था कि सम्पदा के रूप में इस बात से अन्तर नहीं पड सकता कि राम को पिता से सम्पदा उत्तराधिकार के द्वारा अथवा दानपत्र या इच्छापत्र के द्वारा प्राप्त हुई है; हर दशा में राम का पुत्र उसके साथ समांशी बन जायगा।[2]

सम्पदा प्राप्ति की उपरोक्त रीतियों के अतिरिक्त **उपवृद्धि** भी एक रीति है। इसकी संज्ञा है **समुत्थान,** यथा—"सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः" और समुत्थान को पैतामही सम्पदा माना गया है। उपवृद्धि कई प्रकार से होती है, यथा पैतामही सम्पदा की आय का सचय; ऐसी सम्पदा के आश्रय या आय से मोल ली हुई सम्पत्ति; ऐसी सम्पदा के मूल्य से मोल ली हुई सम्पत्ति तथा ऐसी सम्पदा की बिक्री का धन। समुत्थान समांशी के जन्म से पहले प्राप्त हुआ हो या पीछे, दोनों दशाओं में उसमे उसका अंश होता है।[3]

यहाँ तक (राम को) निम्नोक्त छः प्रकार से प्राप्त होने वाली सम्पदा के रूप पर मनन किया गया है—

(१) पिता आदि तीन पूर्वजों से उत्तराधिकार द्वारा मिली सम्पदा का रूप होता है पैतामही (मौरूसी)।

१. "पुरुषोत्तम ब० जानकी बाई" (१९०७) २९, इलाहाबाद ३५४।
"रामेश्वर ब० रुक्मिन" (१९०९) १४, अवध केसेज २४४।
"मु० ब्रजकुँअर ब० राय ब० संकटा प्रसाद" (१९२९) ४ लख० ४००।
"भागवत शुक्ल ब० एम० टी० कपोर्नो" (१९४४) २३, पटना, ५९९।
२. "मदन गोपाल ब० रामबक्श" (१८६३) ६, वीकली रिपोर्टर ७१।
३. "रामन्ना ब० वेंकट" (१८८८) ११, मद्रास २४६।

(२) मातामह या मातुल से उत्तराधिकार द्वारा मिली सम्पदा का रूप होता है स्वार्जित व्यक्तिगत।

(३) सांपार्श्विकों और नारियों से उत्तराधिकार द्वारा मिली सम्पदा का रूप होता है स्वार्जित व्यक्तिगत।

(४) मौरूसी सम्पदा में विभाजन के द्वारा मिले सम्पदांश का रूप होता है पैतामही (मौरूसी)।

(५) पिता आदि तीन पूर्वजों से दान और इच्छापत्र द्वारा मिली सम्पदा का रूप होता है संदिग्ध।[1]

(६) समुत्थान या उपवृद्धि वाली सम्पदा का रूप होता है पैतामही या मौरूसी।

अब (ख) भेद वाली, अर्थात सम्मिश्रित हो जाने से पैतामही सम्पत्ति का रूप धारण कर लेने वाली सम्पदा की गाथा श्रोतव्य है। जब कोई समांशी अपनी पृथक या स्वार्जित निधि को स्वेच्छा पूर्वक समांशिता वाली निधि में इस स्पष्ट मन्तव्य के साथ विलीन कर देता है कि अब उसमें उसका पृथक हक निश्शेष हो चुका, तो ऐसी मिलायी गयी निधि भी पैतामही निधि या सयुक्त कौटुम्बिक निधि की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। उपरोक्त मन्तव्य यदि स्पष्टतया प्रमाणित न हो[1], तो इस तरह के व्यवहार से उसका निष्कर्ष निकालना पर्याप्त प्रमाण नहीं माना जाता, जैसे कि अन्य सदस्यों को उसका उपभोग करने देना, या उस निधि का अलग हिसाब न रखना, या उस निधि की आय को किसी अन्य सदस्य के ऊपर खर्च होने देना, या उदारतावश उसकी आय अन्य की सहायता में लगा देना, इत्यादि। हाँ, यदि संयुक्त सम्पदा के प्रबन्धक गण अपनी पृथक सम्पत्तियों को सयुक्त सम्पदा के साथ मिला-घुला डालते हैं तो यह और वह दोनों सयुक्त सम्पदा बन जाती है।[2]

इसी से संलग्न स्थिति यह है--संयुक्त परिवार बिना किसी सयुक्त सम्पदा का अवलम्ब लिये सयुक्त उद्योग और परिश्रम द्वारा जिस सम्पदा को पैदा करे वह उस सयुक्त परिवार की सयुक्त सम्पदा मानी जाती[3] है। और यदि संयुक्त सम्पदा

१. "राजकिशोर ब० मदनगोपाल" (१९३२) १३, लाहौर ४९१।
२. "रजनीकान्त पाल ब० जगमोहन पाल" (१९२३) ५०, इ० एपील्स १७३।
"लालबहादुर ब० कन्हैयालाल" (१९०७) २९, इलाहाबाद २४४।
३. "हरी दास ब० देव कुँअर बाई" (१९२६) ५०, बम्बई ४४३।
"सांवल दास ब० कूरेंमल (१९२८) ९, लाहौर ४७०।
"सीतल प्रसाद ब० राम प्रसाद" (१९४४), नागपुर १७।

का अवलम्ब लिया गया हो तब तो वह निस्सन्देह संयुक्त पारिवारिक सम्पदा है[१]।

पृथक् या स्वार्जित सम्पदा

संयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा की पहचान तथा उसके सर्जन, निर्माण की रीतियों का बखान करने के बाद अब पृथक् सम्पदा का विवरण प्रस्तुत किया जायगा। निम्न-लिखित रीतियों से जो सम्पदा पैदा की गयी हो वह अर्जनकारी की पृथक् सम्पदा मानी जाती है और उसकी सज्ञा होती है स्वार्जित सम्पदा।[२]

(१) सप्रतिबन्ध दाय से प्राप्त की गयी सम्पदा। इसमे नाना, मामा या नारी के माध्यम से आयी हुई सम्पदाए समाहित है।

(२) अनुराग-प्रेरित पैतामही चल सम्पत्ति के स्वल्पांश का पिता द्वारा पुत्र को प्रसाद रूप में परिदान, यथा—

शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत्।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः॥ (या० २,११४)

(३) सयुक्त कुटुम्ब के किसी सदस्य को शासन द्वारा प्रदत्त अनुदान।

(४) सयुक्त कुटुम्ब के हाथ से निकल जाने के बाद वह प्रत्युद्धारित पूर्व-नष्ट सम्पदा जो उद्धारक ने सयुक्त कौटुम्बिक निधि के आश्रय बिना अपने प्रयास से प्राप्त की हो।

(५) पृथक् सम्पदा की आय तथा उस आय से क्रीत सम्पत्ति।

(६) अपुत्र समांशी को विभाजन मे मिला हुआ समांशिता की सम्पदा का भाग।

(७) पैतामही सम्पदा, जो उत्तरजीविता के नियमानुसार अन्तिम एकल समांशी के पास रह जाती है। किन्तु यदि किसी समांशी की गोद लेने की अधिकारिणी विधवा जीवित हो तो सूरत दूसरी हो जाती है।

(८) सयुक्त कुटुम्ब के सदस्य की पृथक् कमाई, जो "पितृद्रव्याविरोधेन" उसने

"लक्ष्मीना० ब० मुसद्दीलाल" (१९४२) १७, लखनऊ ३२७।
"सुदर्शन ब० नरसिघुलू" (१९०२) २५, मद्रास १४९।

१. "लालबहादुर ब० कन्हैयालाल" (१९०७) २९, इलाहाबाद २४४।

२. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ५७७–५८५।
जी० सी० सरकार का हिन्दू ला, २५८–२६१।
मुल्ला का हिन्दू ला (१२ वां सं०), पृ० ३३०–३४०।

स्वावलम्बन द्वारा उपार्जित की हो। अन्यथा वह कमाई सयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा मानी जा सकती है।

(९) विद्याधन। सन् १९३० वाले "हिन्दू गेन्स ग्राव लर्निंग ऐक्ट" ने विहित कर दिया है कि जिस विद्या की सहायता से कोई सदस्य अपनी सम्पदा कमाता है, वह चाहे विशिष्ट हो या साधारण हो, दोनों हालतों मे वह सम्पदा संयुक्त कुटुम्ब की केवल इन कारणो से नही समझ ली जायगी कि (क) या तो उस विद्या के सीखने का खर्च सयुक्त कुटुम्ब ने या उसके किसी सदस्य ने उठाया था और या (ख) कमाने वाले तथा उसके बाल-बच्चों का भरण-पोषण कुटुम्ब के या किसी सदस्य के धन से हुआ करता था। यह अधिनियम २५ जुलाई सन् १९३० को सक्रिय हुआ था किन्तु वह लागू कर दिया गया है उस विद्याधन पर भी जो उस तिथि के पहले अर्जित हो चुका था।

उपरोक्त चौथी रीति से मिली हुई स्वार्जित सम्पदा के विषय में निम्नोक्त बातें ज्ञातव्य है—खोयी हुई (पूर्व-नष्ट) मौरूसी चल व अचल दोनों तरह की सम्पदा उद्धारक की स्वार्जित तभी होती है जब वह पिता हो। अन्य उद्धारकर्ता सदस्य के विषय में नियम यह है कि चल सम्पत्ति तो आमूल उसी की हो जाती है, किन्तु यदि सम्पदा अचल है तो उद्धारक को चतुर्थ भाग देने के बाद, बचा हुआ तीन चौथाई अश उसके तथा अन्य सदस्यों के बीच सम-विभाजित हो जाता है। यथा—

स्वशक्त्यापहृतं नष्टं स्वयमाप्तं च यद् भवेत्।
एतत्सर्वं पिता पुत्रैर्विभागे नैव दाप्यते ।। (कात्यायन)
पूर्वनष्टां च यो भूमिम् एकश्चेदुद्धरेंच्छ्रमात्।
यथाभागं भजन्त्यन्ये दत्वांशं तु तुरीयकम् ।।

इति शंखवचनं भ्रात्राद्युद्धृतविषयम्। अत्र स्वयं तुरीयांशं गृहीत्व भ्रात्रादिभिः सहोद्धर्ता गृह्णीयादन्यथा विषमसृष्टं स्यात्। (दायतत्त्व)।

यह भी ज्ञातव्य है कि चौथाई भाग उद्धारकर्ता को देकर शेष तभी बाँटा जाता है जब पूर्व-नष्ट सम्पदा पर-जन के पास से छुड़ा ली जाय। यदि एक दूर के कुटुम्बी को समझौते में मिली मौरूसी सम्पदा को एक भाई अपने निजी धन से खरीद लेता है तो उसका संयुक्त भाई यह आग्रह नहीं कर सकता कि चतुर्थांश निकाल कर बाकी सम्पदा दोनों भाइयों में बाँट दी जाय।[1]

यहाँ तक संयुक्त सम्पदा तथा स्वार्जित सम्पदा का अन्तर समझ लेने के बाद

१. "बै आबा ब० त्र्यंबक" (१९१०) ३४, बम्बई १०६।

उनके गुण और प्रभाव का ब्यौरा फिर से दुहरा लेना चाहिए—(क) संयुक्त या समांशिता की सम्पदा मे प्रत्येक समाशी का हित व कब्जा सम्मिलित रहता है। दूसरे, उसका अवक्रमण उत्तराधिकार से न होकर उत्तर-जीवितानुसार होता है। तीसरे, उसमें उसके सहभागियां के पुरुष वशजों का हक जन्म लेते ही पैदा हो जाता है। चौथे, बाहरी लोग उसम सहभागी कदापि नही हो सकते। पाँचवें, समांशिता वाला स्वामित्व संविदा द्वारा निर्मित नही हा सकता। छठे, अग्रेजी कानून वाले सह-आभोगी और समांशिता मे बहुत अन्तर है, जो कि पहले बताया जा चुका है। याद रखिए कि सपिण्डता की अवधारणा, जा समाशिता का आधार है, अग्रेजी कानून के लिए नितान्त अपरिचित चीज है।

(ख) पृथक् या स्वाजित सम्पदा में किसी समांशी का हक नहीं होता—पुत्र तक का नही। दूसरे, उसके प्रभु को दान, आधमन, विक्रय का पूर्ण अधिकार रहता है। तीसर, उसका विभाजन कोई नहीं करा सकता। चौथे, उसका अवक्रमण उत्तराधिकार वाले नियमानुसार होता है।

यही पर दो सम्बान्धित विषयों पर चिन्तन कर लेना चाहिए; यानी (१) उत्तर-जीविता वाले नियम की मर्यादा, (२) समांशिता तथा उसकी सम्पदा के विषय में पूव धारणाए। यह नियम ता ज्ञात ही है कि एक समांशी के मरने पर उसका जो हित सयुक्त सम्पदा म रहता है वह बचे हुए समांशियों के समूह के पास आ जाता है और इसका 'उत्तरजीविता' कहते है, जो 'उत्तराधिकार' से भिन्न होता है। मृत धनी की तीन पीढ़िया तक के पुरुष वशज उसके हित का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं। "हिन्दू विमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" सन् १९३७ के अनुसार मृत धनी की विधवा को तथा उपराक्त पुरुष वशजों की विधवाओं को भी उस हित का प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया गया था। अब मालूम देता है कि सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ६ व ३० ने उत्तरजीवी पुरुषों के हित के बराबर उपरोक्त नारियों के हित को भी कर दिया है। उत्तरजीविता का अधिकार अकाटय नहीं किन्तु विफलनीय होता है। विफलकारी परिस्थितियों के तीन प्रकार हैं—[1] एक तो, जब मृत समांशी धनी दिवालिया हो गया हो और इसलिए उसके सारे हित राजकीय समादाता (आफिशल रिसीवर) मे निहित हो चुके हों, तब उसका उत्तरजीवी उसके हित को प्राप्त नहीं कर सकता। वरंच दिवाले के रद्द हो चुके होने के बाद बची हुई सम्पदा धनी के दामाद को मिलेगी।[2] दूसरे, यदि दो मे से एक समांशी का हित उसके जीवनकाल में ही

१. मुल्ला का हिन्दू ला, पृ० ३३६।
२. "एल० चेट्टियर ब० श्री ऐयंगर" (१९३७), मद्रास २०३।

इजराय डिग्री (आज्ञप्ति के निष्पादन) की कार्यवाही मे कुर्क हो चुका हो, तो उत्तरजीवी समांशी कुर्क हित को नही पायेगा।[1] यदि कुर्की मृत धनी के जीवन काल मे ही नही हो चुकी थी तो उत्तरजीवी पूरी सम्पदा प्राप्त कर लेगा। अधमर्ण (ऋणी) यदि पिता था तब तो पूरी सम्पदा कुर्क व नीलाम हो सकती है। तीसरे, बम्बई व मद्रास प्रान्तों मे यदि एक समांशी अपने हित को बेच या रेहन कर चुका है, तो दूसरे उत्तरजीवी समांशी का वह अंश नही मिलेगा, क्योंकि उन दोनो प्रान्तों मे एक समांशी को अपने हित का रेहन वबै करने का हक होता है। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पंजाब व बंगाल मे ऐसा हक नहीं है। अतः बै या रेहन के बावजूद इन प्रान्तों मे उत्तरजीविता वाला नियम सक्रिय रहता है। याद रहे कि दान करने का हक कहीं भी समांशी को नही दिया गया है। अतः हिबा के बावजूद भी उत्तरजीविता वाला नियम लागू बना रहता है। उत्तरजीविता वाले नियम की मर्यादाएँ अच्छी तरह याद रखनी चाहिए।

उन पूर्व-धारणाओं को भी जान लेना चाहिए जो समांशिता के विषय मे अदालतें कर लेती है। वे इस प्रकार है—(१) सयुक्त कुटुम्ब हिन्दू समाज की साधारण अवस्थिति मानी जाती है। सयुक्त कुटुम्ब यदि किसी समय मे विद्यमान था तो वह आज भी संयुक्त मान लिया जायगा, जब तक इसके प्रतिकूल प्रमाण न मिले।[2] पिता-पुत्र के विषय मे यह पूर्व-धारणा प्रबलतम होती है, और प्रवर्तक पूर्वज से जितनी दूरी पर वंशजों की पीढ़ी होती जाती है, पूर्व-धारणा की प्रबलता उतनी ही घटती जाती है।[3] इसी तरह से यदि कोई सम्पदा किसी समय में संयुक्त थी तो वह आज भी सयुक्त मान ली जायगी, जब तक प्रतिकूल प्रमाण न मिले। भाइयों की सम्पदा के विषय में यह पूर्व-धारणा अधिक प्रबल और उनसे नीची पीढ़ियों के विषय में निर्बल होती जाती है।[4]

(२) कुटुम्ब की सयुक्तता से यह पूर्व-धारणा नहीं उपजती कि उसके पास सम्पत्ति भी है; या जो सम्पत्ति उसके पास है, वह सब सयुक्त है। बटवारे के मुकदमे मे किसी विशेष सम्पदा को संयुक्त अभिकथित करने वाले के ऊपर इसका प्रमाण-भार रहता है। उसको यह साबित करना चाहिए कि (अ) कुटुम्ब के पास ऐसी आय-

१. "सूरज बंसी कुँअर ब० शिवप्रसाद" ६, इ० एपील्स ८८।
"शिव महूप विक्रम सिंह ब० महन्त ठाकुरदास" (१९४०) १५, ल० ५०३।
२. "पं० मोहन लाल ब० पं० रामदयाल (१९४१) १६, ल० ७०८।
३. "ये लप्पा ब० तिमिन्ना" (१९२९) ५६, इ० एपील्स १३।
४. "नगेशर वक्त सिंह ब० गनेशा" (१९२०) ४७, इ० एपील्स ५७।

प्रद सम्पदा थी जिसके सहारे विवादग्रस्त सम्पत्ति पैदा की जा सकती थी; या (आ) वह सम्पत्ति सयुक्त निधि से ली गयी थी; या (इ) सारे कुटुम्ब के श्रम से वह पैदा की गयी थी। प्रमाणभार विवर्तनशील होता है। यदि ऐसी मौलिक सम्पत्ति कुटुम्ब के पास मौजूद थी, जो अन्य सम्पत्ति के अर्जन का उपयुक्त साधन बन सकती थी, तो प्रमाणभार विवर्तित होकर उस पक्ष पर चला जाता है जो विवादग्रस्त सम्पत्ति को स्वार्जित बताता है। ध्यान रहे कि मौलिक सम्पत्ति का मूल्यवान् होना पर्याप्त नहीं होता, उसको आयप्रद होना चाहिए और वह आय साधारण व्यय से फाजिल भी होनी चाहिए।

(३) यह देखा गया है कि कुटुम्ब का कोई सदस्य अपना अलग व्यवसाय खोल कर स्वार्जित धन व सम्पत्ति संचित कर लेता है। उस धन को जब तक वह कौटुम्बिक निधि में विलयित नहीं करता या यह बात साबित नहीं होती कि उस व्यवसाय में लगी हुई पूजी संयुक्त कुटुम्ब की थी, तब तक वह धन या सम्पत्ति उसी सदस्य की स्वार्जित सम्पदा मानी जायगी।

(४) एक बार विभाजन हो जाने के बाद प्रमाणभार उस पक्ष के ऊपर आ जाता है जो यह अभिकथन करता है कि अमुक सम्पदा अविभाजित छूट गयी थी।

(५) प्रमाणभार एक निर्णायक कारक तभी हो सकता है, जब दोनों पक्षों की गवाही बराबर ताकत की हो और उससे कोई निश्चित निष्कर्ष न निकलता हो।[१]

पैतामहव्यापार या धन्धा

पूर्व-धारणाओं के ऊपर इतना विचार कर लेने के बाद, संयुक्त कौटुम्बिक विधि की एक अन्य शाखा के ऊपर ध्यानपूर्वक चिन्तन कर लेना आवश्यक है, क्योंकि तत्सं-बन्धित विवाद अदालत में आये दिन पहुँचा करते हैं, अतः वह महत्त्वपूर्ण हो गया है। वह है पैतामह व्यापार या कौटुम्बिक वाणिज्य। पैतामह व्यापार पैतामही सम्पदा की एक ऐसी प्रजाति होता है जिसमें संयुक्त कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य जन्म लेते ही समांशी बन बैठता है। यहाँ पर उपरोक्त पूर्व-धारणा नं० (३) को याद रखना आवश्यक है। सामान्य साझेदारी में और इसमें दो अन्तर हैं—एक तो किसी साझेदार यानी समांशी की मृत्यु के कारण उसका विघटन नहीं हो जाता। दूसरे, बिना कोई कृत्य किये ही संयुक्त कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य उसमें साझेदार बन जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि साझेदारी वाले माल-सामान के अतिरिक्त, संयुक्त कुटुम्ब की अन्य सम्पत्ति भी उन ऋणों तथा हानियों के लिए देनदार हो जाती है जो प्रबन्धकों ने व्यापार के लिए

१. जी० सी० सरकार कृत हिन्दू ला, पृ० ४१७–२३।

उठाये हों। सन् १९३२ वाले "इण्डियन पार्टनर शिप ऐक्ट" द्वारा नहीं, किन्तु हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब सम्बन्धी नियमों के अनुसार ऐसे व्यापार धन्धे के विवाद निर्णीत होने चाहिए।[1]

क्या विवाहित पुत्रियों तथा उनके घरजमाई पतियों की शिरकत (हिस्सेदारी) से ऐसे धन्धे का रूप सयुक्त कौटुम्बिक धन्धे से बदलकर एक सामान्य साझेदारी वाला बन जाता है? नहीं,[2] यदि उसकी आय संयुक्त कुटुम्ब के खर्च में आती रहती हो, क्योंकि घरजमाई वाली प्रथा संयुक्त कुटुम्ब से असंगत नहीं होती।[3] ऊपर यह कहा गया है कि धन्धे के ऋण की देनदारी सारी कौटुम्बिक सम्पत्ति के जिम्मे होती है, जिसमें प्रबन्धक या प्रबन्धकों के भी अंश आ जाते हैं। संयुक्त सम्पत्ति के अतिरिक्त प्रबन्धकों की व्यक्तिगत सम्पदा भी उस ऋण की दायी मानी जाती है; किन्तु अन्य समांशियों की नहीं। यदि अन्य समांशियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी दायी बनाना हो, तो यह साबित करना होगा कि अन्य समांशियों ने संविदा का अनुसमर्थन किया था, या वे लोग परोक्ष रूप से अनुबन्ध के पक्ष में थे।[4] किन्तु यह नियम अवयस्क समांशी पर तभी लागू हो सकता है, जब कि वयस्कता प्राप्त कर चुकने पर वह साझेदारी को अंगीकार कर ले।[5] पैतामह धन्धे और नवीन धन्धे में अन्तर है। नवीन धन्धे के ऊपर विचार करने के पहले यह ज्ञातव्य है कि पितामह द्वारा आयोजित नया धन्धा भी तब पैतामह व्यापार बन जाता है, जब उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र या पौत्र उत्तराधिकार में पाकर उसको चलाते रहते हैं।[6]

संयुक्त कुटुम्ब के प्रबन्धक या कर्त्ता को **नवीन धन्धे** के निमित्त ऋण लेकर उसका दायित्व अवयस्क समांशी पर लाद देने का अधिकार नहीं होता, चाहे पिता ही प्रबन्धक हो।[7] वयस्क सदस्य भी उसके देनदार नहीं बनाये जा सकते, जब तक या तो उनकी

१. "नच्छिअप्पा ब० मुट्टूकरप्पन (१९४६), मद्रास ८५८।
२. "एन०सी० साह ब० एल० एम० बी० सिन्हा" (१९३८) २, कलकत्ता ३५८।
३. जी० सी० सरकार कृत हिन्दू ला, १३०–१३१।
४. "शिव चरनदास ब० हरीराम" (१९३६) १७, लाहौर ३९५।
"शामराव ब० सरस्वती बाई" (१९५३), नागपुर ३६४।
५. "विशम्भर ब० फत्ते" (१९०७) २९, इलाहाबाद १७६।
६. "हरीशंकर ब० राम" (१९३८), लाहौर ११३।
"जगदीश ब० अम्बाशंकर" (१९३४), बम्बई ३२४।
७. "एस० सी० मंडल ब० कृष्णधन बनरजी" (१९२२) ४९, इ० ए० १०८।
"बनारस बैंक लिमिटेड ब० हरीनारायण" ५९, इ० एपील्स ३००।

सहमति न ली गयी हो—जो कि उपलक्षित या प्रत्यक्ष हो; या वयस्क समांशियों ने उसको अंगीकार करके उसके लाभ का भोग न किया हो; या उसको प्रचलित रखना कुटुम्ब के लिए प्रलाभकारी न साबित हुआ हो।[1]

यहाँ पर दो-एक बारीकियाँ ध्यानाकर्षक हैं। पहली यह कि यदि एक एकल उत्तरजीवी समांशी नया धन्धा खोल ले, तो क्या बाद मे जन्म लेने वाले पुत्र-पौत्र उसके दायित्व से इन्कार कर सकते है ? देखिए, धन्धे के सस्थापक को सम्पदा में पूर्ण अपवर्जी अधिकार प्राप्त थे। उस समय उसका कोई सहभागी नहीं था। पश्च-जन्मित पुत्र उस धन्धे के संस्थापन में ननु-नच नहीं कर सकता। उसके पैदा होने के पहले ही वह कुटुम्ब का धन्धा बन चुका था। अत: उसका दायित्व उसे लेना ही पड़ेगा। दूसरे, यदि कर्ता किसी गैर की साझेदारी में धन्धा खोल देता है तो उस पर "हिन्दू ला" लागू होगा या "इण्डियन पार्टनरशिप ऐक्ट ?" उस धन्धे पर यह द्वितीय अधिनियम लागू होगा, क्योंकि यद्यपि कर्ता सयुक्त कुटुम्ब के प्रति उत्तरदायी है, तथापि साझेदारी में केवल वह और गैर आदमी ही भागीदार बने हैं। इनमें से किसी के मरते ही साझेदारी टूट जाती है। कर्ता के मरने पर तो समांशीगण उस दूसरे साझेदार से धन्धे को जारी रखने का आग्रह नहीं कर सकते। न वह उनसे हानि को भरने का आग्रह कर सकता है।[2] किन्तु कौटुम्बिक धन्धा या तत्सम धन्धा चलाने के लिए यदि कर्ता एक गैर के साथ साझेदारी कर लेता है तो सब समांशी देनदार बन जायेंगे, यद्यपि उनका दायित्व केवल उनके कौटुम्बिक अंशों तक सीमित रहेगा। एक अन्य रोचक परिस्थिति पैदा हो सकती है। मान लीजिए कि कर्ता कुटुम्ब की तरफ से एक समांशी के साथ व्यक्तिगत रूप में एक साझेदारी खड़ी करता है। ऐसी सूरत में वह समांशी मजे में रहेगा। समांशी के रूप से वह साझेदारी के लाभ में भाग लेगा और साझेदार के रूप से भी उसके लाभ में हिस्सा बँटा लेगा।[3]

नवीन धन्धा

अब नवीन धन्धे की परिभाषा का विचार करना चाहिए। मान लीजिए कि राम गेहूँ, चना, जौ की आढ़त का पैतामह व्यापार करता है। यदि वह मक्का, बाजरा,

१. "बाबूलाल ब० बाबूलाल" (१९४१), इलाहाबाद ३४३।
"महाबीर प्रसाद ब० अमला प्रसाद" (१९२४) ४६, इलाहाबाद ३६४।
२. "खरीदार कपड़ा कं० ब० दयाकिशन" (१९२१) ४३, इलाहाबाद ११६।
३. "लाला लछमनदास ब० कमिश्नर आव इ० टैक्स" (१९४७) ७४, इ० एपील्स २७७।

जुआर की भी आढ़त खोल ले तो क्या वह एक नया धन्धा कहलायेगा ? नहीं, क्योंकि दोनों ही अनाज के व्यापार हैं। दोनो में केवल जिन्स का भेद है।[1] मान लीजिए कि राम काँसे के थाल कटोरे पतीलों की दूकान किये है। अब वह पीतल के बटुले, परात व लोटों को भी बेचने लगा है। क्या उसने नया धन्धा आरम्भ कर दिया ? नहीं, क्योंकि ठठेरे ही दोनों प्रकार के बरतन गढ़ते हैं।[2] यदि कुटुम्ब की जीविका व्यापार है, तो व्यापार का विस्तार नया धन्धा नही कहलायेगा। परन्तु शर्त यह है कि विस्तृत धन्धा पुराने धन्धे की अपेक्षा अधिक जोखिम का न हो।[3] प्रत्येक 'वाद' में यह कानून का नहीं तथ्य का प्रश्न होता है कि अमुक धन्धा मौरूसी है या नया? इसके अन्य उदाहरण ये हैं—राम एक धन्धा करता है। कुछ काल तक वह स्थगित रहता है। राम के मरने पर उसका पुत्र उसी धन्धे को फिर चलाने लगता है। इस दशा में वह नया धन्धा नहीं माना जायगा। फर्म का नाम बदल कर पुराने धन्धे को ही प्रचलित रखना यह नया धन्धा नहीं कहा जा सकता। मौरूसी धन्धे में यदि विदेश को माल नही निर्यात हुआ करता था, तो अमेरिका के लिए माल भेजने वाला धन्धा एक नवीन धन्धा हो जायगा।[4]

संयुक्त संपत्ति के उपयोग की व्यवस्था

यहाँ तक समांशिता तथा संयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा और सम्पदा के अन्तर्गत व्यापार के विषय में सविस्तर विचार हो गया। इस प्रकरण में ही उस सम्पदा के प्रबन्ध तथा सेवन व भोग की विधि के ऊपर विचार कर लेना अधिक क्रमजनक, सुविधाजनक और सुसंगत होगा; क्योंकि यहाँ पर यह जिज्ञासा करना स्वाभाविक है कि ऐसी विचित्र संस्था में व्यवस्था बनाये रखने के हेतु कौन से नियमों और रीतियों की रचना अतीत में की गयी थी, कौन अधिकार समांशियों के तथा गृहपति या कर्ता के विहित किये गये थे। मनु ने कहा है—

> भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
> यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्॥ (८,४१६)

१. "भगवान सिंह ब० बिहारी लाल" (१९३८), नागपुर २२१।
२. "बहादुर सिंह ब० गिरधारी लाल" (१९४२), नागपुर ५४३।
३. "देसू रतम्मा ब० नारायण" (१९४७), मद्रास ५६७।
४. जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, २६३–६७।
जे० डी० एम० डेरेट प्रणीत माडर्न हिन्दू ला, ३४६–५२।

और इस वाक्य के अनुसार गृहपति अपवर्जी रूप से सारी सम्पत्ति का स्वामी होता है। उसका परम स्वतंत्र शासन सारे कुटुम्ब को वश में तथा अनुशासन में रखता है, उसकी आज्ञा अनवहेलनीय और उसका निर्णय अकाट्य होता है। उसका शासन प्रसन्नतापूर्वक तभी तक अंगीकृत बना रहता है, जब तक वह सर्वहिताय के भाव से और औचित्य, निष्पक्षता, न्याय तथा शुद्ध अन्तःकरण वाले आदर्शों से प्ररित तथा अनुप्राणित होता रहता है। जब गृहपति इस सन्मार्ग से विचलित हो जाता है तो उसका निरंकुश शासन असह्य और अग्राह्य बन जाता है। मालूम पड़ता है कि समयान्तर में स्वतन्त्राधिकारी गृहपति गण मदान्ध और पथभ्रष्ट होने लगे और बहुविवाह वाली प्रथा ने उनकी समानता व न्यायशीलता को कलुषित करना आरम्भ कर दिया। उनकी कुप्रयोजित शक्ति को सीमित करने और उनके असीम अधिकारों को मर्यादित करने का समय आया देख विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में कुछ सुधार प्रविष्ट किये, यथा 'जन्मस्वत्ववाद', 'पिता-पुत्र का समान अंश', 'असमान विभाजन का निषेध'। विज्ञानेश्वर को ऐसा विश्वास था कि कुप्रथाओं को सुधारने के बाद परम्परागत संयुक्त कुटुम्ब की प्राचीन तथा हितकर परिपाटी को जीवित रखने में जनता का कल्याण है। अनुशासनप्रियता तथा अन्य नागरिक सद्गुणों को हृदयंगम कराने का सुगम उपाय है हजारों लाखों सुव्यवस्थित कुटुम्बों का सारे देश में प्रसार। यही सोचकर उन्होंने पितारूपी अध्यक्ष के अधीन कुटुम्ब रूपी छोटी-छोटी गणतंत्रीय मण्डलियों को अक्षुण्ण बनाये रखा। लोक-कल्याणाकांक्षा में सराबोर बड़ी सजगता और एकाग्रता के साथ उन्होंने नाना प्रकार की संभाव्य समस्याओं के गवेषणायुक्त समाधान निकाले और समांशियों तथा गृहपति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को निर्धारित कर दिया। उन्हीं अधिकारों और कर्त्तव्यों का अब यहाँ अध्ययन करना है।

विषयान्तर तो होगा, किन्तु एक विचार का यहीं पर उल्लेख कर देना वांछनीय लगता है। इधर विज्ञानेश्वर के मन में पिता के असीमित अधिकार के कुपरिणाम खटके, उधर जीमूतवाहन को पुत्र-पौत्रों की असंयतता, विशृंखलता, अवमानना ने संतापित कर दिया। उन्होंने देखा कि अपव्ययी पुत्र-पौत्रादि पितरों से लड़ते-झगड़ते हैं, हिस्सा-बाँट कराकर पैतृक सम्पदा को अल्प काल में ही उड़ा डालते हैं, जिसका फल यह होता है कि ममतावश उनका व उनके परिवार का भरण-पोषण पिता आदि को ही बची-खुची सम्पदा से करना पड़ता है। अतः उन्होंने 'उपरम-स्वत्ववाद' का प्रतिपादन किया। किन्तु उन्होंने भी संयुक्त कुटुम्ब की प्राचीन प्रणाली का विघटन नहीं किया। साथ ही साथ पिता की निरंकुशता को प्रतिबन्धित करने की आवश्यकता उनको भी प्रतीत

हुई। इसलिए दायभाग में यह विहित किया गया है कि केवल वैध आवश्यकता के लिए ही गृहपति संयुक्त सम्पदा का हस्तान्तरण कर सकता है। यह बात दोहराने योग्य है कि संयुक्त कौटुम्बिक जीवन स्वभावतः जितना सयुक्त दायित्व की भावना को उभारता है, उतना पृथक् महत्वाकांक्षा को जागृत नहीं करता। उसके सदस्य जितनी अधिक सतुष्टि सुख-दुःख की सहभागिता से प्राप्त करते है उतना आग्रह अपने हकों के उपोद्वलन में नहीं करते।

समांशियों के हक कई प्रकार के होते है। (क) एक तो सब के सब समांशी संयुक्त स्वामित्व और सयुक्त कब्जे को धारण करते है। अतः शामिलाती दशा में कोई समांशी यह नही कह मकता कि संयुक्त सम्पत्ति या उसकी आमदनी में मेरा इतना भाग है। सारी आमदनी इकट्ठी होनी चाहिए और संयुक्त कोष में से समांशियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में गृहपति के विवेकानुसार खर्च होनी चाहिए।[१] यह ज्ञातव्य है कि गृहपति कोई विशिष्ट सम्पत्ति किसी एक समांशी को इस निमित्त से सौंप दे सकता है कि वह अपना भरण-पोषण उसकी आय से करे; और यदि वह कुछ बचत कर लेता है या उस बचत से कोई जायदाद खरीद लेता है, तो वह उसी की हो जाती है।[२] यह भी ज्ञातव्य है कि यदि कोई समांशी सम्पदा के उपभोग से अपवर्जित रखा जाता है, तो विभाजन कराना, या अपने शामिलाती कब्जे का दावा करना दोनों उपाय उसको उपलब्ध होते है। अर्थात् संयुक्तता के विघटन के लिए वह विवश नहीं किया जा सकता है।[३] तीसरी ज्ञातव्य बात यह है कि स्वेच्छा पूर्वक अलग रहकर अपना स्वतत्र कालक्षेप करने और सम्पदा से बलात् अपवर्जित होने में बहुत अन्तर होता है। पूर्वोक्त दशा मे "इण्डियन लिमिटेशन ऐक्ट" के अं० नि० १२७ के अनुसार बारह वर्ष के बाद दावा मियाद-आरिज (कालातीत) नही होगा, किन्तु दूसरी दशा में दावा मियाद-आरिज हो जायगा।[४]

(ख) प्रत्येक समांशी को भरण-पोषण का हक होता है। गृहपति को चाहिए कि बाल-बच्चों समेत सब पुरुष समांशियों का भरण-पोषण समान रूप से करे, और विधवाओं का भी उतना ही ध्यान रखे।

(ग) प्रत्येक समांशी, जो वयस्कता पर पहुँच गया हो, विभाजन की माँग कर

१. "अप्पोवियर ब० राम" (१८६६) ११, मूर्स, इ० एपील्स ७५।
२. "रमैया गौन्दन ब० कौलन्द गौन्दन इ०" (१९४०), मद्रास ३२२।
३. "नारायण भाई ब० रणछोड़" (१९०२) २६, बम्बई १४१।
४. "सीतल प्रसाद ब० राम प्रसाद" (१९४४), नागपुर १७।

सकता है और साथ ही जमा-खर्च का हिसाब तलब कर सकता है। जहाँ-जहाँ मिताक्षरा का प्रचलन है, यह नियम सिवा बम्बई के सब जगह लागू है। बम्बई में यदि पिता-पितामह सम्मिलित हों तो पौत्र बिना पिता की सहमति के बटवारा नहीं करा सकता। यदि पिता अलग है तो सहमति जरूरी नहीं है। बिना बटवारे के भी, परस्पर समझौते द्वारा समांशी लोग अलग-अलग सम्पदाओं पर कब्जा करके सेवन कर सकते हैं और कुछ समय बाद उसको मिटाकर दूसरी तरह का समझौता कर सकते हैं।

(घ) पिता तो स्वाभाविक गृहपति है ही। कोई अन्य समांशी भी उस पद पर आसीन हो सकता है यदि औरों को सक्रिय आपत्ति न हो। सामान्य कर्त्ता को सम्पदा को हस्तान्तर करने के कतिपय अपवर्जी अधिकार हासिल होते हैं, किन्तु पिता को उससे भी अधिक प्राप्त हैं। ये अधिकार प्रतिबन्धित होते हैं जिसकी मर्यादा आगे बतायी जायेगी।

(ङ) एक समांशी दक्षिण भारत में तो अपना अविभाजित हित रहन-बै कर सकता है, किन्तु अन्य प्रान्तों में नहीं। किसी भी प्रान्त में वह उसका दान या हिबा नहीं कर सकता।

(च) उसका हक है कि अपने जीते जी मृत समांशियों के हितों का, उत्तरजीवी के नाते, उतना आनुपातिक अंश प्राप्त करता जाय, जितना उसके उस भावी भाग को परिवर्धित करने के निमित्त पर्याप्त हो, जो बटवारे के अवसर पर उसे मिलने को है।[1]

सामान्य समांशियों के ये हक और हिबा, बै, रहन करने का अनधिकार स्पष्ट कर दिये गये। अब यह भी ज्ञातव्य है कि उसको न तो प्रतिभूत्व की संविदा करने का हक है और न यह हक है कि अन्य समांशियों की सहमति बिना कोई ऐसा निर्माण करे या सम्पदा की दशा में कोई ऐसा हेर-फेर करे जिससे अन्य समांशियों के उपभोग में विघ्नबाधा पड़े। अब कर्त्ता या प्रभु या गृहपति के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का मनन करना उपयोगी होगा।

संयुक्त सम्पदा का प्रबन्ध समांशियों में से किसी एक के जिम्मे रहता है, जिसको कर्त्ता या गृहपति या मैनेजर कहते हैं। मैनेजर शब्द भी इतना अधिक और इतने काल से प्रचलित है कि उसका तात्पर्य अनपढ़ और ग्रामीण भी समझते हैं। मैनेजर बहुधा पिता हुआ करता है। मैनेजर को न तो सम्पदा में कोई उच्चतर अधिकार होते हैं और न उसके उपभोग में। वह आय-व्यय पर नियंत्रण रखता है और बचत की अभिरक्षा करता है। व्यय की साधारण मदें हैं धार्मिक क्रिया, भरण-पोषण, शिक्षण, विवाह,

१. देखिए प्रोफेसर जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० २५०।

उपनयनादि संस्कार। नैतिक महत्व की बात यह है कि यदि राम का परिवार उसके भाई श्याम से दुगना बड़ा हो, तो न राम ईर्षा करता है न यह संताप करता है कि उसके ऊपर दुगना व्यय हो रहा है। मैनेजर बचत करने के लिए एक न्यासी की भाँति विवश नहीं होता, और न बटवारे के वक्त विगत या उस आमदनी के लिए उत्तरदायी होता, जो उससे अधिक चतुर मैनेजर उपार्जित कर सकता हो।[१] उसने यदि गवन या छल-कपट नहीं किया है, तो वह मात्र उतनी रकम के लिए दायी है, जो वस्तुतः उसके हाथ में आयी थी। एक बार जब बटवारे का दावा दायर हो जाता है तब स्थिति बदल जाती है। मैनेजर को अदालती "रिसीवर" की तरह पाई-पाई के हिसाब का दायित्व झेलना पड़ता है और बाकी रकम का वह देनदार हो जाता है। क्योंकि दावे की तिथि से संयुक्त कुटुम्ब का विघटन हो चुकता है। याद रखिए कि कुप्रबन्ध को बन्द करने का उपाय है बटवारा। यदि इस उपाय को समांशी गण अमल में नहीं लाते, तो कुव्यवस्था में उनकी मौन स्वीकृति समझी जाती व पुराने हिसाब को तलब करने के हक से वे वंचित कर दिये जाते है।

संयुक्त धन्धे या नये धन्धे के निमित्त मैनेजर किस सीमा के भीतर तथा किन परिणामों के साथ ऋण ले सकता है, इस पर ऊपर विचार कर चुके हैं। उसको संयुक्त कुटुम्ब के प्रयोजनों के लिए भी ऋण उगाहने का अधिकार होता है और वह ऋण कुटुम्ब को बटवारे के पूर्व तथा पश्चात् भी बद्ध कर सकता है।[२] किन्तु ऋण के समर्थन का प्रमाणभार उत्तमर्ण या महाजन के ऊपर रहता है। यह जाहिर है कि प्रोनोट के आधार पर दावा केवल लिखने वाले पर किया जा सकता है। किन्तु उस दशा में क्या होगा यदि मैनेजर की हैसियत से संयुक्त कुटुम्ब के प्रयोजनार्थ या संयुक्त कुटुम्बी धन्धे के लिए प्रोनोट उसने लिखा हो? महाजन को दावे में समांशियों को भी मुद्दाअलेह बनाने की छूट है, अन्यथा उसको यह घोषणात्मक आज्ञप्ति लेनी पड़ेगी कि सारा कुटुम्ब दायी है।[३] उसने यदि दावा बटवारे के बाद दायर किया है तब तो समांशियों को उसे प्रतिपक्षी अवश्य बनाना चाहिए। यह बात याद होगी कि अन्य समांशियों की देनदारी उनके उस अंश तक ही सीमित रहती है जो उनका संयुक्त सम्पदा में हो। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति दायी नहो होती है। इसके विपरीत मैनेजर की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी दायी हो सकती है।

१. "सुखदेव ब० वासुदेव" (१९३५) ५७, इलाहाबाद ९४९।
"जोती बाई ब० लक्ष्मेश्वर" (१९२९) ८, पटना ८१८।
२. "बांकेलाल ब० दुर्गाप्रसाद" (१९३१) ५३, इलाहाबाद ८६८।
३. "कृष्णानन्द ब० राजाराम सिंह" (१९२२) ३४, इलाहाबाद ३९३।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि बेचारे मैंनेजर से यदि ऐसा ऋण पूर्णतया वसूल कर लिया जाय तो उसके हित के लिए क्या उपचार है? यदि उसने ऋण कौटुम्बिक प्रयोजन या धन्धे के निमित्त उगाह कर उसी निमित्त प्रयुक्त भी किया है, तो वह अन्य समांशियों से अंशदान करा सकता है, अर्थात् फांटबन्दी करके उनसे वसूल कर सकता है। इस तरह के अशदान की मियाद उस तारीख से लगायी जाती है जब उगाही हुई राशि कुटुम्ब के निमित्त व्यय हुई थी, न कि उस तारीख से जब अकेले मैंनेजर से पूरा ऋण वसूल कर लिया गया था। अंशदान के लिए वादमूल या बिनाय मुखासमत पूर्वोक्त मियाद पर पैदा हो जाता है न कि दूसरी पर।[1]

कुटुम्ब क कर्ता के अधिकार

जहाँ पर सयुक्त कुटुम्ब कोई व्यापार कर रहा है, वहाँ क्या उसको चालू रखना सम्भव है? यदि प्रत्येक छोटी और बड़ी बात के लिए, या व्यापार में आये दिन उठने वाले सैंकड़ों झझटों को सुलझाने के लिए, या सहस्रों समस्याओं के ऊपर निर्णय लेने के लिए सकल समांशियों की पूरी बैठक हर बार बुलानी पड़े; या हर एक अदालती मामले में, जो बाहरी लोगों के साथ किया जाय, पूरे निकाय को पक्षधारी बनना और उपस्थित रहना पड़े। इसलिए कुटुम्ब के मैंनेजर को उसका प्रतिनिधि मान लिया गया है और उसको व्यापक अधिकार दे दिये गये है; यथा ऋण उगाहना, संविदा करना, पावनों (प्राप्त रकमों) की रसीद देना, सुलह करना, बेबाकी प्रदान करना, इत्यादि।[2] कौटुम्बिक धन्धे और कौटुम्बिक प्रयोजन के लिए ऋण लेने के अधिकार से भी अधिक महान् है कुटुम्बी सम्पदा को अन्य-सक्रान्त कर डालने का अधिकार। उसका विवरण यह है—

"हनुमान प्रसाद ब० मु० बबुई"[3] वाले निदेशक मुकदमे में प्रिवी कौंसिल ने ये बातें निर्णीत कर दीं है—मैंनेजर को सम्पदा अन्य-संक्रान्त कर डालने का अधिकार केवल आवश्यकता वश ही प्राप्त है, यथा—(क) सम्पदा के हित के लिए, (ख) नेकनीयत संक्रान्तिग्राही इस बात से नुकसान नहीं उठा सकता कि आवश्यकता का मूल

१. "अघोरनाथ ब० गिरीशचन्द्र" (१८९३) २०, कलकत्ता, १८।
२. "किशनप्रसाद ब० हरनाथ सिंह" (१९११) ३३, इलाहाबाद २७२।
"रतीराम ब० नैंदर" (१९१९) ४१, इलाहाबाद ४३५।
"भगवान सिंह ब० बिहारीलाल" (१९३८), नागपुर २२१।
३. "हनुमान प्रसाद ब० मु० बबुई" (१८५६) ६, मूर्स, इ० एपील्स ३९३।

कारण था प्राचीन कुप्रबन्ध; यदि संक्रमण ऐसे रूप का है जिसे कोई भी विवेकी प्रभु उचित समझता, (ग) मुख्य विचारणीय विषय हैं एक तो यह कि कौन से खतरे से बचना वांछित था, दूसरे, सम्पदा को कौन-सा दबाव कुचले डालता था, तीसरे, सम्पदा को संक्रमण से कितने अंश में लाभान्वित होने की प्रत्याशा थी ? (घ) संक्रान्तग्राही का यथासंभव इतनी जाँच करने का तो कर्त्तव्य अवश्य है कि क्या कथित आवश्यकता विद्यमान है और क्या संक्रमणकर्ता सम्पदा का हितैषी है? (ङ) इतनी जाँच कर लेने के बाद यदि आगे चलकर कथित आवश्यकता झूठ निकलती है, तो नेकनीयत संक्रान्त-ग्राही को कोई दुष्परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा। (च) संक्रान्तग्राही का यह भी निगरानी करने का कर्तव्य नहीं है कि ऋण का उपयोग वास्तव में कथित आवश्यकता के लिए किया गया था। बाद वाली कई नजीरों में इन छः सिद्धान्तों का प्रयोग उन अन्य संक्रमणों पर भी किया गया है जो संयुक्त कुटुम्ब के या धार्मिक संस्थाओं के मैनेजरों द्वारा किये गये थे; यद्यपि हनुमानप्रसाद वाले मुकदमे में अन्य-संक्रमण एक अवयस्क की माता ने मैनेजर के नाते किया था।

वैधिक आवश्यकताएँ कौन-सी हैं जिनसे मैनेजर द्वारा किये हुए कौटुम्बिक सम्पदा के अन्य-संक्रमण को समर्थन मिलता है ? साधारणतः वे निम्नोक्त है—

(१) सरकारी मालगुजारी व सयुक्त कुटुम्ब का ऋण, (२) समांशियों तथा उनके बालबच्चों का पालन पोषण, (३) पुरुष समांशियों का विवाह और उनकी पुत्रियों का विवाह, (४) आवश्यक सस्कारों का निष्पादन, (५) सयुक्त सम्पदा के प्रत्यादान या संरक्षण के लिए आवश्यक मुकदमेबाजी का खर्च, (६) सगीन जुर्म में फँसे गृहपति या अन्य समांशी की प्रतिरक्षा का खर्च, (७) संयुक्त धन्धे या अन्य आवश्यक प्रयोजनों के निमित्त लिये गये ऋणों की अदायगी।[1] यहाँ पर यह सिद्धान्त उल्लेख्य है कि सक्रान्तधारी अपने कर्त्तव्य का पालन कर चुकता है यदि वह अव्यवहित आवश्यकता की जाँच करके कर्ज देता है, और वह अपने प्रमाणभार से मुक्त हो जाता है जब यह साबित कर चुकता है कि कथिक आवश्यकता मौजूद थी। उससे यह प्रत्युत्तर देकर छुटकारा नहीं मिल सकता कि अव्यवहित आवश्यकता या कर्ज उगाहने की जरूरत मैनेजर की बद-आदतों से या बद-इन्तिजामी से पैदा हो गयी थी।[2]

सम्पदा का हित, इस वाक्यांश का क्या आशय है ? याज्ञवल्क्य ने इसको "कुटुम्बार्थ" की संज्ञा दी है। यथा—

१. जी० सी० सरकार कृत हिन्दू ला, पृ० २९०।
मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृ० ३६५।

२. "नीलाद्रि साहु ब० चतुर्भुज दास" (१९३६) ५३, इ० एपील्स २५३।

अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत्।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ।। (या० २–४५)
कुटुम्बार्थम अशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा।
उपप्लवनिमित्ते च विद्यादापत्कृतं तु तत् ।।
कन्यावैवाहिके चैव प्रेतकार्ये च यत्कृतम् ।
एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं प्रभोः ।। (कात्यायन)

उपरोक्त वाक्यांश की परिभाषा और व्याख्या धर्मशास्त्रों के अन्दर न पाकर प्रिवी कौंसिल ने उसके आशय को प्रकट करने का प्रयास "पालानिअप्पा ब० देवशिखामणि"[1] नामक मुकदमे में किया, किन्तु उन्होंने साफ कह दिया (जैसा कि स्पष्ट भी है) कि निश्शेषी (परिपूर्ण) सूची तैयार करना असम्भव है। क्योंकि प्रत्येक मामले में परिस्थितियों, तथ्यों तथा वातावरण के ऊपर गौर किये बिना यह कहा नहीं जा सकता कि देश, काल, अवसर के हिसाब से वादग्रस्त संक्रमण संयुक्त सम्पदा के लिए हितकर था या नहीं। उन्होंने कहा है—"सम्पदा को विनाश से बचाना, विरोधी मुकदमेबाजी में उसकी प्रतिरक्षा करना, क्षय या जलप्लावन या क्षति से उसे या उसके भाग का त्राण करना; इनका तथा ऐसे ही कर्मों का उक्त वाक्यांश द्योतक होता है। हित और हितविहीन के बीच रेखा खींच कर दोनों बातों को बिलग कर देना दुःसाध्य है।" इस अधिघोषणा के प्रयोग में हाई कोर्टों के बीच मतभेद की तारतम्यता बंध गयी। इलाहाबाद के हाई कोर्ट की फुल बेन्च[2] ने अपने यहाँ की तीन पूर्व-नजीरों के इस मत से असहमति प्रकट कर दी कि जो संक्रमण संरक्षी स्वभाव का न हो, वह हितकर नहीं माना जा सकता। फुल बेंच वाली नजीर का निर्णय यह हुआ कि संरक्षी वाली शर्त अनिवार्य नहीं है, अपितु असली शर्त यह है कि यदि कोई दूसरा विवेकी प्रभु होता तो वह भी देश, काल, अवसर, परिस्थिति, तथ्य, वातावरण पर विचार करने के बाद वैसा संक्रमण कर डालता। मद्रास हाईकोर्ट ने उपरोक्त फुल बेंच का अनुसरण किया है।[3] बम्बई हाई कोर्ट का मत यह है कि संक्रमण को संरक्षी स्वभाव या प्रतिरक्षी रूप का होना चाहिए; अतः सम्पदा को मैनेजर इस हेतु हस्तान्तरित नहीं कर सकता कि उसकी कीमत को अधिक मुनाफे वाली सम्पत्ति में विनिहित कर देगा।[4] पटना हाई

१. ४४, इ० एपील्स १४७।
२. "जगतनारायण ब० मथुरादास" (१९२८) ५०, इलाहाबाद ९६९।
३. "सेलप्पा ब० सुप्पन" (१९३७), मद्रास ९०६।
४. "क्षेमराज ब० नाथू" ५९, बम्बई ५२५।

कोर्ट ने इलाहाबाद वाली फुल बेंच का अनुसरण किया है।[1] मध्य प्रदेश की सहमति बम्बई से है।[2] अवध चीफकोर्ट ने विवेकी प्रभु या मैनेजर की नीयत को कसौटी ठहराया है।[3] इलाहाबाद व मद्रास हाई कोर्टों ने अपने इस मत को दोहराया है कि यदि मैनेजर का अधिकार प्रतिरक्षी कृत्यों (संक्रमण) तक परिसीमित कर दिया जाय तो उद्योग का शमन तथा कुटुम्ब की उन्नति का अवरोध हो जायगा।[4] यदि सुप्रबन्ध के निमित्त संक्रमण करना आवश्यक हो तो उसको अधिकृत समझना चाहिए।[5]

अभी तक पूर्णतया समर्थनीय संक्रमणों के ऊपर विचार हो रहा था। ऐसे भी अन्य-संक्रमण देखने में आते हैं जो अंशतः समर्थनीय होते हैं, अर्थात् जिनके द्वारा संगृहीत निधि का एक अंश ही कौटुम्बिक प्रयोजन या सम्पदा के हित के निमित्त प्रयुक्त किया जाता है। अब ऐसे मामलों पर गौर करना चाहिए। इसके पूर्व यह सोचना है कि "कुटुम्बार्थम्" की परिभाषा तथा एक निश्शेषी (पूरिपूर्ण) सूची क्यों नहीं धर्मशास्त्रों या प्रिवी कौंसिल की नजीर में पायी जाती है। कारण यह लगता है कि प्रत्येक मामले में सक्रमण सम्बन्धी तथ्य, अवस्थिति, वातावरण भिन्न प्रकार के होते हैं और वे समर्थनीय हैं या नहीं इसका निर्णय उन सब बातों के एवं देश, काल, अवसर के ही आधार पर किया जा सकता है। मतलब यह है कि "कुटुम्बार्थम्" वाला वादपद कानून का नहीं; तथ्य का प्रश्न है। अतः उसका फैसला नजीरों के अवलम्ब से नहीं होना चाहिए।

अंशतः समर्थनीय संक्रमण या तो बैनामा होता है या रेहननामा। दोनों में भेद है।[6] रेहन में जो चीज प्रभावग्रस्त होती है वह है प्रतिभूति और उसके दावे में बिना दिक्कत के डिग्री केवल उतनी रकम की दी जा सकती है जो कौटुम्बिक प्रयोजन के या सम्पदा के हित के निमित्त ली गयी हो, अथवा उत्तमर्ण (महाजन) द्वारा की गयी जाँच व परिपृच्छा के आधार पर समर्थनीय हो। दक्षिण भारत में डिग्री उतनी रकम की दे दी जाती है जो संक्रमणकारी समांशी के अनुमानित भाग के मूल्य

१. "बैजनाथ ब० विन्दा" १७, पटना ५४९।
२. "नागराज ब० गनपत" २६, नागपुर ला रिपोर्टर ५६।
३. "ब्रिज ब० सर्वजीत" (१९३७), अवध ५१३।
४. "रामनाथ ब० चिरंजीव" (१९३५), इलाहाबाद २२१।
"मेड़ी केन्दूरी ब० कट" (१९५३), मद्रास २१०।
५. "दुर्गाप्रसाद बढ़ई ब० जीवधारी सिंह" (१९३५) ६२, कलकत्ता ७३३।
६. "गनपत ब० ईश्वर" (१९३८), नागपुर ४७६।

के बराबर हो।[1] बैनामा वाले दावे में पूरे बैनामे के समर्थन की डिग्री उस हालत में दे दी जाती है, जब वह अन्तर अपेक्षाकृत थोड़ा हो, जो कीमत तथा उसके समर्थनीय भाग में पाया जाता है। कारण यह है कि अदालत अनुमान कर लेती है कि बचा हुआ थोड़ा भाग भी कुटुम्ब के काम में लग गया है।[2] कभी-कभी रहन वाले मुकदमे मे भी यह अनुमान करके पूरे ऋण की डिग्री दे दी जाती है।[3] यदि उपरोक्त अन्तर अपेक्षाकृत बड़ा हो, तो उत्तर भारत में पूरा बैनामा रद्द कर दिया जाता है,[4] किन्तु समांशियों से वह रकम वापस दिलायी जाती है जो समर्थनीय कार्य के निमित्त प्रमाणित हो चुकी हो।[5] यदि मैनेजर तो अनुचित रूप से सयुक्त सम्पदा बेच डालता है, किन्तु बजाय बैनामा को रद्द कराने के समांशी लोग उसी राशि से एक अन्य सम्पदा खरीद बैठते हैं, तो क्या यह न्याययुक्त होगा कि बाद म वे लोग अपनी पैतामही सम्पत्ति को वापस लेकर उसका भी उपभोग करें ? नही, वे लोग समनुमोदन तथा अस्वीकरण साथ ही साथ नही कर सकते। दक्षिण भारत के हाई कोर्टों का रवैया उत्तर भारत से भिन्न है। वहाँ जो समांशी अनुचित या अतिरिक्त सक्रमण से अपने हित को मुक्त कराने को आता है, तो उसको अपने अश को वापस पाने की, अदालत से लगायी हुई शर्तों को पूरा करना ही पड़ता है। अर्थात् समर्थनीय राशि का अपना आनुपातिक अश जमा कर देना पड़ता है।[6] वहाँ का यह रवैया औचित्याश्रित प्रतीत होता है, यद्यपि वह उपरोक्त १९२७ वाले प्रिवी कौंसिल के मत, ३७ से मेल नहीं खाता।

"किसन ब० नाथू" (४९, इलाहाबाद १४९) वाले उपरोक्त मुकदमे में प्रिवी कौंसिल ने सन् १९२७ मे यह अधिघोषणा कर दी है कि बैनामा को मात्र इस आधार पर उत्सादित न कर देना चाहिए कि कीमत के एक बड़े भाग का औचित्य या समर्थन अप्रमाणित छूट गया था, या उस भाग के कुटुम्बार्थ प्रयुक्त होने का सबूत मौजूद

१. "दुर्गा ब० जीवधारी" ६२, कलकत्ता ७३३।
 'ठा० जय इन्द्र ब० लाला खैराती लाल" (१९२९) ४, लखनऊ १०७।
 "द्वारकाराम ब० बक्शी प्रणवप्रसाद" (१९३५) १४, पटना ५९५।
२. "किसन ब० नाथू" (१९२७), प्रिवी कौंसिल ३७।
३. "अम्बलम्बन ब० गौरी" (१९३६), मद्रास ८७१।
४. "नारायन ब० सरनाम" (१९१७), प्रिवी कौंसिल ४१।
५. "किसन ब० नाथू" (१९२७), प्रिवी कौंसिल ३७।
६. "वेड्डीवेलम ब० नटेसम" (१९१४) ३७, मद्रास ४३५।
 "के० वेंकट ब० के० रामलिंगम" (१९५७), आन्ध्र प्रदेश ७४४।

नहीं था। असली खोज वाली बात यह है कि क्या बिक्री वैध आवश्यकता के आधार पर अनुमोदनीय थी ? क्या क्रेता की नीयत शुद्ध थी ? क्या उसने वैध आवश्यकता के अस्तित्व की पर्याप्त छानबीन कर ली थी ? यदि ये शर्तें पूरी हैं तो बैनामा कायम बना रहेगा और खरीदार से उतनी छोटी रकम भी नही वापस दिलायी जायगी जिसका वैध आवश्यकता में प्रयोग अप्रमाणित रह गया हो। इन्हीं सिद्धान्तों की अधिघोषणा प्रिवी कौंसिल ने दुबारा "न्यामतराय ब० दीनदयाल" वाले वाद में कर दी।[1] उच्च अदालतों की विचारधारा यह प्रतीत होती है कि मैनेजर के विवेक व अधिकार को पर्याप्त छूट देनी चाहिए; कि उसकी साख को कायम रखना चाहिए; कि विवेकी प्रभु के सामान्य स्तर की अपेक्षा उच्चतर मापदण्ड से मैनेजर के कर्म को नहीं मापना चाहिए और उत्तमर्ण के हितों का भी संरक्षण होना चाहिए।

मैनेजर के जिन अधिकारों का मनन ऊपर हो चुका है, उनके अतिरिक्त पाँच अन्य छोटे-छोटे अधिकारों का उल्लेख अब किया जायगा। (१) अवयस्कों समेत सारा कुटुम्ब पंचायत कराने के इकरार से और पंचायती फैसले से बद्ध है, यदि इकरार को मैनेजर ने कुटुम्ब के हित के लिए किया हो।[2] (२) अवयस्कों समेत सारा कुटुम्ब उस सुलहनामे से बद्ध है जो मैनेजर ने ईमानदारी से कुटुम्ब के हित के लिए किया हो।[3] (३) अवयस्कों समेत सब कुटुम्बी मैनेजर द्वारा प्रदत्त ऋणोन्मोचन (कर्ज की बेबाकी) से बद्ध हो जाते हैं।[4] फिर अवयस्क "कानून मियाद" की दफा ७ के आधार पर उस कर्ज की वसूली का दावा वयस्क होने के दो वर्ष के भीतर करना चाहे तो नहीं कर सकता है। (४) सूद की या असल की आंशिक अदायगी की तारीख से नयी मियाद वसूली के दावे के लिए आरम्भ हो जाती है और वही परिणाम ऋण की स्वीकृति का होता है। नयी मियाद के आरम्भ के लिए मैनेजर दोनों क्रियाएँ कर सकता है और उनसे सारी सभांशिता को क्रियाबद्ध कर सकता है। तो क्या मियाद खारिज (समयबद्ध) कर्ज का वह नवीनीकरण भी कर सकता है ? नहीं, यह उसके अधिकार के परे है।[5] (५) विभाजन से संयुक्तता विघटित हो जाती है। स्पष्ट है कि

१. (१९२७) ५४, इ० एपील्स २११।
२. "कौशिकराम ब० हरनामदास" (१९४०) २१, लाहौर ५९९।
३. "भगवानसिंह ब० बिहारीलाल" (१९३८), नागपुर २२१।
४. "वी० भक्तवत्सलु इ० ब० नरसिंह राव" इ० (१९४०), मद्रास ७५२।
"रतीराम ब० नैदर" (१९१९) ४१, इलाहाबाद ४३५।
५. "दिलीपसिंह ब० कुन्दनलाल" (१९३३) ३५, इलाहाबाद २०७।

उसके पश्चात् वाली मैनेजर की कोई भी क्रिया उपरोक्त परिणाम को घटित नहीं कर सकती। ज्ञातव्य है कि सन् १९०८ वाले कानून-मियाद की धारा १९ व २० का सन् १९२७ में संशोधन हो गया है। यदि "कुटुम्बार्थ" शब्द को स्मरण रखें तो स्वयमेव कह सकते हैं कि कौटुम्बिक पावना परित्याग कर देना या माफ कर देना मैनेजर के अधिकार के अन्तर्गत नहीं आता है।[1]

ज्ञातव्य है कि कपट-सन्धि और साठगाँठ के प्रति अदालत सदैव सतर्क और विरुद्ध रहती है। यदि मैनेजर की कोई क्रिया इन दोषों से दूषित हो तो अवयस्क समांशी तो अवश्य, तथा वयस्कगण भी विशेष स्थितियों में, उस क्रिया से छुटकारा पा सकते है।[2] इन छोटे-छोटे अधिकारों के समान एक अन्य अधिकार है कुटुम्ब के मैनेजर के नाते यानी कुटुम्ब के प्रतिनिधि के रूप में दावा दायर करना और मुद्दा-अलेह (प्रतिवादी) बनकर प्रतिरक्षा करना।

संयुक्त कुटुम्ब का मैनेजर अपने अधिकारों के भीतर रहकर और उसकी ओर से अपना ही नाम धरकर जब कोई मामला, यथा संविदा, रेहन या बै कर डालता है और उस मामले को लेकर मुकदमा चलता है, तो वह अकेले सब की तरफ से मुद्दई (वादी) बन कसता है और मुद्दाअलेह भी। सब समांशीगण ऐसी डिग्री या आज्ञप्ति के वशीभूत हो जायेंगे।[3] आपत्तिकारी समांशी का कर्तव्य है कि दौरान मुकदमे में वह पक्षधारी बन जाय।[4] किसी-किसी कुटुम्ब मे एक से अधिक मैनेजर होते हैं। उस दशा में सब मैनेजरों को पक्षधारी बनना चाहिए। सविदा यदि लिखित नहीं मौखिक हो, तब भी उपरोक्त नियम प्रयोज्य होंगे। यदि वादग्रस्त वस्तु अचल सम्पत्ति हो तो क्या सकल समांशियों का दावे में पक्षधारी होना अनिवार्य है ? प्रिवी कौसिल की नजीर इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर तो नहीं देती,[5] किन्तु इस मत की समर्थक लगती है कि केवल मैने-

१. "दशरथराम ब० नरस" (१९२८) ५१, मद्रास ४८४।
"गुन्नी ब० डालचन्द" (१९३१) ५३, इलाहाबाद ९२३।
२. "वेंकट ब० तुलजाराम" (१९२१) ४९, इ० ए० ९१।
३. "किसन प्रसाद ब० हरनाथ सिंह (१९११) ३८, इ० ए० ४५।
"शिवशंकर ब० जद्दो कुंअर" (१९१४) ४१, इ० ए० २१६।
४. "मोतीराम ब० लालचन्द" (१९३७), नागपुर ३६६।
५. (१९११) ३८ इ० ए० ४५, कि० प्र० ब० हर ना० सिंह।
"लिंगन्कोंडा ब० वसनकोडा" (१९२७) ५४, इ० ए० १२२।

जर का पक्षधारी बनना पर्याप्त है।[1] विपरीत मत की पक्षपाती हैं मद्रास तथा बम्बई वाली नजीरें।[2] ज्ञातव्य है कि मैनेजर के सिवा कोई भी समांशी संयुक्त कुटुम्ब के प्रतिनिधि के रूप में मुकदमा नही लड़ सकता है। मुक़दमे के दौरान मैनेजर के देहान्त के पश्चात् क्या कार्यवाही करनी चाहिए ? उसके पद को जो मैनेजर ग्रहण करे, वही मुक़दमे में उसका स्थानापन्न बनकर कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करेगा। मृत मैनेजर के पुत्रों को पक्षधारी बनाना आवश्यक नही है।[3]

अब प्राङ्न्याय या "रेस जूडीकाटा" के प्रयोग की वार्ता की जाय। "रेस जूडीकाटा" वाले नियम का प्रयोग धर्मशास्त्रों के काल में भी होता था। यथा—

आचारेण वसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि।
सोऽभिधेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायः स उच्यते ॥ (बृहस्पति)

सयुक्त कुटुम्ब के प्रतिनिधि के रूप में मैनेजर के विरुद्ध जो डिग्री संयुक्त ऋण या संयुक्त धन्धे या सयुक्त सम्पदा के विषय में पारित हो जाती है, वह प्राङ्न्याय के बल पर अवयस्को समेत सारे समांशियों पर बाध्यकारी होती है और उसका निष्पादन सम्पूर्ण सयुक्त सम्पदा के प्रतिकूल हो सकता है। यदि मैनेजर व्यक्तिगत रूप से पक्षधारी बना, या बनाया गया था, तो फल यह होगा कि न तो अन्य समांशीगण बद्ध होंगे और न डिग्री का निष्पादन मैनेजर के हित के सिवा अन्य समांशियों के हित के विरुद्ध हो सकेगा।[4] यदि दावे में वस्तुतः उसकी हैसियत मैनेजर की थी, तो इसका कुप्रभाव नहीं पड़ेगा कि अर्जी-दावे मे या बयान तहरीरी में यह हैसियत खोल कर लिखी नहीं गयी थी।[5] मुकदमे की परिस्थितियों से तथा इस तथ्य से यह हैसियत स्वतः झलकने लगती है कि अन्तर्ग्रस्त वस्तु संयुक्त सम्पदा थी। संयुक्त कुटुम्ब का

१. "अरुनाचल ब० व्यत्थलिंग" (१८९३) ६, मद्रास २७।
"मु० सादिक ब० खेदालाल" (१९१६) १, पटना ला जर्नल १५४।
२. "अंगमुट्टू ब० कोलन्द बल्लू" (१९००) २३, मद्रास १९०।
"बाल कृष्ण ब० मोरो कृष्ण (१८९७) २१, बम्बई १५४।
३. "आत्माराम ब० वानू कमल" (१९३०) ११, लाहौर ५९८।
४. "कृष्ण प्र० ब० हरि ना० सिंह" (१९११) ३८, इ० ए० ४५।
"लछमी ब० कुंजालाल इत्यादि" (१८९४), १६ इला० ४४९।
५. "हरीलाल ब० मुनमुन कुंअर" (१९१२) ३४, इला० ५४९।

मैनेजर यदि पिता हो, तब तो उपरोक्त परिणामों में और भी अधिक प्रबलता आ जाती है और पुत्रों की बद्धता और भी दृढ पड़ जाती है।

अभी तक मिताक्षरीय संयुक्त परिवार के ऊपर विचार किया गया। उसके ऋणों के ऊपर अलग से चिन्तन किया जायगा और उसी तारतम्य में उसकी सम्पदा के तथा समांशियों के अविभाजित हित के अन्य-संक्रमण का मनन होगा। मिताक्षरीय संयुक्त परिवार के अनन्तर अब सुसंगत जिज्ञासा दायभागीय संयुक्त परिवार के विषय में हो सकती है। अतः वही आगे प्रस्तुत किया जाता है।

प्रकरण ८

दायभागीय संयुक्त परिवार

पाठकों को 'उपरमस्वत्व-वाद' की याद होगी जो दायभाग का विलक्षण सिद्धान्त है। उससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि पिता-पुत्र के बीच समांशिता असली रूप में बन ही नहीं सकती। यथा—

अतो जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति किंतूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादि-वचनम्। एकः शाब्दोऽपरश्चार्थः। न चोपरममात्रमेव विवक्षितं किन्तु पतितप्रव्रजित-त्वाद्युपलक्षयति स्वत्वविनाशहेतुतासाम्यात्। (दायभाग १–३०–३१)

अपरंच—अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समविभागार्थं सदृशं स्वाम्यमिति वचनं पुत्रणां वा विभागस्वातंत्र्यार्थमिति मतद्वयमपि हेयम्। (दायभाग २–१८–३१)

अर्थात् दायभाग में सब रिक्थ सप्रतिबन्ध प्रकार का होता है।

चूंकि पिता के रहते पुत्र-पौत्रादि का कोई हित पैतामही सम्पदा मे नहीं होता, इसलिए पिता चल-अचल सम्पदा के बैनामा, हिबानामा, इच्छापत्र द्वारा हस्तान्तरित करने की स्वतत्रता भी रखता है। यह ज्ञातव्य है कि सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ३० ने दायभाग-शासित पुरुप हिन्दू को भी यह अधिकार दे दिया है कि सयुक्त सम्पदा में अपने हित का इच्छापत्र लिख दे। उसी धारा के अनुसार मिता-क्षरा-शासित पुरुष समांशी भी अपने अश का इच्छापत्र लिख दे सकता है।

पिता से पैतामही सम्पदा के विभाजन का तकाजा पुत्र कैसे कर सकता है, जब कि वह पिता का सहभागी है ही नही ? या कैसे वह पिता से उस सम्पत्ति के आय-व्यय का हिसाब तलब कर सकता है, जब कि पिता, मैनेजर के नहीं, अपवर्जी स्वामी के रूप में उस सम्पदा को आजन्म धारण करता है ? तब प्रश्न होगा कि दायभाग में "पैतामह धन" कहते किसको है ? "पैतामह धन" वही चीज है जिसका इंगित होता है मिताक्षरा में; अर्थात् वह धन जो पिता, पितामह या प्रपितामह के द्वारा उत्तराधिकार मे मिले। किन्तु भेद यह है कि दायभागीय प्रणाली मे उत्तराधिकारी की पुरुष सन्तान उसमें जन्मना वह हित नहीं पा सकती हैं, जो मिताक्षरीय प्रणाली के अन्दर मिलता है।

मिताक्षरा और दायभाग शाखाओ का अन्तर

समांशिता की संस्था दोनों ही प्रणालियों मे पायी जाती है। भेद इनमे यह है कि मिताक्षरा मे उसका निर्माण जन्म से आरम्भ होता है, एव दायभाग में मरण से। अर्थात् यदि राम के एक पुत्र बाल है, तो मिताक्षरा के अनुसार वह जन्म लेते ही राम के साथ समांशिता निर्मित कर देता है। किन्तु दायभाग के अनुसार बाल चाहे सौ वर्ष का हो जाय, जब तक राम की काया में श्वास है, बाल में उस सस्था के निर्माण की क्षमता नही प्रस्फुटित हो सकती। यदि बाल का एक भाई पाल है और यदि राम दोनों पुत्रों को छोड़ कर मरता है, तो उसके मरते ही बाल और पाल की एक समांशिता तैयार हो जाती है। सन् १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" के लागू होने के बाद सयुक्त कुटुम्ब वाली प्रथा का उत्सादन नही हुआ है। केवल यह परिवतन हुआ है कि पहले मृत समांशी का अश उसकी पुरुष सन्तान पर अवक्रान्त होता था और अब उसके साथ ही उसकी विधवा के ऊपर भी अवक्रान्त होने लगा है। पुरुप सन्तान के अभाव में पहले की तरह अब भी उसकी विधवा या पुत्री समांशिता की सदस्या बन जाती हैं। अतः दायभाग में पुरुष व नारी दोनों सदस्यता के अधिकारी होते है, किन्तु मिताक्षरा में नारियों की सदस्यता असंभव ही है। याद रहे कि समांशिता की स्थापना उभय प्रणालियों में ही कोई नारी नहीं कर सकती है। वैसे ही उभय प्रणालियों में सविदा या अन्य मानवीय क्रिया द्वारा समांशिता का निर्माण नहीं हो सकता।

सन् १९५६ मे "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" पारित हुआ। वह भी संयुक्त कुटुम्ब वाली प्रथा का उत्सादन या विघटन नहीं करता है। वह केवल इतना विहित करता है कि सयुक्त सम्पदा में मृत समांशी का अंश तथा उसकी पृथक् सम्पदा दोनों का ही अवक्रमण उसके अन्दर उल्लिखित क्रमानुसार हुआ करेगा। उसमें यह भी विहित है कि दायभागीय प्रणाली में यदि कोई हिन्दू बिना इच्छापत्र लिखे ऐसी पैतमही सम्पदा छोड़ कर मरता है, जिसका उस प्रणाली तथा तत्सम्बन्धित नजीरों के अनुसार वह अपवर्जी स्वामी बन चुका हो, तो ऐसी सम्पदा का भी अवक्रमण उस ऐक्ट द्वारा निर्धारित क्रम के अनुसार हुआ करेगा।

जब कोई दायभाग मतावलम्बी हिन्दू पुरुष इस अधिनियम के क्रियाशील हो जाने के बाद बिना इच्छापत्र लिखे पृथक् या पैतामही सम्पदा छोड़ कर मर जाता है और उसकी दो या अधिक पुरुष सन्तानों के अतिरिक्त अन्य दायाद जीवित पाये जाते है, तो यह प्रश्न उठता है कि नियमानुसार समांशिता की रचना कैसे हो तथा उस समांशिता के सदस्य कौन-कौन दायाद समझे जायें। उपरोक्त अधिनियम ने यह विहित

किया है कि यह प्रश्न उन्हीं कानूनी सिद्धान्तों के आधार पर निर्णीत होगा जो इस अधिनियम के पूर्व मौजूद थे। इन बातों को अधिक स्पष्टता पूर्वक हृदयंगम कराने के लिए निम्नलिखित उदाहरण उपयोगी है[1]—मान लीजिए कि अ तीन पुत्र छोड़ कर मरता है—**क**, **ख**, **ग**। ये तीनों सगे भाई समांशिता बना लेंगे। यदि **अ** के मरते वक्त केवल दो पौत्र ही जीवित थे तो **च** व **छ** समांशिता को रचेंगे, यद्यपि वे चचेरे भाई हैं। यदि वह एक पुत्र **ग**, व दो पौत्र **च** व **छ** को छोड़ता है, तो अपने चाचा के साथ **च** व **छ**, जो आपस में चचेरे भाई हैं, समांशिता निर्मित करेंगे। अब यदि राम तीनों पुत्रों तथा दोनों पौत्रों को छोड़कर मरता है तब

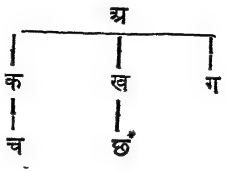

क्या पाँचों जने समांशिता बनायेंगे ? नहीं, **च** व **छ** के पिता **क** और **ख** जब तक जीवित हैं तब तक ये रिक्थ के भागी नहीं हो सकते। इसलिए समांशिता को केवल तीनों भाई **क**, **ख** और **ग** समाहित करेंगे। याद रहे कि **क** व **ख** के जीवनकाल में पिण्ड तथा जल-दान के अधिकारी **च** एवं **छ** नहीं हो सकते। यदि संयुक्तता के टूटने के पहले **क** मर जाता है तो उसका पुत्र **च** समांशिता में उसके भाग का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रविष्ट हो जायगा, और अब उसके तीन सदस्य होंगे, यानी **च** और उसके दो चाचा **ख** व **ग**। ध्यान रहे कि **छ** अब भी समांशी नहीं समझा जाता, क्योंकि उसका पिता **ख** जीवित है। **ख** के जीते जी **छ** पितरों को पिण्डदान और जलदान अर्पित नही कर सकता है।

यह विदित हो चुका है कि मिताक्षरा के अन्दर कौन-सी सम्पत्ति संयुक्त कौटुम्बिक या समांशिता वाली सम्पदा समझी जाती है। वही दायभाग के अन्दर भी समांशिता वाली सम्पदा गिनी जाती है; अर्थात् पैतामही सम्पत्ति, संयुक्त उद्योग से अर्जित सम्पत्ति, सार्वजनिक निधि में विलीन की हुई सम्पत्ति तथा पैतामही सम्पत्ति का समुत्थान या उपवृद्धि। उपरोक्त सम्पदा में मिताक्षरा के अनुसार स्वामित्व तथा दखल या कब्जा दोनों सम्मिलित रहते हैं। जैसे ही समांशियों के भाग विनिश्चित हो जाते हैं कि संयुक्तता टूट जाती है। किन्तु दायभाग के अन्दर मात्र दखल संयुक्त होता है। प्रत्येक समांशी का भाग पहले से ही निर्धारित रहता है। संयुक्त दखल और नियत भाग का सम्पुट जो दायभाग के अन्दर होता है, उसका आशय यह है कि उपरोक्त दृष्टान्त में

१. देखिए, मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ ४१९–४२१।

अ के रिक्थ के तिहाई-तिहाई भाग के स्वामी उसके मरने के बाद क, ख, ग हो तो जाते हैं, किन्तु उनमें से कोई यह नहीं बता सकता कि मेरे तिहाई भाग में अमुक सम्पत्ति या खण्ड आता है। अतः दायभाग के अन्दर दखल के नहीं किन्तु स्वामित्व के बिलगाव से संयुक्त परिवार का विघटन होता है।

दायभाग के अन्दर चूंकि प्रत्येक समांशी का भाग सब को विदित रहता है, इस लिए जो व्यक्ति अदालती नीलाम में किसी समांशी का भाग खरीद ले, उसको यह हक पैदा हो जाता है कि उस भाग का कब्जा प्राप्त करे। किन्तु जैसा कि पहले भी बताया गया है, मिताक्षरा के अन्दर समांशी के हित का कब्जा खरीदार तभी पा सकता है जब उस हित की कुर्की समांशी के जीवन काल में कर ली गयी हो। चूंकि दायभाग में प्रत्येक समांशी का भाग विनिश्चित रहता है, और सम्मिलित स्वामित्व नहीं होता है, इसलिए उत्तरजीविता का नियम उसमें अप्रयोज्य होता है, अपितु मृत धनी का भाग उत्तराधिकार के नियमानुसार उसके दायादों पर अवतरित होता है। इसीलिए एक समांशी दायभाग के अनुसार अपने भाग का रहन, बै, हिबा, इच्छापत्र वैसी ही स्वच्छन्दता पूर्वक कर सकता है जैसे कि स्वार्जित सम्पदा का। इसीलिए दायभाग के अन्दर एक समांशी अपने भाग का मनमाना उपयोग कर सकता है, बशर्ते कि वह उपभोग दूसरों के लिए हानिप्रद न हो, या दूसरे समांशियों के हक का अतिलंघन न करे। वह अपने भाग को भाड़े पर उठा कर किरायेदार बसा सकता है।

दायभाग के अन्दर मिताक्षरा की तरह मैनेजर के अधिकार विस्तृत होते हैं।[1] यद्यपि अपने समांशियों के हिस्सों में उसका कोई हित नहीं होता है, एवं उसमें व उन लोगों के बीच में कई पीढ़ियों का अन्तर हो सकता है। इतनी दूर की पीढ़ियों में न तो संयुक्तता और न मैनेजरी की व्यवस्था अधिक काल पर्यन्त चलती है। आपसी सान्निध्य की कमी के कारण विश्वास भी कम रहता है, जिसका फल यह है कि मैनेजर को हिसाब देने के लिए हर वक्त तत्पर रहना पड़ता है। मिताक्षरा की तरह कुटुम्ब के मृत समांशियों के आश्रित जन मैनेजर का नहीं अपितु मृत लोगों के दायादों का मुँह देखते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी मृत्यु से मैनेजर के अंश में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

मिताक्षरा की तरह दायभाग में भी वयस्क समांशी गण विभाजन की माँग कर सकते हैं।[2] इसके अतिरिक्त वे ही पूर्व-धारणाएँ दायभाग में भी उपजती हैं जो मिताक्षरा

१. "चान्द दासी ब० कनाई" (१९५५), कलकत्ता २०६।
२. "सूरजमनी दासी ब० दीनबन्धु" (१८५६) ६, मूर्स, इ० एपील्स ५२६।

में।[1] यह ज्ञातव्य है कि यदि पिता के जीवन काल में पुत्र कोई सम्पदा कमा कर अपने ही कब्जे में बनाये रखता है, तो यह पूर्व धारणा नहीं पैदा होती कि वह संयुक्त सम्पदा है। जो वादी उसमें पुत्र का स्वामित्व अस्वीकार करे उसी पर अपने हक को सिद्ध करने का प्रमाण भार चढ़ता है। सिद्धान्त यह है कि पिता के जीवनकाल में उसके पुत्रों की समांशिता उसके साथ दायभाग के अन्दर होती ही नही। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों के बीच समांशिता निर्मित होती है। अतः पिता के जीवनकाल में पुत्रार्जित सम्पदा के विषय मे संयुक्त स्वामित्व की धारणा उठती ही नहीं।

जीमूतवाहन जीवित गृहपति के दायित्व वाली भावना में पूर्ण आस्था रखने के कारण उसके वंशजों को 'जन्मस्वत्व' नहीं प्रदान करते हैं। जब तक प्रभु मरता या सन्यास नहीं लेता, तब तक वे विभाजन के लिए आग्रह करने का उनको अधिकार नही देते हैं और यह विहित करते हैं कि जब पुत्रगण दाय प्राप्त कर लें तो वे निश्चित भागों के स्वामी तब तक बने रहेंगे जब तक बटवारा न हो। अवश्य ही, विभाजन जब तक नहीं होता तब तक कोई सहभागी यह नही जान सकता कि उसकी मनोवांछित वस्तु उसके भाग में पड़ेगी या किसी अन्य सहभागी को मिलेगी। यह भी ज्ञातव्य है कि जिसको सम्पदा मिलती है वह मृतक के ऋण का देनदार भी बन जाता है और इसलिए मिताक्षरा वाले "धार्मिक दायित्व" (पायस आब्लीशन") की दायभाग में कोई आवश्यकता नही पड़ती है। एक और बात ज्ञातव्य है। किसी भी स्मृति ने पिता को पैतामही सम्पदा में न तो निरकुश स्वामित्व प्रदान किया है न असम विभाजन करने के लिए अधिकृत किया है। फिर भी नजीरों की तारतम्यता ने इन दोनों नियमों को दायभाग प्रणाली का अंग बना रखा है। असंस्कृतज्ञ विदेशी जजों से संस्कृत में लिखित देशी विधि का निर्वचन कराये जाने का यही अरोचक परिणाम पैदा हो गया है।[2]

१. "चरनदासी देवी ब० कन्हाईलाल" ५८, क० वीकली नोट्स ९८०।
२. देखिए जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, (८वां सं०) पृ० ४६०–६३।

प्रकरण ९

अन्य-संक्रमण

(मिताक्षरीय)

अन्य-संक्रमण के ऊपर पहले मिताक्षरा के मत का वृत्तान्त श्रोतव्य है। पृथक् सम्पदा का हस्तान्तरण इस प्रकरण का विषय नहीं है, क्योंकि उसमें तो प्रभु को स्वेच्छानुसार हस्तान्तरण करने की स्वच्छन्दता रहती ही है। इस प्रकरण का विषय है संयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा का अन्य-संक्रमण। अन्य-संक्रमण समांशिता की सम्पदा को एवं उस सम्पदा में किसी समांशी के अविभक्त हित को आवृत करता है। पहले समांशिता की सम्पदा वाले अन्य-संक्रमण पर चिन्तन किया जाय।

यह ज्ञात ही है कि मिताक्षरा के अन्दर संयुक्त सम्पदा मे सह-स्वामित्व और संयुक्त कब्जा दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। अतः यदि पूछा जाय कि ऐसी सम्पदा का संक्रमण किस के वश में है ? तो उसके यही पाँच उत्तर मिलेंगे—**एक** तो समांशियों का समूह, अर्थात् उनमें से जो बालिग हो, क्योंकि अवयस्क कृत संविदा अवैध होती है। **दूसरे**, एकल उत्तरजीवी समांशी, यदि संक्रमण की तिथि पर कोई समांशी गर्भ में भी न हो। **तीसरे**, उस सम्पदा का मैनेजर, यदि हस्तान्तरण वैध आवश्यकता के आधार पर अथवा सम्पदा के हित, या अवयस्क (यदि कोई समांशी नाबालिग हो) के मृत पिता या पितामह का ऋण चुकाने के आधार पर समर्थनीय हो। **चौथे**, पिता, जिसका अधिकार मैनेजर की अपेक्षा कुछ अधिक विशिष्ट होता है। पैतामही चल सम्पत्ति का हस्तान्तरण वह उचित मात्रा में स्नेह वश, या धार्मिक उद्देश्य से, या कुटुम्ब की रक्षा और भरणार्थ भी कर सकता है और वैसे ही अचल सम्पत्ति का हस्तान्तरण वह उचित मर्यादा के भीतर दान द्वारा परमार्थ हेतु भी कर सकता है। दोनों तरह की (चल-अचल) पैतामही सम्पदा का हस्तान्तरण वह अपना निजी व्यावहारिक ऋण चुकाने के निमित्त भी कर सकता है। **पाँचवें**, एकल उत्तरजीवी समांशी, जिसका पद पैतामही सम्पदा में वही हो जाता है जो स्वार्जित में।

संयुक्त सम्पदा में समांशी के हित के संक्रमण विषयक नियम भिन्न हैं। **एक** तो उस हित का दान (हिबा) प्रत्येक दशा में निषिद्ध है, जब तक अन्य समांशियों की सहमति न हो। किन्तु "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट सन् १९५६" ने धारा ३० में समांशी

को अपने अविभक्त हित का इच्छापत्र लिख डालने के लिए आधकृत कर दिया है, यदि उस इच्छापत्र द्वारा वह उन व्यक्तियों को भरणाधिकार से वंचित नहीं करता, जिनका पोषणभार उस पर है, जैसे पत्नी। **दूसरे**, क्या अविभक्त हित का बैनामा व रेहन-नामा बिना दूसरों की सहमति के वह लिख सकता है या नहीं ? मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई का उत्तर है—हाँ, और अवध, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब का उत्तर है—नहीं। 'नहीं' कहने वाले प्रान्तों का मत है कि या तो अन्य समांशियों की सहमति होनी चाहिए, या वैध आवश्यकता आ पड़नी चाहिए, या पिता का ऋण चुकाना अनिवार्य हो गया होना चाहिए।[1] मूल्य देकर खरीदने वाले का पक्ष व संरक्षण मध्य प्रदेश, बम्बई में और अदालती नीलाम के खरीदार का पक्ष व संरक्षण सारे भारत में औचित्य के विचार से किया जाता है।

समांशी के अविभक्त हित के खरीदार को कौन-कौन से हक मिलते हैं ? अब इस प्रश्न पर मनन किया जाता है।

एक समांशी या तो किसी खास संयुक्त सम्पदा में से अपना अविभक्त हित वेचता है, या सारी संयुक्त सम्पदा में से अपना अविभक्त हित। दोनों प्रकार की बिक्री से पैदा होने वाले क्रेता के हकों में कोई सैद्धान्तिक अन्तर न होने से वे एक समान होते हैं। क्रेता को नौ प्रकार के हक प्राप्त होते हैं। **पहला** है संयुक्त या शामिलाती कब्जे का हक। इसके ऊपर बम्बई का अन्य हाईकोर्टो से आंशिक मतभेद है। पश्चिमी बंगाल व उत्तर प्रदेश में अदालती खरीदार और मद्रास प्रान्त में अदालती व निजी दोनों तरह के खरीदार अन्य समांशियों के साथ शामिलाती कब्जा पाने का आग्रह नहीं कर सकते। उनको यही सुविधा लभ्य है कि वे बटवारे का दावा करें, और बटवारा भी कुल संयुक्त सम्पदा का और सकल समांशियों को पक्षधारी बनाकर। अविभक्त हित का खरीदार इतने जजाल में फँस जाता है कि बिरला पूँजीपति ही ऐसी सम्पत्ति को खरीदने पर राजी होता होगा। यदि कदाचित उसने वजाय अंश के एक विशेष सम्पदा खरीद ली है, तो अदालत से सिवा यह याचना करने के उसके पास कोई चारा नहीं कि बटवारे के वक्त उस सम्पदा को उसी के हिस्से में डाला[2]

1. "चन्द्रदेव ब० माताप्रसाद" (१९०९) ३१, इलाहाबाद १७६।
"अमरदयाल ब० हरप्रसाद" (१९२०), पटना, ला जर्नल ६०५।
"रल्लाराम ब० आत्माराम" (१९३३) १४, लाहौर ५८४।
"अंगराज ब० रामरूप" (१९३१) ६, लखनऊ १५८।
2. "महाराज नवोवल्ली ब० बी० रामानुजम" (१९१६) ३९, मद्रास २६५।

जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि अकेला एक समांशी सारी सम्पदा बेच डालता है और खरीदार का कब्जा भी करा देता है। उस दशा में बाकी समांशी न केवल अपने भाग का, वरंच सम्पूर्ण सम्पदा के वापसी-दखल का दावा करके उस पर दखल कर सकते हैं।[1] ऐसे मुकदमे में अदालत डिग्री में ऐसी औचित्यसंगत शर्तें लिख दे सकती है जो खरीदार को बेजा नुकसान से बचा लें।[2]

अब बम्बई हाईकोर्ट का मत सुनिए। वहाँ की नजीरों से तीन सिद्धान्त निकलते है। एक यह कि बाहरी क्रेता (खरीदार) ने यदि कब्जा नहीं पाया है तो वह आम बटवारे का दावा करे।[3] दूसरे, यदि बाहरी खरीदार ने कब्जा पा लिया है, तो अविक्रेता समांशियों को उसके साथ शामिलाती कब्जा पाने का हक है और वे लोग आम बटवारे का दावा करने के लिए विवश नही किये जा सकते।[4] तीसरे, अविक्रेता समांशीगण हर हालत मे सम्पूर्ण सम्पदा का कब्जा नही पा सकते, न हर हालत में क्रेता को पूरी सम्पदा से निकाल बाहर कर सकते है, जैसा कि मद्रास हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में होता है। अदालत को प्रत्येक दावे में उसके तथ्यों पर विचार करके औचित्य वाला मार्ग अपनाना चाहिए।[5]

शामिलाती कब्जे के अलावा क्रेता का **दूसरा हक** है बटवारा करा लेने का हक। यदि कोई खरीदार किसी एक सम्पदा में एक ही समांशी का अविभक्त हित खरीद ले, तो उसको क्या सुविधा उपलब्ध है? चूंकि समांशीगण सारी सम्पत्ति के कण-कण में संयुक्त स्वामित्व तथा शामिलाती कब्जे के अधिकारी होते है, इसलिए उनमें से कोई अकेला किसी एक खण्ड में विना आम बटवारा किये न स्वामित्व को पा सकता है और न दूसरे के पास हस्तान्तरित कर सकता है।[6] किन्तु अविक्रेता समांशी सामूहिक रूप

"सू० बंसी कुं० ब० शिव प्र०" ६, इण्डियन एपील्स ८८।
"बेल् मलाई ब० श्रीनिवास" (१९०८) २९, मद्रास २९४।

१. "स्कंदस्वामी ब० वेलायुध" (१९२७) ५०, मद्रास ३२०।
"मेदिनीप्रसाद ब० नन्दकेश्वर" (१९२३) २, पटना ३८६।

२. "परमनायक ब० शिवरमन" (१९५२), मद्रास ८३५।

३. "ईशरप्पा ब० कृष्ण" (१९२२) ४६, बम्बई ९२५।

४. "भीकू ब० पुत्तू" (१९०६) ८, बम्बई ला रिपोर्टर ९९।

५. "हनुमानदास ब० बल्लभदास" (१९१९) ४३, बम्बई १७।
"भाऊ ब० बुद्ध" (१९२७) ५०, बम्बई २०४।

६. (१९२२) ४६, बम्बई ९२५।
"मंजय ब० शंमुगा" (१९१५) ३८, मद्रास ६८४।

से बिना आम बटवारे के भी क्रेता के विरुद्ध मात्र बिकी हुई सम्पत्ति के विभाजन का दावा कर सकते हैं तथा वह इस प्रतिवाद में आम बटवारे का आग्रह नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार के दावे का एक विचित्र फल यह होता है कि अविक्रेता गण जो भाग पाते हैं वह अब पृथक् सम्पदा का रूप धारण कर लेता है[2] और उतने भाग का अवक्रमण उत्तरजीविता के नियमानुसार न होकर उत्तराधिकार के नियमानुसार होने लगता है। किन्तु याद रहे कि प्रत्येक अविक्रेता समांशी का पुत्र 'जन्मस्वत्व वाद' मत से उस भाग में भी उसका समांशी बन जाता है।

क्रेता का **तीसरा हक** है औचित्य पर आधारित विभाजन की याचना। बटवारे के मौके पर या तो खरीदी हुई सम्पत्ति उसको दिलायी जा सकती है यदि अविक्रेता-समूह की हानि न हो, या विक्रेता के हिस्से में से उस सम्पत्ति के समान मूल्य वाली अन्य सम्पत्ति दिलायी जा सकती है। मूल्यांकन बिक्री वाले समय के नहीं, बटवारे के समय के हिसाब से किया जाना चाहिए।[3] यह ज्ञातव्य है कि औचित्य का प्रयोग करने में इस भेद को भूल जाना चाहिए कि बिक्री अदालत के द्वारा हुई थी या निजी तौर से।[4] क्रेता का **चौथा हक** यह है कि वह विभाजन का दावा चाहे अपने विक्रेता की मृत्यु के पूर्व दायर करे या पश्चात्।[5] **पांचवां हक** यह है कि क्रेता को बटवारे मे विक्रेता का वह भाग दिलाया जाय, जिसका वह अन्य-संक्रमण के समय, न कि दावे के समय, अधिकारी था।[6] **छठा हक** है अन्तःकालीन लाभ के विषय में। बिक्री के छः साल बाद यदि क्रेता बटवारे का दावा दायर करे तो क्या उस काल के

१. "हनुमानदास ब० बल्लभदास" (१९१९) ४३, बम्बई १७।
"इमुरमस ब० टी० वेंकट स्वामी" (१९११) ३४, मद्रास २६९।
"रामचरन ब० अयोध्या" (१९०६) २८, इलाहाबाद ५०।
"श्यामसुन्दर ब० जगन्नाथ" (१९२३) २, पटना ९२५।
२. "सौरी ब० पचिया" (१९२६) ४९, मद्रास ४८३।
३. "वेंकटराम ब० मीरा" (१९०२) २५, मद्रास ६९०।
"वी० सी० टी० चेट्टी ब० डी० के० शिवमूर्ति" (१९५५), मद्रास १२७८।
"वी० रेड्डी ब० सी० एस० रेड्डी" (१९४४), मद्रास २१२।
४. "वासुदेव ब० ककुचन्द" (१९५०), बम्बई ७७७।
५. २५, मद्रास ६९०।
६. "सकरचन्द ब० नारायन" (१९५१), बम्बई २१७।
"चिन्नू पिल्ले ब० काली मुट्टू" (१९१२) ३५, मद्रास ४७।

मुनाफे का वह अधिकारी ठहरेगा ? नहीं, क्योंकि अविक्रेता समांशी गण का कब्जा उस काल तक अनधिकृत नहीं कहा जा सकता जब तक वे बटवारा न करा लें ।[१]

सातवां हक है "निर्दिष्ट प्रतिकार" का दावा, जिसको "स्पेसिफिक पर्फार्मेन्स" कहते हैं। यदि सविदा कर लेने के बाद, बिना बैनामा लिखे विक्रेता-समांशी मर जाय, तो क्रेता निर्दिष्ट प्रतिकार का दावा कर सकता है।[२] **आठवां हक** नहीं वह क्रेता का दायित्व है। बिके हुए हित के या संयुक्त सम्पदा के ऊपर जो भार, ऋण, दायित्व लदे हुए हैं वे संक्रान्तग्राही के ऊपर चढ़ जाते है। उपरोक्त प्रभार के अलावा संक्रमणकर्ता यदि पिता का व्यावहारिक तथा व्यक्तिगत ऋण पटाने के "धार्मिक दायित्व" से ग्रस्त है, तो सक्रान्तग्राही के गले वह दायित्व भी लग जाता है,[३] क्योंकि यह "धार्मिक दायित्व" उस हित से संलग्न रहता है जो पुत्र का पैतामही सम्पदा में हो। **नवां हक** है पूर्व-कृत संक्रमणो में दोषान्वेषण करना। संक्रान्तग्राही पूर्व-संक्रमणों के विरुद्ध आपत्ति करने का दो दशाओं में अधिकारी होता है। या तो उसने अपने संक्रमणकर्ता के अविभक्त हित को अदालती नीलाम में खरीदा हो[४], या उसने संयुक्त सम्पदा में सारे हित को खरीद लिया हो।[५] किन्तु एक ही समांशी के हित का मुर्तहिन (महाजन) उसी हित के उस बैनामा के विरुद्ध आपत्ति करने का अधिकारी नहीं है, जो रेहन के पश्चात लिखा गया हो।[६] संक्रान्तग्राही के इन हकों[७] को जानने के बाद अब विक्रेता की स्थिति पर और समांशी के दिवालिया हो जाने के परिणामों पर विचार करें। यह याद रहे कि जो उपरोक्त नियम बैनामा के सम्बन्ध में उल्लिखित हुए हैं वही रेहननामा पर प्रयोज्य है।

सयुक्त सम्पदा मे एक समांशी के हित की यदि बिक्री हो गयी हो, किन्तु किसी कारणवश बटवारे के द्वारा वह भाग पृथक् न कर दिया गया हो, तो उस दशा में वह समांशी संयुक्त सदस्य ही माना जायगा। उस बीच में यदि कोई अन्य समांशी मर जाता है, तो उत्तरजीविता वाले नियम के फायदे से वह विक्रेता-समांशी वंचित नहीं

१. "त्र्यंबक ब० पांडुरंग" (१९२०) ४४, बम्बई ६२१।
२. "भगवान ब० कृष्ण जी" (१९२०) ४४, बम्बई ९८७।
३. "वेंकू रेड्डी ब० वेंकू रेड्डी" (१९३७) ५०, मद्रास ५३५।
४. "मदनलाल ब० छिद्दू" (१९३१) ५३, इलाहाबाद २१।
५. "किशोरी ब० बैजनाथ" (१९२८) ३, लखनऊ ५९८।
६. "दुर्गाप्रसाद ब० मगन" (१९२०) ४२, इलाहाबाद ५८।
७. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृ० ३८७–९६।

किया जायगा।[१] जैसे एक समांशी संयुक्त सम्पदा से अपना सम्बन्ध, अपना हित बेच डालकर तोड़ सकता है, वैसे ही वह अपने सम्बन्ध को अपने स्वत्व का परित्याग करके तोड़ सकता है। परित्यागी किसी एक समांशी के या अनेक समांशियों के हितार्थ अथवा सकल समूह के हितार्थ अपने स्वत्व को निजी रुचि के अनुसार छोड़ सकता है। किन्तु कानून यह है कि उसके परित्याग से केवल उसका नाम-निर्दिष्ट ही नहीं, अपितु सारा समूह लाभान्वित समझा जायगा।[२] यदि परित्यागी समांशी परित्याग के बदले कुछ प्रतिकर ले ले, तब अवैध हो जाने के विपरीत वह और भी अधिक वैध बन जायगा।[३] मिताक्षरा प्रतिकर देने का आदेश देते हुए उसका हेतु यह बताती है कि परित्यागी के दायादो को भविष्य में परित्यक्त अंश का दावा करने का साहस न हो। यथा—"शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्वा पृथकक्रिया।" (मिताक्षरा) ज्ञातव्य है कि परित्याग और अन्य-संक्रमण समान नहीं; अपितु परित्याग है संयुक्त सम्पदा में परित्यागी के हित का निर्वापण, समाप्ति। वह हिबा भी नहीं होता है। एक और बात ज्ञातव्य है। मान लीजिए कि राम अपने दोनों-पुत्रों के हित में आमूल परित्याग कर देता है और दोनों भाई बटवारा भी कर लेते हैं, तदुपरान्त एक तृतीय पुत्र गर्भ में आता है। चूँकि राम ने अपने लिए कोई अंश नहीं रखा, तो क्या यह तृतीय पुत्र दीन दरिद्र बना रहे? नहीं, वह बटवारे को फिर से खोलकर अपना भाग माँग सकता है और अपने पिता के दुश्चिन्तित परित्याग की अवहेलना कर सकता है।[४] ऐसा मामला एक साधारण अपवाद है। पुनर्विभाजन के अवसर पर राम यदि चाहे तो पुनरपि परित्याग कर सकता है। यह भी सम्भव है कि परित्याग के समय कुछ सम्पत्ति अविभक्त छोड़ दी गयी हो, या कोई सम्पत्ति विभाजनानन्तर कुटुम्ब में लौट आयी हो। क्या पूर्व परित्याग के कारण इस सम्पत्ति से परित्यागी वंचित रह जायगा? नहीं[५];

१. "सुमेती ब० नोखेसिंह" (१९४६), नागपुर ६९९।
२. "चन्दर ब० दम्पत" (१८९४) १६, इलाहाबाद ३६९।
"सुवन्ना ब० बाल सुब्बा रेड्डी" (१९४५), मद्रास ६१०।
"शिवाजी राव ब० बसंतराव" (१९०९) ३३, बम्बई २६७।
"तुलसी ब० हाजी" (१९३८), लाहौर ४७६।
३. "गुरु स्वामी ब० मरप्पा" (१९५०), मद्रास ६५५।
४. "भागवत ब० रामजी" (१९४७), प्रिवी कौंसिल १४०।
"आथलिंग ब० रामस्वामी" (१९४५), मद्रास २९७।
५. "चिन्ना थाई ब० कुलशेखर" ए० आई० आर० (१९५२), सुप्रीम कोर्ट २९।

यदि परित्यागी ने अपने सारे संभाव्य हकों का भी असंदिग्ध रूप से परित्याग नहीं कर रखा था। परित्यागी यदि अपने पर्याप्त भरण-पोषण का वचन अन्य समांशियों से ले लेता है तो उन लोगों से उसका पालन बरबस कराया जा सकता है।[1]

अपने स्वत्व से अन्य को सम्बन्धित करने की दो विधियों—अन्य-संक्रमण व परित्याग—के ऊपर मनन कर चुकने के बाद अब तीसरी विधि 'दिवाला' पर विचार किया जायगा।

दिवाले की दशा में अन्य-संक्रमण

जब "अदालते दिवाला" या "इन्साल्वेन्सी कोर्ट" किसी व्यक्ति को दिवालिया घोषित कर देता है, तो उसकी सम्पत्ति उस कर्मचारी मे निहित हो जाती है जिसे आदाता (आफिशल एसैनी या रिसीवर) कहते हैं। वह दिवालिया के पावनेदारों (उत्तमर्णों) का न्यासधारी तब तक बना रहता है जब तक दिवाला समाप्ति का आदेश देकर दिवालिये को अदालत मुक्त नहीं कर देती। कोई समांशी जब दिवालिया घोषित होता है तो उसका अविभक्त हित तथा पृथक् सम्पत्ति दोनों उक्त कर्मचारी में निहित हो जाते हैं। किन्तु समांशिता का अन्त नहीं हो जाता। अतएव यदि दो भाइयों, राम व बाल में से एक समांशी बाल राम के दिवालिया घोषित होने के बाद मर जाता है, तो उत्तरजीवी राम का हित संयुक्त सम्पदा मे दूना हो जायगा, जिससे उसके महाजन लोग लाभान्वित होंगे। दिवाला की समाप्ति के बाद "रिसीवर" के पास जो संयुक्त सम्पदा बच रहेगी वह सयुक्त कुटुम्ब को ही लौट कर मिलेगी।[2] यह याद रखिए कि न कुर्की, न दिवाला और न अविभक्त अंश की अदालत के द्वारा नीलामी एक सयुक्त कुटुम्ब को विघटित कर सकती है और न उत्तरजीविता वाले नियम का अवरोध।[3]

अब इस महत्त्वपूर्ण नियम पर फिलहाल विचार कर लें ('ऋण' के शीर्षक में इसका विस्तार किया जायगा) कि पिता, पितामह, प्रपितामह को अधिकार होता है कि अपने व्यावहारिक पूर्व-ऋण का भुगतान करने के निमित्त पुरुष सन्तति के हितों को बेच डालें। जब इन तीन मे से कोई पूर्वज दिवालिया घोषित हो जाता है, तो यह अधिकार आदाता (रिसीवर) के हस्तगत हो जाता है और वह उस पूर्वज के विरुद्ध कार्यवाही करते समय उसकी पुरुष सन्तति के हितों को भी बेच सकता है, यद्यपि

१. "के० चिन्ना ब० सी० वेंकुराजू" (१९५४), मद्रास ८३४।
२. "एन० सूर्यनारायण मूर्ति ब० एन० वीर राजू" (१९४६), मद्रास ५४।
३. "शिवनन्दन ब० उग्रह", ए० आई० आर० (१९६०), पटना ६६।

वे लोग पक्षधारी नहीं होते।[१] उस (यानी आदाता) के उक्त अधिकार में दो बाधाएँ पड़ सकती हैं; एक तो सन्तति के हित को उन (सन्तति) के महाजनों ने पहले से ही कुर्क करा लिया हो;[२] दूसरे, वे पिता से पृथक् हो चुके हों। अब मान लीजिए कि उपरोक्त पूर्वजों को छोड़कर कोई अन्य समांशी मैनेजर या गृहपति के पद पर आसीन है और वह दिवालिया घोषित कर दिया जाता है। तो क्या उसका भी "कुटुम्बार्थ" अन्य-संक्रमणीय अधिकार आदाता में निहित हो जायगा? नहीं, क्योंकि यह अधिकार सम्पत्ति-विषयक उन अधिकारों की गणना में नहीं आ सकता है जिनका प्रयोग दिवालिया अपने "निजी स्वार्थ साधनार्थ" कर सके। यह वाक्यांश "प्रेसीडेन्सी टौन्स इन्साल्वेन्सी ऐक्ट" धारा ५२(२)(६) बी० में आया है और "प्राविन्शेल इन्साल्वेन्सी ऐक्ट (एमेण्डमेंट) १९४८" की धारा २८ (ए) में भी। उस दशा में भी उपरोक्त प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होगा जब मैनेजर द्वारा उगाहा गया ऋण संयुक्त कुटुम्ब वाले फर्म के निमित्त लिया गया हो।[३]

क्या किसी सामान्य व्यक्ति के समान, संयुक्त कुटुम्ब वाला फर्म दिवालिया घोषित किया जा सकता है? नहीं, किन्तु उस फर्म के कामकाजी व वयस्क सदस्यों को दिवालिया घोषित कर देने से वही परिणाम निकल सकता है।[४] संयुक्त परिवार के अवयस्क सदस्यों के हित दिवाले की कार्यवाहियों से प्रभावित नही होते और इस यत्न से फर्म के मालटाल का कुछ अंश महाजनों के चगुल से बच सकता है।[५] अन्य-संक्रमण के कई पहलुओं के ऊपर यहाँ तक विचार कर लिया गया। समांशिता वाली सम्पदा का अन्य-सक्रमण कोई शाश्वत चीज नहीं होती। कुछ लोगों को कतिपय परिस्थितियो में उसके निराकरण या उत्सादन का अधिकार कानून ने दिया है। अब हम इस विषय का अध्ययन करें।

अन्य-संक्रमण का रद्द होना

अन्य-संक्रमण के निराकरण या उत्सादन का सवाल या तो बटवारे के अवसर पर उठता है या वैसे भी। अन्य-संक्रमण समाहित करता है मैनेजर द्वारा किये हुए

१. "सी० नागेश्वर स्वामी ब० वी० विश्वसुन्दर", ए० आई० आर० (१९५३), सुप्रीम कोर्ट ३७०।
२. "के० किशन ब० पूर्णचन्द्र", ए० आई० आर० (१९६२), आंध्र १२९।
३. "रमन लाल ब० मनीलाल" (१९५७) ५९, बम्बई ला रि० १२४३।
४. "छत्रम ब० के० अमरचन्द", ए० आई० आर० (१९६०), मैसूर २६७।
५. "चिदम्बरम ब० मुत्तैया", ए० आई० आर० (१९३६), रंगून १६०।

दान को, अविभक्त हित के विक्रय को (उत्तर भारत में), समांशी-कृत अपरिमित हस्तान्तरण को (दक्षिण भारत में), पिता-कृत ऐसे अन्य-संक्रमण को जो न तो "कुटु-म्बार्थ" है और न पूर्व ऋण के लिए समर्थनीय है। समांशी तथा अन्य हकदार लोग हस्तान्तरण के विरुद्ध आक्षेप अपनी (या यदि उनमें से कोई अवयस्क है, तो उसके अभिभावक की) सूचना तिथि से लेकर मियाद-आरिज की तिथि तक कभी भी कर सकते हैं। यदि हक विद्यमान है तो हस्तान्तरण के समर्थन का प्रमाणभार संक्रान्त-ग्राही या उसके उत्तराधिकारी पर होता है। प्रश्न उठेगा कि कौन लोग आक्षेप करने के हकदार हैं ? वे सब लोग हकदार हैं जो सयुक्त सम्पदा में हित रखते हैं (जिनमें गर्भस्थ शिशु भी शामिल है), जिन्होंने रेहन, बै या किसी समांशी के दिवाले के द्वारा, या कब्जा मुखालिफाना (विरोधितावश अधिकार) के द्वारा, या दायप्राप्ति या इच्छापत्र के द्वारा हस्तान्तरित सम्पत्ति के भीतर आक्षिप्त संक्रमण के अनन्तर अपना हित प्राप्त किया हो। यह आम सिद्धान्त याद रखना चाहिए।

संयुक्त सम्पदा का, या उसके किसी समांशी के हिस्से का दान या हिबा अवैध होता है और आक्षिप्त होने पर अदालत उसे सम्पूर्णतया उत्सादित कर देगी।[1] यद्यपि, जैसा कि याद होगा, पिता या मैनेजर को उचित सीमा के भीतर पैतामही सम्पदा का दान स्नेहवश या अन्य धार्मिक हेतुओं के लिए करने की स्वच्छन्दता होती है। एक अन्य अपवाद यह है कि यदि समांशिता मे केवल दो सदस्य रह गये हों और उनमें से एक अपने सम्पूर्ण हित का हिबा दूसरे के नाम कर देता है, तो वह सक्रमण वैध समझ लिया जायगा, क्योंकि ग्रहीता की या तो सहमति मान ली जाती है, या उस संक्रमण को स्वत्व-परित्याग मान लिया जाता है।

रेहन व बै के विषय में नियम पृथक् है। बम्बई व मद्रास प्रान्तों के अन्दर एक समांशी अपने हित का हस्तान्तरण करने की क्षमता रखता है। संयोगवश यदि वह अपने हित से फाजिल (अतिरिक्त) अंश का बै या रेहन कर दे और उत्सादन के अधिकारी गण आपत्ति करें, तो वे लोग समूचे रेहन या बै का नही, मात्र उतने ही फाजिल अंश का निराकरण करा सकते है। याद रहे कि सहमति हस्तान्तरण को वैध बना सकती है। अतएव यदि किसी अन्य समांशी ने अनुमति दे दी थी, तो उसके अश का निराकरण नहीं होगा।[2] ऊपर कहे हुए नियम में यह अनुमान कर लिया जाता है कि हस्तान्तरण समर्थनीय नही था। पूछा जा सकता है कि आक्षेपक समांशी के

१. "रामन्ना ब० वेंकट" (१८९३) १६, मद्रास ७६।
२. "रामप्पा ब० येलप्पा" (१९२८) ५२, बम्बई ३०७।

अंश के निकल जाने से क्या कोई औचित्य का अधिकार हस्तान्तरग्राही के अनुकूल पैदा हो जाता है ? क्या प्रतिकर का आनुपातिक भाग वह वापस पा सकता है ? नही ।[1]

मान लीजिए कि पुत्र अपने पिता-कृत हस्तान्तरण के निराकरण का एवं बटवारे का दावा करता है। क्या हस्तान्तर-ग्राही पुत्र से यह आग्रह कर सकता है कि पिता ने जो प्रतिकर वसूल पाया है, उसके अर्ध के तुम देनदार हो, क्योंकि वह पितृऋण के तुल्य है जिसको भुगताना तुम्हारा "धार्मिक दायित्व" है। नही, क्योंकि जब तक सक्रमण के निराकरण की डिग्री पारित नहीं होती, तब तक पिता ने जो प्रतिकर प्राप्त कर लिया था उसको ऋण की सज्ञा नहीं मिल सकती। ऋण वह तभी बनेगा जब संक्रान्त-ग्राही पिता के ऊपर अर्ध प्रतिकर की वापसी की डिग्री प्राप्त कर लेगा ।[2]

दान या हिबा के निषेध के अपवंचन की युक्ति यह है कि नाममात्र प्रतिकर के बदले में बैनामा लिख दिया जाय। क्या अदालत इस छद्म को अनुज्ञाप्य करेगी ?[3] नहीं, किन्तु यदि खरीदार ने सम्पदा में विकास व उन्नति कर दी है तो निराकरण की डिग्री में लागत लौटाने की शर्त प्रविष्ट कर देनी चाहिए ।[4] क्या यह औचित्यपूर्ण नियम रेहन, पट्टा, हिबा वाले मामलों में भी लागू है ? बम्बई हाई कोर्ट में इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक है, किन्तु इलाहाबाद का नकारात्मक ।[5] यदि संक्रान्तग्राही ने कब्जा कर लिया है तो निराकरण वाले मुकदमे में अन्तःकालीन लाभ (मीन प्राफिट्स) का सवाल उठता है। यह लाभ उस तारीख से दिलाना चाहिए जब बिक्री के विरुद्ध आपत्ति की गयी, न कि जब बैनामा लिखा गया ।[6]

मद्रास व बम्बई मे एक समांशी अपने हित का अन्य-संक्रमण करने के लिए सक्षम माना गया है। किन्तु उत्तर प्रदेश व बंगाल मे नहीं। अतएव इन प्रदेशों में असमर्थ-नीय होने के फलस्वरूप एक समांशी-कृत रेहन, बै पूर्णतः उत्सादित कर दिया जाता

१. "वीरभद्र ब० गुरु वेंकट" (१८९९) २२, मद्रास ३१२।
२. "पोलरपा लिंगिया इ० ब० वी० पुन्नया इ०" (१९४२), मद्रास ५०२।
"मदनगोपाल ब० सतीप्रसाद" (१९१७) ३९, इलाहाबाद ४८५।
"दयाराम ब० हर च० दास" (१९२७) ८, लाहौर ६७८।
३. "रातला ब० पुलीकट" (१९०४) २७, मद्रास १६२।
४. "केदारनाथ ब० माठू मल" (१९१३) ४०, कलकत्ता ५५५ (प्रिवी कौं०)।
"रामप्पा ब० येलप्पा" (१९२८) ५२, बम्बई ३०७।
५. "हंसराज ब० सोमनी" (१९२२) ४४, इलाहाबाद ६६५।
६. "गंगाविशुन ब० वल्लभदास" (१९२४) ४८, बम्बई ४२८।

है और संक्रान्तग्राही अपने संक्रमणकर्ता का अंश भी नहीं पा सकता है। जब इन प्रदेशों में नियम इतना उग्र है, तो संक्रान्तग्राही के अनुकूल कोई औचित्यपूर्ण प्रतिकार या उपचार पैदा ही कैसे हो सकता है,[1] जब तक कोई अति असाधारण कारण न विद्यमान हो; जैसे संक्रमणकर्ता द्वारा यह मिथ्या निरूपण कि वह पूर्णतया अधिकृत है, या कोई ऐसा ही अन्य छल-कपट।

ऊपर वे लोग संक्षेपतः बतलाये गये है जिनको संक्रमण के विरुद्ध आपत्ति या आक्षेप करने का हक है। उसी विषय का सविस्तर विवरण यहाँ किया जाता है। अन्य-संक्रमण के समय जो समांशी गण संसार में या गर्भ में मौजूद हों वे आपत्ति कर सकते है। गर्भस्थ शिशु को सजीव पुत्र के समान अधिकार होते है, बशर्ते कि वह जीवित उत्पन्न हो जाय।[2] संक्रमण के बाद जन्म लेने वाले पुत्र को यह अधिकार नहीं होता।[3] बम्बई व मद्रास में चूँकि एक समांशी को अपने अविभक्त हित के हस्तान्तरण करने का हक होता है, इसलिए पिता-कृत असमर्थनीय संक्रमण को पुत्र केवल अंशतः उत्सादित करा सकता है; अन्य प्रान्तों में पूर्ण रूपेण। दत्तक पुत्र ऐसे संक्रमण के विरुद्ध आक्षेप नहीं कर सकता जो गोद लेने के पूर्व ही पूर्णता प्राप्त कर चुका हो। इलाहाबाद हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में असंक्रणकर्ता समांशी वर्ग के अतिरिक्त, संक्रान्तग्राही से भिन्न ऐसा व्यक्ति भी असमर्थनीय पूर्व-हस्तान्तरण के विपरीत आक्षेप कर सकता है, जिसने संयुक्त सम्पदा में सम्पूर्ण हित को, या तो हस्तान्तरण की रीति से या कब्जा मुखालिफाना के आधार पर, प्राप्त कर लिया हो।[4] चूंकि स्वतः संक्रमणकर्ता अपने ही किये हुए हस्तान्तरण को अवैध नहीं करा सकता, अतः केवल उसी के हित का हस्तान्तरग्राही भी ऐसा नहीं कर सकता। संक्रान्तग्राही के अधिकार अपने संक्रमणकर्ता से अधिक नहीं होते। किन्तु अदालती नीलाम का खरीदार सम्पत्ति के प्रभु का प्रतिनिधि नहीं होता है। इसलिए ऐसा खरीदार पूर्व-संक्रमण के विरुद्ध आक्षेप कर सकता है, चाहे उसने केवल आंशिक हित को खरीदा हो। असंक्रमणकर्ता समांशी की सम्पदा का जो प्रत्यावर्ती दायाद हो, वह भी अन्य समांशी-कृत संक्रमण के विपरीत आक्षेप कर सकता है।[5] ये सब

१. "नारायण प्र० ब० सरनाम सिंह (१९१७) ४४, इ० ए० १६३।
२. "वसैया ब० वसलिंगप्पा" (१९४७), बम्बई ७५०।
३. "विश्वेश्वर राव ब० सूर्य राव" (१९३६) ५९, मद्रास ६६७।
४. "किशोरी ब० बैजनाथ" (१९२८) ३, लखनऊ ५९८।
"मदनलाल ब० छिद्दू" (१९३१) ५३, इलाहाबाद २१।
५. "जयपाल सिंह ब० लछमनसिंह" (१९३५) ९, लखनऊ ६५७।

समस्याएँ इसलिए उठती हैं कि अभी यह बात संदिग्ध है[1] कि एक समांशी-कृत असमर्थनीय हस्तान्तरण आरम्भतः शून्य है अथवा शून्यकरणीय है। यदि वह आदि से ही शून्य है, तो बहुत-सी शंकाओं का स्वयमेव शमन हो जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या एक अजनवी भी असमर्थनीय हस्तान्तरण पर आक्षेप कर सकता है.? नहीं, किन्तु दक्षिण भारत में ऐसा हस्तान्तरण शून्य होता है जो बिना प्रतिकर के हो। अतः वहाँ इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होगा।[2] इसी जगह यह उल्लेखनीय है कि यदि हस्तान्तरण शून्य है तो सफल आक्षेपक प्रारम्भ से ही अन्तःकालीन लाभ या हर्जाने (मीन प्राफिट्स) का अधिकारी हो जायगा। यदि वह शून्यकरणीय है तो हर्जाना तब से लगाया जायगा जब अवैधता की घोषणा अदालत ने कर दी हो।[3] अब उन उपायों को भी जान लेना चाहिए जो आक्षेपक को कर्तव्य हैं।

जो हस्तान्तरण शून्य हों उनके लिए मुकदमेबाजी करना अनावश्यक है। फिर भी घोषणा का दावा दायर किया जा सकता है। जो हस्तान्तरण शून्यकरणीय हों, उनके विरुद्ध मुद्दई व्यक्तिगत, न कि प्रतिनिधि की हैसियत से, केवल इस बात की घोषणा का दावा दायर कर सकता है कि आक्षिप्त संक्रमण मेरे हित को प्रभावित नहीं करता है।[4] यदि हस्तान्तरग्राही का कब्जा हो गया हो, तो उसी दावे के अन्दर उसको वापसी कब्जे तथा दावे की तारीख से अन्तःकालीन लाभ के लिए याचना करनी चाहिए। उस तारीख से पूर्व के हर्जे का वह अधिकारी नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी (मुद्दाअलेह) को हम अनधिकृत प्रवेशक नहीं कह सकते।[5] यदि दावे की मियाद निकल जाने दी जाती है तो संक्रान्तग्राही का स्वत्व पक्का होकर दृढ व अटल बन जाता है।

इन सभी उपचारों के प्रयोगार्थ कानून ने कालावधि या मियाद नियत कर रखी है, जिसको "अवधि अधिनियम" या "कानून मियाद" कहते हैं। उस अधिनियम के अनुसार जिस तारीख से संक्रान्तग्राही कब्जा करे उसके बारह साल के भीतर सक्रमण

१. "नारायण ब० सरनाम सिंह" (१९१७) ४४, इ० ए० १६३।
"रामसहाय ब० प्रभूदयाल" (१९२१) ४३, इलाहाबाद ६५५।
"अंगराज ब० रामरूप" (१९३१) ६, लखनऊ १५८।
"मलकचन्द ब० हीरालाल" (१९३६) ११, लखनऊ ४४९।
२. "श्रीपति ब० लिंगमूर्ति" ए० आई० आर० १९६२, आन्ध्र प्र० १७३।
३. "सुब्बा ब० कृष्णमचारी" (१९२१) ४५, मद्रास ४४९।
४. "के० वेंकट ब० रामलिंगम", ए० आई० आर० १९५७, आंध्र प्र० ७४४।
५. "सुब्बा ब० कृष्णमाचारी" (१९२१) ४५, मद्रास ४४९।

रद्द कराने के लिए दावा दायर हो जाना चाहिए (देखिए, अवधि अधिनियम का आर्टिकिल १२६) । मान लीजिए कि सक्रणमकर्ता के दो पुत्र हैं, जिनमें राम तो संक्रमण के समय वयस्क और खेम पाँच साल का अवयस्क है। राम बारह साल के भीतर उत्सादन का दावा नहीं करता। क्या खेम भी, जो अब सत्रह साल का है, अपना हक खो बैठा ? नही, अठारह साल का (यानी वयस्क) हो जाने तक तो मियाद उसके विपरीत चल नही सकती। उसके बाद की रियायत उत्सादन का दावा दायर करने के लिए तीन वर्ष और उसको कानून देता है।[1] किन्तु यदि राम इसी अन्तर में मैनेजर के पद पर आसीन हो जाता है, तो सूरत बदल जाती है। अब कुटुम्ब के मैनेजर की हैसियत से वह ऋण का उन्मोचन या बेबाकी प्रदान कर सकता है। इसलिए राम व खेम दोनों का दावा एक साथ मियाद आरिज (अवधि प्रतिबन्धित) हो जायगा।[2] ज्ञातव्य है कि अवधि-अधिनियम की धारा ६ वाली उपरोक्त तीन साल की रियायत उसी पुत्र को मिलती है जो सक्रमण के समय मौजूद हो।[3] यह भी ज्ञातव्य है कि पितामह-कृत संयुक्त सम्पदा के असमर्थनीय हस्तान्तरण के उत्सादन के लिए उस समांशी को, जो सक्रमणानन्तर पैदा हुआ हो, बारह वर्ष की अवधि आर्टिकिल १४४, अवधि-अधिनियम के अनुसार मिलती है और यह अवधि संक्रमण की तारीख से गिनी जाती है।[4]

दायभागीय अन्य-संक्रमण

अन्य-संक्रमण का विषय मिताक्षरा के अन्दर जितना कठिन है, उतना ही दायभाग के अन्दर सरल है। दायभाग में तो समांशियों को अपने हितों का हिबा, रेहन व बै कर देने की सम्पूर्ण स्वतत्रता है और इसके लिए अन्य समांशियों की सहमति लेने की जरूरत नहीं होती। संक्रान्तग्राही को दस्तावेज के परिपूर्ण (मुकम्मिल) होते ही स्वत्व मिल जाता है। किन्तु यदि वह सम्पदा की किसी विशेष मद पर आँख लगाये है तो उसको बटवारे की शरण लेनी पड़ेगी। उस दशा में उसको आम बटवारे का दावा करना चाहिए। किन्तु यदि किसी विशेष मद का ही भाग बिका है, अथवा संक्रमणकर्ता

१. "जवाहर सिंह ब० उदयप्रताप" (१९२६) ५३, इ० ए० ३६।
२. "करनसिंह ब० तेतर कुँअर" (१९३७) १६. पटना ४२२।
३. "रनोदीपसिंह ब० परमेश्वरप्रसाद (१९२५) ५२, इलाहाबाद ६९।
४. "जीवाजी केशव ब० वेंकटेश कृष्ण" (१९४०), बम्बई १०९।

का किसी विशेष मद में ही भाग है, तो आम बटवारे का नहीं, उसी मद के बटवारे का दावा पर्याप्त है।[1]

समांशिता वाली सम्पदा के अन्य-संक्रमण से सम्बन्धित उपरोक्त विषयों के ऊपर मिताक्षरा तथा दायभाग के दृष्टिकोण से मनन करने के बाद, अब पहले ऋणों के ऊपर विचार किया जायगा। तदुपरान्त अन्य विषयों, यथा विभाजन, स्त्रीधन, दत्तक ग्रहण, विवाहादि सम्बन्धी कानून अलग-अलग प्रकरणों में प्रस्तुत किये जायंगे।

१. "तारिणीचरण ब० देवेन्द्रलाल" (१९३५) ६२, कलकत्ता ६५५।

प्रकरण १०

ऋण

मिताक्षार व दायभाग में

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽथवा।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥
रिक्थग्राहऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ॥
सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम्।
वृथादानां तथैवेह पुत्रो दद्यान् न पैतृकम् ॥ (याज्ञवल्क्य)

याज्ञवल्क्य के इस आदेश की व्याख्या मिताक्षरा ने यह की है (१-१-३)— "चाहे पुरुष सन्तान दाय पायें या कुछ न पायें, वे पिता-पितामह का ऋण चुकाने को बद्ध होते हैं। प्रपौत्र ने यदि रिक्थ नहीं पाया है तो वह प्रपितामह का ऋण अदा करने को बद्ध नहीं है। पौत्र ब्याज न दे सिर्फ मूल अदा करे। पुरुष सन्तान तभी देनदार होते हैं जब या तो पूर्वज मृत हो गया हो, या परदेस चले जाने के बाद कोई संवाद न भेजा हो, या असाध्य रोग से ग्रस्त हो। वे लोग सुरापान, स्त्रीगमन, जुआ या अन्य कुकर्म सम्बन्धी ऋण के देनदार नहीं हैं। पूर्वज के रिक्थ को उत्तरजीविता-अधिकार से अथवा उत्तराधिकार से पाने वाला व्यक्ति ऋण का देनदार होता है।" हिन्दू जाति का यह विश्वास है कि ऋण मोचन के बिना जीव का उद्धार नहीं होता है। यथा—

पूजनीयास्त्रयोऽतीता उपजीव्यास्त्रयोऽग्रतः।
एतत्पुरुषसन्तानमृणयोः स्याच्चतुर्थके ॥
तपस्वी चाग्निहोत्री च ऋणवान् म्रियते यदि।
तपश्चैवाग्निहोत्रं च सर्वं तद्धनिनां धनम् ॥ (नारद ४-६-९)
पितॄणां सूनुभिर्जातै र्दानेनैवाधमादृणात्।
विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान् ॥
उद्धारादिकमादाय स्वामिने न ददाति यः।
स तस्य दासो भृत्यः स्त्री पशुर्वा जायते गृहे ॥ (कात्या० ५५१, ५९१)

ऋण अति प्राचीन शब्द है, जिसका आशय है दायित्व और वह दो प्रकार का होता है—लौकिक व पारलौकिक। पारलौकिक ऋण के तीन भेद हैं; देव-ऋण, जिसका मोचन यज्ञादि के द्वारा, ऋषि-ऋण, जिसका मोचन धार्मिक अध्ययन के द्वारा, पितृ-ऋण, जिससे उद्धार पुत्र-उत्पत्ति के द्वारा होता है। इन ऋणों से मुक्ति पाने की प्रबल आकांक्षा ने ही लौकिक ऋण के चुकाने की इच्छा को अतीत में जन्म दिया होगा, ऐसा महामहोपाध्याय काणे का अनुमान है।[1] लौकिक ऋण मनुष्य निजी अभिप्राय से ले सकता है, जिसको व्यक्तिगत ऋण कहेंगे और उसी तरह के ऋण पर यहाँ चिन्तन करना है। मनुष्य कुटुम्बार्थ भी ऋण ले सकता है जिसके ऊपर 'सयुक्त कौटुम्बिक ऋण' के नाम से पिछले प्रकरण मे विचार हो चुका है।

एक हिन्दू पृथक् सम्पदा का स्वामी भी हो सकता है और समांशी के नाते संयुक्त सम्पदा मे अविभक्त अश का स्वामी भी। यह बात स्मरणीय है। उसकी पृथक् सम्पत्ति के ऊपर तो उसके व्यक्तिगत ऋण की देनदारी जीते-मरते सदैव बनी रहती है। प्रश्न यह है कि उसके अविभक्त अश के ऊपर यह देनदारी किस मात्रा में है और कब तक बनी रहती है। यदि उसका अविभक्त अंश उसकी मृत्यु के पूर्व उसका ऋण चुकाने के लिए बिक अथवा कम से कम कुर्क नही हो चुका है, तो उत्तरजीवी समांशियों के अश मे वह विलीन होकर महाजन की पहुँच के परे हो जायगा। इस नियम का एक महत्व-पूर्ण अपवाद है। पिता, पितामह व प्रपितामह के निजी किन्तु व्यावहारिक ऋण का भरना पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का अपरिहार्य **धार्मिक कर्तव्य** (पायस अब्लीगेशन) होता है। इस कर्तव्य को निबाहने के लिए पैतामही सम्पत्ति में जो उनका अंश है, वह भी बिक जा सकता है। अर्थात् मृत ऋणी का अश उत्तरजीविता के नियमानुसार अब उनके अश में विलीन हो चुका है, इसलिए पूरी संयुक्त सम्पदा ऐसे ऋण की देनदार बन जाती है और इस परिणाम में कोई भी अन्तर नही पड़ सकता, चाहे पिता, पितामह व प्रपितामह के जीवनकाल में कुर्की हो चुकी हो या न हुई हो। याद रखिए कि इस धार्मिक कर्तव्य में उपरोक्त सन्तति का व्यक्तिगत दायित्व न होने से उन लोगों की पृथक् सम्पदा के ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं आ सकती। यदि इन लोगों के पास पैतामही सम्पत्ति नहीं है तो उस ऋण का भार उन पर नही आ सकता। याद रहे कि दायाद के सम्बन्ध में उसका ऋणी के साथ क्या नाता था इस तथ्य का कोई महत्व नहीं रहता। नाते का महत्व उस हालत में होता है कि जब मृत ऋणी के ऋण की देनदारी संयुक्त सम्पदा के ऊपर डालने का प्रश्न उठता है।

१. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ४१५–१६।

मृत ऋणी की पृथक् सम्पदा जिस दायाद को मिलती है उसकी ऋणों के लिए कहाँ तक देनदारी रहती है ? इसका उत्तर यह है कि दायाद, चाहे वह पुत्र या पौत्र क्यों न हो, व्यक्तिगत रूप से ऋण चुकाने का जिम्मेदार नहीं होता। उसकी जिम्मेदारी उस सम्पत्ति तक सीमित रहती है जो उसने उत्तराधिकार में पायी हो।[1] चूंकि दायित्व इस प्रकार से सीमित हो गया है इसलिए व्यावहारिक और अव्यावहारिक ऋण में भेद करने की जरूरत भी नहीं रह जाती। यह नियम सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" के अनुकूल है और सारे भारत में लागू है। अब दूसरे प्रश्न के ऊपर विचार किया जाता है।

मृतक का संयुक्त सम्पदा में जो अविभक्त अंश है वह उस समांशी के व्यक्तिगत ऋणों के लिए कहाँ तक जिम्मेदार होता है ? उत्तर यह है कि जब वसूली की आशा केवल अविभक्त अंश से हो, अर्थात् ऋणी के पास कोई पृथक् सम्पदा हो ही नहीं, तब महाजन को सजग रहना चाहिए और ऋणी के मरने के पहले उसके अविभक्त अंश को कुर्क कराकर बिकवा देना चाहिए। यदि वह बिक न सके, तो कुर्क अवश्य हो जाना चाहिए;[2] अन्यथा ऋणी का अंश उत्तरजीविता के नियमानुसार सयुक्त सम्पदा में विलीन होकर अस्तित्व खो बैठेगा और महाजन हाथ मींजता रह जायगा। इस नियम का पितृ-ऋण सम्बन्धी अपवाद ऊपर बता दिया गया है। पाठकों को जाब्ता दीवानी की वह कार्यवाही तो मालूम होगी, जिसको "निर्णय के पूर्व कुर्की" या "कुर्की कब्ल अज फैसला" (अटैच्मेण्ट बिफोर जजमेण्ट) कहते हैं, जिसमें वादी अपने ऋणी की सम्पत्ति को निर्णय की प्रतीक्षा में कुर्क करा सकता है (क्या इसको निर्णयासन्न कुर्की की संज्ञा दी जा सकती है ?) प्रश्न होगा कि इस कार्यवाही के बाद किन्तु निर्णय के पहले या पीछे ऋणी की मृत्यु हो जाने का विलयन के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा ? उत्तर यह है कि निर्णय के पूर्व यदि प्रतिवादी मर जाता है, तब तो विलयन का निवारण हो नहीं सकता।[3] किन्तु यदि वह बाद में मरता है तो विलयन नहीं होना चाहिए।[4] विलयन वाले उपरोक्त नियम में सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ६ ने जो हेर-फेर किया है, उससे महाजन की प्रत्याशा कुछ अधिक बढ़ गयी है।

१. "लल्लू ब० त्रिभुवन" (१८८९) १३, बम्बई ६५३।
२. "सू० वंसी कुँअर ब० शिव प्रसाद" ६, इ० ए० ८८।
"एस० एम० वी० सिंह ब० महन्त ठाकुरदास" (१९४०) १५, लख० ५०३।
३. "के० गौंडन ब० एम० गौंडन" (१९४३), मद्रास ३९७।
४. "शंकर लिंग ब० आफिशल रिसीवर" (१९२५) ४९, मद्रास ला जर्नल ६१६।

हिन्दू ला में पैतृक ऋण का विशेष रूप होता है और संयुक्त सम्पदा के ऊपर उसकी विलक्षण प्रतिक्रिया होती है। यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि मैनेजर के रूप में जब पिता कुटुम्बार्थ ऋण लेता है तो पुत्र, पौत्र व प्रपौत्र के संयुक्त सम्पदा में जो अंश हैं उन (अंशों) के ऊपर भी ऋण की देनदारी चढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में, ये तीनों वंशज संयुक्त सम्पदा में अपने हितों की मात्रा पर्यन्त ऐसा कर्ज चुकाने के लिए बद्ध हो जाते हैं। यदि संयुक्त परिवार का पिता-मैनेजर कुटुम्बार्थ नहीं, स्वार्थ ऋण ले तो क्या परिणाम पैदा होगा ? पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के ऊपर इस दशा में भी उस ऋण को भुगताने की जिम्मेदारी आ जाती है और उससे वे छुटकारा नहीं पा सकते; जब तक यह प्रमाण न मिले कि ऋण सुरापान, काम और द्यूतादि कुत्सित कर्मों के निमित्त अथवा बटवारे के बाद लिया गया था।[1] ध्यान रहे कि इतना ही साक्ष्य देना पर्याप्त नहीं होता कि ऋणी सुरा, काम, द्यूतादि कुकर्मों में स्वभावतः रत रहता था, अपितु यह आरोप स्पष्टतया प्रमाणित होना आवश्यक है कि ऋण उन कुकर्मों के प्रयोजन से लिया गया था। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इस "धार्मिक दायित्व" से बद्ध माने जाते हैं कि वे अपने पूर्वज का उस कुगति से निस्तार करें जो ऋणी मृतक को परलोक में प्राप्त होती है। उपरोक्त उपाय के अतिरिक्त इस धार्मिक बन्धन से मुक्ति पाने की विधि है ही नहीं; अर्थात् वंशज यह अभिकथन करने से बच नहीं सकते कि पिता कुटुम्ब का गृहपति या मैनेजर नहीं था, अथवा समांशिता में हमारे अलावा और भी सदस्य थे।[2] सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने इस "धार्मिक दायित्व" का उन्मूलन नहीं किया है।

इसके विषय में सुप्रीम कोर्ट का यह वचन उल्लेखनीय है—"इस सिद्धान्त का आधार आध्यात्मिक है और उसका मात्र लक्ष्य है पिता को आध्यात्मिक प्रलाभ या उसकी आत्मा को शान्ति, सांत्वना प्रदान करना। इसका अभिप्राय महाजन को किसी प्रकार से लाभान्वित करना कदापि नहीं है।"[3] इस "धार्मिक दायित्व" को जन्म-स्वत्ववाद का आवश्यक निष्कर्ष कहना सुसंगत होगा। अतएव जिन ईसाई और मुसलमानी कबीलो

१. "हनुमान प्र० ब० मु० बबुई" (१८५६) ६, मूर्स, इ० ए० ३९३।
"चोकलिंगम ब० मुट्ठू कुरुप्पन" (१९३८), मद्रास १९१९।
"जगमोहन ब० रणछोड़दास" (१९४५), नागपुर ८९२।
२. "सिद्धेश्वर मुकर्जी ब० भुवनेश्वर प्र०", ए० आई० आर० १९५३, सुप्रीम कोर्ट ४८७।
३. "लुहर ब० दोशी", ए० आई० आर० १९६०, सुप्रीम कोर्ट ९६४।

के अन्दर संयुक्त कुटुम्ब वाली प्रणाली प्रचलित है, उनके भी पुत्र-पौत्रादि हिन्दुओं के सदृश इस "धार्मिक दायित्व" से बद्ध समझे जायेंगे।[१] यह सब होते हुए यह दायित्व व्यक्तिगत दायित्व नही होता, अर्थात् महाजन पुत्र-पौत्रादि के शरीर या पृथक् सम्पदा के विपरीत वसूलयाबी की कोई कार्यवाही नहीं कर सकता है।

यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय है। पैतृक ऋण की देनदारी वशजों के ऊपर सब ही धर्मशास्त्र डालते हैं। यथा—

क्रमादव्याहतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम्।
दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते॥ (नारद ४–५)
ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं देयं पुत्रैर्विभावितम्।
पैतामहं समं देयमदेयं तत्सुतस्य तु॥ (बृहस्पति)
पुत्राभावे तु दातव्यमृणं पौत्रेण यत्नतः।
चतुर्थेन न दातव्यं तस्मात्तद्विनिवर्तते॥ (कात्यायन ५६०)

किन्तु उनमें इस बात पर मतभेद है कि यह पुनीत तथा "धार्मिक दायित्व" तीसरी पीढ़ी तक चलता है या चौथी तक। विष्णुधर्मसूत्र (४–२८) तीसरी पीढ़ी पर इसको समाप्त कर देता है, किन्तु नारद व कात्यायन इसको चौथी पीढ़ी तक खींच लाते हैं। मिताक्षरा ने समन्वय तथा संतुलन करके यह व्याख्या की है कि प्रपौत्र उस दशा में देनदार नहीं है जब उसने पैतामही सम्पदा न पायी हो, किन्तु यदि उसने पायी है तो अवश्य देनदार है।[२]

अब प्रश्न उठते है कि उपरोक्त देनदारी किस दशा में उपजती है और कब तक जीवित रहती है? पिता ने जो कर्ज बटवारे के पश्चात् लिया है उसकी देनदारी वंशजों पर नही आती। किन्तु यदि कर्ज बटवारे के पहले का है और उसकी मियाद ऐसी अंगीकृति द्वारा कायम रही है जो पिता ने बटवारे के पहले या बाद में की है, तब तो देनदारी भी जीवित रहेगी।[३] अर्थात् उपरोक्त देनदारी तब तक और तभी तक जीवित रहती है जब तक पिता उक्त ऋण के लिए देनदार बना रहता है। उदाहरणार्थ यदि

१. "चिन्न स्वामी ब० ऐन्थोनी स्वामी", ए० आई० आर० १९६१, केरल १६१।
२. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ४४२–४५।
३. "लालता प्र० ब० गजाधर शुक्ल" (१९३३) ५५, इलाहाबाद २८३। "टी० एम० एम० रेड्डी ब० एम० गंगाराजू" (१९४२), मद्रास ५५।

दिवालिया घोषित होने के बाद पिता ने उन्मुक्ति का आदेश प्राप्त कर लिया है तो पुत्र अवशिष्ट ऋणों के लिए देनदार नहीं बनाया जा सकता है।

पिता के जीवन काल में उपरोक्त दायित्व पैदा हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न को लेकर शास्त्रार्थ चलने लगा था। इलाहाबाद हाई कोर्ट ने यह निर्णय किया कि पिता जब तक जीवित है तब तक पुत्र की जिम्मेदारी पैदा नहीं हो सकती।[1] बम्बई व मद्रास ने विपरीत निर्णय दिया।[2] इस विवाद को प्रिवी कौंसिल[3] ने बम्बई व मद्रास के निर्णयों का अनुमोदन करते हुए शान्त कर दिया। ज्ञातव्य है कि खालिस हिन्दू ला से उपरोक्त देनदारी वाला नियम दो बातों में विचलित हो गया है। अदालतों के द्वारा उसका निर्वचन तथा प्रयुक्ति इस विचलन का हेतु है। एक तो खालिस हिन्दू ला में पिता की मृत्यु या अज्ञातवास या असाध्य रुग्णता के कारण पुत्रादि का "धार्मिक दायित्व" उत्पन्न होता है। नजीरी हिन्दू ला में पिता के जीवन काल में भी यह दायित्व पुत्रादि को बाध्य करता है। दूसरे, प्रथम में दायित्व व्यक्तिगत माना जाता है, अतः पुत्रादि की पृथक् सम्पत्ति भी बिक जा सकती थी। द्वितीय में देनदारी पैतामही सम्पत्ति तक ही सीमित रहती है।[4]

ऊपर कहा गया है कि बटवारे से पूर्व वाले पितादि के ऋण की देनदारी पुत्र पर आती है; यदि वह ऋण अव्यावहारिक (यानी कुत्सित और अवैध) न हो, तथा बटवारे के अवसर पर उसके चुकाने की राह न निकाली गयी हो। प्रश्न होगा कि पुत्र के विपरीत इस दायित्व का निष्पादन किस विधि से किया जाय ? यदि बटवारे के पहले दावा दायर हो जाता है तब तो कोई कठिनाई नहीं पड़ती। पिता के ऊपर पारित उस डिग्री के इजराय में पुत्र का अंश भी कुर्क व नीलाम हो सकता है।[5]

१. "किशनसिंह ब० छज्जूसिंह" (१९२३) ४५, इलाहाबाद ९०।
२. "सामराव ब० वन्नाजी" (१९३३) ४६, मद्रास ६४।
"हनुमन्त ब० गनेश" (१९१९) ४३, बम्बई ६१२।
३. "ब्रजनारायण ब० मंगलाप्रसाद" (१९२४) ५१, इ० ए० १२९।
४. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ४४८ व ४५३।
५. "बांकेलाल ब० दुर्गाप्रसाद" (१९३१) ५३, इलाहाबाद ८६८।
"रघुनंदन ब० मोतीराम" (१९३१) ६, लखनऊ ४९७।
"कुलदा ब० हरिपद" (१९१३) ४०, कलकत्ता ४०७।
"सुब्रह्मण्य ब० सभापति" (१९२८) ५१, मद्रास ३६१।
"अन्नभात ब० शिवप्पा" (१९२८) ५२, बम्बई ३७६।

परन्तु यदि बटवारे के बाद दावा दायर हुआ है तो पिता के विरुद्ध पारित डिग्री के इजराय में पुत्र के ऊपर कोई कार्यवाही नहीं हो सकती है। ऐसी दशा में महाजन को दूसरी डिग्री पुत्र के ऊपर दूसरा दावा दायर करके प्राप्त करनी पड़ेगी।[१] तब कहीं पुत्र का भाग कुर्क व नीलाम हो सकेगा। पूर्वोक्त दशा में पिता की हैसियत कौटुम्बिक प्रतिनिधि की समझ ली जा सकती है तथा इजराय डिग्री की कार्यवाही में पुत्र ऋण की अव्यावहारिकता की आपत्ति उठा सकता है। दूसरी दशा में पिता को प्रतिनिधि कह सकते ही नहीं तथा बिना पृथक् दावे के पुत्र को अव्यावहारिकता का अभिकथन करने का अवसर मिल नहीं सकता। यदि दावा बटवारे के बाद पिता के विरुद्ध दायर हुआ हो, तत्पश्चात पिता मर गया हो और उसके वैध प्रतिनिधि के नाते पुत्र को पक्ष बनाने पर उसके विपरीत डिग्री पारित हो गयी हो, ऐसी दशा में भी पुत्र के भाग को डिग्रीदार कुर्क करा सकता है और पुत्र अव्यावहारिकता का अभिकथन इजराय की कार्यवाही में कर सकता है। पृथक् दावा दायर करना अनावश्यक और व्यवहार-प्रक्रिया (जाब्ता दीवानी) संहिता की धारा ४७ के अनुसार अनधिकृत भी है।

प्रपौत्र के "धार्मिक दायित्व" के ऊपर जो उपरोक्त मतभेद धर्मशास्त्र के भीतर था और जिसका समाधान मिताक्षरा में कर दिया गया था, उसको प्रिवी कौंसिल ने भी मिताक्षरा की तरह समाहित कर दिया है। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तीनों इस "धार्मिक दायित्व" से बद्ध मान लिये गये हैं।[२] इन तीन जनों के दायित्व को देखकर कहीं यह भ्रम न हो जाय कि क्या एक समांशी के व्यक्तिगत ऋण के देनदार इसी अतिदेश से अन्य समांशीगण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि राम अपने भतीजे मान के साथ एक संयुक्त कुटुम्ब संघटित करता है, तो राम के व्यक्तिगत कर्जे वाली डिग्री के इजराय में मान का भाग कुर्क होकर नीलाम पर नहीं चढ़ सकता।[३]

पितृ-ऋण के विषय में वंशजों के धार्मिक दायित्व के कई पहलुओं पर विचार किया गया। उसी "धार्मिक दायित्व" का एक अति महत्वपूर्ण तथा हिन्दू ला रूपी

"अतुलकृष्ण राय ब० लाला नन्दन (१९३५) १४, पटना ७३२।
"फर्म गोविन्दराम द्वारकादास ब० नत्थूलाल" (१९३८), नागपुर १०।
"जवाहरसिंह ब० प्रदुमनसिंह" (१९३३) १४, लाहौर ३९९।

१. "पन्नालाल ब० मु० नारायणी", ए० आई० आर० १९५२, सु० कोर्ट १७०।

२. "मसीतुल्ला ब० दामोदर प्र०" (१९२६) ५३, इ० ए० २०४।
"शिवराम ब० दुर्गा" (१९२८) ३, लखनऊ ७००।

३. "हरिप्रसाद ब० सुरेन्द्र" (१९२२) १, पटना ५०६।

सागर को क्षुभित कर देने वाला रूप अब यहाँ प्रस्तुत किया जायगा। पिता अपने निजी व्यावहारिक व प्राग्विभाजनीय ऋण को अपने पुत्रादि के सिर मढ़ देने के लिए अधिकृत होता है। इसी हक के फलस्वरूप उसको यह भी अधिकार है कि अपने ऐसे ऋण के लिए उनके हितो को अन्य-संक्रमण के द्वारा बन्धेज में डाल दे। उसको यह सोच-विचार करने की जरूरत नहीं होती कि अपनी निजी आय से मैं इस ऋण को सम्भवतः चुका सकूँगा या नहीं। न उसको इन लोगों को संक्रमण की कोई सूचना देने की जरूरत है। वह इन बन्धनों व झंझटों से परे है, और कर्ज लेने के बाद तुरन्त वह अन्य-संक्रमण कर दे सकता है। अर्थात् अपने पूर्ववर्ती ऋण को भरने के लिए पिता अपनी पुरुष सन्तानों के हितों को बेंच दे सकता है। उसके इस अधिकार का प्रयोग अदालत भी कर सकती है; अर्थात् जो डिग्री केवल पिता के विरुद्ध पारित हुई है उसमें पुत्रादि को बिना पक्ष बनाये हुए उसके इजराय में उन लोगों के हितों को वह कुर्क व नीलाम कर डाल सकती है।[1]

पूर्ववर्ती ऋण (ऐण्टीसीडेण्ट डेट) वाला यह मत धर्मशास्त्र में नहीं पाया जाता है। किन्तु इससे क्या होता है ? प्रिवी कौंसिल के निर्णयों ने उसका हिन्दू ला के अन्दर इतना गहरा और दृढ शिलान्यास कर दिया है कि बौद्धिक आशय से उसको इतने दिनों के बाद डिगाना और हटाना अहितकर तथा अवांछनीय प्रतीत होता है। धर्मशास्त्र के जन्म-स्वत्ववाद से उत्पन्न धार्मिक दायित्व रूपी रसाल वृक्ष के ऊपर "प्राग्वर्ती ऋण" रूपी यह विजातीय कलम बाँध दी गयी और अब वह विचारधारा हिन्दू ला का अंग बन गयी है। प्राग्वर्ती ऋण उस अंग्रेजी शब्द "ऐण्टीसीडेण्ट डेट" का हिन्दी अनुवाद है जिसका प्रयोग प्रिवी कौसिल ने पहले-पहल अपने सन १८५६ वाले फैसले "हनूमान प्रसाद पाण्डेय ब० मु० बबुई" (६ मूर्स, इ० एपील्स ३९३) में किया था। तदनन्तर उसके बल पर कई एक नजीरों ने[2] इस मत का प्रतिपादन किया कि उस डिग्री के इजराय में, जो हिन्दू पिता के ऊपर व्यक्तिगत रूप से पारित हो चुकी है, संयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा कुर्क व नीलाम हो सकती है। इस मत की शुद्धता मे प्रिवी कौंसिल के "साहूराम बनाम भूपसिंह" वाले फैसले (१९१५–४४, इण्डियन एपील्स

१. "पन्नालाल ब० मु० नारायणी", ए० आई० आर० १९५२, सुप्रीम कोर्ट १७०।
२. "लुहर ब० दोशी", ए० आई० आर० १९६०, सु० को० ९६४ (९७०)।
३. "मधुसूदन ब० ईश्वरी" ४८, कलकत्ता ३४१।
"हनुमन्त ब० गनेश" ४३, बम्बई ६१२।
"अर्मुघम ब० मुट्टू" ४२, मद्रास ७११।

१२६) ने सन्देह पैदा कर दिया था, जिसका निवारण सन् १९२३ में प्रिवी कौंसिल ने "ब्रजनारायण बनाम मंगलप्रसाद" (५१ इ० ए० १२९) वाला फैसला देकर कर दिया। इस नजीर में जो पाँच स्पष्ट प्रस्थापनाएँ व्यक्त की गयीं वे शास्त्रीय सूत्र बन गयी हैं। यथा—

(१) सयुक्त अविभक्त कुटुम्ब का प्रबन्धक-समांशी, मैनेजर के नाते, सम्पदा को जोखिमग्रस्त या हस्तान्तरित नहीं कर सकता है, जब तक आवश्यक प्रयोजन न हो।

(२) यदि वह पिता है तथा अन्य सदस्य पुत्र हैं और वह व्यावहारिक ऋण लेता है, तो उस ऋण की डिग्री के इजराय में सारी सम्पदा बिक जा सकती है।

(३) यदि वह सम्पदा को रेहन के जरिये जोखिम में डालना चाहता है, तो जब तक रेहन प्राग्वर्ती ऋण को चुकाने के निमित्त न लिखा गया हो, तब तक वह (रेहन) सम्पदा को आबद्ध नहीं करेगा।

(४) प्राग्वर्ती ऋण का अर्थ यह है कि तथ्य और काल दोनों के हिसाब से ऋण आक्षेपित सक्रमण से पहले का हो, तथा उसी सक्रमण का अग न हो।

(५) ऐसा कोई नियम नहीं है कि यह परिणाम इस परिस्थिति द्वारा प्रभावित होगा कि वह पिता जीवित है या मृत, जिसने ऋण लिया था या जो सम्पदा को जोखिमग्रस्त कर रहा है।

महामहोपाध्याय काणे के मत से पहली व दूसरी सस्थापनाएँ तो धर्मशास्त्रानुकूल हैं। किन्तु तीसरी प्रस्थापना में साधारण धन-ऋण तथा बन्धक-ऋण के बीच जो भेद किया गया है, उसके लिए कोई स्मृति-सम्मत आधार नहीं है। प्राग्वर्ती ऋण तथा बन्धक के अवसर पर लिये गये ऋण में अन्तर करने का भी कोई शास्त्रीय समर्थन नहीं है। पिता के जीवन काल में ही उसके व्यक्तिगत ऋण के लिए पुत्र को देनदार बनाना भी धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।[1] डा० जी० सी० सरकार के मत में भी वर्तमान ऋण का प्राग्वर्ती ऋण से भेद करना तार्किक दृष्टि से असंगत है, क्योंकि दोनों दशाओं में पुत्रादि का "धार्मिक दायित्व" उपस्थित हो जाता है।[2] इस भेद के पक्ष में यह कहा जाता है कि प्राग्वर्ती ऋण की विद्यमानता के ऊपर इस उद्देश्य से जोर दिया जाता है कि उसके और पिता-कृत हस्तान्तरण के बीच जो समय बीतेगा, सम्भव है कि उस काल में पिता ऋण अदा कर दे, अथवा महाजन की असावधानी से मियाद ही निकल जाय और पैतामही सम्पदा सुरक्षित बच जाय। यदि एक तरफ यह संभाव्य

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृ० ४४९–५०।

२. डा० जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ३३४।

लाभ है, तो दूसरी तरफ एक संभाव्य हानि भी है। "प्राग्वर्ती ऋण" के दायित्व से बचने का जो मात्र उपाय ऋण की अव्यावहारिकता प्रमाणित करना है, उसमे कालान्तर वश निर्बलता और शिथिलता आ सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पिता-कृत पैतामही सम्पदा का अन्य-संक्रमण (बै या रेहन) "प्राग्वर्ती ऋण" के आधार पर समर्थनीय होता है, बशर्ते कि वह ऋण अव्यावहारिक न रहा हो। वह प्राग्वर्ती काल व तथ्य दोनों के हिसाब से होना चाहिए। जो धन रेहन करते वक्त लिया गया है वह प्राग्वर्ती ऋण नहीं गिना जायगा।[1] पहले वाले रेहननामे का नवीनीकरण यदि उसी मुर्तहिन (रेहनदार) के नाम कर दिया जाय, तो पहले वाला रेहन प्राग्वर्ती ऋण मान लिया जायगा, यद्यपि दोनों मुर्तहिन सम हैं। किन्तु यदि अपनी अवयस्क पुत्री का रुपया वसूल करते समय पिता सम्पत्ति को बन्धक रखते हुए क्षतिपूर्ति का दस्तावेज (इण्डेम्निटी बाण्ड) भर देता है, तो वह बन्धक भला कैसे प्राग्वर्ती ऋण कहा जा सकता है?[2]

ऋण के औचित्य का प्रमाणभार किस पक्ष पर रखा जायगा? यदि उत्तमर्ण (महाजन) प्राग्वर्ती ऋण की विद्यमानता, अथवा उसकी सच्ची व निष्कपट जाँच का प्रमाण देता है, तो प्रमाणभार उसके ऊपर से उतर कर पुत्रों के ऊपर यह सिद्ध करने के लिए आ जायगा कि वह ऋण दूषित प्रयोजनों से पिता ने लिया था। महाजन को यह साक्ष्य देने की जरूरत नहीं होती कि प्राग्वर्ती ऋण कुटुम्बार्थ लिया गया था। याद रखिए कि पुत्र इतना ही साक्ष्य देकर निश्चिन्त नहीं हो जाते कि पिता कुकर्मी और व्यभिचारी था, अपितु उनको ऋण तथा दुश्चरित्रता के बीच सीधा सम्बन्ध सिद्ध करना चाहिए।[3]

प्रमाणभार के अतिरिक्त इस प्रसंग में आठ और बातें ज्ञातव्य हैं—एक तो, "प्राग्वर्ती ऋण" तथा "कुटुम्बार्थ ऋण" दो परस्पर स्वतंत्र कारण हैं जो संयुक्त सम्पदा

१. "चतुर्भुज ब० गोविन्दराम" (१९२३) ४५, इलाहाबाद ४०७।
"शेक जान ब० बिक्कू" (१९२८) ७, पटना ७९८।
"बूटामल ब० गोपालसिंह" (१९३०) ११, लाहौर १६४।
२. "अल्ल वेंकट रामन्ना ब० पी० मनगम्मा इ०" (१९४४), मद्रास ८६७।
३. "तुलसीराम ब० विश्वनाथ प्र०" (१९२८) ५०, इला० १; "उद्मीराम ब० बलरामदास", ए० आई० आर० १९५६, नागपुर ७६।
"शंकरराव ब० कामता प्र०" (१९४६), नागपुर ८४४।

के संक्रमण का अनुमोदन सफलतापूर्वक कर सकते हैं। दोनों का प्रमाण देना निरर्थक है। दूसरे, "प्राग्वर्ती ऋण" मोचनार्थ संक्रमणाधिकार का प्रयोग पिता सयुक्तावस्था में ही कर सकता है, विभाजनानन्तर नही। तीसरे, यदि पुत्र का अविभाजित हित इजराय डिग्री में पहले ही कुर्क हो चुका है तो "प्राग्वर्ती ऋण" के नाम पर पिता उसका अन्य-संक्रमण करने से वञ्चित हो जाता है। चौथे, पिता "प्राग्वर्ती ऋण" के बदले पूरी सम्पदा को बै भी कर सकता है, और रेहन भी। यदि रेहननामे के आधार पर केवल पिता के विरुद्ध डिग्री पारित हुई है, तब भी उसके इजराय में पुत्रांश का वैध नीलाम हो जा सकता है। पाँचवें, मियाद निकल जाने से ऋण का नहीं, उसकी वसूली का शमन होता है। अतः मियाद आरिज (मर्यादा प्रतिबन्धित) ऋण भी "प्राग्वर्ती ऋण" बनने की क्षमता रखता है।[1] छठे, "प्राग्वर्ती ऋण" पिता के जिम्मे होना चाहिए अतः अन्य के ऋण के प्रतिभू (जामिन) के रूप से पिता यदि एक उपप्राधीय बन्ध (हाइपाथिकेशन बाण्ड) लिख दे तो वह पिता का "प्राग्वर्ती ऋण" नहीं गिना जायगा।[2] सातवें, संविदा-विघटन आदि के दावे में पिता के विरुद्ध हर्जाने की डिग्री को "प्राग्वर्ती ऋण" गिना जा सकता है, क्योंकि इन दशाओं में हर्जाने की राशि विनिश्चित हो जाती है और विनिश्चित राशि की देनदारी को ही ऋण कहते हैं। किन्तु 'हक शफा' की डिग्री मे वादी के ऊपर रकम अदा करने का आदेश नही रहता है। इसलिए वैसी डिग्री को "प्राग्वर्ती ऋण" नहीं माना जा सकता।[3] आठवें, यह याद रहे कि उपरोक्त विचार विमर्श में 'पिता' शब्द पितामह को और प्रपितामह को समाहित करता है, तथैव 'पुत्र' पौत्र व प्रपौत्र को समाहित करता है।

अब हम एक दूरव्यापी निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं। यह स्पष्ट है कि पिता-कृत संयुक्त सम्पदा का वह अन्य-संक्रमण पुत्र के हित को बद्ध नहीं कर सकता, जिसका हेतु या तो वैध आवश्यकता या "प्राग्वर्ती ऋण" न हो। तो क्या महाजन या खरीदार कानून के पक्षपात-रहित शासन के भीतर अपनी पूँजी को भी खो बैठेगा? नहीं, पुत्र का व्यावहारिक ऋण भुगताने का "धार्मिक दायित्व" ऐसे विवश संक्रान्तग्राही के हित में आयेगा। यदि ऋण अव्यावहारिकता से लांछित नहीं है, तो संक्रान्तग्राही अपने धन की पिता के विरुद्ध व्यक्तिगत डिग्री पारित कराकर सारी सम्पदा से अपनी रकम

१. "परमानन्द मिसिर ब० गुरुप्र०" (१९३६) ११, लखनऊ ३९३।
"जगदम्बिका ब० काली" (१९३०) ९, पटना ८४३।
२. "केसरचन्द ब० उ० चन्द" (१९४५) ७२, इ० ए० १६५।
३. "के० सहाय ब० रघुनाथ" (१९२९) ५१, इला० ४७६।

वसूल कर सकता है और पुत्रादि कोई आपत्ति नही कर सकते।[1] इस तरह के अनेक मामले अदालतों मे आते है और वे अधिकतर पिता द्वारा लिखे गये रेहननामे से सम्बन्धित होते है। उनमें रेहननामे अवैध पाये जाते है और इसलिए उनके आधार पर नीलाम व मोचन-रोध व मुर्तहनी (रेहन सम्बन्धी) कब्जे इत्यादि की डिग्री पुत्रों के हित के विरुद्ध नहीं पारित हो सकती। तब महाजन पिता के ऋण की वसूली का दावा "धार्मिक दायित्व" के आधार पर पुत्र के विरुद्ध दायर करके डिग्री पा सकता है। उसके इजराय में वह पुत्र के हित सहित पूरी सयुक्त सम्पदा को कुर्क व नीलाम करा ले सकता है। इस प्रकार की अदालती लड़ाई प्रायः निम्नोक्त तीन ढंगों से की जाती है।[2]

(१) मद्रास व बम्बई में, प्रत्येक समांशी अपने अविभक्त हित को रेहन करने का अधिकारी होता है, किन्तु विहार, उत्तर प्रदेश व बंगाल में ऐसा अधिकार नहीं होता। इसलिए मद्रास व बम्बई मे पहले पिता के हित की नीलामी डिग्री ले ली जाती है और फिर नीलामी राशि अपर्याप्त निकलने पर जाब्ता दीवानी के आर्डर ३४, रूल ६ की व्यक्तिगत डिग्री पिता के विरुद्ध ले ली जाती है और उसके इजराय में, "धार्मिक दायित्व" वाले अस्त्र का संधान करते हुए पुत्र के हित समेत सारी संयुक्त सम्पदा को नीलाम करके महाजन अपनी पूंजी वसूल कर लेता है। यह दोहरी कार्यवाही मद्रास की प्रणाली है। इसका सरलीकरण बम्बई में इस भाँति से हुआ है कि असमर्थनीय रेहननामे के आधार पर आरम्भ में ही सारी संयुक्त सम्पदा के नीलाम की डिग्री पारित कर दी जाती है।[3] उत्तर प्रदेश व बंगाल में रेहन की डिग्री (पिता के हित तक की भी) नहीं पारित हो सकती है और उसके बदले धनराशि की मामूली डिग्री पिता के ऊपर इस निदेश के सहित पारित कर दी जाती है[4] कि इजराय में पुत्र के

१. "स्कन्दस्वामी ब० कुप्पू" (१९२०) ४३, मद्रास ४२१।
"ब्रजनन्दन ब० विद्या प्र०" (१९१५) ४२, कलकत्ता १०६८।
"चन्द्रदेव ब० माताप्रसाद" (१९०९) ३१, इलाहाबाद १७६।
"पी० लिंगैया इ० ब० वी० पुन्नैया इ०" (१९४२), मद्रास ५०२।
२. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ४६१–६४।
३. स्कन्दस्वामी ब० कुप्पू" (१९२०) ४३, मद्रास ४२१।
"दत्तात्रेय ब० विष्णु" (१९१२) ३६, बम्बई ६८।
४. "जयनारायण ब० महावीरप्रसाद" (१९२७) २, लखनऊ २२६।
"महानिर्वानी ब० बिन्देश्वरी प्रसाद" (१९५२) १, इला० १०६।

हित समेत सारी संयुक्त सम्पदा नीलाम पर चढ़ायी जाय। उपरोक्त लड़ाई में पिता व पुत्र दोनों ही दावे में आरम्भ से प्रतिपक्षी बना लिये जाते हैं और दावा रेहननामे के आधार पर दायर होता है।

(२) दूसरी तरह की अदालती लड़ाई में केवल सक्रमणकर्ता पिता को प्रतिपक्षी बनाया जाता है। सक्रान्तग्राही को दो विकल्प प्राप्त रहते हैं। चाहे वह पिता के विरुद्ध धनराशि की सादी डिग्री प्राप्त करके उसके इजराय से "धार्मिक दायित्व" के आधार पर सारी संयुक्त सम्पदा को नीलाम पर चढ़ाये और पुत्र का हित भी बिकवा दे। पुत्र जब तक ऋण की अव्यावहारिकता प्रमाणित न करें, अपने भाग को बचा नहीं सकते। दूसरा विकल्प महाजन के लिए यह है कि बन्धक डिग्री लेकर सारी मुर्तहिनी (रेहन वाली) सम्पदा को नीलाम पर चढाये और बिकवा दे। पुत्र अपने भाग को मुक्त करने का भी दावा नहीं कर सकते और न यह अभिकथन करके अपना भाग बचा सकते हैं कि डिग्री में वे प्रतिपक्षी नहीं बनाये गये थे। उनका उद्धार (बचाव) तभी सम्भव है, जब वे ऋण की अव्यावहारिकता प्रमाणित कर दें।

(३) तीसरे प्रकार की मोर्चाबन्दी तब की जाती है जब ऋणी के देहान्त के अनन्तर ऋणदाता दावा दायर करता है, और पुत्र को प्रतिपक्षी बनाता है। यदि वह धनराशि की मामूली डिग्री लेता है तो पुत्र के हित के समेत सारी संयुक्त सम्पदा को इजराय के अन्दर नीलाम पर चढ़ा सकता है, बशर्ते कि धनराशि की डिग्री के लिए दावे की मियाद आरिज (प्रतिबन्धित) न हो चुकी हो। दूसरा उपाय महाजन के लिए उत्तर प्रदेश में है ही नही,[1] क्योंकि यहाँ एक समांशी अपने हित का रेहन कर ही नहीं सकता। मद्रास व बम्बई में महाजन अपने ऋणी के हित के ऊपर बन्धक वाली डिग्री लेकर उतने भाग को नीलाम पर चढ़ा सकता है।

यदि कदाचित् ऋण दूषित पाया जाय तो महाजन के लिए क्या उपाय है? उत्तर प्रदेश में तो सिवा तकदीर पर खेलने के और कोई उपचार नहीं है। अर्थात् यदि मियाद निकल न गयी हो, तो पिता के विरुद्ध धनराशि की सारी डिग्री प्राप्त करे और उसके इजराय में पिता के हित को नीलाम पर चढ़ाये।[2] मद्रास, बम्बई, बंगाल में उसको पिता के हित के ऊपर बन्धक वाली डिग्री मिल सकती है। यदि संयुक्त सम्पदा की बिक्री का कोई अंश "प्राग्वर्ती ऋण" के लिए प्रमाणित न हो, तो औचित्य

१. "चन्द्रदेवसिंह ब० माताप्रसाद" (१९०९) ३१, इलाहाबाद १७६।
२. "शिवनाथ ब० तुलसीराम" (१९२६) ४८, इलाहाबाद।

-सम्मत उन्हीं कतिपय नियमों का प्रयोग किया जायगा, जिनका उल्लेख 'वैध आवश्यकता' के शीर्षक में ऊपर किया जा चुका है।

ऊपर व्यावहारिक और अव्यावहारिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। याज्ञवल्क्य, उशना, मिताक्षरा, बृहस्पति, गौतम, व्यास के अनुसार अव्यावहारिक ऋण नौ प्रकार के होते हैं—(१) सुरार्थ, (२) कामार्थ, (३) द्यूतार्थ, (४) जुर्माना, (५) व्यर्थ या प्रतिदेयरहित और आतुरतावश कृत दान, (६) पंथ-करों तथा चुंगी (टोल टैक्स व अक्ट्राइ) का बकाया, (७) प्रतिभू वाला ऋण, (८) असामान्य, अप्रचलित या अवैध ऋण, (९) उद्यमार्थ ऋण।[1] वह ऋण अव्यावहारिक नहीं है जो मियाद आरिज हो गया हो। अतः उसके बदले में पिता द्वारा किया गया अन्य-संक्रमण समर्थनीय है।[2] पुत्र की अवयस्कता में पिता द्वारा किया गया ऋण अवैध एवं शून्य, अतः अव्यावहारिक होता है। अतः "धार्मिक कर्तव्य" उससे संलग्न नहीं किया जा सकता और उसकी देनदारी पुत्रादि के ऊपर नहीं आ सकती।[3] किन्तु यदि वयस्कता प्राप्ति के अनन्तर पिता उसी ऋण के बदले रुक्का लिख दे, तो वह रुक्का वाला ऋण पुत्र के ऊपर दायित्व रख देता है।[4]

अव्यावहारिकता दोनों दूषणों को समाहित करती है—नीचता और अवैधता। नीचता या दुश्चरित्रता का व्यापक अर्थ है ऐसा कर्म जिसको एक भद्र कुटुम्ब का पिता नहीं कर सकता।[5] नीचता व उच्चता के स्तर कालक्रम से बदलते रहते हैं और परिस्थिति व देश-काल के हिसाब से कर्म की निकृष्टता या उत्तमता की परख की जाती है। विद्वेषपूर्ण अभियोजन तथा बलात्-भुक्ति दोनों में नैतिक भ्रष्टता सन्निहित है। यदि पिता के विरुद्ध ऐसे मुकदमों में डिग्री हो जाय तो यह ऋण अव्यावहारिक होने से पुत्र के "धार्मिक दायित्व" को जागृत या क्रियाशील नहीं कर सकता।[6] यदि अव्यवस्थितता या अनियमितता के कारण पिता के ऊपर कोई दण्ड-विधि वाली नहीं;

१. "हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र" खण्ड ३. पृ० ४४६–४७।
डा० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ३५०–५२।
२. "गजाधर ब० जगन्नाथ" (१९२४) ४६, इलाहाबाद ७७५।
"परमानन्द मिश्र ब० गुरुप्रसाद" (१९३६) ११, लखनऊ ३९३।
३. "बलदेव ब० विन्देश्वरी" (१९२५) ४४, इलाहाबाद ३८८।
४. "रामरतन ब० बसंतराय" (१९२१) २, लाहौर २६३।
५. "पेरूमल ब० प्राविन्स आव मद्रास", ए० आई० आर० १९५५, मद्रास ३८२।
६. "शिवधर ब० सीताराम", ए० आई० आर० १९६२, पटना ३०८।

व्यवहारविधि वाली देनदारी आती हो, तो वह अव्यावहारिक ऋण नहीं है और "धार्मिक दायित्व" से पुत्र बच नहीं सकता।[1] यदि कुकर्म से पिता रुग्ण होकर अपनी चिकित्सा के निमित्त ऋण लेता है, तो उसे चुकाने के धार्मिक कर्त्तव्य से पुत्र इसलिए नहीं बच सकता कि ऋण तथा कुकर्म के बीच अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार चाहे अभियोग झूठा निकले या सच और वह साधारण हो या संगीन, जो ऋण अपनी प्रतिरक्षार्थ पिता लेता है उसके लिए भी पुत्र के ऊपर "धार्मिक दायित्व" आता है; क्योंकि ऋण से दुष्कर्म का सम्बन्ध अव्यवहित नहीं अपितु व्यवहित है।[2] हाँ, यदि बलवे की तैयारी के लिए उसने ऋण लिया है, तो वह अव्यावहारिक है तथा पुत्र उससे बद्ध नहीं हो सकता।

अभी तक ऋण के भेदों, परिणामों तथा सम्पदा के अन्य-सक्रमणों व उनके परिणामों पर विचार हो रहा था। अब उत्तमर्ण (महाजन) को व पुत्र को सुलभ होने वाले अदालती उपचारों का हाल संक्षेपतः प्रस्तुत किया जायगा। महाजन केवल पिता के ऊपर दावा दायर कर सकता है; या पिता-पुत्र दोनों के ऊपर; या पिता के मरने के बाद पुत्र के ऊपर। जहाँ "धार्मिक दायित्व" के आधार पर पुत्र देनदार है, वहाँ महाजन की डिग्री केवल पिता के विरुद्ध होने पर भी पुत्र के हित के ऊपर भी जारी हो सकती है। जैसा कि ऊपर का जा चुका है, पुत्र यह आपत्ति नहीं कर सकता कि वह प्रतिपक्षी नहीं था। वह मात्र एक ही आपत्ति सफलतापूर्वक कर सकता है, यानी ऋण दुष्कर्मार्थ लिया गया था। पुत्र के हित की देनदारी मात्र एक कारण पर आधारित है अर्थात् महाजन के प्रतिपक्षी का पुत्र होने पर। इससे कोई मतलब नहीं कि प्रतिपक्षी-पिता की हैसियत 'कर्ता' की थी या गृहपति की थी, या पिता-पुत्र के अतिरिक्त कुटुम्ब में अन्य सदस्य भी मौजूद थे।[3] इजराय की कार्यवाही में पिता अपने पुत्रों का प्रतिनिधित्व कर सकता है, चाहे वह मैनेजर (कर्ता) हो या न हो।[4]

किन्तु बटवारे का प्रभाव अवश्य पड़ता है। बटवारा यदि डिग्री के बाद हुआ हो, तो पुत्र को इजराय की कार्यवाही में पक्षधारी बना लेना चाहिए, नहीं तो पुत्र का हित

१. **"छकौड़ी ब० गंगा" (१९११) ३९, कलकत्ता ८६२।**
"ए० ए० राव ब० कोआपरेटिव", ए० आई० आर० १९४०, मद्रास ८२८।
२. **"अनंग ब० उछव", ए० आई० आर० १९५५, उड़ीसा १७९।**
३. **"सिद्धेश्वर मुकर्जी ब० भुवनेश्वर प्रसाद" (१९५४), सुप्रीम कोर्ट रि० १७७।**
४. **"नानोमी ब० बबुसिन" (१८८६) १३, इ० ए० १।**

नीलाम में बिक नहीं सकता।[1] इस मत के अनुसार पिता का प्रतिनिधित्व जो डिग्री के वक्त था वह विभाजन के बाद भी कायम रहता है। दूसरे मत से सयुक्त कुटुम्ब के विघटन के बाद पिता प्रतिनिधित्व कर ही नहीं सकता। अतएव उत्तमर्ण (महाजन) को पुत्र के विरुद्ध दूसरी डिग्री प्राप्त करके उसका भाग कुर्क व नीलाम कराना चाहिए।[2] यह बात प्रसिद्ध है कि ऐसे बटवारे की उत्तमर्ण अवहेलना कर सकता है जिसमें पिता के ऋण के भुगतान का समुचित उपबन्ध नही कर दिया गया हो।[3]

यदि पिता-पुत्र दोनों प्रतिपक्षी बन चुके हैं, तो पुत्र का कर्तव्य है कि ऋण की अव्यावहारिकता उसी दावे में प्रमाणित करे; अन्यथा इजराय वाली कार्यवाही में ऐसी आपत्ति करने से वह वंचित कर दिया जायगा।[4] रेहननामे के ऊपर आधारित दावें में पुत्र को भी प्रतिपक्षी बना लेने से यह सुगमता रहती है कि "वैध आवश्यकता" व "प्राग्वर्ती ऋण" प्रमाणित न होने पर भी पुत्र के ऊपर कम से कम धनराशि की डिग्री तो हो जायगी; यदि ऋण की अव्यावहारिकता वह साबित न कर पाया हो। इस उपाय में दूसरा लाभ यह है कि उस ऋण के विषय में न तो पुत्र को दूसरा घोषणात्मक दावा करने की और न उत्तमर्ण को पुत्र के ऊपर दूसरा दावा करने की आवश्यकता रह जाती है। न्याय की दृष्टि से पुत्र को कभी न कभी अपने हित की प्रतिरक्षा करने का अवसर मिलना जरूर चाहिए और उपरोक्त उपाय में इस उद्देश्य की भी पूर्ति हो जाती है।

तीसरी दशा यह है कि महाजन को दावा करने की तब सूझती है जब पिता मर चुका हो। सिवा पुत्र के अब वह दावा करे किसके विरुद्ध? पुत्र यह अभिकथन करके बच नहीं सकता कि उत्तरजीवितानुसार वह सारी सम्पदा का एकल स्वामी बन गया है। वह मात्र एक उपाय से सम्पदा को बचा सकता है, अर्थात् ऋण की अव्यावहारिकता प्रमाणित करके। यदि ऋण अदूषित है, तो उस डिग्री के इजराय में, जो पुत्र के विरुद्ध पारित हो ही जायगी, सारी संयुक्त सम्पदा कुर्क व नीलाम हो जायगी। ऐसे दावे का वादमूल (विनाय मुखासमत) एक ही बार पैदा होता है अर्थात् जब ऋण दातव्य (वाजिबुल अदा) हो जाय। धनराशि के ऐसे दावे की मियाद आम तौर से

१. "जोगेश्वर ब० मन्नीराम" (१९२७) २, लखनऊ ५६१।
२. "कामेश्वरप्पा ब० वी० एस० राव" (१९१५) ३८, मद्रास ११२०।
३. "पन्नालाल ब० नारायणी" (१९५२), सु० कोर्ट रि० ५४४।
४. "कुलीतलै बैंक ब० नागमनिंक" (१९५५) २, एम० एल० जे० ४८५।

तो तीन वर्ष है, किन्तु छः वर्ष भी कभी-कभी मान ली जाती है।[1] किन्तु यदि दावा धनराशि का नहीं, बन्धक या रेहन या प्रभार के प्रवर्तन का हो, तो बारह वर्ष की मियाद तब से आरम्भ हो जाती है जब ऋण दातव्य हो गया हो। ऐसे दावे में "धार्मिक दायित्व" के आधार पर यदि महाजन को पुत्र के विरुद्ध धनराशि की डिग्री अभीप्सित हो तो उसको चाहिए कि इलाहाबाद हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में छः वर्ष (दातव्यता की तिथि से) के भीतर, और मद्रास हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में तीन वर्ष के भीतर अपना दावा दायर कर दे।[2]

केवल पिता के विरुद्ध पारित डिग्री के इजराय में जब समांशिता की सारी सम्पदा नीलाम हो जाती है, तो ऋणी के पुत्र की तथा खरीदार की वैध परिस्थिति क्या होती है ? इसका उत्तर प्रिवी कौंसिल के निर्णयों ने निम्नोक्त दिया है।[3] सन् १८८० वाले "सूरजवंशी कुँअर ब० शिवप्रसाद"[4] नामक निर्णय में सन् १८७४ वाले "मुद्दन ठाकुर ब० कन्तू लाल"[5] नामक अपने निर्णय का आशय व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है—"जब "प्राग्वर्ती ऋण" के बदले में, या "प्राग्वर्ती ऋण" चुकाने के लिए, पिता-कृत संक्रमण-पत्र द्वारा, अथवा पिता के ऋण के आधार पर पारित हुई डिग्री के इजराय में नीलाम के द्वारा, संयुक्त कुटुम्ब के हाथ में से संयुक्त पैतामही सम्पदा निकल चुकती है, तो पिता को उऋण करने के धर्मपाश में बँधे हुए पुत्र उस सम्पदा को तब तक पुनः प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वे एक तो यह न सिद्ध करें कि ऋण निन्दित प्रयोजनों के निमित्त उगाहा गया था और दूसरे यह कि क्रेता को उन कुत्सित प्रयोजनों की सूचना थी।" "अदालती नीलाम के क्रेतागण कार्यवाहियों से ही प्रकट होने वाली बातों के अतिरिक्त किसी जानकारी को प्राप्त करने के लिए बाध्य नहीं होते, क्योंकि दावे में वे पक्षधारी नहीं रहते हैं।"

प्रिवी कौंसिल का इसी भाँति का दूसरा कथन "मु० बबुआसिन ब० मदनमोहन"

१. "पारिया स्वामी ब० सीतारम्मा" (१९०४) २७, मद्रास २४३।
"नरसिंह ब० लालजी" (१९०१) २३, इलाहाबाद २०६।
"ब्रजनन्दन ब० विद्याप्रसाद" (१९१५) ४२, कलकत्ता १०६८।
२. "ब्रजनन्दन ब० विद्याप्रसाद" (१९१५) ४२, कलकत्ता १०६८।
"चन्द्रदेव सिंह ब० माताप्रसाद" (१९०९) ३१, इलाहाबाद १७६।
३. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ४४१–४२।
४. ६ इण्डियन एपील्स, ८८।
५. १ इण्डियन एपील्स ३३३।

नामक मुकदमे में[1] यह हुआ था—"यद्यपि समांशिता में पुत्र के स्वाधीन स्वत्व वाले सिद्धान्त का घातक यह दूसरा सिद्धान्त है कि पुत्रगण अपने हक के बल पर पिता द्वारा अपने "प्राग्वर्ती ऋण" को चुकाने के निमित्त किये गये उन अन्य-संक्रमणों का शमन या उन उपचारों का दमन नहीं कर सकते, जो महाजनों को अपना ऋण वसूल करने के लिए सुलभ हों, बशर्ते कि ऋण दूषित न हो। तथापि यह अन्तिम सिद्धान्त बहुत काल से नजीरों द्वारा स्थापित हो चुका है। माननीय जजों के विचार में संयुक्त सम्पदा के दायित्व वाली इस महत्वपूर्ण समस्या के ऊपर नजीरो में कोई संघर्ष नहीं रह गया है।"

यहाँ तक महाजन के दावे से पैदा होने वाली परिस्थितियों पर विचार किया गया। सयुक्त सम्पदा की बिक्री के पूर्व पुत्र को कौन उपाय सुलभ हैं, तथा बिक्री के पश्चात् उसके क्या हक रह जाते हैं—इन प्रश्नों पर अब चिन्तन करना चाहिए। जाब्ता दीवानी के आर्डर २१, रूल ५८ व रूल ६३ से विधिवेत्ता लोग अभिज्ञ हैं। उन नियमों के माफिक उज्रदारी का आश्रय लिये बिना भी, पुत्र एतदर्थ घोषणात्मक दावा दायर कर सकता है कि निन्दित होने के कारण ऋण की देनदारी मेरे भाग के ऊपर नही डाली जा सकती। आर्डर २१, रूल ६३ में भी पुत्र की इस आशय की उज्रदारी की सुनवाई हो सकती है। हर दशा मे प्रमाणभार पुत्र के ऊपर रहता है। किन्तु पुत्र का हित इसी में है कि चाहे धनराशि वाली सादी डिग्री का इजराय हो या मुर्तहिनी डिग्री का इजराय, वह निन्दित ऋण वाली उज्रदारी लगा अवश्य दे, क्योंकि उसकी उज्रदारी से खरीदार को दूषण की सूचना मिल जाती है और फिर वह इस अभिकथन की आड़ नही ले सकता कि मैं तो एक मूल्यदाता, नेकनीयत और सूचना-वंचित क्रेता हूँ। पुत्र अपना घोषणात्मक दावा नीलामी कार्यवाही के पहले भी दायर कर सकता है और नीलाम के बाद भी। उसी घोषणात्मक दावे में वह यह याचना भी कर सकता है कि मुर्तहिन (रेहनदार) सारी सम्पदा को नीलाम पर चढ़ाने से वर्जित किया जाय।

यहाँ पर एक वैधिक सूक्ष्मता उल्लेखनीय है। धनराशि की मामूली डिग्री के उत्सादन का दावा जब पुत्र दायर करता है, तो इसका प्रमाणभार उसी के ऊपर रहता है कि ऋण अव्यावहारिक था और यदि वह इस भार को नहीं निबाह पाता, तो दावा खारिज हो जायगा। क्या मुर्तहिनी (रेहनदारी) डिग्री के विषय में भी यही नियम प्रयोज्य है ? अथवा वह जीत जायगा यदि मुर्तहिन यह न साबित करे कि वैध आवश्यकता या "प्राग्वर्ती ऋण" के आधार पर रेहन वाला ऋण समर्थनीय है ? दूसरे शब्दों

१. (१८८६) १३, इण्डियन एपील्स १।

में क्या मुर्तहिनी डिग्री का उत्सादन कराने के लिए भी पुत्र को ऋण की अव्यावहारिकता प्रमाणित करनी चाहिए ?

यह सामान्य सिद्धान्त तो सर्वविदित है कि डिग्री की पृष्ठभूमि में जाकर, उसकी वैधता पर आक्षेप करने का अपील के सिवा कोई वैध उपाय नहीं होता। पुत्र को जो इस विषय में उत्सादन का अधिकार दिया गया है वह एक अपवाद है। इसी आपवादिक अधिकार से संलग्न प्रमाणभार वाला दायित्व है। जो व्यक्ति अधिकार को ग्रहण करे वह दायित्व को भी धारण करे। अतः मुर्तहिनी डिग्री हो या धनराशि वाली डिग्री हो, उत्सादनप्रार्थी वादी की सफलता इस प्रमाण पर आश्रित मानी जाती थी कि पिता-कृत ऋण अव्यावहारिक है।[1] परन्तु सन् १९२४ वाले "ब्रज नारायण ब० मंगलाप्रसाद" वाले निर्णय की उपरोक्त दूसरी प्रस्थापना ने सन्देह पैदा कर दिया। वह प्रस्थापना यह है—"यदि वह (प्रबन्धक) पिता है तथा अन्य सदस्य पुत्र हैं और वह व्यावहारिक ऋण लेता है, तो उस ऋण की डिग्री के इजराय में सारी सम्पदा बिक सकती है।" इसमें ऋण शब्द सादा व बन्धक, उभय को समावेष्टित करता है। अतएव मुर्तहिनी डिग्री के उत्सादन के निमित्त भी पुत्र को अव्यावहारिकता प्रमाणित करनी चाहिए।[2] दूसरे मत के अनुसार इस प्रस्थापना में आये हुए ऋण शब्द का आशय केवल सादा ऋण है। अतः मुर्तहिन यदि प्राग्वर्ती ऋण या वैध आवश्यकता न प्रमाणित करे, तो पुत्र को रेहन के उत्सादनार्थ डिग्री मिल जानी चाहिए और उसको यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि ऋण दुष्कर्मार्थ लिया गया था।[3] प्रश्न यह उठता है कि क्या ब्रजनारायण वाले मुकदमे में प्रिवी कौंसिल की गोष्ठी साक्ष्यविधि के नियम विहित करने के निमित्त, या हिन्दू ला की समस्या निर्णीत करने के लिए बैठी थी ? यह बात विशेषतः याद रखने की है कि उपरोक्त "जगदीश ब० होशियार

१. "चन्द्रदेव ब० माताप्रसाद" (१९०९) ३१, इलाहाबाद १७६।
"राजा रघुनन्दन ब० कुमार" (१९३१) १०, पटना १२४।
२. "नन्दलाल ब० उमराई" (१९२६) १, लखनऊ ३६०।
"जोगिन्द्रसिंह ब० पंजाब ऐण्ड एस० बैंक लिमिटेड अमृतसर (१९४०) २१, लाहौर ९६।
"लालसिंह ब० जोगराज सिंह" (१९२८) ५०, इलाहाबाद ५४६।
३. "जगदीश ब० होशियार सिंह" (१९२९) ५१, इलाहाबाद १३६।
"वी० मुर्वप्पा ब० एच० तिप्पन्ना" (१९४३), बम्बई ३६८।
"गणपति ब० रामेश्वर" (१९४६), नागपुर ७४१।

सिंह" नामक इलाहाबाद वाले मुकदमे में पुत्र ने मुर्तहिनी या बन्धक वाली डिग्री के उत्सादनार्थ दावा दायर किया था एवं नीलाम के पहले ही दावा दायर हो चुका था।

संयुक्त सम्पदा की बिक्री हो चुकने पर पुत्र के क्या हक रह जाते हैं? इस प्रश्न के दो पहलू हैं; क्योंकि बिक्री या तो पिता के विरुद्ध धनराशि की डिग्री के, या मुर्तहिनी डिग्री के निष्पादन में हुआ करती है। दोनों पहलुओं के ऊपर क्रमशः विचार किया जाय। चूंकि निजी व्यावहारिक "प्राग्वर्ती ऋण" को चुकाने के लिए पिता पुत्र का भाग बेच सकता है और पुत्र "धार्मिक दायित्व" वाले प्रतिबन्ध के कारण विरोध नहीं कर सकता, इसलिए ऐसे ऋण का डिग्रीदार भी अपनी डिग्री के इजराय में बिना पुत्र को दावे में प्रतिपक्षी बनाये, उसके भाग समेत कौटुम्बिक सम्पदा को नीलाम करा सकता है। पुत्र अपने भाग को मुक्त केवल इन तथ्यों को साबित करने के बाद करा सकता है कि ऋण दूषित प्रयोजनों के निमित्त, उत्तमर्ण की जानकारी में लिया गया था और क्रेता को इस बात की सूचना थी।[1] यह सिद्धान्त दोहराया जा चुका है।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि नीलामी खरीदार को डिग्री और इश्तिहार नीलाम के उपरान्त कोई जाँच करने की जरूरत नहीं है। बिना सूचना के नेकनीयती के साथ दाम देकर माल को अदालती नीलाम में जो व्यक्ति खरीदता है वह सुरक्षित रहता है।[2] किन्तु यदि डिग्रीदार स्वतः खरीदार बनता है तब तो बड़ा अन्तर हो जाता है।[3] यदि खरीदार कोई अजनबी हो किन्तु पुत्र ने दौरान इजराय में अव्यावहारिकता की आपत्ति लगा दी हो तब भी अन्तर पड़ जाता है। इन दोनों हालतों में पुत्र अपना भाग केवल इतना प्रमाणित करके मुक्त करा सकता है कि ऋण कुत्सित प्रयोजनार्थ लिया गया था।[4] कभी-कभी पिता व महाजन साँठगाँठ करके पिता के विरुद्ध जाली डिग्री पारित करा लेते हैं और फिर उसके इजराय में पुत्रांश को भी नीलाम करा डालते हैं। ऐसी दशा में भी जब पुत्र नीलामी बिक्री के उत्सादन का दावा करे तो उसी को यह तथ्य प्रमाणित करना चाहिए कि ऋण फर्जी था। यदि खरीदार स्वतः

१. "मुद्दन ठाकुर ब० कन्तूलाल" १, इ० एपील्स ३२१।
"सूरज बं० कुं० ब० शिवप्रसाद" ६, इ० एपील्स ८८।
२ "जहानसिंह ब० हरदत्तसिंह" (१९३५), ५७ इला० ३५७।
३. "रामचन्द्र ब० मुहम्मद" (१९२३) ४५, इलाहाबाद ५४५।
४. "सूरज बं० कुं० ब शिवप्रसाद" ६, इ० एपील्स ८८।
"महाराजसिंह ब० बलवन्तसिंह" (१९०६) २८, इलाहाबाद ५०८।

डिग्रीदार नहीं, कोई गैर व्यक्ति हो, तो पुत्र को यह भी प्रमाणित कर देना आवश्यक है कि उसको इस छल-कपट की सूचना थी।

यदि महाजन ने पिता के विरुद्ध सादी धनराशि की नहीं, किन्तु मुर्तहिनी डिग्री पारित करा ली है, और सारी सम्पत्ति का नीलाम भी करा लिया है और पुत्र अपना भाग मुक्त कराना चाहता है, तब कौन से नियम लागू होंगे ? वह केवल इतना कहकर नहीं जीत सकता कि मैं दावे में व इजराय में पक्षधारी नहीं था। यदि यह पाया जाय कि रेहननामा न तो "प्राग्वर्ती ऋण" के बदले में लिखा गया था और न वैध आवश्यकता वश; तो यद्यपि रेहननामे की पाबन्दी पुत्र के भाग पर नहीं डाली जा सकती, तथापि पुत्र अपने "धार्मिक दायित्व" से बंधे होने के कारण अपने भाग को तब तक नही छुड़ा सकता जब तक वह (अ) ऋण की अव्यावहारिकता, (आ) उत्तमर्ण की भिज्ञता और (इ) खरीदार की सूचना भी न प्रमाणित कर दे, अन्यथा यह प्रमाणित न कर दे कि ऋण फर्जी था।[1] यदि नीलामी खरीदार को कब्जा पाने के लिए दावा दायर करना पड़ जाय, तब भी पुत्र को उपरोक्त तथ्यों के प्रमाणित हो जाने के पश्चात् ही अपने भाग की उन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[2]

कभी-कभी डिग्रीदार केवल पिता के ऊपर पारित हुई डिग्री के इजराय में केवल उसी का भाग नीलाम पर चढ़ाकर संतोष करता है। क्या खरीदार उस भाग की दखलदिहन्दी करा सकता है ? नहीं, उसको आम बटवारे का दावा दायर करना पड़ेगा और उसी दावे के भीतर पिता के भाग के कब्जे की याचना करनी पड़ेगी। कभी-कभी वह सारी सम्पदा को नीलाम पर चढ़ाकर बिकवा डालता है। उस दशा में खरीदार सारी सम्पदा की दखलदिहन्दी करा सकता है। कितना और किसका भाग नीलाम में बिका था, इन बातों का पता इजराय की दरखास्त से, इश्तिहार नीलाम से, कुर्की के वारण्ट से, बिक्री रसीद इत्यादि से लगाया जाता है।

दायभागीय ऋण

मिताक्षरा सम्प्रदाय के भीतर ऋण के नाना रूपों और परिणामों के ऊपर अनेक पहलुओं से विचार हो चुका। अब दायभाग के दृष्टिकोण से ऋण के ऊपर चिन्तन

१. "राम सामय्यन ब० वीर स्वामी" (१८९८) २१, मद्रास २२२।
"सत्यनारायण ब० बिहारी लाल" (१९२५) ५२, इ० ए० २२।
"सूरज बंसी कुं० ब० शिवप्रसाद" ६, इ० एपील्स ८८।
"गजाधर ब० यदुवीर" (१९२५) ४७, इलाहाबाद १२२।
"त्रिवेनी ब० राम आसरे" (१९३१) १०, पटना ६७०।

२. "मातादीन ब० मथादीन" (१९०९) ३१, इलाहाबाद ५९९।

होगा। जो ऋण "कुटुम्बार्थ" लिया जाता है, उसके विषय में दोनों शाखाओं के नियम समान हैं। जो ऋण व्यक्तिगत या निजी प्रयोजन के निमित्त लिया जाता है उससे सम्बन्धित नियम दायभाग शाखा के अन्दर एक तो 'उपरम-स्वत्ववाद' के फलस्वरूप बहुत सरल है। दूसरे, उस शाखा के अनुसार प्रत्येक समांशी का भाग निश्चित रहता है, जिसका हस्तान्तरण करने के लिए वह स्वतंत्र होता है। दोनों ही शाखाओं में किसी व्यक्ति की पृथक् सम्पदा उसके जीते-जी तथा मरने के बाद भी देनदार होती है। समांशिता वाली सम्पदा में चूंकि समांशी का निर्धारित अंश उत्तरजीविता वाले नियमानुसार नहीं, उत्तराधिकार के नियमानुसार अवक्रमण करता है, इसलिए उसके व्यक्तिगत ऋण का दायित्व उसके जीते-मरते दोनों कालों में उसके अविभक्त किन्तु विनिश्चित अंश पर चढ़ा रहता है। चूंकि पैतामही सम्पदा में पुत्रादि का हित जन्म के कारण नही पैदा हो जाता, इसलिए पिता के हाथ में आयी हुई ऐसी सम्पदा में उसका अपवर्जी हित होता है और वह उसका अन्य-संक्रमण अपने हर प्रकार के ऋण से उऋण होने के निमित्त कर सकता है। दायभाग के अन्दर ऋणों के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञातव्य है। कितना सरल और दो टूक है यह कानून।

समांशिता की सम्पदा को शाश्वतता प्रदान करने के निमित्त उसके अन्य-संक्रमण के ऊपर लगाये हुए इतने प्रचुर प्रतिबन्धो तथा अवरोधों के होते हुए भी उसका क्षय स्थगित न हो सका। लौकिक प्रपच की अक्षयता प्राकृतिक विधान के प्रतिकूल होती है। समांशिता की सम्पदा के ह्रास का एक बड़ा हेतु है ऋण, जिसके ऊपर यहाँ विचार कर चुके है। ह्रास का दूसरा कारण है बटवारा या विभाजन। अब वही विषय प्रस्तुत किया जायगा।

प्रकरण ११

विभाजन

मिताक्षरा-संमत

विभाग या विभाजन की परिभाषा मिताक्षरा ने यह की है—

विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।

दायभाग ने एक अन्य परिभाषा की है—

एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः। विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः। (१-८-९)

दोनों परिभाषाओं में भेद का हेतु है मिताक्षरा का 'जन्म-स्वत्ववाद' और दायभाग का 'उपरम-स्वत्ववाद।' अतः मिताक्षरा में कोई समांशी बटवारे के पहले यह नहीं कह सकता कि मेरा अंश एक तिहाई है या एक आठवाँ। दायभाग में समांशियों का अंश पिता के मरने पर विनिश्चित होता है, केवल उनका कब्जा संयुक्त बना रहता है और जब तक विभाजन नहीं होता, कोई समांशी यह नहीं कह सकता कि अमुक वस्तु मेरे हिस्से की है। मिताक्षरा में पुत्रादि के जन्म से, दायभाग में पिता की मृत्यु से समांशिता का प्रादुर्भाव होता है। विभाजन के दो आशय होते हैं—एक नापा-जोखा विभाग और दूसरा केवल हितों का निर्धारण। मिताक्षरा के अन्दर उभय भाँति के विभाजन स्वीकृत हैं। विभाजन को एक मानसिक स्थिति मानना चाहिए। यथा—

द्रव्यसामानाभावेऽपि त्वत्तोहं विभक्त इति व्यवस्थामात्रेणापि भवत्येव विभागः। बुद्धिविशेषमात्रमेव हि विभागः। तस्यैवाभिव्यंजिकेयं व्यवस्था। (व्यवहारमयूख ९४)

अनेन ज्ञायते परिभाषां विना संकल्पमात्रेणापि विभागसिद्धिः। (सरस्वती विलास)

कभी, किन्तु बहुत कम, ऐसा भी होता है कि कोई समर्थ समांशी अपनी कमाई से सन्तुष्ट रहकर यह उदार संकल्प (संकल्पः कर्म मानसम्) कर लेता है कि मैं संयुक्त सम्पदा में भाग नहीं लूंगा। ऐसी दशा में भी उस समांशी का पृथक्करण सम्पादित हो जाता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, याज्ञवल्क्य ने विहित किया है कि ऐसे समांशी को पृथक्ता की प्रतीक कोई छोटी-मोटी वस्तु दे देने से भविष्य में विवाद की आशंका मिट जाती है। यथा—

शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद् दत्वा पृथक्क्रिया। (याज्ञवल्क्य, २, ११६)

विभाजन के प्रकरण में चार बातें निरूपणीय होती हैं—(क) विभाजन काल, (ख) विभाज्य सम्पत्ति, (ग) विभाजन विधि, (घ) विभाजनाधिकारी। यथा—

यस्मिन् काले यया भङ्ग्या यैरेव क्रियतेऽपि च।
यादृशस्य च दायस्य यथाशास्त्रं प्रदृश्यते ।। (स्मृतिचन्द्रिका २, २५५)
इदमिह निरूपणीयम् । कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्तव्य इति।
(मिताक्षरा २–११४)

इस क्रम से तो नहीं, किन्तु इन्हीं विषयों के ऊपर जो कानून उपलब्ध है वह यहाँ प्रस्तुत किया जायगा। पहले **विभाजनीय सम्पत्ति** के प्रश्न को लिया जाय।

बटवारे के समय केवल संयुक्त या समांशिता वाले द्रव्य या संपत्ति का हिस्सा बाँटा जा सकता है। समांशियों की व्यक्तिगत या पृथक् सम्पत्ति का विभाजन नहीं हो सकता। कुछ सम्पदाएँ अविभाज्य होती हैं, यथा वह राज्य जिसका अवक्रमण प्रथा या अनुदानपत्र के अनुसार मात्र एक सदस्य पर ही होता है। स्पष्ट है कि इसका बटवारा कोई नहीं करा सकता। प्रकरण ७ में बताया जा चुका है कि समांशिता वाली और पृथक् सम्पदा की क्या पहचान या चिह्न हैं। अविभाज्य सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन आगे चलकर एक स्वतंत्र प्रकरण में प्रस्तुत किया जायगा।

बटवारे के समय इस बात के सन्देह से बहुधा विवाद खड़ा हो जाता है कि अमुक समांशी के पास जो सम्पत्ति है वह संयुक्त कुटुम्ब की होने के कारण विभाजनीय है, अथवा उस अविभक्त समांशी की पृथक् सम्पत्ति होने के कारण अविभाजनीय? सातवें प्रकरण में वे कतिपय पूर्व-धारणाएँ संक्षेपतः बतायी गयी थीं जिनको इस विवाद के सम्बन्ध में हमारी अदालतें बना लिया करती हैं। के अक्ष्याभाव में पूर्व-धारणाओं का अवलम्ब लिया जाता है और उनसे यह मालूम पड़ जाता है कि प्रमाणभार किस पक्ष के ऊपर चढ़ा है। उनके महत्व के कारण उनकी समीक्षा हितकर होगी।

ऐसी कोई पूर्व-धारणा नहीं होती कि संयुक्त कुटुम्ब के पास सम्पदा भी है;[१] परन्तु यदि उसके पास इतनी आय वाली केन्द्रीय सम्पत्ति (न्यूक्लियस) थी कि वह वादग्रस्त मद के क्रय के लिए पर्याप्त हो सकती, तो मैनेजर या अन्य समांशी के नाम

१. "निसार ब० राजा", ए० आई० आर० १९४०, प्रिवी कौंसिल २०४।

से खरीदी हुई उस मद के विषय में यह पूर्व-धारणा उठती है कि वह कौटुम्बिक निधि में से ली गयी थी।[१] यदि किसी समांशी के नाम से खरीदी गयी मद को दूसरा समांशी सयुक्त सम्पदा कहे, तो पहले उसे खरीदारी के समय संयुक्त निधि की पर्याप्तता साबित करनी चाहिए। यदि वादी असफल रह जाता है, तो खरीदार को यह बताने की जरूरत ही नहीं कि उसने उस मद को कहाँ से खरीदा था। वह मद तो बटवारे में से छूट ही जायगी।[२] यदि खरीदारी के समय मैनेजर के पास पर्याप्त निधि थी और अपने नाम से खरीदी गयी सम्पत्ति को वह अपने धन से ली हुई बताता है, तो इस कथन का प्रमाणभार उसी पर है।[३] यदि ऐसे समांशी के नाम कोई मद खरीदी हुई है, जिसकी संयुक्त निधि में भी पहुँच थी और साथ ही साथ जिसकी पृथक् आय भी पर्याप्त थी, तो न कोई पूर्व अवधारणा इधर होती है न उधर।[४] लेकिन एक बात है। खरीदार ने यदि उस मद के विषय में सदा ऐसा व्यवहार किया है मानो वह संयुक्त सम्पदा हो, तो यह पूर्व-धारणा कर लेना अनुचित नहीं होगा कि उसने वह मद संयुक्त, न कि पृथक्, निधि से खरीदी थी।[५] इन पूर्व-धारणाओं के आश्रय से विवादों का निर्णय और विभाज्य का अविभाज्य सम्पदा से अलगाव हो सकता है।

जब विभाज्य सम्पदा विनिश्चित हो जाय, तब यह देखना चाहिए कि उसमे से कौन-कौन-सी कटौती करना आवश्यक है। सयुक्त सम्पदा मे से निम्नोक्त मदों के निमित्त प्रबन्ध करने के बाद बटवारा करना चाहिए—(१) मृत समांशियों की "इस्टेट ड्यूटी" समेत वह ऋण जिसकी देनदारी सयुक्त कुटुम्ब के ऊपर हो।

(२) "धार्मिक दायित्व" के प्रभाव से पिता का जो ऋण पुत्रों के ऊपर बाध्य हो; बिना इस विचार के कि उत्तमर्णगण तकाजा कर रहे है या चुप बैठे हैं।[६] इसका हेतु यह दूरदर्शिता है कि कोई कुटिल पिता अपने भाग का अपव्यय करके कही अपने व्यक्तिगत ऋण का सारा बोझ पुत्रों के भाग पर न डाल दे।

(३) कुमारी अवस्था तक की बहनों का पोषण व्यय और विवाह योग्य होने पर विवाह का व्यय। पृथक्ताकांक्षी समांशी गणों के भाग अपनी-अपनी पुत्रियों के

१. "श्रीनिवास ब० नारायण", ए० आई० आर० १९५४, सुप्रीम कोर्ट ३७९।
२. "मलप्पा ब० येलप्पा गौडा", ए० आई० आर० १९५९, सुप्रीम कोर्ट ९०६।
३. "मल्लेसप्पा ब० मल्लप्पा", ए० आई० आर० १९६१, सुप्रीम कोर्ट १२६८।
४. "भुरु ब० जगन्नाथ", ए० आई० आर० १९४२, प्रिवी कौंसिल १३।
५. "दत्तात्रेय ब० शकुंतला बाई" ए० आई० आर० १९५६, नागपुर ९५।
६. "अनुमूल ब० पेरूमल्ल", ए० आई० आर० १९४५, मद्रास ७३।

पोषण एवं विवाह के उत्तरदायी होते हैं। अतः किसी समांशी की पुत्री का भार दूसरे पर नहीं आता।[1]

(४) माता, विमाता, पितामही समेत कुटुम्ब की आश्रित स्त्रियों के भरण-पोषण का व्यय। यदि सन् १८९३ वाले "(हिन्दू ला आव) पार्टीशन ऐक्ट", अथवा सन् १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइट्स ऐक्ट", या १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन एन्ड मेन्टीनेन्स ऐक्ट" के अन्दर उपरोक्त स्त्रियों को इतनी सम्पदा मिली है जो पोषणार्थ अपर्याप्त है, तो उसकी पूर्ति उस सीमा तक और उस आय से की जायगी जो उनके मृत पतियों के भाग की होती।[1]

(५) मृत पूर्वजों की विधवाओं के क्रिया-कर्म का वह व्यय जिसका भार संयुक्त कुटुम्ब पर हो।[2]

(६) अयोग्य समांशियों और जारज पुत्रों तथा उनके आश्रितों के भरण का व्यय।

(७) मृत समांशियों की साध्वी रखेल स्त्रियों के भरण-पोषण का व्यय।

(८) मृत समांशियों की निराश्रित विधवा पुत्रियों के भरण-पोषण का व्यय।

(९) ऐसे विभागाकांक्षी भ्राताओं के उपनयन संस्कार का व्यय, जिनका द्विजाति होते हुए भी यज्ञोपवीत होना बाकी रह गया हो।

विभाजनार्थ संयुक्त असासे या परिसम्पत्ति की सूची तभी तैयार हो सकती है जब उपरोक्त कटौतियाँ कर दी जायँ।[4] इस लम्बी पंजी को देखकर ही अनुमान किया जा सकता है कि संयुक्त सम्पदा घटकर कितनी कम रह जाती है और बटवारे की क्रिया कौटुम्बिक मर्यादा व सम्पन्नता को कितना संकीर्ण तथा ह्रासित कर देती है।[5] यथा—

कुटुम्बार्थमशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा।
उपप्लवनिमित्तं च विद्यादापत्कृतं तु तत्॥

१. "सुब्बैया ब० रमैया", ए० आई० आर० १९२९, मद्रास ५८६।
२. "कमिश्नर आव इ० टैक्स ब० भगवती", ए० आई० आर० १९४७। प्रिवी कौंसिल १४३।
३. "वैद्यनाथ ब० ऐय्यास्वामी" (१९०९) ३२, मद्रास १९१।
४. "ए० आर० मूर्ति ब० ए० सीतारम्मा", ए० आई० आर० १९६१, आंध्र प्रदेश १३१।
५. "कोकिला ब० के० एम० राजनाथ", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास ४७०।
६. जे० डी० एम० डेरेट प्रणीत "माडर्न हिन्दू ला", पृष्ठ ३३५–३४०; हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृष्ठ ६२१।

कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्ये च यत्कृतम् ।
एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं प्रभोः ।। (कात्यायन ५४२–४३)
असंस्कृतास्तु यास्तत्र पैतृकादेव ता धनात् ।
संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि ।। (बृहस्पति)

ऊपर जिस १८९३ वाले "पार्टीशन ऐक्ट" का उल्लेख हुआ है उसका संक्षिप्त वर्णन यहीं जान लेना चाहिए। कुटुम्ब के पास जब ऐसी सम्पत्ति होती थी जिसका विभाजन असाध्य अथवा हानिप्रद होने की आशंका के कारण स्थगित कर दिया जाता था, तो अपूर्ण विभाग-जनित नाना व्याधियाँ और बखेड़े आये दिन उपस्थित रहते थे। इस कष्टप्रद दुर्दशा के निवारणार्थ उपरोक्त अधिनियम ने अदालत को अधिकृत कर दिया कि बटवारे के मुकदमे में यदि मालूम दे कि किसी सम्पदा का विभाजन असाध्य है, या हानिकारक है, या उसको बेच डालना अधिक लाभदायक हो सकता है, तो उस सम्पत्ति के हितधारियों में से आधे या उससे अधिक लोगों की प्रार्थना पर वह उसको बेच डालने का आदेश दे दे। अदालत समांशियों की प्रार्थना के अनुसार और उनसे खर्च लेकर सम्पत्ति का मूल्यांकन करा सकती है और उन लोगों के आपसी नीलाम में कूते हुए मूल्य के उपरान्त सबसे ऊँची बोली वाले के नाम सम्पत्ति को छोड़ सकती है। यदि निवास वाले घर[1] का कोई हिस्सा बाहरी आदमी मोल ले चुका है, तो भी उस हिस्से को इसी रीति से समांशियों के बीच आपसी नीलाम के द्वारा बाहरी आदमी से छुड़ाकर सबसे ऊँची बोली वाले समांशी को अदालत दिला सकती है। जो मूल्य नीलाम में वसूल हो वह भी संयुक्त कुटुम्ब की विभाजनीय परिसम्पत्ति मान लिया जायगा।

याद रहे कि विभाजनीय संयुक्त परिसम्पत्ति की, या वांछित विभाजन के समय विद्यमान संयुक्त परिसम्पत्ति की सूची तैयार करते समय, मैनेजर से कोई समांशी संयुक्त सम्पत्ति के विगत व्यवहार का लेखा-जोखा नहीं तलब कर सकता है, जब तक गबन या चोरी न प्रमाणित हो। कोई समांशी इसके लिए प्रतिकर या मुआविजा भी नहीं माँग सकता कि मेरा परिवार छोटा और अमुक समांशी का बड़ा था, जिसके फल-स्वरूप मेरे ऊपर उसकी अपेक्षा संयुक्त आय का एक छोटा अंश खर्च हुआ था। यह भी उल्लेखनीय है कि किसी समांशी को "अन्तःकालीन लाभ" माँगने का भी हक नहीं होता, जब तक वह संयुक्त सम्पत्ति के भोग या आय से आमूल वंचित न रखा गया हो। किन्तु ऐसे समांशी से अन्त:कालीन लाभ दिलाया जा सकता है जिसने किसी संयुक्त सम्पत्ति को अपनी निजी व पृथक् सम्पत्ति घोषित करके अपने अपवर्जी सेवन में अनु-

१. "माखन ब० सुषमा", ए० आई० आर० १९५३, कलकत्ता १६४।

चित रूप से बनाये रखा था,[1] या जिसने आपसी समझौते के विपरीत फाजिल सम्पत्ति पर कब्जा जमा लिया था। यह भी ज्ञातव्य है कि यदि किसी समांशी ने संयुक्त सम्पत्ति के हितार्थ अपनी निजी स्वार्जित पूंजी लगा दी है तो वह उसको वापस माँग सकता है।[2]

अब **विभाजनाधिकारियों** के प्रश्न पर विचार किया जाय। विभाजन का प्रवर्तन करने में और विभाजन के अवसर पर भाग पाने में भेद है। सर्व समांशियों को भाग पाने का तो हक होता है, किन्तु सब को विभाजन का प्रवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र को बटवारे की माँग व उसका दावा करने का अधिकार होता है। इसमें एक अपवाद यह है कि बम्बई हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में यह नियम प्रचलित है कि यदि पिता-पुत्र ही संयुक्त कुटुम्ब को संघटित करते हों, तब तो पुत्र बटवारे को बिना पिता की सहमति के ही प्रवर्तित कर सकता है। परन्तु यदि संयुक्त कुटुम्ब में पिता के अतिरिक्त पितामह व पितृव्य भी हों, तो पिता की सहमति अनिवार्य है। बम्बई हाई कोर्ट का मत यह है कि पिता के जीवनकाल में वही अपने पिता के विरुद्ध विभाजनाधिकार का प्रयोग कर सकता है पुत्र नहीं। अन्य हाई कोर्टों का मत है कि पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तीनों का विभाजनाधिकार जन्मजात होने से एक साथ भी प्रयोज्य है। यथा—

तत् पितुः पुत्रस्य च स्वाम्यं लोकप्रसिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति। तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम्। तथा च सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति। (मिताक्षरा)

इस वचन का समर्थन प्रिवी कौंसिल के इस कथन से होता है—"पैतामह द्रव्य में जन्मजात स्वत्व तथा उसके विभाजन का जन्मजात अधिकार इतने अधिक अन्योन्याश्रित होते हैं कि जहाँ एक है वहाँ दूसरे की उपस्थिति अवश्यम्भावी है।"[3]

विभाग के समय में गर्भस्थ पुत्र तथा अवयस्क पुत्र के और विभागानन्तर उत्पन्न व दत्तक पुत्रों के क्या अधिकार होते हैं? विभाजन के विषय में जारज पुत्र के क्या हक होते हैं? अब इन प्रश्नों के ऊपर मनन करें। पहले गर्भस्थ पुत्र के प्रश्न को लिया जाय। हिन्दू ला में गर्भस्थ पुत्र तथा विद्यमान पुत्र कई विषयों में समान गिने जाते हैं। यथा—गर्भस्थ पुत्र बटवारे के समय भाग पाने का अधिकारी है, उत्तराधि-

१. "भिवरा ब० सीताराम" (१८९५) १९, बम्बई ५३२।
२. "सुब्रह्मण्यम ब० कुमारप्पा" (१९५५) १, मद्रास ला जर्नल ३५५।
३. "सरताज ब० देवराज" (१८८८) १०, इलाहाबाद २७२।

कार पाने का हकदार है, उत्तरजीविता वाले नियमानुसार समांशिता की सम्पत्ति पाने का हकदार है, अपने गर्भकाल में पिताकृत रिक्थदान को टाल देने का हकदार है तथा पिता-कृत संक्रमण पर आक्षेप करने का अधिकारी है। किन्तु वह अपने गर्भकाल में किये गये पिता-कृत दत्तक-ग्रहण को अस्वीकार करने का अधिकारी नहीं है। यदि वह बटवारे के समय में गर्भस्थ था तो उसकी प्रतीक्षा में विभाग को स्थगित कर देना चाहिए। यथा—

पितृविभक्ता विभागानन्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युः। (विष्णुधर्मसूत्र १७, ३)

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्।
दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥ (याज्ञवल्क्य २, १२२)

इसके ऊपर मिताक्षरा की टीका यह है—

एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम्। स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः। यथाह वसिष्ठः। अथ भ्रातृणां दायविभागः। याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामा पुत्रलाभात्। इति।

यदि विभाग रुक न सकता हो तो गर्भस्थ शिशु के निमित्त एक भाग रक्षित कर देना चाहिए। अन्यथा वह बटवारे को फिर से खुलवा सकता है।[1]

अवयस्क समांशी की विद्यमानता बटवारे को गर्भस्थ पुत्र के सदृश स्थगित नहीं करा सकती। आपसी बटवारे से भी वह बद्ध होता है। वयस्क होने के बाद उसको अपने भाग वाले विभाजन को निराकृत कराने का हक उस दशा में होता है जब वह अनुचित या उसके लिए अहितकर हो। यदि बटवारा अप्रवर्तित रह गया हो तो वयस्क हो जाने के बाद वह उसका निष्पादन करा सकता है, इसके बावजूद कि उस समय में वह संविदा की क्षमता नहीं रखता था।[2] यद्यपि अवयस्कता विभाजन का अवरोध नहीं कर सकती, तथापि यदि अवयस्क की ओर से बटवारे का दावा दायर किया जाय, तो यह सोचकर कि सम्मिलित अवस्था में सम्पदा अपेक्षाकृत अधिक सुप्रबन्धित तथा लाभप्रद होती है, अदालत डिग्री तब तक पारित नहीं करती, जब तक उसको यह निश्चय न हो जाय कि मैनेजर सम्पत्ति का नाश या अपव्यय किये डालता है या अवयस्क के स्वत्व को अस्वीकार कर रहा है, या अवयस्क के भरण-पोषण में कोताही कर

१. "मण्डली प्र० ब० राम च० लाल" (१९४७), नागपुर ८४८।
२. "बालकृष्ण ब० रामनारायण" ३०, इ० एपील्स, १३९।

रहा है, अर्थात् जब तक यह न मालूम पड़े कि विभाजन अवयस्क के हित को संवर्धित करेगा।

विभागानन्तर उत्पन्न पुत्र यानी उस पुत्र का हक क्या है जिसका गर्भाधान व जन्म दोनों बटवारे के पश्चात् हुए हों ? एक सूरत यह है कि शिशु के पिता को भाग मिला ही न हो या केवल थोड़ा-सा भाग मिला हो। इस दशा में पश्चाद्-भव पुत्र को बटवारा खुलवाकर पुनर्विभाजन का आग्रह करने का हक होता है।[1] दूसरी सूरत यह है कि पिता अपना भाग लेकर अलग हो गया हो। इस दशा में पश्चाद्-भव पुत्र अपने पिता के भाग का तथा उसकी सम्पूर्ण पृथक् सम्पत्ति का अपने पृथक् भाइयों को वंचित करके हकदार बन जायगा, यद्यपि वह पूर्व-विभाजन को मिटवाकर पुनर्विभाजन नही करा सकता।[2]

दत्तक पुत्र के क्या अधिकार हैं ? यदि लाल को गोद लेने के पश्चात् राम के एक औरस पुत्र भाल पैदा हो जाय, तो राम की सम्पदा में दोनों तरह के पुत्रों को सम भाग नहीं मिलेगा। बंगाल प्रान्त में भाल को दो तिहाई और लाल को एक तिहाई भाग दिया जाता है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, पंजाब में भाल को तीन चौथाई तथा लाल को एक चौथाई भाग दिया जाता है। बम्बई व मद्रास में भाल को चार और लाल को एक अंश दिया जाता है। यदि राम के जीवन काल में ही बटवारा हो जाय, तो भी उपरोक्त नियमों का पालन किया जायगा; अर्थात् मद्रास प्रदेश में राम व भाल को पूरी सम्पदा के चार-चार अश मिलेंगे और लाल को एक अंश। और बातों में दत्तक के वही हक होते हैं जो औरस पुत्र के। औरस के सदृश दत्तक पुत्र समांशिता का सदस्य बनकर बटवारे में भाग पाने का और बटवारा कराने का अधिकारी बन जाता है।

अब **जारज पुत्र** के अधिकारों पर मनन करना चाहिए। जारज का आशय है दासी-पुत्र। दासी या अवरुद्धा उस रमणी को कहते हैं जो एक पुरुष की अपवर्जी रूप से रखेल बनी रहे। यथा—

> **अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च।**
> **गम्यास्वपि पुमान् दाप्यः पंचाशत्पणिकं दमम्।।** (याज्ञवल्क्य २, २९०)

द्विजों के दासी-पुत्र को न तो उत्तराधिकार में हक होता है और न विभाजन में। उसको मात्र भरण-पोषण का अधिकार होता है। यथा—

१. **"चनगामा ब० मुनिस्वामी"** (१९१९) २०, मद्रास ७५।
"ए० गौण्डेर ब० आर० गौण्डेर" (१९४५), मद्रास २९७।

२. **"मु० रामदेई ब० मु० ग्यारसी"** (१९४९), इलाहाबाद १६०।

अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवान् शूद्रयोनिजः।
लभते जीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः ॥ (बृहस्पति)
शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभते वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना।
(गौतम २८,३७)

किन्तु शूद्र के दासी-पुत्र को धर्मशास्त्र में दाय प्राप्ति एवं विभाजन के कतिपय अधिकार दिये गये है। यथा—

दास्याम् वा दासदास्याम् वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।
सोऽनुज्ञातो हरेद् अंशम् इति धर्मो व्यवस्थितः॥ (मनु)
जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत्।
मृते पितरि कुर्य्युस्तं भ्रातरस्त्वर्द्धभागिनम्।
अभ्रातृको हरेत् सर्व्वं दुहितृणां सुतादृते॥ (याज्ञवल्क्य)

धर्मशास्त्र के उपरोक्त वाक्यों को लेकर अदालती फैसलों ने निम्नलिखित प्रस्थापनाओं को प्रतिष्ठित कर दिया है—

(१) शूद्र के जारज पुत्र को चूँकि पिता की सम्पत्ति में जन्मते ही हित नहीं प्राप्त हो जाता है, इसलिए पिता के जीवन काल में वह विभाग का प्रवर्तन नहीं करा सकता। हाँ, पिता स्वेच्छया उसको (औरस के समान भी) भाग दे सकता है।[1]

(२) पिता के मरने पर वह औरस पुत्रों के साथ समांशी बन जाता है और तब वह बटवारा भी करा सकता है। समांशी के रूप में तो वह उत्तरजीविता का भी लाभ प्राप्त करेगा।[2]

(३) औरस पुत्र की हैसियत से जो भाग वह पाता, उसका आधा उसे बटवारे में मिलेगा, अर्थात् औरस का अंश तीन चौथाई और दासी पुत्र का (आधे का आधा) एक चौथाई अंश होगा।[3]

(४) यदि औरस पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र कोई भी न हो तो वह सारी सम्पत्ति पा जायगा।

१. "राजा जोगेन्द्र ब० नित्यानन्द" १७, इ० एपील्स १२८।
"पाक्तरी स्वामी ब० दोरास्वामी" (१९३१) ९, रंगून २६६।
२. "शामराव ब० मन्नाभाई" (१८४८), नागपुर ६७८।
"गुरु न० दास ब० गुरु ट० दास" (१९५२), सुप्रीम कोर्ट आर० ८६९।
३. "गुरु न० दास ब० गुरु ट० दास" (१९५२), सुप्रीम कोर्ट आर० ८६९।

(५) दासी की पुत्री न तो दाय प्राप्ति की अधिकारिणी होती है न भरण-पोषण की।[1]

(६) यदि शूद्र प्रभु अपने बान्धवों अर्थात् भाई-भतीजों के साथ सम्मिलित हो, तो वह (जारज) सयुक्त सम्पदा का विभाजन नही करा सकता है, अवश्य ही वह केवल भरण-पोषण की याचना संयुक्त सम्पदा में से कर सकता है, वह भी उसी हालत मे जब कि मृतक पिता ने पृथक् सम्पत्ति न छोड़ी हो।[2] जारज के हकों को जानने के बाद अब पत्नी, विधवा, माता, पितामही, क्रेता तथा प्रवासी-समांशी के बटवारा कराने के हकों पर विचार कर लें।

पत्नी या भार्या को विभाजन की याचना करने का हक नहीं होता है, यथा "तस्माद् भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव न स्वेच्छया। यथा वक्ष्यति—यदि कुर्यात् इति।" (मिताक्षरा) किन्तु यदि पिता-पुत्र में बटवारा हो जाय तो पुत्र के समान भाग पाने का उसे हक होता है और उस भाग के ऊपर वह स्वतंत्र कब्जा रख सकती है।[3] किन्तु उसका भाग निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उसके पास आभूषणादि मिला कर कितने का सामान मौजूद है।[4] उपरोक्त नियम पुत्र व सौतेले पुत्र पर तथा माता व विमाता पर भी लागू होता है। यहीं पर यह भी देख लिया जाय कि "पुत्रभाग", जो अधिक प्रचलित है और "पत्नी भाग", जो कम देखा जाता है, इनमें क्या भेद है। पहली रीति में पुत्रों के संख्यानुसार विभाजन होता है; अतः यदि राम की जीवित पत्नी से एक पुत्र व मृत पत्नी से दो पुत्र हों, तो सम्पदा के पाँच भाग किये जायेंगे। "पत्नी भाग" वाली रीति में पत्नियों के संख्यानुसार विभाजन होता है; अतः सम्पदा के तीन भाग किये जायेंगे। यह नियम प्रभु (पिता) के जीवन काल का है। उसकी मृत्यु के बाद क्या होगा ?

विधवा व विधवा पुत्रवधू व विधवा पौत्रवधू के हक १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" ने विहित कर दिये हैं। उपरोक्त विधवाओं को बटवारा करा सकने का हक भी होता है और बटवारे में संयुक्त सम्पदा का उतना अंश प्राप्त करने

१. ३२, बम्बई ५६२।
२. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृष्ठ ६०१–६०३।
"कृष्ण कु० ब० शिवप्रसाद" (१९४७), नागपुर १६२।
३. "प्रतापसिंह ब० दिलीपसिंह" (१९३०), ५२ इलाहाबाद ५९६।
"धनवन्ती बीबी ब० पी० अग्रवाल" (१९३४) ६१, कलकत्ता १०५६।
४. "राधाबाई ब० पण्ढारी नाथ" (१९४२), नागपुर ५४४।

का भी हक होता है, जितना उनके जीवित पति पा सकते थे। विधवाओं का अंश निर्धारित करते समय भी वही उपरोक्त नियम लागू होता है, अर्थात् इसका ख्याल किया जाता है कि कितने का स्त्रीधन उनके पास मौजूद है।[१] यदि मृतक ने अनेक विधवाओं को छोड़ा है, तो निम्नोक्त दृष्टान्त की रीति से अंशों को निर्धारित किया जायगा। राम की दो विधवाएँ रमा व कला हैं और दो पुत्र रमा से हैं और कला अपुत्रा है। राम की सम्पत्ति के चार भाग किये जायेंगे, जिनमें से चारों अधिकारी एक-एक अंश पायेंगे। यदि कला के भी तीन पुत्र होते, तो राम की सम्पत्ति के पाँच भाग कर डाले जाते क्योंकि पुत्र पाँच हैं। फिर रमा समेत उसके दो पुत्रों को दो अंश और कला समेत उसके तीन पुत्रों को तीन अंश दिये जाते। इस तरह रमा ($\frac{2}{5}$ का $\frac{1}{3}$) यानी $\frac{2}{15}$ व उसका प्रत्येक पुत्र उतना ही अंश पाता। उसी तरह कला ($\frac{3}{5}$ का $\frac{1}{4}$) यानी $\frac{3}{20}$ व उसका प्रत्येक पुत्र उतना ही अंश पाता।[२]

पितामही बटवारे का प्रवर्तन नहीं करा सकती। किन्तु यदि (१) उसके पुत्रों व मृत पुत्र के पुत्रों के बीच, अथवा (२) केवल उसके पौत्रों के बीच विभाजन हो रहा हो, तो वह एक पौत्र के बराबर अंश पाने की अधिकारिणी हो जाती है। एक सूरत यह होती है कि (३) बटवारा पितामही के जीवित पुत्र के तथा उसी पुत्र के पुत्रों के बीच होने लगता है। उपरोक्त दो हालतों में और इस हालत में स्पष्ट अन्तर है। इसलिए प्रयोज्य नियम भी भिन्न होगा। बम्बई व इलाहाबाद हाई कोर्टों के अनुसार तीसरी हालत में पितामही को भाग नहीं मिलेगा।[३] पटना व कलकत्ता के हाई कोर्टों के मत में पितामही तीसरी सूरत में भी भाग पाने की हकदार है।[४] यह मतभेद इसलिए है कि व्यास के इस वचन की व्याख्या भिन्न प्रकार से की जाती है—

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः॥

ऊपर जिन स्त्रियों के नाम आ चुके हैं उनको छोड़कर न कोई स्त्री विभाजन

१. "किशोरी ब० मणिमोहन" (१८८६) १२, कलकत्ता १६५।
२. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ ४८७।
३. "शिव ना० ब० जानकीप्रसाद" (१९१२) ३४, इलाहाबाद ५०५।
"जोतीराम एकोबा ब० आर० त्र्यम्बक" (१९४१), बम्बई ६३८।
४. "बद्रीराय ब० भगवत" (१८८२) ८, कलकत्ता ६४९।
"कृष्ण ब० नन्देश्वर" (१९१९) ४, पटना ला जर्नल ३८।
हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृष्ठ ६०७।

करा सकती है न विभाजन के समय भाग पा सकती है। अवश्य ही विभाजन काल में उनके भरण-पोषण के लिए उपबन्ध करना अनिवार्य होता है। अनर्हता के विषय में 'दाय प्राप्ति' वाले शीर्षक के अन्तर्गत पहले जो नियम बताये गये हैं वही नियम विभाजन में लागू होते हैं, अर्थात् जो लोग आधुनिक हिन्दू ला में उत्तराधिकार के निमित्त अनर्ह (अयोग्य) समझे जाते हैं, वही लोग विभाजन के लिए भी अनधिकृत माने जाते है।

प्रस्तुत प्रकरण में यहाँ तक (ख) विभाज्य सम्पत्ति तथा (घ) विभाजनाधिकारियों के ऊपर विचार कर लिया गया। विभाज्य सम्पत्ति के साथ-साथ (ग) विभाजन विधि की भी थोड़ी सी चर्चा की गयी। किन्तु अभी उस पर और (क) विभाजन काल के ऊपर विस्तार के साथ चिन्तन करना बाकी है। इन पर तथा अन्य संलग्न विषयों पर जो कानून प्रतिष्ठित हो चुका है वह अब प्रस्तुत किया जायगा। यही पर यह ज्ञातव्य है कि विभाजन का निषेध यदि इच्छापत्र के भीतर निदेशित हो तो वह अवैध और अपालनीय माना जायगा। यदि निषेध का अनुबन्ध आपसी समझौते से किया गया है तो उसकी वैधता को मद्रास, इलाहाबाद व कलकत्ता के हाई कोर्ट स्वीकार,[1] एवं बम्बई का हाई कोर्ट अस्वीकार करते हैं।[2]

विभाजन कई रीतियों से सम्पादित किया जाता है—यथा पिता के द्वारा, पृथक्ता के संकल्प की अभिव्यक्ति के द्वारा, नोटिस भेजकर या दावा दायर करके, आपसी समझौते के द्वारा, पंचायत के द्वारा और अदालती डिग्री के द्वारा। बटवारे के इन भेदों पर क्रमशः विचार कर्तव्य है। मिताक्षरा के अन्दर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विभाजन उसी क्षण हो जाता है ज्यों ही समांशियों के अंशों का निर्धारण हो जाता है। तदुपरान्त समांशिता का विघटन हो जाता है, चाहे नाप-जोख करके सम्पदा का हिस्सा-बाट भी कर दिया जाय, या उसका सेवन और भोग संयुक्त ही बना रहे।[3]

(१) पिता कुटुम्ब का प्रभु समझा जाता है। उसकी आज्ञा सर्वथा पालनीय है। पुत्रार्जित सम्पत्ति का भी वह स्वामी हो जाता है। ऐसे निरंकुश स्वामित्व से यही निष्कर्ष निकलता है कि पिता स्वेच्छानुसार मरने के पहले अपने पुत्रों को अलग भी कर सकता है। पुत्रों को भी स्वेच्छानुसार पिता के जीवन काल में ही विभाजनाधिकार होता है। यथा—

१. "श्रीमोहन ब० मैकग्रीगर" (१९०१) २८, कलकत्ता ७६९।
"रूपसिंह ब० विभूति" (१९२०) ४२, इलाहाबाद ३०।
"ए० चेट्टी ब० आर० चेट्टी" (१९३४) ५७, मद्रास ४०५।
२. "रामलिंग ब० विरूपाक्षी" (१८८३) ७, बम्बई ५३८।
३. "दर्शनसिंह ब० परभूसिंह" (१९४६), इलाहाबाद १३०।

मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च।
निवृत्ते वापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे ॥ (नारद)
यथाह शंखः—अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च।
(मिताक्षरा)

यद्यपि पिता को अपने पुत्रों में बटवारा कर देने का अधिकार है, तथापि पितामह को ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है।[१] और पिता इस अधिकार का प्रयोग अपने जीते-जी ही कर सकता है; इच्छापत्र के द्वारा नहीं।[२]

विभाजन की दूसरी प्रक्रिया है पृथक् हो जाने के संकल्प की स्पष्ट अभिव्यक्ति। एक समांशी जब पार्थक्य का इरादा व्यक्त कर देता है तो अन्य समांशीगण राजी हों या न हों इसका कोई असर नहीं पड़ता। संकल्प की अभिव्यक्ति वचन या व्यवहार दोनों प्रकार से की जा सकती है। विभागाकांक्षी समांशी इस संकल्प की लिखित सूचना भेज सकता है। चूँकि अभिव्यक्ति ही पार्थक्य का सम्पादन कर देती है, इसलिए नोटिस भेजने की तारीख से संयुक्त कुटुम्ब का विघटन मान लिया जायगा न कि नोटिस पाने की तारीख से। अभिव्यक्ति की दूसरी रीति है विभाजन के लिए दावा दायर करना। नोटिस वापस लेने से विघटन नहीं रुकता, जब तक अन्य समांशीगण की सहमति वापसी के लिए न दी जाय।[३] बटवारे के दावे वाली रीति पर सोच-विचार कई दृष्टिकोणों से करना होगा।

अर्जी-दावा दायर कर देना चूँकि संकल्प की स्पष्ट सूचना के सदृश होता है इसलिए दायर करने की तारीख से कुटुम्ब विघटित माना जायगा। इस परिणाम के ऊपर दावे की हार-जीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। याद रखिए कि दावा दायर करना संकल्प का प्रबल प्रमाण होने पर भी निश्चायक प्रमाण नहीं माना जाता।[४] इसलिए यदि दावा छलकपट के निमित्त दायर किया गया हो,[५] या वापस ले लिया गया हो,[६] या

१. "ऐस० रेड्डी ब० सी० रेड्डी" (१९४५), मद्रास १७१४।
२. "ब्रजराजसिंह ब० शिवदान सिंह" ४०, इ० एपील्स १६१।
३. "बांके वि० ब० ब्रज वि०" (१९२९) ५१, इलाहाबाद ५१९।
४. "ज्वालाप्र० सिंह ब० चन्द्रजीत कुँअर (१९३८) २७, पटना ४३०।
५. "भगवन्त किशोर ब० विशम्भरनाथ" (१९५०), ए० ए० ५४।
६. "पी० अम्मल ब० मुट्ठू वेंकटाचार्य" (१९२५) ५२, इ० एपील्स ८३; (१९४९) मद्रास २२९।

मुद्दई की मृत्यु के कारण उसके उत्तरजीवी दावे को न चलायें,[1] या डिग्री कराने के बाद भी उभय पक्ष संयुक्त बने रहें और वियोग के संकल्प का परित्याग कर दें,[2] तो दावा दायर करने से विच्छेद नहीं समझा जाता है। उसी तरह यदि बटवारे का दावा अवयस्क समांशी की ओर से दायर हुआ हो, तो दायर होने मात्र से विघटन हो गया या नहीं; यह इस प्रश्न के ऊपर निर्भर होगा कि विभाजन अवयस्क के लिए हितकर है या हानिकर ?[3]

(३) बटवारे की तीसरी प्रक्रिया है समझौता। "अप्पोवियर ब० राम सुब्बा ऐयन" वाले मुकदमे[4] में प्रिवी कौंसिल ने यह घोषित किया है—"जब संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य आपस में यह तय कर लें कि आज से अमुक सम्पत्ति पर हम में से प्रत्येक का स्वामित्व इतने-इतने अंश का होगा, तब उस सम्पत्ति का अविभक्त गुण और संयुक्त भोग दोनों विनष्ट हो जाते हैं और उसी क्षण से प्रत्येक सदस्य सम्पदा के विनिश्चित तथा निर्धारित अंश का स्वामी बन जाता है, साथ ही उसको यह हक पैदा हो जाता है कि अपने भाग का अलग कब्जा और उपभोग करे, चाहे सम्पदा का नापा-जोखा विभाजन न भी हुआ हो।" स्पष्ट है कि वियोग का संकल्प ही पार्थक्य की असली पहचान होता है और आपसी समझौते में चूंकि संकल्प प्रकट ही नहीं अपितु क्रियाशील भी हो जाता है, इसलिए यह प्रक्रिया बटवारे के प्रमाण के निमित्त कम प्रभावशाली नहीं होती। यह ज्ञातव्य है कि वियोग या विभाजन उस संकल्प का उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। यदि विभाजन से भिन्न किसी अन्य उद्देश्य से समांशियों के अंश निर्धारित किये गये हों, तो ऐसे निर्धारण से संयुक्त कुटुम्ब के विघटन का निष्कर्ष नहीं निकाला जायगा।[5]

(४) चौथी रीति बटवारे की है पंचायत। यदि समांशीगण बटवारा करने के लिए पंच नियुक्त करके उसके नाम पंचायतनामा लिख दें, तो वह पंचायतनामा विघटन के संकल्प को स्पष्टतया व्यक्त करेगा और उसी तारीख से कुटुम्ब विभक्त माना

१. "शंकरसिंह ब० गुलाबचन्द्र (१९४५) नागपुर ४४४।
२. "चोकलिंगम ब० मुट्टूकरुप्पम्" (१९३८), मद्रास १०१९।
३. "सी० श्री राममूर्ति ब० आफिशल रिसीवर" (१९५७), ए० आंध्र प्रदेश ६९२।
"कोटप्पा ब० कृष्ण" (१९४५), मद्रास ७१०।
"रंगस्वामी ब० नगरम्मा" (१९३४) ५७, मद्रास ९५।
"मण्डली प्रसाद ब० रामच० लाल" (१९४७), नागपुर ८४८।
४. (१८६६) ११ मूर्स, इ० एपील्स ७५।
५. "पूर्णानन्द चौ ब० गोपाल स्वामी" (१९३६) ६१, इ० एपील्स ४३६।

जायगा। यह जरूरी नहीं है कि पंच लोग अपना निर्णय भी दें। निर्णय नाप-जोख वाले विभाजन का प्रमाण होता है। पंचायतनामा विभाजन के असंदिग्ध संकल्प का प्रमाण होता है।

(५) पंचायत के अतिरिक्त बटवारे की पाँचवीं विधि है अदालती डिग्री के द्वारा बटवारा। बटवारे के दावे में कौन-कौन लोग पक्षधारी बनाये जायँ, कौन-कौन सी सम्पत्ति दावे में शामिल की जाय और किन निदेशों के समेत डिग्री पारित करनी चाहिए ये बातें आगे बतायी जायेंगी। इस बीच में कुछ अन्य जरूरी बातें जानने लायक हैं।

विभाजन चार प्रकार का होता है और उतने ही प्रकार का साक्ष्य उसका समर्थन करता है। एक तो **आमूल बटवारा** होता है जिसका प्रमाण पृथक्-पृथक् भागों का पृथक्-पृथक् कब्जा व उपभोग है।[1] दूसरा **कागजी बटवारा** होता है जिसमें प्रत्येक भागदार का विनिश्चित अंश लिखा रहता है, यद्यपि नापजोख करके अंशों का पृथक्करण नहीं किया जाता। वह लेख ही विभाजन का प्रमाण होता है और उसके विपरीत साक्ष्य देना अनुचित होता है।[2] तीसरी तरह के विभाजन में **आपसी बटवारे का लेख** तो होता है, किन्तु सदस्यों का संकल्प उससे स्पष्टतया और असंदिग्ध रूप से प्रकट नहीं होता। तब सदस्यों का मन्तव्य उनके परवर्ती व्यवहार व उपयोग से तथा उस लेख से निगमित (अनुमित) करना पड़ता है।[3] एक समांशी की पृथक्ता के लेख से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अन्य समांशी भी परस्पर पृथक् हो गये हैं।[4] चौथे प्रकार के बटवारे में **कोई लेख नहीं होता**। ऐसे मामले का निर्णय कष्टसाध्य हो जाता है, क्योंकि तथ्यों तथा परिस्थितियों का ही आश्रय लेना पड़ता है।[5] प्रमाणभार उस पक्ष के सिर पर रहता है जो विभाजन का अभिकथन करे।

वे तथ्य व परिस्थितियाँ क्या हैं और उनसे कैसे संयुक्तता का या पृथक्ता का निगमन (अनुमान) करना चाहिए; ये विधि के नहीं अपितु तथ्य के प्रश्न होते हैं। याद रखने वाली बात यह है कि पृथक् कब्जे का हक संयुक्त स्वामित्व के विघटन पर अव-

१. "कोचूकुट्टी ब० भवानी अम्मा" (१९५४), ए० ट्रावन्कोर-कोचीन १६९।
२. "अप्पोवियर ब० रामसुब्बा ऐयन" ११, मूर्स इ० एपील्स ७५।
३. दुर्गाप्रसाद ब० कुन्दन" १, इ० एपील्स ५५।
४. "पूर्णानन्द चौ ब० जी० ओदयर" (१९३६) ६३, इ० एपील्स ४३६।
५. "गणेशदत्त ब० जेवच" (१९०४) ३१, इ० एपील्स १०।
"दुर्गा ब० लालबहादुर" (१९२९) ४, लखनऊ १३८।
मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ५०१–२।

लम्बित होता है। स्वामित्व का विघटन पृथक् भुक्ति का प्राग्वर्ती होता है। स्वामित्व विघटन का परिणाम होता है पृथक् भुक्ति। महत्व की बात यही है। दोनों क्रियाओं में कितने समय का अन्तर है, इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, उपभोग एव प्रबन्ध के सुविधार्थ सम्पदा के या किसी विशेष सम्पत्ति के भाग पृथक्ता संकल्प के बिना भी किये जा सकते है। सरकार को सूचना देने या अन्य किसी आशय से प्रत्येक समांशी के अश की गणना की जा सकती है। पृथक् निवास, पृथक् भोजन, पृथक् पूजा-अर्चा विवशतावश (जैसे समांशियों की परदेशी वृत्ति, नियोजन, व्यापार) या सौकर्यार्थ कर लिया जाता है।[1] इसके विपरीत वे समांशीगण जो साथ-साथ रहते हैं, वे वास्तव मे पृथक् सत्ता के हो सकते है और उनमें मैनेजर की हैसियत कर्ता की न होकर मात्र उनके कारिन्दे की हो सकती है।[2] कुटुम्ब के रहन-सहन, व्यवहार व प्रबन्ध के ढग से पृथक्ता या एकता का निष्कर्ष निकालना कठिन काम होता है। और इससे भी अधिक कठिन हो जाता है वह समय विनिश्चित करना जब समांशीगण बिलग हुए थे, क्योंकि बहुधा पृथक्ता के बावजूद नापजोख वाला बटवारा टलता रहता है। पृथक्ता की तारीख कानून मे इसलिए महत्वपूर्ण बन जाती है कि कुटुम्ब के भीतर जन्म व मृत्यु के परिणाम जो संयुक्तावस्था में होते हैं वे वियुक्तावस्था में नहीं होते। अब सोचना चाहिए कि जब हितों का पृथक्करण हो जाने के पश्चात् कुछ सम्पत्ति अविभाजित छूट जाती है तो उसमें हिस्सेदारों की हैसियत समांशी से बदल कर सह-आभोगी की हो जाती है।[3] उस हालत में जन्म-स्वत्ववाद और उत्तरजीविता-वाद वाले नियमों का कैसे प्रयोग हो सकता है ?

कुछ सम्पत्ति अविभाजित क्यों छूट जाती है या **अधूरा बटवारा** किसे कहते हैं ? आंशिक या अधूरे या अपूर्ण विभाजन मे या तो कुछ सम्पत्ति, या कुछ सदस्य सयुक्त बने रहते है। संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यो को यह अधिकार होता है कि कुछ सम्पत्ति तो बाँट लें और बाकी को सयुक्त छोड़ दें और स्वतः भी संयुक्त बने रहें। किन्तु ऐसा बहुत कम देखा गया है और सयुक्त बने रहने का इकरार ऐसा अभिकथन करने वाले

१. "डी० लटचोन्दोरा ब० डी० चिन्ना वाडू", ए० आई० आर० १९६३, आंध्र ३१।
२. "ए० बेंकटपति ब० डी० बेंकट नरसिंह", ए० आई० आर० १९३६, प्रिवी कौंसिल २६४।
"अप्पोवियर ब० राम सुब्बा ऐयन" ११, मूर्स इ० एपील्स ७५।
३. "बालकृष्ण ब० राम" (१९०३) ३०, इ० एपील्स १३९।

को प्रबल रूप से प्रमाणित करना पड़ता है, जो एक कष्टसाध्य काम है। अन्यथा, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अविभाजित सम्पत्ति में सदस्य सह-आभोगी समझे जाते हैं। अपूर्ण विभाजन उस दशा को भी कहते हैं जब एक या अधिक समांशी वियुक्त हो जायँ और शेष कुटुम्ब सम्मिलित बना रहे। इस तरह के अपूर्ण विभाजन के ऊपर कई मतों की कई नजीरें बन गयी हैं। प्रिवी कौंसिल तथा सुप्रीम कोर्ट के मत के साथ-साथ यहाँ अन्य निर्णय भी प्रस्तुत किये जाते हैं।

यदि एक ही सदस्य अलग हो जाता है तो बाकी समांशियों की संयुक्तावस्था पर प्रभाव नहीं पड़ता।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि एक की जुदाई से यह पूर्व-धारणा नहीं उपजती कि शेष समांशीगण भी परस्पर अलग हो गये या एक ही में बने रहे।[2] बटवारे के बाद जो पक्ष जैसा अभिकथन करे उसे उसी को प्रमाणित करना चाहिए। यह सत्य है कि पितृबन्धुओं के विषय में उनकी एकता की पूर्व-धारणा कर ली जाती है। यह पूर्व-धारणा उतनी ही शिथिल पड़ती जाती है जितनी दूरी वंशजों की सम-पूर्वज से बढ़ती जाती है।[3] उसी प्रकार से जहाँ यह देखा जाय कि कई पीढ़ियों से सम-पार्श्विकों (बान्धवों) का खाना-पीना, पूजा-अर्चा, सम्पत्ति पृथक् है, तो यह पूर्व-धारणा कर ली जाती है कि विगत समय में कभी विघटन हो चुका होगा।[4] जब एक समांशी अपने हित का परित्याग या अध्यर्पण कर देता है, तो वह कर्म विघटन को नहीं पैदा करता, वरंच बाकी समांशीगण सम्मिलित ही बने रहते हैं। चूँकि दावे का दायर होना ही पृथक्ता का सर्जन कर देता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि मुद्दई का अंश न तो ऐसे जन्म के कारण घट सकता है, न ऐसी मृत्यु के कारण बढ़ सकता है, जो कुटुम्ब के अन्दर दावे की तारीख के बाद घटित हो।[5] किन्तु याद रहे कि अवयस्क मुद्दई के दावे के विषय में अदालत अपने विवेक का प्रयोग करके उसके हित व अनहित के आधार पर दावे की डिग्री या खारिज करती है। अर्थात् दावे की सफलता संदिग्ध रहती है। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अवयस्क के दावा दायर

१. "बाल ब० राम" (१९३१) ५८, इ० एपील्स २२०।
"भगवती ब० रामेश्वर", ए० आई० आर० १९५२, सुप्रीम कोर्ट ७२।
२. "भगवती ब० रामेश्वर" ए० आई० आर० १९५२, सुप्रीम कोर्ट ७२।
"भगवान ब० रेवती" (१९६२) १, सुप्रीम कोर्ट जर्नल ३४८।
३. "देवी ब० फूलमा", ए० आई० आर० १९६१, हिमांचल प्रदेश १०।
४. "इन्दर ब० पिर्थीपाल" (१९४५), लखनऊ ३९१।
५. "सैयद कासिम ब० जोरावर सिंह" (१९२२) ४९, इ० एपील्स ३५९।

करने मात्र से कुटुम्ब की पृथक्ता हो जाती है। यदि पृथक्ता हो जाती है, तब पश्चात्-घटित जन्म-मरण का प्रभाव अवयस्क के अंश पर नहीं पड़ेगा और यदि पृथक्ता नहीं होती है, तब पश्चाद्-घटित जन्म-मरण का उसके अंश पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा।[1] दौरान मुकदमे में यदि ऐसी कोई स्त्री मर जाय जिसको सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने उत्तराधिकारी के रूप में अखण्ड स्वामित्व प्रदान कर दिया है, तो उसका अंश संयुक्त सम्पदा में मिश्रित या विलीन होकर जीवित पक्षों के बीच विभाज्य नहीं होगा, जैसा कि उस अधिनियम के पारित होने के पूर्व हुआ करता था।[2]

अब विभाजन की पाँचवीं विधि, अर्थात् अदालती बटवारे पर फिर लौट आना चाहिए। कोई भी समांशी या उसके हित का क्रेता बटवारे का दावा दायर करने की क्षमता रखता है। किन्तु यदि वादी अवयस्क है, या दावा बम्बई हाई कोर्ट के अधिक्षेत्र में पुत्र ने दायर किया है, तो उन शर्तों को पूरा होना चाहिए जो ऊपर कही जा चुकी हैं। इस हक में कोई ऐसी बात बाधा नहीं डाल सकती, जैसे अवयस्कता, उन्माद, दिवाला, समांशी-कृत अन्य-संक्रमण या सदैव संयुक्त बने रहने का अनुबन्ध।[3] ऐसे अनुबन्ध के भंग से हर्जाने का हक पैदा हो या न हो, बटवारे का दावा नहीं रुक सकता।[4] अदालत न तो मुद्दई के हेतु की जाँच कर सकती है न नीयत की; हाँ, इतनी परिपृच्छा अवश्य कर सकती है कि पक्षों के बीच पहले बटवारा हो तो नहीं चुका है।[5]

विभाजन के दावे में दो प्रकार के पक्ष होते हैं—आवश्यक तथा उपयुक्त या वांछनीय। **आवश्यक पक्षों** को पक्षधारी न बनाने से अर्जी-दावा अस्वीकृत हो सकता है अर्थात् दावा खारिज हो सकता है। आवश्यक पक्षधारी वे कहे जाते हैं जिनका कि मुकदमे में प्रतिनिधित्व हुए बिना, अदालत कौटुम्बिक मामलों का और हिस्सा-बाँट का पर्यवेक्षण नहीं कर सकती। अतः सामान्यतया समांशीगण, भागाधिकारी स्त्री-वर्ग तथा समांशिता-हितधारी लोग (जिन्होंने समांशी हित को क्रय या परिनियम के माध्यम से उपलब्ध किया हो) आवश्यक पक्षधारी माने जाते हैं। उस मुकदमे में, जिसमें कुटुम्ब

१. "रामसिंह ब० फकीरा" (१९२९). बम्बई २५६।
२. "किशनलाल ब० नन्देश्वर" (१९१९) ४, पटना ला जर्नल ३८।
"मयूर ब० रेणुका" (१९४९), नागपुर ४००।
३. "पार्वती ब० नौनी" (१९०९) ३६, इ० एपील्स ७१।
"रत्नेश्वरी ब० भगवती", ए० आई० आर० १९५०, फीडरेल कोर्ट १४२।
४. "सुभगसिंह ब० पिरथीसिंह", ए० आई० आर० १९५१, नागपुर २५९।
५. "अरविन्दलाल ब० खन्डू" (१९६१) ६३, बम्बई ला० आर० ९२९।

की केवल विभिन्न शाखाओं के बीच बटवारे की याचना की गयी हो, और उपशाखाएँ परस्पर सम्मिलित रहने की इच्छुक हों, केवल शाखाओं के मुड्ढ या नायक आवश्यक पक्षधारी होते हैं।[1]

वांछनीय या उपयुक्त पक्ष वे लोग हैं जिनके बिना दावा खारिज तो नहीं हो सकता, किन्तु निर्णय सुगम नहीं होता। समांशीगण, समांशिता-हितों के स्वामी, वे स्त्रियाँ जो डिग्री पर्यन्त जीवित बचने पर भागाधिकारी हो सकती हैं, वे बाहरी लोग जिनका औचित्य-सम्मत भार सयुक्त सम्पदा के ऊपर चढ़ा हो, उस दशा में "आफिशेल एसाइनी" या आदाता (रिसीवर) जब किसी समांशी की दिवाले की दरख्स्ति चल रही हो और उसको उन्मुक्ति (डिस्चार्ज) न मिली हो, तथा वे लोग जो संयुक्त कहलाने वाली सम्पत्ति पर काबिज हों; ये सब वांछनीय पक्ष समझे जाते हैं।[2] उपयुक्त पक्षों में उन लोगों की भी गणना है जो भरण-पोषण के अधिकारी हों। जिस समांशी ने अपने हित का परित्याग कर दिया है उसको पक्षधारी बनाना न तो उपयुक्त है न आवश्यक।

बटवारे के मुकदमे में **कौन सी सम्पत्ति शामिल करनी चाहिए ?** मामूली कायदा तो यह है कि बटवारे के ऐसे मुकदमे में, जो समांशियों के विरुद्ध दायर किया जाय, उसमे सारी सम्पत्ति को सम्मिलित करना चाहिए।[3] असल मे यदि यह पता चले कि बटवारा हुआ था, तो पूर्व-धारणा कर ली जाती है कि निश्शेषी (पूर्ण) विभाजन हो चुका है। अन्य-सुक्रान्त सम्पत्ति के ऊपर तो खण्डीय विभाजन के दावे दायर होते ही हैं। इसके अतिरिक्त खंडीय विभाजनार्थ निम्नोक्त दशाओं मे भी दावे दायर होते रहते हैं—(क) पारस्परिक समझौते से विभाजनाधिकारी कुछ सम्पत्ति का तो नापा-जोखा बटवारा कर डालें और बाकी सम्पत्ति को इस इरादे से अविभाजित छोड़ दें कि उतने ही हिस्से उसके भी आगे चलकर कर लिय जायेंगे। (ख) जब कुछ सम्पत्ति उस क्षेत्राधिकार के बाहर पड़ती हो जहाँ दावा सस्थित या दायर हुआ है।[4] (ग) जब सरकार की सहमति के बिना विभाज्य सम्पदा के खण्ड करना निषिद्ध हो।[5] (घ) जब कोई सम्पत्ति स्वभावतः अविभाज्य हो। (ङ) जब कोई सम्पदा बाहरी आदमी (जैसे दखली

१. "सुब्बा ब० सुब्बा", ए० आई० आर० १९३६, मद्रास ६८९।
"रामनाथ ब० वीरप्पा", ए० आई० आर० १९५६, मद्रास ८९।
२. "रामनाथन ब० वीरप्पा", ए० आई० आर० १९५६, मद्रास ८९।
३. "राजेन्द्र ब० ब्रजेन्द्र", ए० आई० आर० १९२३, कलकत्ता ५०१।
४. "रामाचार्य ब० अनन्ताचार्य" (१८९३) १८, बम्बई ३८९।
५. "पुरुषोत्तम ब० आत्माराम" (१८९९) २३, बम्बई ५९७।

मुर्तहिन) के कब्जे में हो।[1] (च) जब किसी सम्पदा का स्वामित्व या विभाज्यता संशयात्मक हो। (छ) जब कोई सम्पदा विस्मृत हो गयी हो।[2] याद रहे कि जब कोई समांशी दूसरे समांशियों के ऊपर कौटुम्बिक सम्पदा के बटवारे का दावा दायर करे, तो उसका कर्तव्य है कि उसमें वह सब कौटुम्बिक सम्पत्ति अवश्य सम्मिलित करे, जो स्वतः उसके कब्जे में हो, यदि वह (सम्पदा) भारत के भीतर अवस्थित हो।

ऊपर विभाजन की पाँच प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं। दो विधियाँ विघटन की और भी हैं, जो मनुष्य द्वारा संचालित नहीं; कानून द्वारा प्रेरित होती हैं। एक तो जब कोई समांशी मुसलमान या ईसाई हो जाता है, तो वह समांशिता का सदस्य नहीं रह जाता। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वह सम्पदा में अपने हित को भी गवाँ बैठता है। सन् १८५० वाले "कास्ट डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट" ने यह विहित कर दिया है कि धर्म छोड़ने से कोई हिन्दू संयुक्त सम्पदा में अपने हित से वंचित नहीं होगा।[3] दूसरे "स्पेशल मैरेज ऐक्ट सन् १९५४" (जिसका पूर्वज था १८७२ वाला ऐक्ट) के अनुसार वह हिन्दू समांशिता की सदस्यता खो बैठता है जो अपना विवाह उस ऐक्ट के अन्तर्गत कर ले।[4]

यहाँ विभाजन पर दो शंकाएँ उठती हैं—क्या विभाजन शाश्वत होता है या फिर भी हो सकता है? क्या वियुक्त सदस्य फिर सम्मिलित हो सकते हैं? यह तो ज्ञात ही है कि विभाजन के बाद उत्तरजीविता वाला नियम लागू नहीं होता और जो भाग एक समांशी के हिस्से में पड़ता है, उसमें उसके पुत्र-पौत्रों का 'जन्म-स्वत्ववाद' के अनुसार जन्म लेते ही हित पैदा हो जाता है। यह भी कि एक पृथक पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकारी नहीं गिना जा सकता, जब दूसरा पुत्र मौजूद हो जो पिता के साथ सम्मिलित रहा है। यदि वियुक्त समांशी एक विधवा व एक पृथक् पुत्र को छोड़कर मरे, तो विधवा नहीं पृथक् पुत्र उत्तराधिकारी[5] माना जायगा।

"हिन्दू ला" का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि विभाजन केवल एक बार हो सकता है और उसका फिर उद्घाटन (पुनरावृत्ति) असम्भव है। यह सिद्धान्त संयुक्त स्वामित्व के विघटन पर लागू होता है, न कि संयुक्त द्रव्य के बटवारे पर। विभाग के पुनरुद्घाटन

१. "क्रिस्टैया ब० नरसिंहम" (१९००) २३, मद्रास ६०८।
२. "सुब्रह्मण्यन ब० ए० चन्द्र", ए० आई० आर० १९२५, मद्रास ३३३।
३. "वेंकट सुब्बैया ब० वेंकट रमैया", ए० आई० आर० १९४३, मद्रास ३४९।
४. "गिरधारीलाल ब० फतेहचन्द", ए० आई० आर० १९५५, मध्य भारत १४८।
५. "बालकृष्ण ब० सावित्री बाई" (१८७९) ३, बम्बई ५४।

का आशय है पूर्व अभिहस्तांकित भागों का अमान्यकरण और उसकी जगह पर नवीन भागों की संस्थापना। कभी-कभी इस क्रिया में पूर्व विभाजन वाले भागों की मदें एक भाग से निकालकर दूसरे में डाल देनी पड़ती है। ऐसे पुनर्विभाजन में हिस्सेदारों के उन खरीदारों की हितरक्षा की जाती है जिन्होंने नेकनीयती के साथ मूल्य देकर उनसे सौदा कर लिया हो। विभाजन के पुनरुद्घाटन के कई हेतु हो सकते हैं—**एक** तो पूर्व विभाजन वाले किसी पक्ष का ऐसा छलकपट, जिसके कारण निर्मूल्य सम्पत्ति मूल्यवान् सम्पत्ति के धोखे में बाँट दी गयी थी, या ऐसी सम्पत्ति हिस्सों में डाल दी गयी थी जो संकलिपत या धर्मार्थ समर्पित होने के कारण कुटुम्ब की थी ही नहीं।[1] **दूसरे**, ऐसे भागाधिकारी शिशु की अवहेलना जो विभाजन काल में गर्भस्थ था। **तीसरे**, ऐसे दत्तक पुत्र का हक जिसका ग्रहीता बटवारे के पहले मर चुका था, यानी जिसके दत्तक-ग्रहण और दत्तक-ग्रहीता की मृत्यु के बीच में बटवारा कर लिया गया हो।[2] किन्तु यदि वयस्क समांशीगण कुछ काल तक विषम विभाजन के प्रति अपनी मौन स्वीकृति प्रदान कर चुके हों, तो विषमता के बहाने से बटवारे का पुनरुद्घाटन नहीं करा सकते।[3] **चौथे**, वे अवयस्क समांशीगण भी बटवारे की पुनरावृत्ति करा सकते हैं जिनको विषम अथवा अपर्याप्त अंश प्रदान किये गये थे।[4]

एक प्रकार के पुनरुद्घाटन को **समायोजन** कहते हैं। समायोजन उस समय करना पड़ता है जब कोई सम्पत्ति भूल से या सयोग से छूट गयी हो, या खोयी हुई वस्तु मिल गयी हो, या ऐसी सम्पत्ति अब विभाजनार्थ उपलब्ध हो गयी हो, जिसका बटवारा उस वक्त स्थगित कर देना पड़ा था। समायोजन उस समय भी प्रयुक्त किया जाता है जब अवयस्क या अन्य समांशी की प्रेरणा पर छोटी-मोटी विषमताओं का निवारण वांछित हो। जहाँ तक हो ऐसी प्रकीर्ण कार्यवाहियाँ करके बटवारे के पुनरुद्घाटन से बचे रहना[5] वांछनीय तथा सब पक्षों व अदालत के लिए सुविधाजनक होता है।

आम तौर से बटवारे का पुनरुद्घाटन दुर्घट होता है। यथा—

१. "एम० शेषन्ना ब० एम० शंकरन्ना", ए० आई० आर० १९५८, आंध्र प्र० ६९५।
"देवेन्द्रदत्त ब० ज्ञानेन्द्र" (१९३०), कलकत्ता ३८१।
"राम कोटप्पा ब० सुन्दर रमैया", ए० आई० आर० १९३१, मद्रास ७०७।
२. "हनुमन्त ब० भीमाचार्य" (१८८८) १२, बम्बई १०५।
३. "ब्रजराज ब० शिवदान" (१९१३) ४०, इ० एपील्स १६१।
४. "थगावल ब० रथना" (१९५९) २, एम० एल० जे० २७९।
५. "कृष्णन ब० जानकी", ए० आई० आर० १९५१, टी० सी० ३८।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ।। (मनु ९,४७)

ऐसा व्यक्ति बटवारे की याचना नहीं करता जो बटवारे के समय जीवित रहा हो या जिसका उपयुक्त प्रतिनिधित्व उस कार्यवाही में किया जा चुका हो। अपवाद रूप या तो वह अनर्ह (अयोग्य) व्यक्ति होता है जिसकी अनर्हता दूर हो गयी है,[1] या वह पुत्र जो बटवारे के समय अनुत्पन्न एव अगर्भस्थ होने के कारण भागाधिकारी नहीं था।[2] तथापि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसको केवल इस आधार के ऊपर कानून बटवारे के पुनरुद्घाटन का विशेषाधिकार प्रदान कर देता है कि उसके पिता ने अपने निमित्त कोई अंश रक्षित नहीं कर लिया था और इस तरह उसे पैतामही सम्पदा में हक पाने से वंचित कर दिया था।[3] इन दशाओं में भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बटवारे को ज्यों का त्यों बनाये रखने का और पूर्व-प्रदत्त भागों में काटछाँट करके ऐसे लोगों के हकों को पूरा कर देने का प्रयत्न किया जाता है।[4]

यहाँ तक विभाजन के पुनः उद्घाटन पर विचार किया गया। अब दूसरी समस्या के ऊपर चिन्तन किया जाय, अर्थात् **क्या विभक्त कुटुम्बी लोग पुनरपि सम्मिलित हो सकते हैं।** जब दो या अधिक विभक्त समांशी गण बटवारे को रद्द करके और अपने अशों का सयोजन करके पूर्ववत् इस सुमति के साथ सम्मिलित होकर रहने के लिए सहमत हो जाते हैं, कि "जो तेरा है वह मेरा और जो मेरा है वह तेरा", तब उस दशा को पुनः-संयोजन और उन समांशियो को **संसृष्ट या संसृष्टी** कहते है। विभाजन से संयोजन करने की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) संयुक्त कुटुम्ब, (२) उसके सदस्यों में विभाजन, (३) प्राग्वर्ती विभाजन के पक्षों के बीच प्रत्यक्ष या अन्तर्निहित यह संकल्प और इकरार कि हमारी सम्पत्ति सम्मिलित हो जायगी।[5] संसृष्टि का मुख्य प्रभाव यह है कि जब उत्तराधिकार में प्रतिद्वन्द्विता चलती है तो संसृष्टियों को असंसृष्टियों से वरीयता दी जाती है। उसका गौण प्रभाव यह होता है कि बटवारे के बाद उत्तराधिकार विषयक जो प्रत्याशाएँ उत्पन्न हो गयी हों वे टूट जाती हैं। इस नैराश्यजनित

१. "कृष्ण ब० स्वामी" (१८८५) ९, मद्रास ६४।
२. "भगवत ब० रामजी", ए० आई० आर० १९४७, प्रिवी कौंसिल १४०।
३. अधिलिंग ब० रामस्वामी" (१९४५), मद्रास २९७।
४. प्रोफेसर जे० डी० एम० डेरेट प्रणीत माडर्न हिन्दू ला, पृष्ठ ३४०–४२।
५. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ७६५।

मनोमालिन्य को थोड़ी मृदुता प्रदान करने के आशय से संसृष्टि के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये, यथा—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टो सोदरस्य तु सोदरः।
दद्याच्च प्रहरेद् अंशं जातस्य च मृतस्य च॥
अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टो नान्योदर्य्यो धनं हरेत्।
असंसृष्ट्यपि चादद्यात् संसृष्टो नान्यमातृजः॥ (याज्ञ० २, १३९-४०)

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥ (बृहस्पति)

प्रिवी कौंसिल ने इन वचनों के आधार पर यह निर्णय दिया कि वे ही समांशीगण संसृष्टि कर सकते हैं जो प्राग्वर्ती विभाजन में पक्षधारी थे।[1] चूंकि संकल्प और इकरार करने के लिए (जो संसृष्टि का अनिवार्य कारक होता है) एक अवयस्क सक्षम नहीं माना जाता, इसलिए उसकी तरफ से पिता के सिवा, जो गृहपति या प्रभु होता है, कोई भी अभिभावक संसृष्टि की रचना नहीं कर सकता।[2] संसृष्टि के पश्चात् पैदा होने वाले संसृष्टों के वंशज भी उसी तरह संयुक्त समझे जाते हैं, मानो वे मिताक्षरा वाले सामान्य संयुक्त कुटुम्ब में ही उत्पन्न हुए हैं।[3] संसृष्टि का प्रमाणभार उसी पर होता है जो उसका अभिकथन (समर्थन) करे, अन्यथा विभाजन के पश्चात् सदस्य अलग बने रहे हैं, यह पूर्व-धारणा कर ली जाती है।

हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब की वैध स्थिति का पुनः सर्जन ही संसृष्टि का मुख्य परिणाम होता है। संसृष्टों को तथा संसृष्टि के अनन्तर उत्पन्न होने वालों को भी उस वैध स्थिति के प्रलाभ सुलभ होने लगते हैं। उदाहरणार्थ 'उत्तरजीविता' वाला नियम लागू होने लगता है, असंसृष्ट सगा भाई और संसृष्ट सौतेला भाई समान उत्तराधिकार पाते हैं (हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट के अनुसार), सगी भगिनी भी उनकी सहभागिनी बन जाती हैं, संसृष्ट होने के बल पर सगा भाई अन्य सांपार्श्विकों (बान्धवों) को अपवर्जित करने लगता है, यद्यपि ससृष्टि के होते हुए भी वह स्वतः असंसृष्ट पुत्र के द्वारा अपवर्जित

१. "बालाबक्स ब० रुक्मा बाई" (१९०३) ३०, इ० एपील्स १३०।
"राम ब० पान", ए० आई० आर० १९३५, प्रिवी कौंसिल ९।
२. "बाबू उर्फ गोविन्ददास ब० गोकुलदास", ए० आई० आर० १९२८, मद्रास १०६४।
३. "नरसिंह ब० एस० वेंकट" (१९०९) ३३, मद्रास १६५।

हो जाता है। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि एक ही पीढ़ी के दो उत्तराधिकारियों में से संसृष्टि वाला असंसृष्टि वाले से जीत जाता है।[1] चूँकि संसृष्टि के बाद संयुक्त कुटुम्ब का पुनर्निर्माण हो जाता है, इसलिए उसके बाद यदि कभी विभाजन होगा, तो वे ही नियम लागू होंगे जो सामान्य संयुक्त कुटुम्ब के बटवारे में प्रयुक्त होते हैं।[2] सन् १९३७ वाले "हिन्दू विमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट" की बदौलत संसृष्टि का हक तथा संसृष्ट समांशी की मृत्यु से लाभान्वित होने का हक उस अधिनियम में उल्लिखित विधवाओं को भी सुलभ हो गया है,[3] यद्यपि नागपुर हाई कोर्ट के निर्णय के अनुसार केवल पुरुष सदस्यों को ही संसृष्टि का हक होता है।[4] इसी प्रसंग में यह बात भी हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि संसृष्टि का लिखित होना आवश्यक नहीं होता, यहाँ तक कि यदि विभाजन के अभिलेख की रजिस्ट्री हो चुकी हो तो भी संसृष्टि की संविदा मौखिक हो सकती है।[5]

जब संयुक्त कुटुम्ब में विभाग होता है, तो भागों का बाँट निम्नलिखित नियमों से किया जाता है—

(१) जब पिता व उसके पुत्रों के बीच बटवारा हो तो उनमें से प्रत्येक को बराबर-बराबर अंश मिलता है। मान लीजिए कि एक पिता और उसके दो पुत्रों में विभाग हो रहा है। प्रत्येक एक तिहाई पायेगा।

(२) यदि विभागाकांक्षी केवल दो या चार भाई हैं, तो प्रत्येक अर्ध या चतुर्थांश पायेगा।

(३) यदि कोई अविभक्त समांशी पुरुष सन्तान (पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र) छोड़ कर मर जाय तो उसका विभाग में अंश पाने का हक उस या उन पुरुष सन्तानों पर अवतरित हो जाता है, अर्थात् बटवारे में सन्तान उस मृत समांशी का प्रतिनिधित्व करती है। सन् १९३७ वाले "हिन्दू विमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" ने चार निकट सम्बन्धी

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ७६७–६९।
२. "नरसिंह ब० वेंकट" (१९१०) ३३, मद्रास १६५।
३. "मनोरमा ब० राम", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास २६९।
प्रो० जे० डी० एम० डेरेट कृत मा० हिन्दू ला, पृ० ३४४–४५।
४. "नानूराम ब० राधाबाई" (१९४२), नागपुर २४।
५. "नरसम्मा ब० वेंकट नरसी" (१९५३) २, एम० एल० जे० ६९५।

विधवाओं को भी अपने मृत पतियों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता प्रदान कर दी है। सन् १९५६ वाले "हिन्दू स० ऐक्ट" ने इन विधवाओं के हित को परम या पूर्ण स्वामित्व के सदृश कर दिया है।

(४) जब बटवारा ऐसे सदस्यों के बीच हो रहा हो जो चचेरे भाई हैं या चाचा-भतीजे हैं, तो प्रत्येक शाखा को पितृपरक भाग दिया जायगा और प्रत्येक शाखा के सदस्य आपस में व्यक्तिपरक अंश पायेंगे। यथा—

समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।
तत्पुत्रा विषमसमाः पितृभागहराः स्मृताः॥ (बृहस्पति)
अविभक्तेऽनुजे प्रेते तत्सुतं रिक्थभागिनम्।
कुर्वीत जीवनं येन लब्धं नैव पितामहात्॥
लभेतांशं स पित्र्यं तु पितृव्यात्तस्य वा सुतात्।
स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातृणां न्यायतो भवेत्।
लभेत तत्सुतो वापि निवृत्तिः परतो भवेत्॥ (कात्यायन)

निम्नलिखित उदाहरणों से तीसरे व चौथे नियमों को सहज में हृदयंगम किया जा सकता है—

अ से लेकर **घ** तक के व्यक्ति संयुक्त कुटुम्ब संघटित करते हैं। अब **अ** से लेकर **ग** तक लोग जब मर चुके, तब कुटुम्ब मे विभाग होने लगा। तीसरी पीढ़ी वाले छः सदस्य एक-एक छठा अंश नहीं पायेंगे; वरंच **घ** पायेगा **क** वाला तिहाई अंश। **च, छ, ज** मिलकर **ख** वाला तिहाई अंश लेंगे, उनमें से प्रत्येक के हाथ $\frac{1}{9}$ अंश लगेगा। वैसे ही **त** पायेगा **ग** के तिहाई अंश का आधा या $\frac{1}{6}$ और उसका भाई **थ** भी $\frac{1}{6}$ अंश पायेगा।

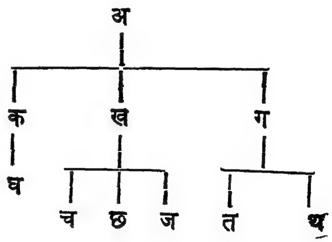

मान लीजिए कि बटवारा उस वक्त होने लगता है जब **अ** और उसके दो पुत्र **क** और **ग** मर चुके हैं और एक पुत्र **ख** तथा तीसरी पीढ़ी में **अ** के छः पौत्र जीवित हैं। अब **ख** को एक तिहाई अंश उसके और उसके तीन पुत्रों के निमित्त मिलेगा, एक तिहाई **क** के पुत्र **घ** को मिलेगा और एक तिहाई **ग** का जो अंश है वह मिलेगा उसके दो पुत्रों को।

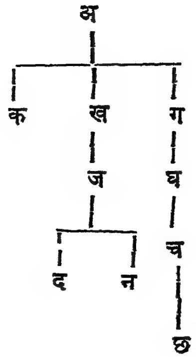

अब दूसरा दृष्टान्त लिया जाय। मान लीजिए कि इस कुटुम्ब में **अ** के मरने पर विभाजन जब हो रहा है, तब **क** उसका पुत्र, **द**, **न** उसके प्रपौत्र और उसके प्रपौत्र **च** का पुत्र **छ** ये चार लोग मौजूद हैं। यहाँ **छ** बेचारा वंचित हो जायगा, क्योंकि उसकी पीढ़ी चार से अधिक है (अ से गिनने पर **छ** का पाँचवाँ नम्बर आता है)। **अ** का पुत्र **क** आधा अंश पायेगा। उसके प्रपौत्र **द** और **न** मिलकर आधा अंश पायेंगे।

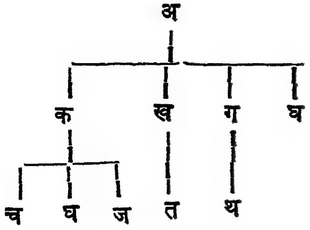

तीसरा दृष्टान्त कुछ जटिल है। **अ** अपने चार पुत्रों तथा पाँच पौत्रों को छोड़ कर मरा और फिर **क** मर गया। अभी तक कुटुम्ब सम्मिलित है। **क** का एक पुत्र **च** अपना भाग $\frac{१}{४}$ का $\frac{१}{३}$ यानी $\frac{१}{१२}$ बँटवा-कर सबसे अलग हो जाता है, फिर भी बाकी सदस्य सम्मिलित बने रहते हैं। इसी बीच **ख**, **ग** और **घ** क्रमशः मर जाते हैं। अब **क** के एक पुत्र **छ** की मृत्यु होती है। **छ** की मृत्यु के बाद (**क** का तीसरा पुत्र) **ज** बटवारे का दावा **त** और **थ** के विरुद्ध दायर कर देता है। क्या अब पितृपरक विभाजनानुसार **ज** को विद्यमान सम्पदा का एक तिहाई अंश मिलेगा? बम्बई हाई कोर्ट का उत्तर अस्तिवाचक है।[१] मद्रास हाई कोर्ट का उत्तर नास्तिवाचक है और वहाँ के मतानुसार चूंकि **क** की शाखा को उसके विभक्त पुत्र **च** के माध्यम से $\frac{१}{१२}$ पहले मिल चुका था अतः अब उस शाखा को $\frac{१}{१२}$ घटाने के बाद $\frac{१}{३}$ यानी $\frac{३}{१२}$ या $\frac{१}{४}$ ही पाने का हक है। यह मत औचित्य के ऊपर अवलम्बित है।[२]

१. **"प्राणजीवन दास ब० इच्छाराम" ३९, बम्बई ७३४।**

२. **"मंजुनाथ ब० नारायण" ५, मद्रास ३६२।**

"नारायण ब० शंकर" ५३, मद्रास १।

दायभाग-मतानुसार विभाजन

यहाँ तक विभाग के ऊपर मिताक्षरा के दृष्टिकोण से मनन किया गया है। अब उस पर दायभाग के दृष्टिकोण से भी विचार किया जाता है। जैसा कई बार कहा जा चुका है, समांशिता की अवधारणा दोनों शाखाओं में भिन्न होने के कारण, विभाजन के आशय में भी भेद हो गया है। दायभाग में प्रत्येक समांशी का अंश निर्धारित होते हुए भी सब का कब्जा सम्मिलित रहता है। अतः विभाजन का आशय है प्रत्येक समांशी का अपने निर्धारित अंश के अनुसार निर्दिष्ट द्रव्य के ऊपर कब्जा। पृथक्ता का संकल्प दोनों शाखाओं में महत्व रखता है। किन्तु मिताक्षरा में अंशों का निर्धारण ही पृथक्ता के संकल्प का प्रतीक होता है; तथा दायभाग में द्रव्य का वटन ही पृथक्ता के संकल्प का प्रतीक माना जाता है।

दायभाग में नारी भी समांशी होती है, अतः वह बटवारे का प्रवर्तन करा सकती है।[1] मिताक्षरा में सन् १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट" के पहले नारी इस अधिकार से वंचित थी। किन्तु एक अवयस्क समांशी किन दशाओं में बटवारा करा सकता है, इसके ऊपर दोनों शाखाओं के नियम समान हैं। 'उपरम-स्वत्व-वाद' के अनुसार पुत्रादि को बटवारा कराने का हक दायभाग में पिता की मृत्यु के बाद पैदा होता है, उसके जीवन काल में नहीं। द्विजों के जारज पुत्र दोनों ही शाखाओं में विभागाधिकारी नहीं होते। शूद्रों के जारज पुत्रों का विभाजनाधिकार दोनों शाखाओं में समान है।

दायभाग की मान्यता में जब कोई **क्रेता** संयुक्त सम्पदा वाली किसी सम्पत्ति का एक अंश खरीदता है, तो वह उसी सम्पत्ति के विभाजन और अपने हिस्से के दखल का दावा कर सकता है। यह जरूरी नहीं है कि वह सारी संयुक्त सम्पदा के बटवारे का दावा करे।[2] दायभाग में भी मिताक्षरा के सदृश **पत्नी, माता, पितामही** विभाजन नहीं करा सकतीं। मिताक्षरा का यह नियम है कि पिता और पुत्र के बीच बटवारा होने पर पत्नी भी भागदार बन जाती है। यह नियम दायभाग में प्रत्यक्षतः लागू नहीं होता, क्योंकि पुत्र को विभाजन कराने का हक ही नहीं होता। पिता नितान्त स्वच्छन्द है, जिसको चाहे उसको जैसा चाहे वैसा भाग दे या न दे। पिता के मरने के बाद यदि

"सी० डी० देव्य ब० कारीगौडा", ए० आई० आर० १९५४, मैसूर १२८।

हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, ३रा खंड, पृ० ६३१–३४।

१. "दुर्गानाथ ब० चिन्तामणि" (१९०४) ३१, कलकत्ता २१४।

२. "वाराही ब० देवकामिनी" (१८९३) २० कलकत्ता ६८२।

भाइयों में विभाजन हो, तो **माता** को, मिताक्षरा के समान, पुत्र के बराबर अंश पाने का हक हो जाता है। भाग देते समय माता के स्त्रीधन के मूल्य की कटौती उस (भाग) में से कर ली जाती है। माता व पितामही के इस हक से सम्बन्धित अन्य बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

यदि बटवारे के पहले एक भाई माता को अपनी दायाद रूप में छोड़कर मर जाय तब माता का दोहरा भागाधिकार पैदा हो जाता है। एक तो माता रूप से पुत्रों के समान अंश, और दूसरे मृत पुत्र की दायाद रूप से उसके भाग की उत्तराधिकारी होने से। दायाद के रूप में मिले हुए अंश के मूल्य की कटौती उसके निजी भाग में से इसलिए नहीं की जा सकती कि वह निजी भाग स्त्रीधन नहीं गिना जाता।[1] इस प्राचीन मत के विपरीत नयी नजीरों ने यह निर्णय दे दिया है कि चूंकि माता का भरण-पोषण के बदले में भाग मिलता है, इस लिए दायाद के रूप से वह दोहरा भाग नहीं पा सकती।[2] अपने अपरिमित प्रभुत्व के आधार पर दायभाग मतावलम्बी हिन्दू पिता इच्छापत्र द्वारा यह विहित कर सकता है कि जब मेरे पुत्र विभाजन करें तो मेरी पत्नी भाग न पाये। किन्तु इस मनाही के बावजूद विधवा को मृत पति की सम्पत्ति से भरण-पोषण पाने का हक होता है।[3] यदि पुत्र गण आपस में बटवारा करने बैठें तो उनकी **अपुत्रा विमाता** भाग नहीं पाती।[4] जब कई विमाता हों और उनके पुत्रों में बटवारा हो रहा हो, तो सम्पदा के पहले उतने टुकड़े कर डाले जाते हैं जितने पुत्र हैं और फिर अपने-अपने पुत्रों के भागों में से एक-एक भाग सब माताएँ पाती हैं। इस रीति को एक उदाहरण से समझ लिया जाय—राम दो विधवा मनी व लली को छोड़ कर मरा। मनी के दो व लली के तीन पुत्र हैं। सम्पदा के पाँच टुकड़े कर डाले जायेंगे। मनी व दो पुत्र $\frac{२}{५}$ में बराबर-बराबर यानी प्रत्येक $\frac{२}{१५}$ अंश पायेंगे। लली व तीन पुत्र $\frac{३}{५}$ में बराबर-बराबर यानी प्रत्येक $\frac{३}{२०}$ अंश पायेंगे। किन्तु यदि उनमें से किसी माता के एक ही

१. "पुरेन्द्रनाथ ब० हेमांगिनी" (१९०९) ३६, कलकत्ता ७५।
"एन० वाराहलू ब० सियम्मा", ए० आई० आर० १९६१, आंध्र २७२।

२. "इन्दु ब० मृत्युंजय" (१९४६) १, कलकत्ता १२८।
"मयूर ब० रेणुका" (१९४९), नागपुर ४००।
"श्यामू ब० विश्वनाथ", ए० आई० आर० १९५५, बम्बई ४१०।

३. "पुरेन्द्रनाथ ब० हेमांगिनी" (१९०९) ३६, कलकत्ता ७५।

४. "श्रीमती हेमांगिनी ब० केदारनाथ" (१८८९) १६, कलकत्ता ७५८।

पुत्र हो तो वह अपने पुत्र के अंश में भाग पाने की जगह केवल गुजारा पायेगी।[1] चूँकि दायभाग में माता को जो अंश मिलता है वह गुजारे के बदले में दिया जाता है, इसलिए यदि सारी सम्पदा का नहीं, केवल कुछ सम्पत्ति का विभाजन हो रहा हो तो माता किसी अंश की माँग नहीं कर सकती है; लेकिन शर्त यह है कि बची हुई अविभक्त सम्पदा से उसका भरण-पोषण समुचित रूप से हो सके।[2] माता को भाग पाने का हक उसी वक्त पैदा होता है जब पुत्रों के बीच में बटवारा हो रहा हो। यदि बटवारा होने की नौबत न आये, यथा बटवारे के दावे में डिग्री न हो या वादी दावे को उठा ले, तो माता का हक पैदा नहीं हो सकता। जब तक हक पैदा न हो तब तक सम्पत्ति बिक भी सकती है और नीलामी डिग्री में नीलाम भी हो सकती है। उस बिकी हुई सम्पत्ति के ऊपर माता के भरण-पोषण का भार पड़ेगा या नहीं यह प्रश्न अभी संदिग्ध है। किन्तु यह निश्चित है कि वह उसमें भाग नहीं पायेगी।[3] पितामही के अधिकार का यह वृत्तान्त है—

पितामही को भाग पाने का हक कब पैदा होता है? एक तो जब उसके पुत्रों व पौत्रों में बटवारा होने लगे। दूसरे, जब उसके पुत्रों व मृत पुत्र की ऐसी पुत्री के बीच में बटवारा हो रहा हो जो अपने पिता की दायाद बनी हो। दोनों दशाओं में उसको पुत्र के समान अंश मिलता है।[4] तीसरे, जब उसके पौत्रों के बीच विभाजन होने लगे तब उसको पौत्र के बराबर भाग मिलता है। चौथे, जब उसके पौत्रों व प्रपौत्रों के बीच में बटवारा हो रहा हो, तब भी उसको पौत्र के बराबर अंश मिलता है।[5] प्रत्येक दशा में उसके भाग में से उतना हिस्सा घटा दिया जाता है जिसका मूल्य उसके स्त्रीधन के तुल्य हो।[6] यह ज्ञातव्य है कि पितामही का भागाधिकार तभी माना जाता है जब विभाज्य सम्पत्ति उसके पति की रही हो।[7]

१. "कृष्टो ममीने ब० आशुतोष" (१८८६) १३, कलकत्ता ३९।
"श्रीमती हेमांगिनी ब० केदारनाथ" (१८८९) १६, कलकत्ता ७५।
२. "वाराही ब० देवकामिनी" (१८९३) २०, कलकत्ता ६८७।
३. "बलदेवदास ब० सरोजिनी" (१९३०) ५७, कलकत्ता ५९७।
४. "शिवसुन्दरी ब० वसुमती" (१८९१) ७, कलकत्ता १९१।
५. "शिवसुन्दरी ब० वसुमती" (१८९१) ७, कलकत्ता १९१।
६. "किशोरी ब० मनोमोहन" (१८९६) १२, कलकत्ता १६५।
७. "किरणबाला ब० सुशील", ५३ कलकत्ता, वीकली नोट्स ७०९।

"किरण बाला ब० सुशील" वाले उपरोक्त मामले में विवाद इस तरह का था[1]—सम्पदा का मालिक **अ** अपनी विधवा **क** तथा पुत्र **ख** को छोड़कर मरा। **ख** अपनी विधवा **ग** और दो पुत्र **घ** और **च** को छोड़कर मरा। **च** अपनी विधवा **छ** और पुत्र **ज** को छोड़कर मरा। अब **घ** को बटवारे की सूझी। वह विभाजन का दावा **ज** के विरुद्ध दायर कर देता है और उसमें अपनी पितामही **क**, अपनी माता **ग** और **ज** की विधवा माता **छ** को प्रतिपक्षी बना देता है। ध्यान देने योग्य है कि **क** अपने पौत्रों के समान अंश पाने की अधिकारी है। इसलिए तीन भागियों के तीन बराबर-बराबर खण्ड करने पर $\frac{1}{3}$ **क** को मिलेगा, फिर $\frac{1}{3}$ **घ** को, फिर $\frac{1}{3}$ **च** के दायादों (**छ** और **ज**) को। अब ग भी अपने पुत्रों के तुल्य अंश पाने की हकदार है। उसके दो पुत्रों ने $\frac{1}{3}+\frac{1}{3}$ यानी $\frac{2}{3}$ भाग पाया है। इस $\frac{2}{3}$ के तीन सम खण्ड बनाये जाकर एक यानी $\frac{2}{9}$ **घ** को तथा एक यानी $\frac{2}{9}$ ग को और एक यानी $\frac{2}{9}$ **ज** को मिलेगा। **छ** का मात्र एक पुत्र है, अतः वह **ज** के खण्ड में साझा नहीं करेगी।

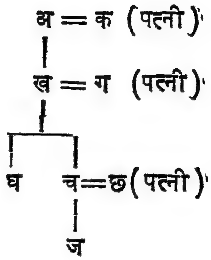

विभाजन में भागों का वंटन निम्नोक्त नियमों के अनुसार किया जाता है—

(१) भाइयों में जब विभाग होता है तो वे समान अंश पाते हैं।

(२) मृत भाई का भाग उसके दायाद, या मृत्यूत्तर-दायग्राही (डिवाइजी), या अभिहस्तांकितग्राही (एसाइनी) को मिलता है।

(३) प्रत्येक शाखा को पितृपरक रीति से और शाखा के भीतर प्रत्येक सदस्य को व्यक्तिपरक रीति से अंश दिये जाते हैं।[2] इस प्रकार यहाँ तक हिन्दू विधि की दोनों शाखाओं के दृष्टिकोण से विभाजन का अध्ययन हो चुका। उससे सम्बन्धित जिन प्रश्नों की चर्चा ऊपर नहीं आयी है उनके सम्बन्ध में यह मान लिया जाय कि दोनों शाखाओं में मतैक्य है।

१. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ ५२५।

२. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ ५२०–२५।

प्रकरण १२

नारी-सम्पदा—(क) स्त्री-धन

नारी-सम्पदा दो भाँति की होती है—स्त्री-धन व दायागत। पहले स्त्री-धन पर मनन करना चाहिए। स्त्री-धन का शाब्दिक या यौगिक अर्थ है नारी की सम्पदा। किन्तु इस अपारिभाषिक या व्यापक अर्थ में उसका प्रयोग स्मृतियों में नहीं हुआ है। उनमें इसको एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। आरम्भ में इसका आशय संकुचित था। धीरे-धीरे इसकी व्यापकता में संवर्धन होता गया। इसकी प्राचीनतम परिभाषा के अनुसार जो मनु रचित है, छः प्रकार की सम्पतियाँ स्त्रीधन होती हैं। यथा—

> **अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।**
> **भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ (मनु ९, १९४)**

नारद स्मृति में भी छः प्रकार के स्त्रीधन लिखे हैं। याज्ञवल्क्य ने मनु से कुछ अधिक सम्पत्तियों को स्त्रीधन माना है, यथा—

> **पितृ-मातृ-पति-भ्रातृ-दत्त-मध्यग्न्युपागतम्।**
> **आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥**
> **बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च॥ (याज्ञवल्क्य २, १४३)**

"आद्यम्" शब्द के प्रभाव से अन्य प्रकार की सम्पत्तियाँ भी स्त्रीधन मानी जा सकती हैं। विष्णुधर्मसूत्र में भी याज्ञवल्क्य की जैसी ही सूची मिलती है, यथा—

> **पितृ-मातृ-सुत-भ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतमाधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुल्कमन्वाधेयकमिति स्त्रीधनम्। (वि० सू० १७-१८)**

इन दो ग्रन्थों के अनुसार "पिता, माता, भाई और पति की दी हुई चीजें, विवाह-हवन के समय कन्या जो कुछ पा जाय, दूसरी पत्नी से विवाह करते समय पति-प्रदत्त धन आदि स्त्रीधन-संज्ञक हैं। सगे या सम्बन्धियों से मिली हुई चीजें और शुल्क तथा विवाहोपरान्त अर्पित वस्तुएँ भी स्त्रीधन हो जाती हैं।" याज्ञवल्क्य के बाद कात्यायन स्मृति में स्त्रीधन की और भी बड़ी संख्या मिलती है। यथा—

> **विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ। तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥**
> **यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्। अध्यावहनिकं चैव स्त्रीधनं तदुदाहृतम्॥**
> **प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचित् श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा। पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते॥**

गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम्। मूल्यं लब्धं तु यत्किंचिच्छुल्कं तत्परिकीर्तितम्।
विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया। अन्वाधेयं तदुक्तं तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा।
ऊर्ध्वं लब्धं तु यत्किंचित्संस्कारात्प्रीतितः स्त्रिया। भर्तुः पित्रोस्सकाशाद्वा अन्वाधेयं तु तद्विदुः।
ऊढया कन्यया वापि भर्तुः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुस्सकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥
प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः। भर्तुः स्वाम्यं तदा तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥
(कात्यायन ८९५-९०२)

स्मृतियों में या तो उन चीजों की सूची दे दी गयी है या उनका वर्णन, जो स्त्रीधन कहलाती है। परन्तु स्त्रीधन की व्यापक परिभाषा रचने या परिपूर्ण सूची प्रस्तुत करने का प्रयास किसी ने नहीं किया है। कौटिल्य तक ने अपने धर्मनिरपेक्ष ग्रन्थ अर्थशास्त्र में मात्र यह कह दिया है कि "शुल्क, अन्वाधेय, आधिवेदनिक, बन्धुदत्त ये स्त्रीधन के प्रकार है।" ऐसा लगता है कि पहले यह शब्द केवल छः प्रकार की सम्पत्तियों को परिभाषित करता था, फिर नौ को समाहित करने लगा, और अन्त में उन सब चल व अचल सम्पत्तियों को, जो स्त्री कुमारावस्था में, या विवाह में, या विवाहोपरान्त किसी से, जैसे माता-पिता से, या कुटुम्बियों अथवा सम्बन्धियों से, या पति तथा उसके कुटुम्बियों से प्राप्त करे। किन्तु जो अचल सम्पत्ति पति ने दी हो, तथा वह धन जो विवाहित दशा में उसने स्वार्जित किया हो, या गैर व्यक्ति से प्राप्त हो वह स्त्रीधन में नहीं गिना जाता। स्मृतिकारों ने "प्राप्त", "दत्त" और "लब्ध" शब्दों का प्रयोग किया है। अतः यह बात संदिग्ध रह जाती है कि दाय-प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन कहलायेगी या नहीं।

प्रिवी कौंसिल के निर्देशानुसार[1] अदालतों को स्मृतिवचनों की स्वतः व्याख्या नहीं करनी चाहिए, अपितु जिस प्रान्त का मुकदमा हो उस प्रान्त में अंगीकृत उनके भाष्य या टीका का आश्रय लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य के उपरोक्त (२, १४३) श्लोक की टीका मिताक्षरा में यह की गयी है—"जो कुछ माता, पिता, भाई, पति से मिले, जो कुछ वैवाहिक अग्नि के सामने मामा आदि सम्बन्धियों से मिले, 'आधिवेदनिक' अर्थात् दूसरी पत्नी से ब्याह करते समय सान्त्वना के लिए पहली पत्नी को पति द्वारा प्रदत्त धन (जैसा याज्ञवल्क्य ने २,१४८ में विहित किया है) और आद्य—अर्थात् इसी तरह वह धन, जो दायप्राप्ति, क्रय, विभाग, अभिग्रहण या खोज द्वारा प्राप्ति इन पाँच

१. "कलेक्टर आव मदुरा ब० मु० रामलिंग", १२ मूर्स इ० एपील्स ३९७।

साधनों से मिले, इन सब को मनु इत्यादि ने स्त्रीधन माना है। यहाँ स्त्रीधन शब्द अपारिभाषिक आशय में प्रयुक्त हुआ है, पारिभाषिक आशय में नहीं। क्योंकि जब यौगिक या व्युत्पन्न आशय सम्भव हो तो पारिभाषिक अर्थ लगाना अनुचित होता है।"

इसमें मिताक्षरा ने स्त्रीधन शब्द के आशय को कितना अधिक प्रसारित कर दिया है? नारी को दाय प्राप्ति से या विभाजन से मिली सम्पत्ति भी उसका स्त्रीधन हो जाती है। मिताक्षरा के ही समान मदनपारिजात (मिथिला की उपशाखा) और अपरार्क व बालम्भट्टी में याज्ञवल्क्य के उपरोक्त वचन की व्याख्या की गयी है। वीरमित्रोदय (बनारस की उपशाखा) में और पराशरमाधवींय (मद्रास की उपशाखा) में भी मिताक्षरा का अनुसरण हुआ है। दायभाग में व स्मृतिचन्द्रिका (मद्रास या द्रविड उपशाखा), दायतत्त्व, विवादचिन्तामणि (मिथिला) में स्त्रीधन शब्द को एक पारिभाषिक शब्द माना गया है, अर्थात् वह सम्पत्ति स्त्रीधन है जिसका पति से बिना पूछे भी स्त्री स्वेच्छानुसार दान, विक्रय या भोग कर सकती हो। दायभाग में वे सम्पत्तियाँ उल्लिखित नहीं हैं जिनके ऊपर नारी को उपरोक्त अधिकार होते हैं। किन्तु उसमें कात्यायन के उस वचन का अनुमोदन किया गया है जिसमें विवाहोपरान्त नारी द्वारा श्रमार्जित धन के तथा बाहरी लोगों द्वारा (विवाहोपरान्त) प्रदत्त धन के ऊपर पति का अधिकार बताया गया है। नारद के इस वचन का भी अनुमोदन किया गया है कि अचल को छोड़कर जो कुछ सम्पत्ति नारी अपने प्रिय पति से पाती है उसका व्यय और दान वह स्वेच्छानुसार कर सकती है। इन सारी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दायभाग में स्त्रीधन शब्द समावेष्टित करता है—(१) पति-प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर वे सब चीजें जो सगे सम्बन्धियों ने नारी को दी हों, (२) वे सब चीजें जो गैर लोगों ने या तो विवाह के हवन के अवसर पर या दुलहिन के बिदा होने के वक्त भेंट की हों। किन्तु वह सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं है जो गैरों ने अन्य अवसरों पर दी हो, या जो नारी ने विभाजन और उत्तराधिकार में पायी हो, या विवाहित नारी ने अपने परिश्रम या कारीगरी से उपार्जित की हो।

मिताक्षरा तथा दायभाग के बीच स्त्रीधन के विषय में जो अन्तर है, प्रिवी कौंसिल ने उसका इन वाक्यों में वर्णन किया है—"विधिविज्ञों की बंगाली शाखा ने इस शब्द का प्रयोग सर्वदा संकीर्ण अर्थ में किया है और अपवर्जी या प्रायः अपवर्जी रूप से उन नारी-सम्पत्तियों को ही यह संज्ञा दी है जिनको प्राचीन धर्मशास्त्रों ने स्त्रीधन माना था। मालूम पड़ता है कि मिताक्षरा के रचयिता तथा कुछ अन्य (मयूख तथा वीरमित्रोदय के) रचयिताओं ने उसका प्रयोग विस्तीर्ण अर्थ में उन सब प्रकार

की सम्पत्तियों के लिए किया है जो स्त्री की हो सकती हैं, वे उसने पायी चाहे जहाँ से हों।"[१]

ऐसी घोषणा के होते हुए भी प्रिवी कौंसिल ने मिताक्षरा के विपरीत, पुरुष से हो या नारी से, उत्तराधिकार में मिली हुई नारी सम्पत्ति को स्त्रीधन नहीं माना है और यह निर्णीत कर दिया है कि नारी-उत्तराधिकारी की मृत्यु के बाद ऐसी सम्पत्ति का अवतरण उसके दायादों के ऊपर न होकर प्राग्वर्ती स्वामी या स्वामी के दायादों के ऊपर होगा। अर्थात् यदि उत्तराधिकार किसी नारी को अपने पति से मिला हो, तो सम्पत्ति उस (नारी) के बाद उसके दायाद को नहीं, पति के दायादों को मिल जायगी[२], तथैव यदि उत्तराधिकार अपनी माता से मिला हो, तो सम्पत्ति उस (नारी) के बाद उसके नहीं, माता के दायादों को मिल जायगी।[३] यह ज्ञातव्य है कि बम्बई हाई कोर्ट के पूर्वापर कई फैसलों ने यह प्रस्थापित कर दिया है कि दायप्राप्ति वाली सकल सम्पत्तियाँ नारी-उत्तराधिकारी की स्त्रीधन बन जाती हैं। किन्तु यदि ऐसी उत्तराधिकारी का गोत्र (कुटुम्ब) में प्रवेश विवाह द्वारा हुआ हो तो उसको मिली हुई सम्पदा उसका स्त्रीधन वहाँ भी नहीं मानी जाती है। यह एक अपवाद है। उसी तरह से "३० इ० एपील्स २०५" के होते हुए भी प्रिवी कौंसिल ने यह निर्णय दे दिया है कि विभाजन में मिली हुई सम्पत्ति भी नारी का स्त्रीधन नहीं है।[४] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि विज्ञानेश्वर कृत स्त्रीधन के विस्तार को प्रिवी कौंसिल ने अस्वीकार कर दिया है।

स्त्रीधन के विषय में मत-मतान्तरों का संक्षिप्त वर्णन अब[५] जान लेना चाहिए।

(१) स्मृतिकारों ने स्त्रीधन को उन भेंटों, दानों या उपहारों तक सीमित कर दिया है जो नारी किसी भी अवसर पर नातेदारों से तथा विवाह सम्बन्धी हवन के या वधू-यात्रा के अवसर पर अन्यों से उपलब्ध करे। यह अभिमत सब शाखाओं को मान्य है।

१. "शिवशंकर ब० देवीसहाय" (१९०३) ३०, इ० एपील्स २०५।

२. "भगवानदीन ब० मैनाबाई" (१८६७) ११, मूर्स इ० एपील्स ४८७।

३. ३० इ० ए० २०५ की व्याख्या जो निम्नोक्त फैसलों में की गयी है—
"सुब्रह्मण्यम् ब० अरुणाचलम" (१९०५) २८, मद्रास १।
"गयादीन ब० बद्रीसिंह" (१९४३), इलाहाबाद २३०।

४. "देवीमंगल प्रसाद ब० महादेवप्रसाद" (१९१२) ३९, इ० ए० १२१।
"कमला देवी ब० बच्चूलाल", ए० आई०आर० १९५७, सु० कोर्ट ४३४।

५. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ २०१–२०२।

(२) वह सब सम्पत्ति भी नारी का स्त्रीधन है जो कुमारावस्था में या विधवा-वस्था में उसने परिश्रम से या कारीगरी से उपार्जित की हो अथवा गैरों से पायी हो।

(३) प्रिवी कौंसिल ने मिताक्षरा वाले पाँच अतिरिक्त प्रकार के स्त्रीधनों को तथा इस मत को अमान्य कर दिया है कि नारी को मिली हुई सब चीजें उसका स्त्री-धन है। इसी को बनारस वाली उपशाखा का मत समझना चाहिए।

(४) बम्बई की उपशाखा का मत उदार तथा मिताक्षरा से मिलता-जुलता है। वहाँ भी दाय प्राप्ति वाली सारी सम्पत्ति को (उपरोक्त अपवाद को छोड़कर) स्त्री-धन माना जाता है।

(५) मद्रास की उपशाखा के मत को मद्रास हाई कोर्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"मिताक्षरा का अनुसरण करके स्त्रीधन का विस्तृत अर्थ लगाना चाहिए और जब तक कि प्रतिपक्षी प्रबल शास्त्रीय प्रमाण इसके विरुद्ध न पेश करें, हर प्रकार से उप-लब्ध सम्पत्ति को स्त्रीधन मान लेना चाहिए।" वहाँ बटवारे मे नारी को भाग मिलता ही नहीं, इसलिए यह प्रश्न नही उठता कि विभाग द्वारा मिली सम्पत्ति स्त्रीधन है या नही। दायप्राप्ति वाली सम्पत्ति के बारे में वहाँ की परम्परागत अनेक नजीरों ने यह प्रस्थापित कर दिया है कि वह स्त्रीधन नही है। किन्तु अन्य द्वारा प्रदत्त धन (चाहे विवाहित दशा में दिया गया हो), भरण-पोषणाथ प्रदत्त राशि, अपने श्रम या कला द्वारा उतार्जित सम्पत्ति, ढूँढ़ने पर पायी हुई सम्पत्ति और कब्जा मुखालिफाना से नारी ने जो सम्पत्ति अवाप्त की हो, इन सबको वहाँ के हाईकोर्ट ने मिताक्षरा के अवलम्ब पर स्त्रीधन ठहराया है।[1] ज्ञातव्य है कि सन् १९१२ के "देवीमंगल प्रसाद ब० महादेव प्र०"[2] वाली नजीर ने इन निर्णयों का निराकरण कर दिया है।

(६) मिथिला वाली उपशाखा ने स्त्रीधन का पारिभाषिक अर्थ स्मृतियों के अनुसार किया है।

(७) दायभाग के मत से केवल वह सम्पत्ति स्त्रीधन है, जिसको नारी अपने पति की सहमति से स्वतत्र तथा स्वेच्छानुसार हस्तान्तरित और सेवन कर सकती हो। सम्पत्ति के जो भेद प्राचीन काल में विद्यमान नही थे, जैसे "मौरूसी मुकर्ररी पट्टा", वे भी स्त्रीधन का रूप ले सकते है, क्योंकि हिन्दू ला एक स्थिर तथा अनम्य (अपरि-

१. "सलेम्मा ब० लछमन" (१८९८) २१, मद्रास १००।
"सुब्रह्मण्यन ब० अरुणाचलम्" (१९०५) २८, मद्रास १।
२. ३९ इ० ए० ेन्स १२१।

वर्तनीय) विधि प्रणाली नहीं है।[1] स्त्रीधन की स्वामिनी अपनी सम्पत्ति की पूर्णाधिकारी होती है। इसलिए एक तो वह उसका यथेच्छ प्रयोग और भोग सदैव अथवा कम से कम वैधव्य काल में तो अवश्य कर सकती है। दूसरे, स्त्रीधन वाली सम्पत्ति का अवक्रमण स्वामिनी के दायादों पर होता है। स्त्रीधन के अतिरिक्त प्राप्त की हुई सम्पत्तियों में नारी का हित पहले सोपाधि, सीमित या अपूर्ण हुआ करता था। "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने सोपाधिता का अन्त कर दिया है। स्त्रीधन तथा तद्भिन्न धन का यह भेद स्मरणीय है।

स्त्रीधन एक दुरूह विषय है—"इत्यतिगहनमुक्तं स्त्रीधनम।" (दायभाग ४—३—४२) इसके तीन मोटे-मोटे विभाग हो सकते हैं—(१) किस-किस सम्पत्ति को यह संज्ञा दी जा सकती है? (२) उसमें स्वामिनी के क्या-क्या अधिकार होते हैं? (३) उसका अवक्रमण किस भाँति से होता है? इन तीनों प्रश्नों पर अलग-अलग सविस्तर विचार करना होगा। यह तो ज्ञात हो ही गया कि विविध स्मृतिकारों, व्याख्याकारों व निबन्धकारों के मतानुसार इस शब्द का आशय क्या है, और उन मतों का प्रिवी कौंसिल ने कहाँ तक पुष्टीकरण या विरोध किया है। नारी सम्पत्ति के आगम या स्रोत अनेक होते हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। प्रत्येक आगम को लेकर अब पहले प्रश्न के ऊपर विचार करें।

उपहार, भेंट या दान सगे सम्बन्धियों से मिलता है और गैरों से भी। सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति को व्यापक रूप से स्त्रीधन की संज्ञा मिलती है, वह चाहे जिस अवसर पर, चाहे जिस अवस्था में दी जाय। अवश्य ही दायभाग में पति-प्रदत्त स्थावर सम्पत्ति को स्त्रीधन नहीं माना जाता। अन्य लोग जो दान कुमारावस्था या विधवावस्था में देते हैं, या विवाह में अग्नि के सामने और वधूयात्रा में देते हैं, वह भी व्यापक रूप से स्त्रीधन गिना जाता है। विवाहितावस्था में अन्य द्वारा प्रदत्त धन को मिथिला व दायभाग शाखाओं में स्त्रीधन नहीं मानते, किन्तु बनारस, मद्रास, बम्बई उपशाखाओं में उसे स्त्रीधन मानते हैं। दान (गिफ्ट) तथा प्ररिक्थदान (डिवाइज) का उपरोक्त दशाओं में समान प्रभाव होता है।[2]

विभाजन में भी स्त्री को सम्पत्ति मिलती है तथा **उत्तराधिकार** में भी। विभाजन माध्यम वाली सम्पत्ति दायभाग में स्त्रीधन नहीं होती, क्योंकि विचार यह है कि वह

१. "रामगोपाल ब० नारायण" (१९०६) ३३, कलकत्ता ३१५।
२. "ब्रजेन्द्र ब० जानकी कुँवर" (१८७७) ५, इ० एपील्स।
"बाई नर्मदा ब० भ० राय" (१८८८) १२, बम्बई ५०५।

केवल निर्वाह के निमित्त उसको दी जाती है। मिथिला में भी वह स्त्रीधन नहीं समझी जाती, क्योंकि विवादचिंतामणि की सूची में ऐसी सम्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। मद्रास में नारी को बटवारे में भाग देने की रीति बहुत दिनों से बन्द हो गयी है। मिताक्षरा के अन्य अधिक्षेत्रों में भी प्रिवी कौंसिल की "देवीमंगल प्रसाद ब० महादेव प्र०"[१] वाली नजीर ने सन् १९१२ से इस प्रचलित मत को काट दिया है कि ऐसी सम्पत्ति की संज्ञा स्त्रीधन होती है। उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति बनारस, मिथिला, मद्रास की उपशाखाओं और दायभाग शाखा में स्त्रीधन नहीं मानी जाती, चाहे उसका आगम पुरुष से हो या नारी से। बम्बई वाली उपशाखा ने एक भेद निकाला है। नारी के माध्यम से प्राप्त दाय सर्वथा स्त्रीधन माना जाता है। पुरुष के माध्यम से आगत सम्पत्ति यदि ऐसी नारी को मिले जो विवाह द्वारा कुटुम्ब में प्रविष्ट हुई हो, तो वह स्त्रीधन नहीं समझी जायगी। यदि दायाद उसी कुटुम्ब में उत्पन्न हुई हो (यथा भगिनी, दुहिता) तो वह सम्पत्ति स्त्रीधन मानी जायगी।

गुजारे में भी नारी को सम्पत्ति मिलती है। गुजारे के लिए उसे धनराशि भी मिलती है। दोनों चीजें अर्थात् स्थावर सम्पत्ति तथा धनराशि सर्वत्र स्त्रीधन मानी जाती हैं। नारी अपने **परिश्रम** या **कलाकौशल** से भी सम्पत्ति उपार्जित कर सकती है। यदि वह सम्पत्ति कौमारावस्था में अथवा वैधव्यावस्था में कमायी गयी हो तो वह सर्वत्र स्त्रीधन मानी जाती है। यदि ऐसी सम्पत्ति विवाहित काल में कमायी गयी हो तो दायभाग शाखा में और मिथिला में वह स्त्रीधन नहीं होती, किन्तु बम्बई, मद्रास, बनारस उपशाखाओं में वह उस दशा में भी स्त्रीधन मानी जाती है।

अपने **स्त्रीधन की आय में बचत** करके उस बचत की राशि से भी नारी सम्पत्ति खरीद सकती है। वह सम्पत्ति चल हो या अचल सर्वत्र स्त्रीधन मानी जाती है।[२] उसी तरह वह सम्पत्ति भी सर्वत्र स्त्रीधन समझी जाती है जिसको नारी ने विवाहित अथवा वैधव्य काल में चिरभोगाधिकार या कब्जा मुखालिफाना के बल पर अर्जित किया हो।[३] नारी **सुलहनामा** के माध्यम से भी सम्पत्ति पा सकती है। ऐसी सम्पत्ति स्त्रीधन है या नहीं यह उसकी शर्तों तथा परिस्थितियों से ही ज्ञात हो सकता है।[४] नारी **रीति-**

१. ३९ इ० एपील्स १२१।
२. "सुब्रह्मण्यन ब० अरुणाचलम" (१९०५) २८, मद्रास १।
३. "कन्वैराम ब० अमरी" (१९१०) ३२, इलाहाबाद १८९।
४. "पं० आद्या शंकर तिवारी ब० मु० चन्द्रावती" (१९३५) १०, लख० ३५। "नत्थूराम ब० बाबूलाल" (१९३६) ६३, इ० एपील्स १५५।

रिवाज के आधार पर भी सम्पत्ति को स्त्रीधन के रूप में पा सकती है।[1] स्त्रीधन के सामान्यतः यही सम्भाव्य आगम होते हैं। अन्य स्रोत भी यदि किसी मामले में पाये जायँ तो उनके माध्यम से मिली हुई सम्पत्ति की संज्ञा स्त्रीधन है या नहीं, इस समस्या का समाधान इस मामले के तथ्यों व परिस्थितियों के ऊपर उपरोक्त नियमों या सिद्धान्तों का प्रयोग करके हो सकता है।

अब विषय के **दूसरे विभाग** पर चिन्तन करें, अर्थात् स्त्रीधन में **स्वामिनी को कौन-कौन से अधिकार मिलते हैं।** मुख्यतः नारद स्मृति तथा कात्यायन स्मृति ने नारी के उन अधिकारों का वर्णन किया है। यथा—

भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्।
सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावराद् ऋते॥ (नारद)
प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः।
भर्तुः स्वाम्यं भवेत्तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥ (कात्यायन)
सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तमुपजीवनम्॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि॥
भर्तृदायं मृते पत्यौ विन्यसेत् स्त्री यथेष्टतः।
विद्यमाने तु संरक्षेत् क्षपयेत्तत्कुलेऽन्यथा॥
न भर्ता नैव च सुता न पिता भ्रातरो न च।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः॥ (कात्यायन)

इन वाक्यों से ये नियम निकलते हैं—(१) कुमारावस्था में नारी अपने हर प्रकार के स्त्रीधन का स्वेच्छानुसार उपभोग और सेवन कर सकती है। (२) विधवावस्था में भी वह पति-प्रदत्त स्थावर सम्पत्ति को छोड़कर अपने हर प्रकार के स्त्रीधन का स्वेच्छानुसार उपयोग कर सकती है। (३) विवाहिता नारी पति के जीवनकाल में केवल उस स्त्रीधन का स्वेच्छानुसार सेवन व प्रयोग कर सकती है जिसको **सौदायिक** कहते हैं—

यौतकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्। (अमरकोश)
यत् कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्।
पितृभर्तृगृहात् प्राप्तं धनं सौदायिकं स्मृतम्॥ (व्यास)

१. "हुकुमचन्द्र ब० शीतलप्रसाद" (१९२८) ५०, इलाहाबाद २३२।

विवाहोत्सव में या तत्पश्चात् पिता एवं भर्ता के कुटुम्बियों द्वारा सौहार्द भाव से कन्या के लिए दिये हुए धन को सौदायिक कहते हैं। स्त्रीधन के ऊपर नारी का आधिपत्य कितना है यह बताने के लिए तीन बातें ज्ञातव्य हैं—एक तो उसका आगम; दूसरे, उसको पाते समय नारी की कैसी अवस्था (कुमारी, सधवा, विधवा) थी; तीसरे, धर्मशास्त्र की कौन-सी शाखा या उपशाखा उस पर लागू होती है।

आधुनिक नजीरों ने सौदायिक व असौदायिक का भेद तो कायम रखा[1] है, किन्तु पति-प्रदत्त व अन्य-प्रदत्त सौदायिक का भेद मिटा दिया है।[2] वर्तमान में नारी को स्वेच्छया सम्पत्ति हस्तान्तरित कर डालने का अधिकार है या नहीं, यह इस बात पर आश्रित है कि दाता का मन्तव्य पूर्ण स्वामित्व प्रदान करने का था या अपूर्ण। पति के जीते-जी सौदायिक के सिवा नारी अपने स्त्रीधन का हस्तान्तरण पति की सहमति लिये बिना नहीं कर सकती। दायभाग का प्रतिबन्ध और भी कठोर है। उसके मत से प्रत्येक स्वार्जित या कलाकौशल और परिश्रम से कमाये हुए धन पर एवं अन्य द्वारा दिये हुए धन पर नारी का नहीं, पति का आधिपत्य होता है, और इस सीमा तक कि आपत्काल समापन्न हुए बिना भी वह (पति) उस धन को ले सकता है। कुशल यह है कि यह निरंकुश अधिकार किसी अन्य कुटुम्बी को नहीं दिया गया है तथा यह भी विहित कर दिया गया है कि पति की मृत्यु के पश्चात् नारी का उस धन के ऊपर अखण्ड स्वामित्व पुनः स्थापित हो जाता है।

ऊपर कहा गया है कि सौदायिक को स्वेच्छानुसार हस्तान्तरित करने का नारी को अधिकार होता है। इस नियम का भी अपवाद है। यथा—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ (याज्ञवल्क्य २, १४७)

अर्थात् सौदायिक पर भी नारी का निरुपाधि आधिपत्य नहीं माना गया है। यदि पति सौदायिक को खर्च कर डाले, तो उसको लौटाने की देनदारी उस पर नहीं आती, किन्तु उसको लौटाने या न लौटाने की स्वच्छन्दता है। यथा—

व्याधितं व्यसनस्थं च धनिकैर्वोपपीडितम्।
ज्ञात्वा निसृष्टं यत्प्रीत्या दद्यादात्मेच्छया तु सः ॥ (कात्यायन)

१. "भाऊ ब० रघुनाथ" ३०, बम्बई २२९। "गजानन ब० पांडुरंग" (१९५०), बम्बई ३८६।

२. "सालिग्राम ब० चिरंजीत लाल" ५७, इ० एपील्स २८२।

इन विशेष दशाओं को छोड़कर जो कोई स्त्रीधन को खर्च कर डालता है, उस पर लौटा देने का कठोर दायित्व डाला गया है, यथा—

यदि ह्येकतरो ह्येषां स्त्रीधनं भक्षयेद् बलात्।
सवृद्धिकं स दाप्यः स्याद् दण्डं चैव समाप्नुयात्॥
तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत् प्रीतिपूर्वकम्।
मूलमेव प्रदाप्यः स्याद् यद्यसौ धनवान् भवेत्॥ (कात्यायन)
वृथा मोक्षे च भोगे च स्त्रियै दद्यात्सवृद्धिकम्।
पुत्रार्तिहरणे वापि स्त्रीधनं भोक्तुमर्हति॥ (देवल)

स्त्रीधन मे नारी के आधिपत्य वाले तथा पति के अधिकार वाले उपरोक्त नियम सब शाखाओं-उपशाखाओं में प्रयोज्य है।[1] नियम शास्त्रोक्त है और नजीरों द्वारा भी प्रायः अनुमोदित हुए है।[2]

विषय का **तीसरा** विभाग है **स्त्रीधन का अवक्रमण**। शाखाओं तथा उपशाखाओं के बीच जितना मतान्तर इस विषय पर पाया जाता है, उतना शायद अन्य पर नहीं है। प्राचीन काल में पुत्री को पुत्र की अपेक्षा वरीय दायाद माना गया था। समयान्तर में कुछ विचारकों ने पुत्र को समकक्ष या श्रेष्ठतर उत्तराधिकारी मानना आरम्भ कर दिया। भारत के अनेक प्रदेशों मे वहाँ की रहन-सहन, विचारधारा, रुचि व धारणाओं के अनुकूल जो जनमत व परम्पराएँ बन गयीं उन्ही को वहाँ की शाखाओं व उपशाखाओ ने उत्तराधिकार के नियमों के रूप में व्यक्त और प्रदर्शित किया है। नियमों की विचित्रता और भेद का यही कारण मालूम देता है। अर्थात् नियम "आचार-संवादी" हुआ करते हैं। अतः स्त्रीधन का उत्तराधिकार निर्णीत करते समय चार बातों को ध्यान में रखना पड़ता है—(अ) मृतक कुमारी थी या विवाहिता, (आ) विवाह धर्मानुकूल था या प्रतिकूल, (इ) स्त्रीधन किस प्रजाति का है, (ई) मृतक किस शाखा या प्रशाखा से प्रशासित होती थी।

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृष्ठ ७८३–८८।
२. "वेंकट ब० वेंकट" (१८८०) २, मद्रास ३३३।
"किंग एम्परर ब० सत्यनारायण" (१९३१) ५३, इलाहाबाद ४३७।
"मुहिमचन्द्र ब० दुर्गामणि" (१८७५) २३, वीकली रिपोर्टर १८४।
"नम्मलवर ब० थयरम्मल" (१९२७) ५०, मद्रास ९४१।
"सलेम्मा ब० लछमन" (१८९८) २१, मद्रास १००।
"एस० बालकदास ब० एन० बैरागी" (१९४३), बम्बई ३१४।

कुमारी के उत्तराधिकार के विषय में सब शाखाएँ सहमत हैं कि दायादों का क्रम यह है—(१) सहोदर भ्राता, (२) माता, (३) पिता, (४) प्रत्यासत्ति के क्रम में पिता के दायाद—अर्थात् मृतक कन्या के पिता की सगी बहन सौतेली से श्रेष्ठ है, (५) प्रत्यासत्ति के क्रम मे माता के दायाद। यथा "रिक्थ मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुरिति बौधायनस्मरणात्।" (मिताक्षरा २, १४६)। दायाद न० ४ व ५ वीरमित्रोदय (ग्रन्थ) के कथनानुसार बम्बई के हाई कोर्ट ने जोड़ दिये है।[१]

शुल्क के उत्तराधिकार के विषय मे दायभाग का मिताक्षरा से मतभेद है। शुल्क का अर्थ भी प्रशाखाओं मे विभिन्न प्रकार से किया गया है। कहीं तो पत्नी की कीमत, कही बरतन, साज-सामान का मूल्य, कही आसुर विवाह वाली पत्नी का मूल्य इसका अर्थ माना गया है। मिताक्षरा की मिथिला, बनारस, बम्बई, मद्रास वाली उपशाखाओं में शुल्क के उत्तराधिकारी क्रमशः है—(१) सगा भाई, (२) माता, (३) पिता, (४) पिता के सपिण्ड, समानोदक, बन्धु। दायभाग के मत से क्रमशः उत्तराधिकारी ये हैं—(१) सगा भाई, (२) माता, (३) पिता, (४) पति; यथा—"भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वम्मातुः। पूर्व चेत्येके। आसुरादिविवाहत्रयलब्धविषयमेतत्।" (गौतम, विवादचिन्तामणि, पृ० १४३) शुल्क के उत्तराधिकार का यही क्रम सब उपशाखाओं मे मान्य है।

शुल्क को छोड़कर अन्य प्रकार के स्त्रीधन का अवक्रमण शाखाओं व उपशाखाओं के बीच मतभेद होने के कारण एक जटिल और संकुल विषय बन गया है। मिताक्षरा की बनारस वाली उपशाखा में तथा बम्बई टापू, उत्तरी कोंकण और गुजरात को छोड़कर बम्बई की उपशाखा मे भी इस प्रकार के स्त्रीधन के अवक्रमण का क्रम निम्नोक्त है—(१) अविवाहित दुहिता, (२) अप्रतिष्ठित विवाहित पुत्री, (३) प्रतिष्ठित विवाहित पुत्री, (४) दौहित्री, (५) दौहित्र, (६) पुत्र, (७) पौत्र, (८) पति—यदि विवाह धर्मानुकूल है, (९) पति के सपिण्ड, और इन सब के अभाव में माता, फिर पिता, फिर पिता के सपिण्ड और अन्त मे राजा। यदि विवाह धर्मविरुद्ध हुआ था, तो सन्तान के अभाव मे, अर्थात् न० ७ के बाद दाय पति को न मिलकर माता को, फिर पिता को, फिर पिता के सपिण्डों को (प्रत्यासत्ति क्रमानुसार) प्राप्त होता है। ज्ञातव्य है कि दौहित्रियाँ मातृपरक, न कि व्यक्तिपरक नियमानुसार भाग पाती

१. **"जगलू बाई ब० जेठा अप्पा जी" (१९०८) ३२, बम्बई ४०९।**
"छत्रपति ब० लक्ष्मीधर" ७३, इ० एपील्स २३१।

है। यथा "तासां भिन्नमातृकाणां विषमाणां समवाये मातृद्वारेण भागकल्पना। प्रतिमातृतो वा स्ववर्गे भागविशेषः—इति गौतमस्मरणात्।" (मिताक्षरा की व्याख्या २, १४५)। यह भी ज्ञातव्य है कि उपरोक्त न० ९ मे पति तथा पिता के दायादों को निर्धारित करने में सन् १९२९ वाला "हिन्दू ला आव इन्हेरिटेन्स ऐक्ट" अप्रयोज्य इसलिए है कि वह अधिनियम केवल पुरुष मृतक के उत्तराधिकार मे लागू होता है।[1]

बम्बई को छोड़कर अन्यत्र दायप्राप्ति से मिली हुई सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं मानी जाती, इसलिए ऐसी सम्पत्ति के सम्बन्ध मे अन्यत्र यह प्रश्न उठता ही नही कि उसके (मृत नारी के) दायाद कौन है। बम्बई में स्त्रीधन उसी सम्पदा को मानते हैं जो एक नारी दूसरी मृत नारी से उत्तराधिकार में पाये; किन्तु यदि सम्पदा पुरुष से मिली है तो उत्तराधिकारी को मृतक के कुटुम्ब की ही लड़की होना चाहिए। तो फिर ऐसे स्त्रीधन का अवतरण बम्बई में किस रीति से होगा ? बम्बई के टापू, गुजरात, कोंकण में "मयूख" की प्रधानता होने से स्त्रीधन के दायाद उस उपशाखा के अनुसार निर्धारित किये जाते है तथा बचे हुए प्रदेश में मिताक्षरा से। मयूख-सम्मत रीति आगे बतायी जायगी। मिताक्षरा-सम्मत रीति-ऊपर कही जा चुकी है। यहीं पर यह ज्ञातव्य है कि जब विवाह के प्रकार का प्रश्न उठता है, तब यह पूर्व-धारणा कर ली जाती है कि विवाह धमसम्मत रीति से हुआ था।

बम्बई प्रान्त में दो प्रकार के नियम प्रचलित हैं, मिताक्षरा के, जो ऊपर लिख जा चुके हैं, तथा मयूख के, जो निम्नलिखित हैं। मयूख ने स्त्री-धन को पाँच प्रकारों मे बाँटकर पाँच प्रकार के नियम विहित किये हैं, यथा—(१) शुल्क या पशु व साज-सामान का मूल्य, (२) यौतक या गँठबन्धनावस्था में पत्नी को प्राप्त भेंट, (३) अन्वाधेयक या क्रमशः पतिप्रदत्त और मैके तथा ससुराल के सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त धन, (४) पारिभाषिक स्त्रीधन की अन्य प्रजातियाँ। इन चार को पारिभाषिक स्त्रीधन की सज्ञा देकर बाकी सब तरह के स्त्रीधन को (५) अपारिभाषिक कहा गया है।

(१) **शुल्क** के उत्तराधिकार का क्रम ऊपर लिखा जा चुका है और वह सकल उपशाखाओं को मान्य है। (२) **यौतक** नामक स्त्रीधन को कुमारी पुत्री पाती है। (३) **अन्वाधेयक** के दायाद क्रमशः है पहले तो पुत्र व कुमारी पुत्रियाँ (समान अंशों में), फिर पुत्र व विवाहित पुत्रियाँ (समान अंशों में), इनके अभाव में दौहित्रियाँ और दौहित्र (व्यक्तिपरक नहीं, मातृपरक नियमानुसार), फिर पौत्र। सन्तति के अभाव

१. "अन्नगोंडा ब० कोर्ट आव वार्ड्स सतारा", ए० आई० आर० १९५२, सुप्रीम कोर्ट ६०।

में पति (यदि विवाह धर्मानुकूल हुआ था) और पति के दायाद, फिर (यदि विवाह धर्म-प्रतिकूल हुआ था) सन्तति के अभाव में माता, उसके बाद पिता, फिर पिता के दायाद। (४) **अतिरिक्त स्त्रीधन** के दायाद है पहले कुमारी पुत्रियाँ, फिर अप्रतिष्ठिता ब्याही, फिर प्रतिष्ठिता ब्याही पुत्रियाँ, फिर दौहित्रियाँ व दौहित्र, फिर पुत्र, फिर पौत्र, फिर पति इत्यादि या माता पिता इत्यादि (जैसे कि ऊपर कहा गया है, विवाह के प्रकार के अनुसार)। (५) **अपारिभाषिक स्त्रीधन** के दायाद है सबसे पहले पुत्र, फिर क्रमशः पौत्र, प्रपौत्र, फिर क्रमशः दुहिता, दौहित्र, दौहित्री। इनके अभाव में पति व उसके दायाद, या माता, पिता व पिता के दायाद (जैसे कि ऊपर कहा गया है, विवाह के प्रकार के अनुसार)।[1]

मद्रास प्रान्त में मिताक्षरा का आधिपत्य है अवश्य, किन्तु वहाँ स्मृतिचन्द्रिका भी प्रचलित है और स्मृतिचन्द्रिका के अतिरिक्त पराशरमाधवीय, व्यवहारनिर्णय तथा सरस्वतीविलास की भी मान्यता है। वहाँ के हाई कोर्ट की रीति यह है कि जिस प्रश्न के ऊपर चारों ग्रन्थ सहमत हों उसका तो निर्णय उनके आधार पर किया जाय तथा अन्य प्रश्नों का मिताक्षरा के आधार पर। मयूख के सदृश स्मृतिचन्द्रिका ने भी पारिभाषिक स्त्रीधन के चार विभाग किये हैं, किन्तु मयूख वाले पंचम विभाग अर्थात् अपारिभाषिक स्त्रीधन को नहीं माना है। शुल्क के उत्तराधिकार के नियम तो सर्वत्र समान हैं। यौतक के अधिकारी स्म० चं० में पहले कुमारी कन्या, फिर पुत्र केवल यही माने गये हैं। यहाँ पर मिताक्षरा से मतभेद है, किन्तु इस प्रश्न के ऊपर अभी कोई नजीर बनी नहीं है। पति-दत्त तथा अन्वाधेयक के अधिकारी पुत्र व पुत्रियाँ साथ ही साथ माने गये हैं। यहाँ पर भी मिताक्षरा से मतभेद है और हाई कोर्ट ने मिताक्षरा वाले क्रम को ही मान्यता दी है। चौथे प्रकार अर्थात् अन्य पारिभाषिक स्त्रीधन के अधिकारी स्मृति चंद्रिका में प्रायः वही हैं जो मिताक्षरा में गिनाये गये हैं। मतभेद केवल यह है कि प्रथम में कुमारी कन्या तथा अप्रतिष्ठिता विवाहिता पुत्री को साथ ही साथ उत्तराधिकार दिया गया है, किन्तु द्वितीय में पहले कुमारी को और बाद में अप्रतिष्ठिता विवाहिता पुत्री को दायाद माना गया है। निस्सन्तान नारी के स्त्रीधन के लिए वही विधान है जो विवाह के प्रकार पर निर्भर करता है। अपारिभाषिक स्त्रीधन का चूँकि कोई प्रबन्ध स्मृतिचन्द्रिका में है ही नहीं, इसलिए हाई कोर्ट ने मिताक्षरा का अनुसरण करके उसको भी स्त्रीधन गिना है, तथा उसके लिए मिताक्षरा द्वारा विहित दायप्राप्ति के क्रम को मान्यता दी है।[1] विवाहिता नारी यदि माता-पिता, पति को छोड़े बिना मरे तो

१. "मुट्टा पुद्दायन ब० अम्मानी" (१८९८) २१, मद्रास ५८।

स्मृ० चं० में कोई विधान ऐसी दशा के लिए नही है। अतः हाई कोर्ट ने मिताक्षरा वाले विधान को मान्यता दी है।

अब मिथिला वाली प्रशाखा के नियम बतलाये जाते है। इस प्रशाखा में विवाद-चिन्तामणि की महिमा वैसी ही है जैसी स्मृतिचद्रिका की मद्रास मे। अपारिभाषिक स्त्रीधन को दोनो ही ग्रन्थों ने अस्वीकार किया है; किन्तु प्रथम मे पारिभाषिक स्त्रीधन के चार नही तीन ही भेद किये गये हैं, यथा (१) शुल्क (धर्मविरुद्ध विवाह मे दी हुई पत्नी की कीमत), (२) यौतक, (३) पारिभाषिक स्त्रीधन के अन्य प्रकार। यौतक का अवक्रमण मयूख की तरह कुमारी कन्या पर होता है, तथा अन्य प्रकार के पारिभाषिक स्त्रीधन कुमारी कन्याओं और पुत्रों पर समान भाग मे अवतरित होते हैं, जैसे मयूख और द्राविड उपशाखाओं मे। यदि स्त्रीधन की स्वामिनी ने सन्तति न छोड़ी हो, तो दाय को मिताक्षरा की भाँति (विवाह के प्रकार के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) पति या माता-पिता प्राप्त करेंगे।[1] बनारस की उपशाखा में तो पुत्र का नम्बर दुहिता व उसकी सन्तति के पश्चात् आता है, किन्तु मिताक्षरा की अन्य तीन शाखाओं मे दुहिता के ही साथ। विभिन्न प्रान्तों मे परम्पराएँ कितनी भिन्न हो जाती है!

दायभाग में स्त्रीधन के नियम सविस्तर और सविधि लिखे गये हैं। यहाँ दो बातें याद रखनी चाहिए जो पहले भी कही गयी है—एक तो, सर्व प्रकार के स्त्रीधन स्वामिनी के ही दायादों को मिलते हैं। दूसरे, नारी सर्व प्रकार के स्त्रीधन का अन्य-सक्रमण नही कर सकती। असक्रमणीय सम्पत्तियाँ चार होती हैं—(१) उत्तराधिकार मे मिली सम्पत्ति, (२) बटवारे मे मिली सम्पत्ति, (३) अन्यों से मिली सम्पत्ति, सिवा उसके जो उन्होंने या तो हवन के या वधूयात्रा के अवसर पर भेंट की हो, (४) कलाकौशल से स्वार्जित सम्पत्ति। असक्रमणीय होने के कारण दायभाग में ये सम्पत्तियाँ स्त्रीधन नही मानी जाती है। दायभाग ने स्त्रीधन की ये चार श्रेणियाँ बनायी है—(१) शुल्क (वह धन जो वधू को प्रलोभनार्थ दिया जाय), (२) यौतक अर्थात् विवाहोत्सव में प्रदत्त भेंट, (३) पिता-प्रदत्त अन्वाधेयक, (४) अयौतक अर्थात् विवाह के पूर्व पिताकृत दान तथा प्रारिक्थ और विवाह के पूर्व या पश्चात् (पिता के

"ननजू ब० शिववग्यय ची" (१९१३) ३६, मद्रास ११६।
"सुब्रह्मण्यम ब० अरुणाचलम" (१९०५) २८, मद्रास १।

१. "बच्छा ब० जुगमोन" (१८८६) १२, कलकत्ता ३४८।
"कमलाप्रसाद ब० मुरलीमनोहर" (१९३४) १३, पटना ५५०।

अतिरिक्त) अन्य सम्बन्धियों का दान या प्ररिक्थ। इन चारों में से प्रथम **यौतक** तो प्रत्येक शाखा में एक समान अवतरित होता है, जैसा कि कहा जा चुका है। यथा "अतः (शुल्कं) प्रथमं सोदराणां तदभावे मातुर्मातुरभावे पितुः। एषां पुनरभावे तद्धनं भर्तुः।" (दायभाग ४–३–२९ पृष्ठ ९५)

यौतक के विषय में यह वाक्य है—"ततश्च परिणयेन लब्धं स्त्रीधनं दुहितुरेव न पुत्राणां तत्रैव च क्रमार्थं गौतमवचनं स्त्रीधनं दुहितॄणा .... ष्ठितानां च। ब्राह्मादिषु विवाहेषु यल्लब्धमध्यग्नि धनं स्त्रिया तत्तस्यां मृतायां प्रथमं दुहितॄणामेव तत्रापि प्रथमं कन्यायास्तदभावे प्रत्तायास्तदभावे परिणीतायाः। सर्वदुहित्रभावे च पुत्रस्याधिकारः। अप्रजस्त्रीधने भर्तुरधिकारात्।" (दायभाग ४–२–२२, २५ पृ० ८५–८६)।

पिता प्रदत्त अन्वाधेयक का उत्तराधिकार इस क्रम से विहित है—"यत् पुनः परिणयनानन्तरं पितृमातृभर्तृकुलात् स्त्रिया लब्धं धनं तद् भ्रातॄणामेव। तदाह याज्ञवल्क्यः। बन्धुदत्तं .... प्नुयुः॥ (याज्ञ० २, १४५) .... अथ प्रथमं सोदराणां तदभावे मातुर्मातुरभावे पितुः। एषां पुनरभावे तद्धनं भर्तुः। यथा कात्यायनः। बन्धुदत्तं तु बन्धूनामभावे भर्तगामि तत।" (दायभाग ४–३–१०, २९)। **अयौतक** के विषय में दायभाग का यह वचन है—"तत्र मनुः। जनन्यां....सनाभयः। .... बृहस्पतिरपि ... स्त्रीधनं तद्पत्यानां ....। अपत्यपद पुत्रपरम्। तेषामप्रत्ताभिर्दुहितृभिः सह मातृधनविभागः। .... किं तूक्तादेव हेतोः पुत्रकुमारीदुहित्रोस्तुल्यवदधिकारः। एतयोश्चान्यतराभावेऽन्यतरस्य तद्धनं द्वयोरप्येतयोरभावे तु ऊढाया दुहितुः पुत्रवत्याः सम्भावितपुत्रायाश्च तुल्याधिकारः स्वपुत्रद्वारेण पार्वणपिण्डदानसम्भवात्। पौत्रदौहित्रयोस्तु सदभावे पौत्रस्यैवाधिकारः .... उक्तानां तु सर्वेषां दौहित्रपर्यन्तानामभावे वन्ध्याविधवयोरपि मातृधनाधिकारिता। तयोरपि तत्प्रजात्वात् प्रजाभावे चान्येषामधिकारात्।" (दायभाग ४–२, १–२, ९, ११–१२)

उपरोक्त उद्धरणों से निम्नोक्त नियम प्रत्येक प्रकार के स्त्रीधन के अवक्रमण के विषय मे निकलते है। **यौतक के उत्तराधिकारियों** का क्रम यह है—

(१) वाग्दान न की हुई पुत्री
(२) वाग्दान की हुई पुत्री
(३) विवाहिता पुत्री जो पुत्रवती हो या होने वाली हो।[1]
(४) संतानहीन विवाहित और अपुत्रा विधवा पुत्रियाँ साथ साथ,
(५) पुत्र
(६) दौहित्र
(७) पौत्र
(८) प्रपौत्र
(९) सौतेले पुत्र
(१०) सौतेले पौत्र
(११) सौतेले प्रपौत्र

इन सब के अभाव में, विवाह के प्रकार पर उत्तराधिकार आश्रित रहता है।

यदि मृत स्वामिनी का विवाह धर्मानुकूल (ब्राह्म आदि) प्रकार का हुआ था तो 'धिकारी नं० ११ के बाद दायाद होंगे—(१) पति, (२) भ्राता, (३) माता, (४) पिता। यदि धर्मविरुद्ध (गान्धर्वआदि) प्रकार का विवाह हुआ था तो नं० ११ के बाद दायाद होंगे—

(१) माता	(५) देवर	(९) भाई का पुत्र
(२) पिता	(६) देवर का पुत्र	(१०) जामाता
(३) भ्राता	(७) भगिनी का पुत्र	(११) पति के सपिण्ड आदि
(४) पति	(८) नन्द का पुत्र	(१२) पिता के सपिण्ड आदि।

पिता-कृत अन्वाधेयक के उत्तराधिकार का क्रम वही है जो यौतक का उपरोक्त क्रम है। दोनों में केवल निम्नोक्त अन्तर है। एक तो नं० ५ यानी पुत्रों की बारी नं० ३ व ४ यानी विवाहिता पुत्रियों के पहले आ जाती है। दूसरे, नं० ११ के बाद वाले उपरोक्त दोनों क्रमों के बजाय दायादों यह बदला हुआ क्रम स्थापित हो जाता है—(१) भ्राता, (२) माता, (३) पिता, (४) पति।

अयौतक (विवाह के पूर्व पिताकृत दान तथा प्ररिक्थ और विवाह के पूर्व या पश्चात् अन्य सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त दान या प्ररिक्थ) के उत्तराधिकार का क्रम दायभाग में यह विहित है—(१) पुत्र व कुमारी कन्याएँ साथ-साथ समान अंश में, (२) विवाहिता पुत्री जो पुत्रवती हो या होने वाली हो, (३) पौत्र, (४) दौहित्र, (५) निःसन्तान पुत्रियाँ तथा सन्तानहीन विधवा पुत्रियाँ।

इन पाँचों के अभाव में, विवाह-प्रकार की अपेक्षा न करते हुए, अयौतक की दाय-प्राप्ति का क्रम यह है—

(१) भ्राता	(५) देवर	(९) भ्राता का पुत्र
(२) माता	(६) देवर का पुत्र	(१०) जामाता
(३) पिता	(७) भगिनी का पुत्र	(११) पति के सपिण्ड, सकुल्य समानोदक
(४) भर्ता	(८) नन्द का पुत्र	(१२) पिता के सपिण्ड " "

दायभाग के अनुसार स्त्रीधन का अवतरण उपरोक्त रीति से होता है।[1] अब थोड़े से सर्वसम्मत नियम उल्लेखनीय हैं—जब स्त्रीधन के अनेक दायाद (या दायादा) हों तो वे सह-आभोगी होते हैं, न कि संयुक्त आभोगी, और उत्तरजीविता वाला नियम उन पर लागू नहीं होता।[2] दूसरे, जब दूसरी पीढ़ी की सन्तति उत्तराधिकार पाती हों

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ७९८–८००।
२. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृ० २३४।
"बाई पर्सोन ब० बाई सामली" (१९१२) ८६, बम्बई ४२४।

(जैसे पौत्र, दौहित्र, दौहित्री) तो उन पर व्यक्तिपरक नहीं, अपितु मातृपरक (या पितृ-परक) नियम लागू होगा।[1] तीसरे, पुरुष दायाद तो अखण्ड स्वामित्व प्राप्त करता है, किन्तु नारी को प्रतिबन्धित स्वामित्व मिलता है; सिवा बम्बई प्रान्त के, जहाँ स्त्रीधन की दायाद भी पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करती है। चौथे, औरस सन्तान को जारज सन्तान से वरीयता अवश्य मिलती है, किन्तु जारज दायप्राप्ति से अपवर्जित नहीं किया जाता।[2] जारज दौहित्री अपनी नानी की दायाद नहीं बन सकती। पाँचवें, नायकिन, नर्तकी या वारस्त्री (वेश्या) का स्त्रीधन भी उपरोक्त रीति से अवतरित होता है।[3]

यहाँ तक स्त्रीधन का परिच्छेद समाप्त हुआ। नारी के पास स्त्रीधन के अतिरिक्त ऐसी सम्पदा भी हो सकती है जो उसने उत्तराधिकार से प्राप्त की हो। इस प्रकार की नारी-सम्पदा भी अध्ययनीय विषय है, क्योंकि हमें यह भी जानना चाहिए कि उसमे उसके कितने और कैसे हक कहाँ तक होते हैं।

१. "कुरुप्पाइ ब० शंकरनारायणन" (१९०४) २७, बम्बई ३००।
२. "मीनाक्षी ब० मुन्यन्डी" (१९१५) ३८, मद्रास ११४४।
"दुनदप्पा ब० भीमवा" (१९२१) ४५, बम्बई ५५७।
३. नारायण ब० लछमन" (१९२७) ५१, बम्बई ७८४।

प्रकरण १३

नारी-सम्पदा—(ख) दायप्राप्त

दायप्राप्त सम्पत्ति जब पुरुष को मिलती है तब वह सिवा एक अपवाद के, उसका अखण्ड स्वामी बन जाता है। वह अपवाद पूर्वोक्त है, अर्थात् जब मिताक्षरा के अनुसार कोई पुरुष अपने पिता, पितामह, प्रपितामह से उत्तराधिकार के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करता है। ऐसे स्वामी को हिबा, रहन, बै इत्यादि की स्वच्छन्दता रहती है और उत्तराधिकार का क्रम उसी से चालू हो जाता है। किन्तु जब नारी को दायागत सम्पत्ति मिलती है तो उसके स्वामित्व पर विविध प्रतिबन्ध लग जाते हैं, यहाँ तक कि हिन्दू ला में उसको "परिसीमित सम्पदा" की सज्ञा ही प्राप्त हो गयी है। ज्ञातव्य है कि "नारी सम्पदा" और "विधवा की सम्पदा" तथा "परिसीमित सम्पदा" तीनों वाक्यांशों का आशय एक ही है। इस सम्बन्ध की शास्त्राज्ञा यह है—

भर्तृदायं मृते पत्यौ विन्यसेत् स्त्री यथेष्टतः।
विद्यमाने तु संरक्षेत् क्षपयेत् तत् कुलेऽन्यथा ॥
अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता।
भुंजीता मरणात् क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः ॥ (कातयायन)

यह ज्ञातव्य है कि सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा १४ ने नारी को हर माध्यम से मिली हुई सम्पदा में नितान्त स्वामित्व प्रदान कर दिया है, वह सम्पदा उसको चाहे इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले मिली हुई हो या बाद में।

इस विषय के तीन पहलू है—(१) नारियों की दायप्राप्त सम्पदा का अवक्रमण किस रीति से होता है, (२) नारी दायादों के दायप्राप्त सम्पदा मे कौन-कौन से अधिकार होते हैं, (३) विधवा या अन्य नारी दायादों के किये हुए हस्तान्तरण से जिन लोगों के हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो उनको क्या कानूनी उपचार उपलब्ध होते है।

"परिसीमित सम्पदा" विगत काल में तब सर्जित हुआ करती थी जब कोई नारी सम्पत्ति पाती थी (क) पुरुष या नारी से उत्तराधिकार में, (ख) बटवारे में, (ग) किसी पुरुष से अनुरिक्थ में, ऐसी शर्तों के साथ जो इस पूर्व-धारणा को उपजने ही न दें कि पुरुष के समान वह अखण्ड स्वामित्व पायेगी, (घ) समझौते या पंचायती निर्णय से, (च) अपने भरण के बदले में संयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर से, (छ) पृथक् होने (सिप-

रेशन) के समय अपने पति से दस्तावेज (विलेख) के द्वारा, (ज) स्वार्जन से ऐसी परिस्थितियों में जिनसे यह स्पष्ट हो जाय कि उसने मात्र सीमित स्वामित्व अर्जन करने का संकल्प किया था।[1] ऊपर के वाक्यारम्भ में "विगत काल" शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है कि अब "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने "परिसीमित सम्पदा" का उच्छेदन कर दिया है। बम्बई उपशाखा में तो नारी से नारी को मिली सम्पदा तथा पुरुष से ऐसी नारी को मिली सम्पदा जो उसी कुल में जन्मी थी, पहले ही से स्त्रीधन, न कि परिसीमित सम्पदा, मानी जाती है, किन्तु पुरुष से ऐसी नारी को मिली सम्पदा परिसीमित सम्पदा गिनी जाती है जो विवाहित होकर कुटुम्ब में आयी हो।

अतः बम्बई को छोड़कर अन्यत्र विधवा, दुहिता, माता, पितामही, प्रपितामही, पौत्री, दौहित्री, भगिनी ये स्त्रीधन की दायादाएँ तथा मद्रास प्रान्त में नारी-बन्धु समूह; ये सब "परिसीमित सम्पदा" प्राप्त करती हैं और "परिसीमित दायादा" कहलाती हैं। बम्बई प्रान्त में गोत्रज सपिण्डों की विधवाएँ, विधवा माता, विधवा पुत्रवधू इत्यादि परिसीमित सम्पदा पाती हैं, किन्तु दुहिता, भगिनी, भतीजी इत्यादि दायाद के नाते अखण्ड स्वामित्व पाती हैं। परिसीमित दायादा के मरने के बाद उत्तराधिकार स्वतः उसके दायाद को नहीं, अपितु अन्तिम पूर्ण स्वामी के उस दायाद को मिलता है जो उस समय जीवित हो। उस (अन्तिम पूर्ण स्वामी के दायाद) को **प्रत्यावर्ती** (रिवर्शनर) या **उत्तरभोगी** कहते हैं। चूँकि अन्तिम पूर्ण स्वामी का (परिसीमित दायादा स्त्री के मरण-काल में) दायाद पुरुष भी हो सकता और नारी भी, इसलिए पुरुष और नारी दोनों की प्रत्यावर्ती संज्ञा हो सकती है।

यहीं पर उत्तरभोगी या प्रत्यावर्ती के हित के लक्षण जान लेने चाहिए। जब तक परिसीमित दायादा जीवित रहती है, तब तक उत्तरभोगी का सम्पदा में निहित हित नहीं अपितु एक प्रत्याशा या आशंसा मात्र होने से, केवल ऐसा प्रत्याशी-हित रहता है, जो परिपक्व हो या न हो। "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा ६ ने ऐसे हित को "स्पेस सक्सियानिस" (दाय प्राप्ति के योग्य) की संज्ञा देकर उसके संक्रमण को निषिद्ध कर दिया है। जब उत्तरोत्तर प्रत्यावर्ती अनेक हों तो उनका हक एक दूसरे से नहीं पैदा होता, वरंच उनमें से प्रत्येक उसी अन्तिम पूर्ण स्वामी से अपना स्वत्व प्राप्त करता है। अनेक प्रत्यावर्तियों में किसी का संयोग पहले आने वाला होता है, किसी का पीछे। मान लीजिए कि राम के मरने के वक्त उसकी विधवा, पुत्री मैना, पिता श्याम और एक भाई लाल जीवित हैं। पहले उसकी विधवा को परिसीमित सम्पदा मिलेगी, और मैना, श्याम व लाल तीनों राम के प्रत्यावर्ती कहलायेंगे। उनमें से मैना **निकटतम** प्रत्यावर्ती

१. **"सम्पत ब० सूर्यमल", ए० आई० आर० १९५९, बम्बई ५०४।**

है, बाकी दोनों **घटनापेक्ष या दूरस्थ** प्रत्यावर्ती हैं। यदि तीनों के तीनों विधवा से पहले मर जायँ, तो उत्तराधिकार का संयोग किसी का परिपक्व नहीं हो पायेगा। यदि तीनों जीवित रहें तो विधवा के मरने पर पहले मैना को परिसीमित सम्पदा मिलेगी और श्याम निकटतम प्रत्यावर्ती एवं बाल घटनापेक्ष या दूरस्थ प्रत्यावर्ती बन जायेंगे। यदि श्याम मैना के पहले मर जाय, तो लाल को मैना के बाद अखण्ड स्वामित्व (राम के दायाद के नाते) मिल जायगा। यह भी ज्ञातव्य है कि जो मुद्दई प्रत्यावर्ती के नाते दावा करता है, उसी के ऊपर यह प्रमाणभार रहता है कि वह अन्तिम पूर्ण स्वामी से सम्बन्धित है और निकटतम प्रत्यावर्ती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि "नारी सम्पदा", "विधवा की सम्पदा", "परिसीमित सम्पदा" तीनों वाक्यांशों का आशय एक ही है। अब उस आशय या अभिप्राय को स्पष्ट किया जाता है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र का वाक्य है—

अपुत्रा पति-शयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्री धनमायुःक्षयाद् भुंजीत। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्व दायादं गच्छेत्। (३-२-१५३)

और बृहस्पति—

यद्विभक्ते धनं किंचिदाध्यादि विविधं स्मृतम्।
तज्जाया स्थावरं भुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका॥
जंगमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यं रसाम्बरम्।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकाब्दिकम्॥
पितृव्यगुरुदौहित्रान भर्तुः स्वस्त्रीयमातुलान्।
पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः॥

इन शास्त्रीय वचनों से और आधुनिक नजीरों से जो निष्कर्ष निकलते है उनको पहले समष्टि रूप में और फिर व्यष्टि रूप में कहा जायगा।

(१) विधवा इस प्रतिबन्ध समेत दायप्राप्त सम्पदा की स्वामिनी हो जाती है कि सिवा वैध आवश्यकता के या सम्पदा के हित के या प्रत्यावर्तियों की सहमति के, वह उसको रेहन, बै या हिबा नहीं कर सकती।

(२) उपरोक्त प्रतिबन्धों सहित वह सम्पदा की पूरी प्रतिनिधि होती है। अतः उसके अनुकूल एवं प्रतिकूल अदालती डिग्रियाँ प्रत्यावर्ती पर उतने ही अंश तक लागू होती हैं जितनी स्वतः उसके अनुकूल या प्रतिकूल पारित हुई डिग्री।

(३) किन्तु जो चिराधिकार उसके विरुद्ध चलता है वह प्रत्यावर्तियों को इसलिए बद्ध नहीं करता कि वे लोग उससे नहीं, अन्तिम पूर्ण स्वामी से अपना स्वत्व प्राप्त करते हैं।

(४) सम्पदा मे उसका जो स्वत्व होता है उसकी संज्ञा "आजीवन हित" नजीरों में पायी जाती है। "आजीवन हित" अन्य मूल्यवान् पदार्थो के तुल्य हस्तान्तरणीय माना जाता है।

(५) सम्पदा के प्रबन्ध का उसे (आजीवन हितधारी को) संयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर के समान अधिकार भी होता है और दायित्व भी। अतः उसका प्रबन्ध विवेक-पूर्ण और विचारशील होना चाहिए। साथ ही साथ वह बचत करने के लिए विवश नही है।

(६) उपरोक्त प्रतिबन्ध "नारी सम्पदा" के अछेद्य अवयव या प्रत्यंग है। अर्थात् प्रत्यावर्ती विद्यमान हो या न हो, वह स्वतत्र और पूण स्वामीवत् आचरण नहीं कर सकती। यदि कोई प्रत्यावर्ती न हो तो अदालत को प्रेरित करके सरकार वैध उपचारों का विनियोग करा सकती है। अर्थात् यह न समझिए कि प्रतिबन्ध मात्र प्रत्यावर्ती के हितार्थ विहित हुए हैं।

(७) परिसीमित दायाद वाली स्त्री में यह क्षमता नहों होती कि वह "नारी-सम्पदा" के गुण-लक्षणों को अपनी कृतियों या घोषणा के द्वारा बदल डाले।[1]

ऊपर नियम ५ मे कहा गया है कि परिसीमित-दायाद नामक स्त्री बचत करने के लिए विवश नही होती।[2] अपितु वह सम्पदा की सम्पूर्ण आय को अपने तथा आश्रितों के ऊपर खर्च कर सकती है। किन्तु स्वभाववश या सुकालवश या परिस्थिति के फलस्वरूप यदि बचत का संचय हो ही जाय, तो उस धनराशि अथवा उससे खरीदी सम्पत्ति में उसका क्या हक होता है ? इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता। संचय के समय, उसके रूप व प्रकार के हिसाब से प्रश्न के विविध उत्तर होते हैं—(१) अन्तिम पूर्ण स्वामी से सम्पदा के साथ प्राप्त हुई बचत तो सम्पत्ति के समुत्थान का रूप धारण करके "परिसीमित सम्पदा" बन जाती है।[3] (२) अन्तिम पूर्ण स्वामी के मरने के बाद यदि सम्पत्ति मुकदमेबाजी या अन्य कारणवश गैर के कब्जे में बनी रहे और दायाद स्त्री को कब्जा कुछ काल के बाद अन्तरिम समय की बचत समेत मिले,

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ७१०–११।
जी० सी० सरकार कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ५७१–७२।
जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ४२७–२८।
२. "हरिदास ब० उप्पूनह" (१८५६) ६, मूर्स० इ० एपील्स ४३३।
३. "श्रीमती सु० मनी दासी ब० दीनबंधु (१८६२) ९, मू० इ० ए० १२३।

तो वह संचित राशि उसका स्त्रीधन मानी जायगी।[1] (३) स्वसंचित राशि और उस राशि से खरीदी गयी सम्पत्ति को उसका स्त्रीधन उस दशा में मान लिया जायगा जब उसने परोक्ष या प्रकट रूप से उस धन को आदि धन से पृथक रखने का संकल्प व्यक्त किया हो। उस राशि को और उससे खरीदी सम्पत्ति को "परिसीमित सम्पदा" उस दशा में मान लिया जायगा जब उसने उस धन को आदि सम्पदा के साथ सम्मिलित कर देने का संकल्प परोक्ष या प्रकट रूप से व्यक्त किया हो। किन्तु यदि इस दूसरे प्रकार के सकल्प का प्रमाण न मिले, तो ऐसे धन को स्त्रीधन मान लिया जायगा।[2] मतलब यह है कि इस श्रेणी के मामलों में स्वामिनी का संकल्प बड़ा ही महत्वपूर्ण तथ्य होता है, जिसका पता प्रत्येक मामले के तथ्यों व परिस्थितियों से चला लेना चाहिए। स्वसंचित राशि के लिए जो उपरोक्त नियम लागू हैं वही उन मामलों में लागू होने चाहिए, जो बकाया लगान और बकाया किराया से तथा बकाया डिग्री या बकाया इजराय डिग्री से सम्बन्धित हों। ऐसी राशियों पर पूरा नियंत्रण तो परिसीमित-दायाद नामक स्त्री का ही रहता है और वे उसके हाथ में यदि आ जाती हैं, तो वह उनका विनियोग जैसा चाहे सर्वदा कर सकती है। ऐसी दशा में प्रमाणभार उस पक्ष के ऊपर आता है, जो यह अभिकथन करे कि वह (दायाद) आद्य (या मौलिक) सम्पत्ति के साथ उन राशियों को सम्मिलित और विलयित करने को कृतसंकल्प थी।[3] (४) उस दशा में जब इच्छापत्र द्वारा सम्पदा की काया तो एक व्यक्ति को, तथा उसकी आय (आमदनी) विधवा को आजीवन प्रदान की जाती है, तब सारी आय व उस आय से खरीदी सम्पत्ति पर विधवा का परिसीमित नहीं, अपरिमित स्वामित्व रहता है। उक्त दोनों चीजें (आय व उससे खरीदी सम्पत्ति) मौलिक मम्पदा के समुत्थान नहीं मानी

१. "श्रीमती सू० मनी दासी ब० दीनबंधु" (१८६२) ९, मू० इ० ए० १२३।
२. "ईश्वरीदत्त ब० हंसवती" (१८८३) १०, इ० एपील्स १५०।
"दुलहिन पार्वती कुँअर ब० बैजनाथ प्रसाद" (१९३५) १४ पटना ५१८।
"हरिहर सिंह ब० देव ना० सिंह" (१९५४), नागपुर ६९२।
"तुखू ब० काली", ए० आई० आर० १९५७, कलकत्ता १२२।
"बाल सुब्रह्मण्य ब० सुबैया", ए० आई० आर० १९३८, प्रिवी कौं० ३४।
"सीताजी ब० ब्रजेन्द्र", ए० अई० आर० १९५४, सुप्रीम कोर्ट ६०१।
३. "राजा ब० सुन्दर", ए० आई० आर० १९१८, प्रिवी कौंसिल १५६।
"सीताजी ब० ब्र जेन्द्र", ए० आई० आर० १९५४, सुप्रीम कोर्ट ६०१।
"वेंकटाद्रि ब० पार्थसारथि", ए० आई० आर० १९२५, प्रिवी कौं० १०५।

जा सकतीं ।[1] (५) इसके विपरीत सरकारी अनुदान से या सुलहनामा से या अन्य विधि से दायादा के भुक्ति-काल में यदि आद्य सम्पदा मे संवर्धन हो जाय, तो संवर्धित भाग को समुत्थान माना जायगा, और वह भी परिसीमित सम्पदा बन जायगा ।[2]

उपरोक्त नियम १ व २ व ६ में जिन प्रतिबन्धों का उल्लेख हुआ है, उनका विवरण इस प्रकार है—परिसीमित दायादा स्त्री को दायप्राप्त सम्पदा (चल या अचल) का इच्छापत्र लिख देने का अधिकार नही होता, किन्तु (१) वह कुछ दशाओं मे उसका अन्य-संक्रमण कर सकती है। (२) वह सम्पूर्ण दायप्राप्त सम्पदा का प्रत्यावर्ती वर्ग के सारे समूह के नाम अभ्यर्पण भी कर सकती है। (३) निकटतम प्रत्यावर्तियों की सहमति से भी वह अन्य-संक्रमण कर सकती है। नं० १ में जिन दशाओं का उल्लेख हुआ है, वे है धार्मिक कार्य और पूर्त प्रयोजन तथा वैध आवश्यकता। प्रत्येक पर अलग-अलग चिन्तन होगा।

धार्मिक कार्य और पूर्त प्रयोजन—नजीरों से निर्मित "हिन्दू ला" ने इस श्रेणी के हेतुओं के दो भेद कर दिये है, यथा बाध्यकर, अबाध्यकर।[3] "सरदारसिंह ब० कुंजबिहारी लाल" मुकदमे में प्रिवी कौसिल ने यह घोषणा की थी—"हिन्दू ला और निर्णीत मुकदमों की समीक्षा से इस बात में सन्देह नही रह जाता कि हिन्दू प्रणाली धार्मिक कर्मो के दो भेद मानती है। एक वे, जिनके बिना प्रेतात्मा तर नही सकती, यानी धर्म-विहित प्रेत-क्रिया तथा आवर्ती श्राद्धादि कर्म। दूसरे वे कर्म, जो बाध्यकर न होने पर भी ऐसे पुनीत कर्म होते है जिनसे प्रेतात्मा को सुख-शान्ति मिलती है।....... पहले भेद वाली कृतियों के विषय में उपभोग-कर्त्री नारी के अधिकार दूसरे भेद वाली कृतियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होते है ......प्रथम भेदवाली कृति के निमित्त वह पूरी सम्पत्ति तक को बेच सकती है यदि आय अपर्याप्त हो। दूसरे भेद वाली कृति के निमित्त वह सम्पत्ति का छोटा अंश हस्तान्तरित करके अपना संकल्प पूरा कर सकती है।.......मृतक प्रभु की आत्मा के निरन्तर हित के लिए हिन्दू नारी-कृत थोड़े अंश के समर्पण अथवा दान की वैधता को हिन्दू ला स्वीकार करता है।"

उपरोक्त मत का समर्थन "कमला देवी ब० बच्चूलाल गुप्त"[4] वाली नजीर

१. "श्रीमती कृष्णा ब० भैया राजेन्द्र" (१९२७) २, लखनऊ ४३।
२. "रामशंकर ब० लालबहादुर" (१९२६) १, लखनऊ ९८।
३. "सरदारसिंह ब० कुंज बि० लाल" (१९२२) ४९, इंडियन एपील्स ८३।
"कमला देवी ब० बच्चू लाल", ए० आई० आर० १९५७, सु० कोर्ट ४३४।
४. ए० आ ० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट ४३४।

के अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट मे हुआ है। उसमे यह निर्णय दिया गया है कि इस विषय के ऊपर जो निर्णय किये जा चुके है, उनसे स्पष्टतया निकले हुए सिद्धान्तों मे से एक यह है कि अपने मृतक पति की सम्पदा का उपभोगकर्त्री हिन्दू विधवा ऐसी धार्मिक कृतियों के लिए हस्तान्तरण कर सकती है जो बाध्यकर या अनिवार्य न होने पर भी ऐसी पुनीत होती हैं जो प्रेतात्मा को सुख-शान्ति प्रदान कर सकती हैं। दोनों कृतियों मे भेद यह है कि यदि अनिवार्य या बाध्यकर कृतियों का व्यय धन से या धन की आय से पूरा न पड़े तो वह सारी सम्पदा को बेच डाल सकती है। किन्तु जो कर्म पुनीत हैं और प्रेतात्मा को शान्तिप्रदायक है उनके निमित्त वह सम्पत्ति का उचित भाग मात्र हस्तान्तरित कर सकती है। अब देखना होगा कि कौन से कर्म बाध्यकर और कौन से अबाध्यकर या अनिवार्य समझे जाते हैं।

अनिवार्य कर्मों के अन्तर्गत हैं—(क) मृतक का प्रेत कर्म, (ख) श्राद्ध, (ग) गो-ब्राह्मणों के निमित्त दान, (घ) मृत प्रभु की पुत्री का विवाह।[1] ज्ञातव्य है कि एक अनधिकृत प्रवेशक उक्त कर्मों को करके उनके लिए प्रतिदेय या प्रतिकर नही तलब कर सकता है और[2] न यह आग्रह कर सकता है कि उसकी लागत सम्पत्ति के ऊपर भार घोषित कर दी जाय। (च) मृत प्रभु के ऋण, चाहे वे कालातीत (खारिजुल मियाद) हो गये हों।[3] ज्ञातव्य है कि अन्तिम पुरुष प्रभु के ऋण के मूल की नहीं ब्याज की देनदारी विधवा के ऊपर होती है, अर्थात् आय की बचत (अपने भरण-पोषण के बाद) मे से उसको ब्याज चुकाते रहना चाहिए। अतः यदि वह मूल व ब्याज के बदले में सम्पदा का संक्रमण कर देती है, तो केवल मूल की मात्रा के लिए संक्रमण वैध समझा जायगा। किन्तु यदि सूद की रकम छोटी-सी ही हो तो बात दूसरी है और संक्रमण पूर्णतः जायज मान लिया जायगा।[4] यह ज्ञातव्य है कि यदि माता अपने पुत्र की

१. "कमला ब० बच्चू लाल", ए० आई० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट ४३४।
"श्रीमोहन ब० ब्रजविहारी" (१९०८) ३६, कलकत्ता ७५३।
२. "श्रीमोहन ब० ब्रजविहारी" (१९०८) ३६, कलकत्ता ७५३।
३. "तुलसीप्रसाद ब० जग मो० लाल" (१९३५) ५७, इलाहाबाद ४२२।
"मु० मलन ब० परमात्मा दास" (१९३६) १७, लाहौर ५८८।
"विनायक ब० मुहम्मद हनीफ" (१९५३), नागपुर २८१।
"राजा ब० चिरंजूलू", ए० आई० आर० १९५५, उड़ीसा १७।
४. "जगन्नाथन ब० विश्वेश्वराडू" (१९३२) ५५, मद्रास २१६।
"रामस्वामी ब० मंगल कर्सू" (१८९५) १८, मद्रास ११३।

सम्पदा पाकर उसके ऋण को नहीं, अपितु अपने पति के ऋण को चुकाने के निमित्त अन्य-संक्रमण करती है, तो वह जायज नहीं माना जायगा, न प्रत्यावर्ती को बाध्यकारी होगा।[1] याद रहे कि वह ऋण, जिसकी अदायगी या शोधन बाध्यकर होता है वह वैध होना चाहिए। अतः शून्य ऋण के भुगतान वाला हस्तान्तरण प्रत्यावर्ती पर बाध्यकारी नहीं होता।[2]

अबाध्यकर या निव.र्य कर्म के अन्तर्गत आते हैं (क) मृतक की पौत्री के विवाह का व्यय; दौहित्र व दौहित्री के विवाह या उपनयन का व्यय[3]; विधवा स्वामिनी द्वारा अपने जामाता को प्रदत्त ऐसे दान, भेंट, नेग जो देश की रीति ने विहित किये हों।[4] मृतक की आत्मा को शान्तिप्रद तथा पुनीत कृतियाँ (जिनके निमित्त सम्पत्ति का उचित भाग हस्तान्तरित किया जा सकता है) दो तरह की होती हैं; दानादि तथा तीर्थयात्रा। (ख) देवालयों तथा विद्यालयों को दान, चढ़ावा व अनुदान। (ग) देवालय, कूप, जलाशय का निर्माण तथा प्रतिष्ठा। (घ) ऐसे पुण्य व लोकोपकारी कर्म जिनमें स्वतः मृतक रुचि रखता था।[5] (च) तीर्थ यात्रा करने का व्यय, तथा वहाँ दान-दक्षिणादि देने का व्यय, और वहाँ की रीति व रूढि द्वारा विहित संस्कारों का व्यय। ज्ञातव्य है कि सम्पत्ति की मात्रा के अनुपात से यह सब व्यय मर्यादित होना चाहिए। इसका भी ध्यान रखा जाता है कि कौन से तीर्थों का माहात्म्य अधिक है और किनका कम"।[6] हर दशा मे जहाँ व्यय की तथा दान की मात्रा अत्यधिक या अनुचित रूप से अत्यनुपातिक प्रतीत होती है वहाँ अदालत सक्रमण का उत्सादन कर देती है।[7] (छ) कुटु-

१. **"शिवराज ब० शिवरतन" (१९२१) ४३, इलाहाबाद ६०४; ए० आई० आर० १९५५, आंध्र ९७।**

२. **"बजरंगसिंह ब० गोविन्दप्रसाद" (१९३६) ११, लखनऊ ११।**

३. **"कृष्णमाचार्यर ब० रामभद्रन", ए० आई० आर० १९५२, मद्रास ७०६। "श्रीनिवास ब० ए० शेषाचार्लू", ए० आई० आर० १९४२, मद्रास १०६।**

४. **"कमला ब० बच्चूलाल", ए० आई० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट ४३४।**

५. **"सी० महालक्षमम्मा ब० बी० मछम्मा", ए० आई० आर० १९६१, आंध्र प्रदेश २६३।**

६. **"बाई ब० चिम्मनलाल", ए० आई० आर० १९२८, बम्बई २३८। "श्रीपति ब० विश्वनाथ", ए० आई० आर० १९५५, बम्बई ४५७।**

७. **"ठाकुरजी ब० परमेश्वर", ए० आई० आर० १९६०, इला० ३३९।**

स्त्रियों की ऐसी धार्मिक क्रियाएँ व संस्कार, जिनका दायित्व मृत प्रभु के ऊपर था, उदाहरणार्थ (जब पत्नी पति की दायादा हो) "परिसीमित-स्वामिनी" की सास का श्राद्ध, या (जब पुत्री अपने पिता की दायादा हो) उसकी माता का श्राद्ध।[1] (ज) विधवा अपने ही परमार्थ के निमित्त हस्तान्तरण नहीं कर सकती। यदि ऐसे हेतु से वह सम्पत्ति का अन्य-संक्रमण कर दे तो अदालत उसका उत्सादन कर देगी।[2] धार्मिक कार्य और पूर्त प्रयोजन का विवरण करने के बाद अब वैध आवश्यकता का चिन्तन करना चाहिए। यह याद रहे कि परिसीमित-स्वामिनी के द्वितीय हेतु की अपेक्षा प्रथम हेतु के निमित्त सक्रमण सम्बन्धी अधिकार उच्चतर होते है।[3]

वैध आवश्यकता के लिए परिसीमित-स्वामिनी कृत अन्य-हस्तान्तरण—उक्त हेतु से मिलता-जुलता यह दूसरा हेतु होता है, जिसको "सम्पदा का हित" कहते हैं। यहाँ "हनुमान प्रसाद ब० मुसम्मात बबुई"[4] वाली प्रिवी कौंसिल की नजीर तथा उसमें निर्धारित सिद्धान्त स्मरणीय हैं। वही सिद्धान्त उन अन्य-संक्रमणों पर लागू होते हैं जिन्हें अवयस्क प्रभु की सम्पदा का मैनेजर करे, या हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब का मैनेजर अवयस्क सदस्य की तरफ से करे, या जिन्हें एक परिसीमित-दायादा करे, या धर्मस्व का मैनेजर, या पागल की सम्पदा का मैनेजर करे। अर्थात यदि कोई परिसीमित-स्वामिनी सम्पदा का हस्तान्तरण वैध आवश्यकतावश अथवा सम्पदा के हितार्थ कर डाले, तो वह न केवल उस सम्पदा में उसके हित के ऊपर; वरंच सम्पूर्ण प्रत्यावर्ती वर्ग पर बाध्यकारी होगा।

वैध आवश्यकता का मतलब है "परिसीमित-स्वामिनी" की जरूरतों व अभावों को पूरा करना और उसके अन्तर्गत ये बातें आती हैं, जैसे (१) सक्सेशन सर्टिफिकेट

"ई० गल्ली ब० बी० वीर ना०", ए० आई० आर० १९५७, आंध्र प्र० २५७।
"चन्द्र दीप ब० महिमा", ए० आई० आर० १९६०, पटना ११२।

१. "रामकुमार ब० इच्छामयी" (१८८२) ८, कलकत्ता ३६।
"श्रीमोहन ब० ब्रजबिहारी" (१९०८) ३६, कलकत्ता ७५३।

२. "बी० डी० सिंह ब० मु० दीपा" (१९१८), पटना ३२३।
"काशीराव ब० मोतीराम" (१९५१), नागपुर २८४।
"हरमित्र ब० रघुवर" (१९२८) ३, लखनऊ ६४५।

३. "कलेक्टर आव मसलीपटम ब० कावली वेंकट" (१८६१) ८ मूर्स०, इ० एपील्स ५२९।

४. (१८५६) ६ मूर्स, इण्डियन एपील्स ३९३।

या प्रोबेट (उत्तराधिकार प्रमाणपत्र या क्षमतापत्र) आदि को अदालत से हासिल करने की लागत। (२) पिछले प्रभु की मृत्यु के बाद इकट्ठा व दातव्य बकाया लगान या सरकारी मालगुजारी, बशर्ते कि संक्रमण के समय उसका हाथ खाली रहा हो, और न देने से सम्पदा के नीलाम पर चढ़ जाने की शका रही हो।[1] यदि हस्तान्तरण की जरूरत स्वतः हस्तान्तरग्राही के छल-कपट के कारण नही पैदा हुई थी, तो हस्तान्तरण का उत्सादन मात्र इस अभिकथन के आधार पर नही किया जा सकता कि परिसीमित-स्वामिनी के कुप्रबन्ध से बकाया चढ़ गया था। परिसीमित-स्वामिनी को यह हक नहीं होता कि मालगुजारी व लगान की बेबाकी के बिना किये ही पूरी आय का उपभोग कर ले।[2] ज्ञातव्य है कि मालगुजारी या लगान दायप्राप्त सम्पदा का होना चाहिए न कि उस सम्पत्ति का जिसका पट्टा दायादा ने स्वतः लिखाया हो।[3] (३) स्वतः अपना व उन लोगों का भरण-पोषण, जो मूल प्रभु पर आश्रित थे, जैसे माता, कुमारी पुत्री इत्यादि। (४) मृत प्रभु के परिवार की कन्याओं के विवाह, जैसे पुत्री, पौत्री, दौहित्री, पौत्र की पुत्री, चाचा की पौत्री। (५) पुत्री के विवाह और गौने में पुत्री को व दामाद को भेंट, दहेज, उपहार, नेग, न्योछावर और इसी तरह परिवार की अन्य कन्याओं के विवाह गौने में। अपनी पुत्री के विवाह में अधिक धन व्यय किया जा सकता है और अन्य मे कम। किन्तु सम्पत्ति के साथ व्यय का उचित अनुपात अवश्य होना चाहिए। दहेज यदि पहले से तय हो गया था (किन्तु देखिए सन् १९६१ वाला डौरी प्राहीविशन ऐक्ट) तो उसका भुगतान विवाह के बाद भी किया जा सकता है।[4]

सम्पदा का हित—इस हेतु के ऊपर सविस्तर विचार प्रकरण ७ में मैनेजर के अधिकार शीर्षक के नीचे हो चुका है। वह व्यय सम्पदा के हितार्थ मान लिया जाता है, जो उसके संरक्षण या सुरक्षा के लिए किया जाय, या जिसका करना विवेकी और विचारशील मैनेजर को उचित लगे।[5] किन्तु सम्पदा का विकास, उन्नति या सुधार ऐसा हेतु नही माना जाता जिसके लिए अन्य-संक्रमण किया जा सके,[6] चाहे उस विकास इत्यादि के काम से सम्पदा की निकासी में वृद्धि हो जाय। परिसीमित-

१. "जगन्नाथ ब० गुरुचरन" (१९२९) ४, लखनऊ २७९।
२. "जगन्नाथ ब० गुरुचरन" (१९२९) ४, लखनऊ २७९।
३. "ईश्वरी ब० बाबूनन्दन" (१९२५) ४७, इलाहाबाद ५६३।
४. "कमला देवी ब० बच्चूलाल गुप्त" (१९५७), सुप्रीम कोर्ट ४३४।
५. "जगन्नाथम ब० विघ्नेश्वरेडू", ए० आई० आर० ३२, मद्रास १७७।
६. "माखन ब० गायन" (१९११) ३३, इलाहाबाद २५५।

स्वामिनी-कृत अन्य-संक्रमण के समर्थनकारी हेतु यहाँ तक बतलाये गये। पहले कहा गया है कि जब एक से अधिक विधवाएँ या पुत्रियाँ दाय प्राप्त करती हैं, तो वे संयुक्त स्वामिनी बनती है और उत्तरजीविता का नियम उन पर लागू होता है। इस कारण से ऐसी दशा मे उपरोक्त प्रतिबन्धों मे एक अतिरिक्त प्रतिवन्ध उनके हस्तान्तरण के ऊपर लग जाता है। वह यह है कि वैध आवश्यकता के होते भी सयुक्त स्वामिनियों की सर्व-सम्मति के बिना संक्रमण नही किया जा सकता, अर्थात् उससे उत्तरजीवी वर्ग बद्ध नहीं हो सकता। किन्तु यदि दूसरी संयुक्त दायादा ने याचना करने पर भी सहमति का अनुचित रूप से विधारण किया था, तो दशा बदल जाती है।

इसी प्रसंग में कुछ अन्य बातें ज्ञातव्य है। एक तो, परिसीमित-स्वामिनी को वैध आवश्यकता इत्यादि समर्थनकारी हेतु के विद्यमान होते हुए यह पूरी छूट रहती है कि अन्य-सक्रमण बै का रूप धारण करेगा या रेहन का। यदि बैनामा की अपेक्षा रेहननामा अधिक लाभकारी हो, तब भी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह बैनामा लिख दे सकती है और उत्तरजीवी वर्ग आपत्ति नहीं कर सकता। संयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर के तुल्य विधवा को भी अपने अधिकारों तथा सामर्थ्य के विनियोग करने के निमित्त उचित स्वच्छन्दता रहनी चाहिए।[1] दूसरे, यदि कोई व्यक्ति एक परिसीमित-स्वामिनी के साथ सौदा या लेनदेन करने जा रहा हो, तो कथित आवश्यकता की जाँच कर लेना उसका कर्तव्य है। जब अन्य-संक्रमण के अनौचित्य का दावा दायर हो जाय, तो खरीदार या मुर्तहिन के ही ऊपर इस तथ्य का प्रमाणभार रहता है कि या तो अभि-कथित आवश्यकता वस्तुतः विद्यमान थी, या कम से कम उसने सौदा करने के पूर्व हर सम्भव उपाय से ईमानदारी के साथ ऐसी उचित जाँच कर ली थी कि जिससे आवश्यकता की वास्तविकता का विश्वास पैदा हो सके। यदि वह दो में से एक भी अभिकथन प्रमाणित कर दे, तो अन्य-संक्रमण का निराकरण नहीं किया जायगा।[2] कुछ भी हो, उसके ऊपर यह प्रमाणित करने का भार नहीं होता कि उगाही हुई राशि कथित हेतुओ में लगायी भी गयी थी। यदि वह राशि अन्य हेतुओं में लगायी गयी थी तब भी, उपरोक्त प्रमाण के होते, अन्य-सक्रमण का उत्सादन नहीं किया जायगा।[3]

उपरोक्त दूसरी बात से सम्बन्धित ये और बातें भी जान लेनी चाहिए—एक

१. "न्यामतराय ब० दीनदयाल" (१९२७) ५४, इण्डियन एपील्स २११।
२. "बजरंगसिंह ब० गोविन्दप्रसाद" (१९३६) ११, लखनऊ ११।
"रामानन्द ब० दामोदरदास" (१९४१), इण्डियन ८२०।
३. "हनुमान प्र० ब० मु० बबुई" (१८५६) ६ मूर्स, इ० एपील्स ३९३।

तो यह कि दस्तावेज के भीतर आवश्यकता का जो कथन किया गया हो वह ग्राह्य या अनुमान्य साक्ष्य-आवश्यकता की विद्यमानता का तो है, किन्तु प्रमाण नहीं हो सकता। हाँ, वह कथन इस बात का प्रमाण अवश्य है कि परिसीमित-स्वामिनी ने अभिकथित आवश्यकता का निरूपण वास्तव में किया था। जब मामला इतना पुराना पड जाय कि हस्तान्तरग्राही को अपना प्रमाणभार निवाहना दुस्तर हो, उस दशा में दस्तावेज के भीतर वाले कथन का महत्व बढ़ जाता है तथा परिस्थितियों व मामले के तथ्यों के साथ में उसका विचार करने से हस्तान्तरण का पर्याप्त समर्थन प्राप्त हो जाता है।[1] दूसरे, यह कि यदि प्रत्यावर्तियों की सहमति से अन्य-संक्रमण किया गया था, तो यह पूर्व-धारणा उपजती है कि वैध आवश्यकता विद्यमान रही होगी और यह पूर्व-धारणा इतनी प्रबल होती है कि यदि उसका खण्डन न किया जाय तो संक्रमण का निराकरण नहीं हो सकता।[2] इस दूसरी स्थापना के ऊपर विवरण सहित विचार करना होगा।

जब **सहमति** प्रमाणित हो जाती है, तो उसका खण्डन या तो यह प्रमाणित करके हो सकता है कि अभिकथित वैध आवश्यकता कल्पित थी, या प्रत्यावर्ती की सहमति तथ्यों का मिथ्या निरूपण करके प्राप्त की गयी थी।[3] यह आरोप करना पर्याप्त नहीं होता कि संमति किसी प्रतिफल के बदले में[4] या हस्तान्तरण हो चुकने के पश्चात् ली गयी थी।[5] जहाँ तक हो सके सम्मति समस्त प्रत्यावर्ती वर्ग की लेनी चाहिए; या कम से कम कुटुम्ब के ऐसे लोगों की कि जिसमें यह पूर्व-धारणा उपज सके कि मामला छल-वर्जित तथा समर्थनीय था। यदि निकटतम प्रत्यावर्ती नारी हो, तो केवल उसकी सम्मति पर्याप्त नहीं होती, अपितु उसके बाद का जो पुरुष प्रत्याशी प्रत्यावर्ती हो,

१. "दरबारी लाल ब० गोविन्द" (१९२४) ४६, इलाहाबाद ८२२।
"वेदनाथ ब० रानी रा० देवी" (१९३८) १३, लखनऊ ८५७।
"राय राजेश्वर बली ब० हर कि० बली" (१९३३) ८, लखनऊ ५३८।
२. "रंग स्वामी ब० नच्छियप्पा" (१९१९) ४६, इ० एपील्स ७२।
"मूगा कुँअर ब० दोमरी" (१९५५) ३४, पटना ३१७।
"काली शं० ब० धीरेन्द्र", ए० आई० आर० १९५४, सुप्रीम कोर्ट ५०५।
"राय बजरंगबली सिंह ब० रा० बक्श सिंह" (१९३७) १२, लख० ६८४।
३. "एच० एन० मुकर्जी ब० एच० पी० मुकर्जी" (१९३८) २, कल० ४९२।
४. "अम्बिकाप्रसाद ब० चंदमनी" (१९२९) ८, पटना ३९६।
५. "राजलक्ष्मी दाहे ब० मो० चन्द्र" १३, मूर्स, इ० एपील्स २०९।

उसकी भी सम्मति लेनी चाहिए।[1] जिस सम्मति से उपरोक्त पूर्व-धारणा उपजती है, वह सम्पूर्ण सम्पदा के हस्तान्तरण के विषय में भी हो सकती है, और उसके किसी अंश के संक्रमण के विषय में भी।[2]

जो अन्य-संक्रमण प्रतिदेय के बदले किया जाता है उसी का समर्थन इस अभिकथन के आधार पर हो सकता है कि उसके निमित्त प्रत्यावर्ती वर्ग की सम्मति प्राप्त कर ली गयी थी। हिवा या दान (उनको छोड़कर जो पूर्वोक्त धार्मिक या पुण्यार्थ प्रयोजनों के लिए उपरोक्त दशाओं में परिसीमित-दायादा द्वारा अधिकृत हों) को प्रत्यावर्ती की सम्मति समर्थनीय नही बना सकती, जब तक वह (संक्रमण) **अध्यर्पण** का रूप न धारण कर ले। अध्यर्पण एक महत्वपूर्ण विषय है जिसका अध्ययन आगे करना होगा। इस समय इतना ही ज्ञातव्य है कि एक परिसीमित-दायादा अपने आजीवन स्वामित्व को प्रत्यावर्तियों के हाथ में जब समर्पित कर देती है तो उस क्रिया को **अध्यर्पण** कहते है। अध्यर्पण वैध तभी माना जाता है जब वह सम्पूर्ण सम्पदा के विषय मे किया गया हो तथा समस्त प्रत्यावर्ती वर्ग के हित में लिखा गया हो। अतः हिवा या दान तभी समर्थनीय होता है जब एक परिसीमित-स्वामिनी उसके द्वारा एक निकटतम प्रत्यावर्ती या समस्त **प्रत्यावर्तियों** के हाथों मे **सम्पूर्ण सम्पदा** को सौंप देती है। यदि हिवा सम्पदा के किसी भाग का हो, अथवा सम्पूर्ण का होने पर भी समस्त प्रत्यावर्तियो के हित मे न हो,[3] तब वह अवैध हो जायगा, क्योंकि वह अध्यर्पण का रूप नहीं धारण कर सकता। आंशिक हिवा तभी समर्थनीय माना जा सकता है जब वह निकटतम प्रत्यावर्ती की सहमति से किया गया हो। इस अपवाद को एक उदाहरण से समझना चाहिए। पूनी अपने मृत पति की आधी सम्पदा एकल निकटतम प्रत्यावर्ती बालू को दे डालती है और बालू उसी क्षण उस अर्धांश को एक गैर व्यक्ति के हाथ बेंच डालता है। यहाँ पर हिवानामा और बैनामा का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों दस्तावेज एक ही मामले अर्थात् बिक्री के दो पहलू प्रतीत होते हैं।[4] उसी तरह यदि विधवा निकटतम प्रत्यावर्ती के साथ में सारी सम्पत्ति का बैनामा लिख दे, तो बैनामा वैध मान लिया जायगा, क्योंकि इस मामले म सहमति भी और अध्यर्पण भी दोनों

१. "विनायक ब० गोविन्द" (१९०१) २५, बम्बई १२९।
२. "रंग स्वामी ब० नच्छियप्पा" (१९१९) ४६, इ० एपील्स ७२।
३. "रंग स्वामी ब० नच्छियप्पा" (१९१९) ४६, इ० एपील्स ७२।
"पीलू ब० बाबाजी" (१९०९) ३४, बम्बई १६५।
४. "मुहम्मद सईद ब० कुं० दर्शन" (१९२८) ५०, इलाहाबाद ७५।

समर्थन के लिए आनुमानिक रूप से विद्यमान पाये जाते हैं। एक नयी सूरत तब पैदा हो जाती है जब परिसीमित-स्वामिनी समस्त निकटतम प्रत्यावर्तियों की सम्मति से सम्पूर्ण सम्पदा को गैर व्यक्ति के नाम हिबा कर देती है। क्या अभ्यर्पण के आधार पर ऐसा हिबा समर्थनीय हो सकता है? इस पर मतभेद है।[१] जो अन्य-संक्रमण वैध आवश्यकता या प्रत्यावर्ती-प्रदत्त सम्मति के आधार पर समर्थनीय हो, वह परिसीमित-स्वामिनी पर तथा प्रत्यावर्तियों व उत्तर-कालोत्पन्न या दत्तक पुत्र सब के ऊपर बाध्यकारी होता है। जो सक्रमण असमर्थनीय हो, वह कम से कम संक्रमण-कर्त्री के हित के ऊपर उसके जीवन पर्यन्त तो अवश्य बाध्यकारी बना रहेगा,[२] किन्तु प्रत्यावर्तियों को अधिकार रहेगा कि उसका परिहार करा लें। अर्थात् असमर्थनीय संक्रमण विवर्जनीय या शून्य-करणीय होता है, न कि शून्य होता है।

अन्य-सक्रमण के अन्तर्गत **पट्टा** भी आ जाता है। हिन्दू विधवा को मैनेजर की भाँति प्रबन्ध के सिलसिले में जमीन को लगान पर उठा देने का अधिकार होता है। किन्तु स्थायी और दीर्घकालीन पट्टा करने के लिए उपरोक्त समर्थनकारी हेतु मौजूद होने चाहिए, अर्थात् सम्पदा का हित या वैध आवश्यकता, या प्रत्यावर्तियों की सम्मति या अनुमोदन। पहले कहा गया है कि सम्पदा की उन्नति अथवा विकास समर्थनकारी हेतु नहीं माने जाते हैं।[३] इसलिए यद्यपि ऐसे पट्टे से आय में संवर्धन हो गया हो, तथापि प्रत्यावर्ती गण विधवा की मृत्यु के बाद उसका उत्सादन करा सकते है। जब तक उत्सादन न हो तब तक पट्टेदार का कब्जा नहीं हटाया जा सकता।

प्रत्यावर्तियों की जिस सम्मति का ऊपर उल्लेख हुआ है उसके विषय में यह कहा जा चुका है कि वह अन्य-संक्रमण के पहले और पीछे भी प्राप्त की जा सकती है। दूसरी कथनीय बात यह है कि प्रत्यावर्तियों में से वे लोग, जो असमर्थनीय संक्रमण के लिए या अवैध अभ्यर्पण के लिए सम्मति दे चुके हों, उस संक्रमण या अभ्यर्पण की वैधता

१. "नवकिशन ब० हरि ना०" (१८९४) १०, कलकत्ता ११०२।
"तुकाराम ब० थेसू" (१९३१) ५५, बम्बई ४६।
"मुम्मारेड्डी ब० पित्ती दुरैराजू (१९५१), सुप्रीम कोर्ट आर० ६५५।

२. "विनायक ब० गोविन्द" (१९०१) २५, बम्बई १२९।
"पीलू ब० बाबाजी" (१९०९) ३४, बम्बई १६५।

३. "विजयगोपाल ब० गिरीन्द्रनाथ" (१९१४) ४१, कलकत्ता ७९३।
"नवकिशोर ब० उपेन्द्रकिशोर" (१९२३) ३७, कल० ला जर्नल ३१९।
"दयामणि ब० श्रीनिवास" (१९०६) ३३, कलकत्ता ८४२।

को बाद में अनंगीकार करने से प्रतिवारित हो जाते हैं। वे तो प्रतिवारित हो ही जाते हैं, स्वतः उनके हस्तान्त-ग्राही भी प्रतिवारित हो जाते हैं।[1] मान लीजिए कि सह-मति-प्रदाता प्रत्यावर्ती परिसीमित-स्वामिनी के पूर्व मर चुकता है। तो क्या वह प्रत्यावर्ती भी प्रतिवारित हो जायगा जो उत्तराधिकार को विधवा के पश्चात् वस्तुतः पाता है? नहीं, वह प्रतिवारित तो नहीं होगा, किन्तु पूर्व-धारणा (कि सक्रमण वैध है क्योंकि मृत प्रत्यावर्ती उसमें सहमत था) के प्रभाव से वास्तविक प्रत्यावर्ती के ऊपर यह प्रमाणित करने का भार आ जायगा कि कोई वैध आवश्यकता विद्यमान नहीं थी। यदि वास्तविक प्रत्यावर्ती सम्मति-प्रदाता का पुत्र ही हो तब भी नहीं, क्योंकि उसको अपने पिता से नहीं वरंच अन्तिम पुरुष प्रभु से उत्तराधिकार प्राप्त होता है।[2]

यदि अन्य-संक्रमण ऐसे कौटुम्बिक समझौते या राजीनामे के द्वारा किया जाय, जिसमें विधवा तथा प्रत्यावर्ती दोनों ही पक्षधारी थे और जिससे दोनों ही लाभान्वित हुए थे, तो वह प्रत्यावर्ती उस संक्रमण के विषय में भी आपत्ति नहीं कर सकता। चूंकि वह स्वतः उससे लाभान्वित हो चुका है इसलिए उसके वंशज भी उसकी वैधता को अनंगीकार करने से प्रतिवारित रहेंगे। दूसरी सूरत यह है कि उक्त राजीनामे या कौटुम्बिक समझौते में विधवा तो पक्षधारी रही हो किन्तु प्रत्यावर्ती उसमें पक्षधारी न रहा हो, ऐसी सूरत में भी अन्य-संक्रमण (जो समझौते या राजीनामे के फलस्वरूप हुआ हो) प्रत्यावर्ती को बाध्यकारी होगा; किन्तु शर्त यह है कि उस राजीनामे या समझौते की बदौलत सम्पदा के खानदानी विवाद का निष्कपट रूप से निपटारा हुआ हो। यदि राजीनामा या समझौता असली विवाद के अभाव में इस छल से किया गया हो कि सम्पदा का संक्रमण वैध प्रतीत होने लगे, तो वह संक्रमण प्रत्यावर्तियों को बाध्यकारी नहीं हो सकता।[3] उपरोक्त दोनों ही सूरतों मे छलविहीनता व निष्कपटता एक जरूरी शर्त होती है। यह शर्त उस राजीनामे या समझौते पर भी लागू होती है जो एक तरफ

१. "मंगो कुँअर ब० डोमरी", आई० एल० आर० (१९५५) ३४, पटना ३१७।
"बाबूसिंह ब० रामेश्वर बक्श" (१९३२) ७, लखनऊ ३६०।
"जीवनसिंह ब० मिश्रीलाल" २३, इण्डियन एपील्स १।
"रामकटैया ब० वीरराघवैया" (१९२९) ५२, मद्रास ५५६।
२. "रंगस्वामी ब० नच्छियप्पा" ४६, इ० एपील्स ७२।
"देवेन्द्र शर्मा ब० एन० नाथ दत्त" (१९३३) ६०, कलकत्ता ११५८।
३. "एम० रमैया ब० यू० लक्ष्मैया" ६९, इ० एपील्स ११०।
"ठाकुरप्रसाद ब० मु० दीपा कुंअर" (१९३१) १०, पटना ३५२।

विधवा और दूसरी तरफ प्रत्यावर्ती के बीच किया गया हो। अर्थात् यदि वह छल-विहीन है तब तो वास्तविक प्रत्यावर्ती को बाध्यकारी होगा और यदि छल-युक्त है तब वास्तविक प्रत्यावर्ती को बाध्यकारी नही होगा।[१]

परिसीमित-स्वामिनी को अन्य अधिकार भी होते हैं, जो संयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर को उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ यदि विधवा ने कोई व्यवसाय उत्तराधिकार में पाया है तो वह उसके लिए कर्ज लेकर उसको चुकाने के निमित्त भी सम्पदा का हस्तान्तरण कर सकती है।[२] ऋण का अंगीकार या आंशिक भुगतान करके वह मियाद को जीवित रख सकती है और उसके इस कर्म से प्रत्यावर्ती गण पाबन्द हो जाते हैं। क्या वैधिक आवश्यकतार्थ परिसीमित-दायादा द्वारा उगाहे हुए सादे ऋण के लिए, उसकी मृत्यु के पश्चात् सम्पदा और प्रत्यावर्ती गण देनदार बनाये जा सकते है ? एक मत यह है कि नही, क्योंकि उत्तमर्ण (महाजन) ने जान-बूझकर अधमर्ण (कर्जदार) की व्यक्तिगत प्रतिभूति को स्वीकार कर लिया था।[३] दूसरा मत है कि हाँ, क्योंकि वैध आवश्यकता मौजूद थी और सम्पदा प्रलाभित हुई थी।[४]

कानून ने सम्पदा को विशेष अवस्थाओं में हस्तान्तरित करने और अन्य प्रकार से उसका दायित्व प्रदान करने के अतिरिक्त परिसीमित-दायादा को **अध्यर्पण करने की क्षमता** भी प्रदान की है। उसके नियम निम्नोक्त है। अध्यर्पण क्या चीज है ? जैसे एक विधवा अपने शरीर का विलोपन सती की क्रिया से करती थी, वैसे ही अध्यर्पण की क्रिया से वह अपने स्वामित्व का विलोपन कर डालती है। दोनों ही क्रियाएँ उसकी सांसारिक मृत्यु का निष्पादन करती है। (१) अध्यर्पण को वैध आशय से एक प्रकार का सक्रमण नहीं कह सकते।[५] (२) विधवा सम्पूर्ण सम्पदा का तो अध्यर्पण कर

१. "माताप्रसाद ब० नागेश्वर सहाय" (१९२५) ५२, इ० ए० ३९८।
२. "श्यामसुन्दर ब० अच्छन कुं०" (१८९८) २५, इ० एपील्स १८३।
३. "रामस्वामी ब० सेलत्तमल" (१८८२) ४, मद्रास ३७५।
"धीरजसिंह ब० गंगाराम" (१८९७) १९, इलाहाबाद ३००।
४. "हरी ब० गनेश" (१८८४) १०, कलकत्ता ८२३।
"डी० यशवन्त ब० एम० सूरजमल" (१९३६) ६०, बम्बई ३११।
"राघव अप्पा ब० बलप्पा" (१९३९), नागपुर ३४७।
"राम कु० ब० इच्छामणि" (१८८१) ६, कलकत्ता ३६।
५. "तिरुवेंकटस्वामी ब० पलनी" (१९६२) १, मद्रास ला जर्नल २२४।
"कमला बाई ब० शिव", ए० आई० आर० १९५८, सुप्रीम कोर्ट ९१४।

सकती है किन्तु उसके भागों का नही।[1] (३) वह एक या दो व्यक्तियों के हित में अध्यर्पण नहीं कर सकती, वरंच वह समस्त प्रत्यावर्तियों या 'संभाव्य' प्रत्यावर्ती के हित मे होना चाहिए।[2] (४) इस क्रिया से वह दायप्राप्ति के अवसर को वेगशील बना देती है, अर्थात् जो उत्तराधिकार उसकी मृत्यु के बाद चलता वह अध्यर्पण के बाद ही अनायास चलने लग जाता है।[3] (५) यदि अध्यर्पण में शर्तें लगा दी जायँ तो वह अवैध हो जायगा। ऐसी शर्तें प्रवर्तनीय नही होतीं कि सम्पदा का अमुक अंश उसके (विधवा के) द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति पायेगा, क्योंकि इस युक्ति के द्वारा प्रत्यावर्ती-समूह छला और वंचित किया जा सकता है।[4] (६) ऐसी शर्तें दूरस्थ प्रत्यावर्ती के विकल्प पर शून्य-करणीय होती है।[5] (७) इसके विपरीत सारी सम्पदा को यदि विधवा प्रत्यावर्ती के नाम हिवा कर देती है और प्रत्यावर्ती तत्पश्चात् उसी का हिवा विधवा के द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति के नाम कर देता है, तो ये दोनों मिलकर वैध अध्यर्पण व वैध हस्तान्तरण हो जाते है।[6] ऐसा हस्तान्तरण सम्पदा पर यानी पूरे प्रत्यावर्ती-वर्ग पर बाध्यकारी हो जायगा और उसका उत्सादन नही हो सकता। ज्ञातव्य है कि सभाव्य प्रत्यावर्ती की सम्मति भी ऐसे अध्यर्पण को वैध नही बना सकती, जो अप्रत्यावर्ती या प्रत्यावर्ती से भिन्न किसी नातेदार के हित में किया गया हो। ऐसा अध्यर्पण तो एक छद्ममय हिवा ही है। ऐसे कपटपूर्ण अध्यर्पण पर वास्तविक प्रत्यावर्ती सफलतापूर्वक आक्षेप कर सकता है। (८) यदि अध्यर्पण के बदले में अध्यर्पण-कर्त्री तथा अन्य बीच मे आने वाली नारी-प्रत्यावर्तिनी के भरण-पोषण का वादा कर लिया गया हो, तो ऐसे प्रतिदेय के आधार पर वह अध्यर्पण अवैध नही कर दिया जायगा।[7] भरण-पोषण के बदले यदि वह सम्पदा के एक अंश को स्वीकार कर लेती है, तो भी अध्यर्पण की वैधता में बाधा नही पडेगी। ज्ञातव्य है कि अध्यर्पण करते वक्त यदि वह ऐसा अनुबन्ध करा लेती है तब तो अच्छी बात है, अन्यथा यदि उस वक्त पर वह चूक जाती

१. "कमला बाई ब० शिव", ए० आई० आर० १९५८, सुप्रीम कोर्ट ९१५।
२. "मुम्मारेड्डी ब० पी० दुरैराज", ए० आई०आर० १९५२, सु०कोर्ट१०९।
३. "मुम्मारेड्डी ब० पी० दुरैराज', ए० आई० आर० १९५२, सु० कोर्ट १०९।
४. "मुम्मारेड्डी ब० पी० दुरैराज", ए० आई० आर० १९५२, सु०कोर्ट१०९।
"कुप्पन्ना ब० पेरूमा", ए० आई० आर० १९६०, मद्रास १५४।
५. "मुम्मारेड्डी ब० पी० दुरैराज", ए० आई० आर० १९५२, सु० कोर्ट १०९।
६. "मुम्मारेड्डी ब० पी० दुरैराज", ए० आई० आर० १९५२, सु० कोर्ट १०९।
७. "वेंकटेश्वर्लू ब० कन्यावर", ए० आई० आर० १९५३, मद्रास ५५१।

है, तो फिर भरण-पोषण की माँग या तकाजा वह नहीं कर सकती ।[१] (९) आगे चलकर 'दत्तक ग्रहण' वाले प्रकरण में दत्तक-क्रिया या पुत्रीकरण के नियम बताये जायेंगे। उनमें से एक तो यहीं पर जान लेना चाहिए। पुत्रीकरण का प्रभाव भूत-लक्षी (अतीत कालव्यापी) होता है, यानी कानून मान लेता है कि आज के दिन विधवा द्वारा गोद लिया हुआ पुत्र उसी दिन पैदा हो चुका था, जब दत्तकग्रहीत्री का पति मरा था। परिणाम यह होता है कि दत्तक पुत्र उन सब अन्य-संक्रमणों के ऊपर आक्षेप कर सकता है जो विधवा पहले कर चुकी है। अतः दत्तक पुत्र अध्यर्पण-ग्रहीता तथा उसके हस्तान्तर-ग्रहीता को सम्पदा से वियुक्त कर सकता है।[२] (१०) अध्यर्पण नारी व पुरुष दोनों तरह के प्रत्यावर्तियों के हित में किया जा सकता है।[३] अध्यर्पण के ऊपर पर्याप्त मनन तो हो गया, किन्तु परिसीमित-स्वामिनी के अधिकारों की चर्चा अभी निश्शेष नहीं हुई है। यथा—

"हनुमान प्रसाद ब० बबुई" (६ मू०, इ० ए० ३९३) वाले मुकदमे में प्रिवी कौंसिल ने एक अभिवचन प्रकट किया है—"कुटुम्ब के मैनेजर के समान विधवा को अपने अधिकारों के संचालन के निमित्त उचित स्वातंत्र्य देना चाहिए, बशर्ते कि उससे प्रत्याशी दायादों का अहित न होता हो।" इसके अनुसार एक परिसीमित-दायादा बचत की राशि कहीं भी ब्याज पर लगा सकती है, बशर्ते कि वह आश्रितों के प्रतिपालन मे व मालगुजारी, लगान इत्यादि तथा अन्तिम स्वामी के ऋण का सूद देने में कटौती करके बचत को संचित न करे। उपरोक्त नजीर के अनुसार वह सम्पदा का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए यदि उसने मुकदमे में साठगाँठ या छल-कपट नहीं किया है तो तदनुसार आदिष्ट हुई डिग्री तथा इजराय डिग्री में किये गये नीलाम से न केवल वह विधवा, वरंच प्रत्यावर्ती-वर्ग भी बद्ध हो जायेंगे, बशर्ते कि (१) वह मुकदमा ऐसे ऋण या मामले से सम्बद्ध हो जो सम्पदा पर बाध्यकारी था, (२) और वह उस मुकदमे मे व्यक्तिगत रूप से नहीं वरंच सम्पदा के प्रतिनिधि के रूप से पक्षधारी बनायी गयी थी। ज्ञातव्य है कि प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के बल पर विधवा के विरुद्ध किये गये चिरभोगाधिकार से उसकी मृत्यु के पश्चात प्रत्यावर्ती के स्वत्व पर आँच नहीं आ सकती। कारण यह है कि प्रत्यावर्ती का विधवा के जीवनकाल में कोई निहित हित होता ही नहीं और वह विधवा के माध्यम से अपना स्वत्व नहीं अनुरेखित करता है।

१. "वी० कोण्डम्मा ब० शेषम्मा", ए० आई० आर० १९५७, आं प्रप्रदेश १५६।
२. "बाहुबली ब० गुडप्पा", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ४५१।
३. "सतन्ना ब० वीरन्ना" (१९३४) ५७, मद्रास ७४९।

फिर विधवा की असावधानी या अनवधानता से वह कैसे बद्ध हो सकता है।[1] यहाँ तक परिसीमित-स्वामिनी के यथासम्भव सारे अधिकारों की चर्चा हो चुकी। अब तीसरे सम्बन्धित विषय पर विचार किया जाता है—

तीसरा विषय है वे **उपचार जो परिसीमित स्वामिनी के कार्यों से क्षतिग्रस्त प्रत्यावर्तियों को कानून में उपलब्ध होते हैं।** (१) इन उपचारों के कौन व्यक्ति अधिकारी होते हैं ? (२) उपचार क्या हैं ? पहले प्रश्न का उत्तर है—समस्त प्रत्यावर्ती समूह यदि अधिकृत कर दिया जाय, तो दूर से दूर वाला उत्तराधिकारी अपनी तकदीर आजमा सकेगा और मुकदमों का ताँता बँध जायगा। इसलिए कानून ने यह विहित कर दिया है कि मुकदमा दायर करने का हक सर्वप्रथम निकटतम प्रत्यावर्ती को मिलेगा। उसके बाद वाले प्रत्यावर्ती को दावा दायर करने का हक केवल उसकी (निकटतम प्रत्यावर्ती की) अक्षमतावश पैदा हो सकता है। अक्षमता के कई हेतु होते हैं। अपर्याप्त बहाने से उसने टालमटोल की हो। या कथित अवैध कार्य की वह सम्मति दे चुका हो। या परिसीमित-स्वामिनी के साथ उसने साँठगाँठ कर ली हो। या अपने ही कर्मों व व्यवहार वश वह दावा दायर करने से प्रतिवारित हो गया हो। या दरिद्रता के कारण दावा करना उसकी सामर्थ्य के बाहर हो। या वह स्वतः नारी हो। निकटतम प्रत्यावर्ती की अवयस्कता को अक्षमता नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसकी तरफ से अभिभावक दावा दायर कर सकता है। यह न समझिए कि प्रत्यावर्तियों के सिवा कोई अधिकारी होता ही नहीं। अपितु अन्य-संक्रमण के ऊपर कोई भी आक्षेप कर सकता है जो उत्तराधिकार में हित रखता हो। उदाहरणार्थ, राजगमन या जब्ती का अवसर आने पर सरकार आक्षेप कर सकती है। प्रत्याशी प्रत्यावर्ती का पट्टेदार भी ऐसा दावा दायर कर सकता है; किन्तु यदि पट्टा करने वाला प्रत्यावर्ती ही विधवा से पहले मर जाय तो पट्टेदार के अधिकार का भी अवसान हो जाता है। ज्ञातव्य है कि उस दावे में दूरस्थ प्रत्यावर्ती भी पक्षधारी बन जा सकते हैं जो निकटतम प्रत्यावर्ती ने दायर कर दिया हो।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है—प्रत्यावर्ती-हित की रक्षा करने के प्रत्यावर्तियों के पास तीन उपचार या हक होते हैं। **पहला,** अपव्यय के निरोधार्थ वे व्यादेश के लिए दावा कर सकते हैं।[2] व्यादेश को अंग्रेजी में "इनजंक्शन" कहते हैं। अपव्यय का मत-

१. कालीपद चक्रवर्ती ब० पी० बाला देवी" (१९५३), सु० कोर्ट रि० ५०३।
२. "कैलास ब० कंचनी", ए० आई० आर० १९३४, कलकत्ता १३६।
"अरुगा चलम ब० कृष्णवेणी", ए० आई० आर० १९४१, मद्रास ७२४।

लब है कुप्रबन्ध और दुष्प्रयोग के द्वारा सम्पदा की ऐसी दुर्दशा करना कि परिसीमित-स्वामिनी के मरने तक उसका मूल्य घट जाय। उसके अन्तर्गत अविचारपूर्ण संक्रमण नहीं आते और न सम्पदा का सामान्य उपयोग, यथा जंगल का बेचना।[1] व्यादेश के दावे में रिसीवर या आदाता की नियुक्ति की भी याचना की जा सकती है। यह याचना उस दशा में वांछनीय होती है जब परिसीमित-स्वामिनी के ऊपर किसी बाहरी व्यक्ति ने अपना प्रभाव जमा रखा हो। **दूसरा,** प्रतिनिधि के रूप में निकटतम प्रत्यावर्ती इस घोषणा के निमित्त दावा दायर कर सकता है कि आजीवन-स्वामिनी की मृत्यु के उपरान्त अनधिकृत प्रवेशक का चिरभोगाधिकार या स्वामिनी कृत अन्य-संक्रमण प्रत्यावर्तियों के ऊपर बाध्यकारी नही रहेगा। **तीसरा,** जब उत्तराधिकार पर से परिसीमित-स्वामित्व रूपी प्रतिबन्ध विधवा की मृत्यु के परिणामस्वरूप हट जाय, तब निकटतम प्रत्यावर्ती अनुचित रूप से हस्तान्तरित सम्पदा की भुक्ति का दावा कर सकता है। अन्यथा उक्त सक्रमण की उपेक्षा करके अर्थात् उसे न हुआ मानकर वह स्वतः सम्पदा का हस्तान्तरण कर दे और उसका हस्तान्तरग्राही कब्जे का दावा वही अभिकथन करते हुए करे जो वह (किटतम प्रत्यावर्ती) कर सकता था।[2] ज्ञातव्य है कि वास्तविक प्रत्यावर्ती के दावे की मियाद विधवा की मृत्यु से बारह वर्षो के बाद समाप्त हो जाती है। यदि इस मियाद के भीतर उसने दावा दायर कर दिया हो, तो उसकी मृत्यु होने पर उसका दायाद दावे को चला सकता है।[3]

उपरोक्त उपचारों मे से (पहला) घोषणा का दावा उस दशा में समुचित होता है जब वह परिसीमित-स्वामिनी के जीवित रहते दायर कर दिया जाय। उसके पश्चात् कब्जे का दावा करना उचित होता है। कब्जे के दावे में प्रलाभ यह रहता है कि संक्रान्तग्राही प्रतिपक्षी के सिर पर इस बात का प्रमाणभार चढ जाता है कि हस्तान्तरण किसी समर्थनीय प्रयोजनार्थ अथवा किसी समर्थनकारी परिस्थिति या दशा में किया गया था,[4] यथा प्रत्यावर्ती की सम्मति या उचित पूछताछ और जाँच। यदि हस्तान्तरग्राही अन्य-सक्रमण को केवल अशतः समर्थनीय प्रमाणित कर सके तो क्या परिणाम पैदा होगा? सयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर के सम्बन्ध में भी (प्रकरण ७ से) ऐसा

१. "पी० शेषम्मा ब० एन० अप्पालम्मा" (१९५५), आंध्र वीकली रि० ६३३।
२. "विजय ब० कृष्ण" (१९०७) ३४, इ० एपील्स ८७।
"महबूब ब० विट्ठल", ए० आई० आर० १९५४. बम्बई ३११।
३. "ठाकुर ब० दीपा", ए० आई० आर० १९३१, पटना ४४२।
४. "कालीशंकर ब० धीरेन्द्र", ए० आई० आर० १९५४, सु० कोर्ट ५०५।

प्रश्न उठ चुका है और उसका उत्तर भी विवरण समेत आ चुका है। इस प्रसंग में भी वही उत्तर इस प्रश्न का समझा जायगा।[1] अर्थात् संक्षेपतः यदि असमर्थनीय राशि छोटी हो, तो अदालत सम्पूर्ण मामले का अनुमोदन कर देगी[2] और यदि असमर्थनीय राशि बड़ी हो, तो मामले का उत्सादन कोई ऐसी शर्त लगाकर करेगी, यथा समर्थनीय रकम की अदायगी।[3] ज्ञातव्य है कि जब ऐसे मामले का उत्सादन किया जाता है, तो अन्तः-कालीन लाभ (मुनाफा) नहीं दिलाया जाता है। कारण यह है कि चूंकि परिसीमित-स्वामिनी का सम्पदा में कम से कम आजीवन हित तो रहता ही है, इसलिए हम उसके संक्रान्तग्राही को निरा अनधिकृत-प्रवेशक नहीं कह सकते।

अब **पहले विषय** की चर्चा की जायगी, अर्थात **नारियों की दायप्राप्त सम्पदा का अवक्रमण** किस रीति से होता है ? प्रकरण के आरम्भ में कहा गया था कि परिसीमित-दायादा तथा परिसीमित सम्पदा किस को कहते हैं। स्त्रीधन की व्याख्या और उसके उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम भी समझा दिये गये हैं। नारी की दायप्राप्त सम्पदा के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम संक्षेपतः इस प्रकार हैं। हिन्दू ला की बनारस, मिथिला, बंगाल, मद्रास वाली उपशाखाओं के अनुसार पुरुष या नारी की प्रत्येक दायादा दाय-प्राप्त सम्पदा में सीमित स्वामित्व पाती है। जब वह मर जाती है तो सम्पदा उसके दायादों को नहीं, अपितु अन्तिम पूर्ण स्वामी के दायादों को मिलती है। किन्तु बम्बई की उपशाखा में नियम इतना सरल नहीं है। वहाँ जो सम्पदा एक दायादा को नारी से मिलती है वह उसका स्त्रीधन बन जाती है, और जो सम्पदा पुरुष से ऐसी दायादा को मिलती है जो विवाह द्वारा कुटुम्ब में नहीं आयी वरंच उसी कुटुम्ब में उत्पन्न हुई है, वह भी स्त्रीधन बन जाती है। जब वह मर जाती है तब वह सम्पदा उसी के उत्तराधिकारी को मिलती है। किन्तु जो सम्पदा पुरुष से ऐसी दायादा को मिलती है जो कि कुटुम्ब में विवाहित होकर आयी है, वह उस (दायादा) की परिसीमित-सम्पदा बनती है। ऐसी परिसीमित सम्पदा उसके मरणोपरान्त उसके दायादों को नहीं, वरंच अन्तिम पूर्ण स्वामी के दायादों को प्राप्त होती है। यहाँ नारी-सम्पदा की वार्ता पूरी होती है।

अब यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि परिसीमित-सम्पदा का अवसान कब होता है। परिसीमित स्वामित्व को वियुक्त करने वाले हेतु संक्षेपतः ये होते हैं—

१. "कृष्ण ब० नाथू", ए० आई० आर० १९२७, प्रिवी कौंसिल ३७।
२. "सुशीला ब० विभूति", ए० आई० आर० १९६१, कलकत्ता १८०।
३. "सुमित्रा बाई ब० बिट्टी", ए० आई० आर० १९५५, नागपुर २९९।

(१) पति के मरणोत्तर उत्पन्न पुत्र विधवा और पुत्री के स्वामित्व को वियुक्त कर देता है। (२) पहले मरे हुए समांशी की विधवा जब दत्तक ग्रहण करती है तो वह इस क्रिया से एकल उत्तरजीवी समांशी की विधवा को वियुक्त कर देती है। ज्ञातव्य है कि यदि सन् १९३७ वाला "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" लागू हो, तो विधवा द्वारा दत्तक-ग्रहण से अर्ध सम्पदा वियुक्त होती है, अन्यथा सम्पूर्ण। (३) विधवा यदि विवाह कर लेती है तब भी स्वामित्व वियुक्त हो जाता है। चाहे उस विधवा का पुनर्विवाह रिवाज के द्वारा अनुज्ञात हुआ हो, या सन् १८५६ वाले "हिन्दू विडोज रीमैरेज ऐक्ट" के द्वारा।[1] यदि विधवा माता दायाद बनी हो और वह पुनर्विवाह कर ले, तो उस सम्पदा से वियुक्त हो जाती है जो उसके मृत पुत्र ने अपने पिता से पायी थी, किन्तु उस सम्पदा से नहीं, जो मृत पुत्र ने स्वतः अर्जित की थी।[2] (४) विधवा अपनी प्राकृतिक मृत्यु द्वारा भी सम्पदा से वियुक्त हो जाती है। (५) पाँचवाँ वियुक्तकारी हेतु है अध्यर्पण।[3]

१. "हीरा ब० बोधी", ए० आई० आर० १९५४, उड़ीसा १७२।
"रामा ब० साखू", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ३१५।
"थंगवेलू ब० लक्ष्मी", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास ५३४।
२. "थैयम्मा ब० गिरियम्मा", ए० आई० आर० १९६०, मैसूर १७६।
३. प्रोफेसर जे० डी० एम० डेरेट कृत "माडन हिन्दू ला", पृ० ४३८।

प्रकरण १४

विवाह

धर्मशास्त्र मे विवाह एक संस्कार अर्थात् पवित्र अनुष्ठान कहा गया है। यह लौकिक नही आध्यात्मिक सस्था माना गया है। इसको व्यावहारिक अनुबन्ध नहीं, अपितु दो आत्माओं का पारस्परिक विलयन कहना वास्तविकता का अधिक द्योतक है। चाहे इसे लौकिक सस्था कहें या सस्कार, यह मानना पड़ेगा कि समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने का यह एक महत्वपूण निमित्त व साधन होता है। अतः इसकी पावनता निर्विवाद है। गृहस्थाश्रम का श्रेष्ठतम आश्रम कहा गया है। गृहस्थाश्रम धर्म के पालनार्थ पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। इस विचार से भी विवाह कर्म की महिमा अपार है।

विवाह क्या है ? वर द्वारा वधू का पत्नी के रूप में स्वीकरण। यह मामला कन्या के अभिभावक और वर अथवा वर के अभिभावक के बीच तय होता है। उसमें कन्या की सहमति या वर की सहमति हो या न हो। यह विवाह का व्यावहारिक रूप है। सिद्धान्त के हिसाब से तो वर और वधू को एक दूसरे को अंगीकार या अस्वीकार कर देने के कई अवसर मिलते है। अतीत में विवाह के अन्तर्गत यह भावना रहती थी कि कन्या के प्रभुत्व का हस्तान्तरण पिता के पास से पति को हो जाता है। ऐसी भावना का प्रादुर्भाव इस पुरातन विचार से हुआ होगा कि पिता का अपनी उन्तति के ऊपर अपरिमित आधिपत्य होता है। अन्य धन व सामग्री की तरह पिता अपनी पुत्री का भी अन्य-सक्रमण, जैसे दान—विक्रय कर सकता था। विवाह में दान की प्रक्रिया का विनियोग पिता के अधिकार को पति के अधिकार में परिणत करने के निमित्त किया जाता है।

हरण या बलाद्ग्रहण भी पहले विवाह की एक रीति थी और वह भी आधिपत्य की मान्यता पर आधारित थी। सुभद्रा-हरण तथा रुक्मिणी-हरण इसके पौराणिक एव महाराज पृथ्वीराज द्वारा-संयुक्ता-हरण इसके ऐतिहासिक दृष्टान्त हैं। पत्नी, पुत्र, पुत्री व दास की दशा पुरातन विधि में एक समान थी और इस सिद्धान्त पर आश्रित थी कि एक पक्ष को निरंकुश प्रभुता प्राप्त है तथा दूसरा पक्ष नितान्त रूप से उस पर अवलम्बित रहता है। एक मत यह है कि विवाह का आदि रूप था पिता द्वारा मूल्य लेकर पुत्री का वर के हाथ विक्रय। वर का चुनाव मुख्यतः मूल्य के विचार से अनु-

प्रेरित हुआ करता था तथा कन्या का हित व सुख गौण बातें समझी जाती थीं। समयान्तर में यह निरा संसारी तथा स्वार्थरंजित सिद्धान्त परिमार्जित भावनाओं को इतना अनाकर्षक और अरुचिकर प्रतीत होने लगा कि पूर्वज ऋषियों ने वर-कन्या का यह हितावह व परमार्थी सिद्धान्त विहित कर दिया कि तवस्त्राभरण से सुसज्जित कन्या गुणवान् योग्य वर को निश्शुल्क प्रदान की जाय तथा पिता का धर्म है कि वर को खोजे और कन्या के सुख को छोड़कर किसी भी अन्य विचार से वर का चुनाव न करे। उन्होने कन्या के विक्रय या शुल्क के बदले में होने वाले विवाह को निन्द्य कह दिया और यह घोषित कर दिया कि केवल उच्चतर सिद्धान्त जिनकी कृतियों के प्रेरक होने चाहिए; ऐसे आध्यात्मिक दायित्व का ध्यान रखने वाले श्रेष्ठ जनों के लिए उक्त कर्म अशोभन होते हैं।[1]

सन् १९५५ में "हिन्दू मैरेज ऐक्ट (हि० मै० ऐक्ट)" पारित हो गया है। हिन्दू विवाह सम्बन्धी जिन बातों पर उस अधिनियम में नियम बन गये हैं, उनके आधार पर पूर्व-प्रचलित सारे नियमो को उसने निराकृत कर दिया है; वे नियम चाहे धर्मशास्त्र के, चाहे विधान के, चाहे रीति-रिवाज के, चाहे नजीरों के द्वारा विहित किये गये हों। उस अधिनियम का स्वच्छन्द मनन आगे चलकर करना होगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दू धर्मशास्त्र में विवाह अनुबन्ध नहीं वरंच एक महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। इसलिए वधू या वर की अवयस्कता विवाह को अवैध नही बना सकती है। फिर भी वर द्वारा वधू का अंगीकरण उस अनुष्ठान का प्रधान अंग होता है और चूँकि अगीकरण ऐसा मानस कर्म है जो उन्मत्त व्यक्ति या छले हुए व्यक्ति की क्षमता के परे होता है इसलिए ऐसे अनर्ह लोगों का विवाह शून्यकरणीय (अमान्य) होना चाहिए। किन्तु विवाह को शून्य करने के लिव्र वर का उन्माद इतना प्रबल होना चाहिए कि वह अनुष्ठान को समझ न सकता हो और न उसमें समझबूझकर भाग ले सकता हो।[2]

धर्मशास्त्र ने विवाह के आठ प्रकार माने हैं, जिनमें से चार को तो प्रशस्त या धर्म्य कहा गया है, और चार को अप्रशस्त या अधर्म्य। उनका स्वरूप यह है—

(१) **ब्राह्म** उस विवाह को कहते हैं जिसमें वस्त्राभूषण से सुसज्जित कन्या एक वेदज्ञ, सुचरित्र व्यक्ति को आमंत्रित करके पिता सौंप देता है।

१. जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ९३–९५।
२. "मौजीलाल ब० चन्द्रवती" ३८, इण्डियन एपील्स १२२।
"रान ब० जगत पाल" १७, इण्डियन एपील्स १७३।
"वेंकटाचार्युलू ब० रंगाचार्युलू" (१८९१) १४, मद्रास ३१६।

(२) **दैव** उस विवाह को कहते हैं जिसमें पिता यज्ञ करते समय सुसज्जित कन्या का पुरोहित को दान कर देता है, यानी सौंप देता है। "दान" शब्द उस बोल-चाल के या कर्मकाण्डी अर्थ में नही प्रयुक्त हुआ है जिसका आश्रय होता है धन की तरह संकल्प कर देना, वरंच सौंप देने के अभिप्राय से देने के अर्थ में प्रयुक्त [१] हुआ है।

(३) **आर्ष** उस विवाह को कहते हैं जिसमें गाय-बैल का केवल एक या दो जोड़ा (कन्या के मूल्य रूप मे नहीं) लेकर पिता कन्या का दान (सौंप देने के आशय में) कर देता है।

(४) **प्राजापत्य** उस विवाह को कहते हैं जिसमें पिता वर-वधू को यह आदेश देता है कि "तुम दोनों साथ ही साथ धार्मिक कृत्य करना" और फिर मधुपर्कादि से वर का पूजा-सत्कार करके उसे कन्या सौंप देता है। 'प्राजापत्य' और 'काय' पर्यायवाची हैं। ये चार प्रकार के **प्रशस्त विवाह** हैं।

(५) **आसुर** उस विवाह को कहते है जिसमें वर अपनी सामर्थ्यानुसार पिता व वधू को धनादि देकर पिता से वधू को दान (सौंपने के अर्थ में) द्वारा प्राप्त करता है।

(६) **गान्धर्व** उस विवाह को कहते हैं जिसमें पारस्परिक आसक्ति से आकर्षित होकर वर-कन्या दम्पति बन जाते हैं।

(७) **राक्षस** उस विवाह को कहते हैं जिसमें अत्याचारी रूप से अपहरण करके कन्या के ऊपर बलात्कार किया जाता है।

(८) **पैशाच** उस विवाह को कहते है जिसमें सुप्त या अचेत या पागल कन्या के साथ लुक-छिप कर सम्भोग किया जाता है। ये चार **अधर्म्य या अप्रशस्त** विवाह माने गये हैं। ब्राह्म विवाह श्रेष्ठतम और पैशाच विवाह निकृष्टतम समझा जाता है। इन आठों प्रकार के विवाहों में वर और वधू को धार्मिक कृत्य तथा कुलाचार करना पड़ता है। तब जाकर विवाह वैध और पक्का बनता है। चार अप्रशस्त संयोग कर लेने के बाद भी वर वैवाहिक विधि के दायित्व से छुटकारा नहीं पा सकता है। हिन्दू धर्म कुकर्मियों को भी अपने कर्मफल से भागकर बचने नहीं देता। आधुनिक हिन्दू समाज में अन्य प्रकार तो लुप्तप्राय हो चुके हैं, केवल ब्राह्म तथा आसुर विवाह का प्रचलन रह गया है। गान्धर्व विवाह का भी एकदम लोप नहीं हुआ है।[२] गान्धर्व

१. देखिए, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड २, प्रकरण ९।

२. "कामिनी ब० कामेश्वर" (१९४६) २५, पटना ५८।

"देवयानी ब० चिदम्बरम", ए० आई० आर० १९५४, मद्रास ६५७।

विवाह को उपस्त्रागमन कहना स्मृतिवाक्यों के विरुद्ध है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, धार्मिक कृत्योंका करना इस प्रकार के लिए भी अनिवार्य होता है।

उपरोक्त धार्मिक कृत्य कौन है जिनका करना अनिवार्य है और जिनके सम्पादन के उपरान्त विवाह अनुल्लघनीय माना जाता है? धार्मिक कृत्यों की सूची में ३९ कृतियाँ उल्लिखित है।[१] उनमें से दो प्रमुख है; एक तो वैवाहिक अग्नि के सम्मुख वर-वधू द्वारा मंत्रोच्चारण, दूसरे, होमाग्नि की दोनों द्वारा चार प्रदक्षिणा तथा दोनों का साथ-साथ सात पग चलना, जिसको सप्तपदी कहते हैं। प्रदक्षिणा करते समय पहले कन्या और फिर वर आगे रहता है और दोनों मंत्रों का उच्चारण करते जाते हैं। सप्तपदी पश्चिम दिशा से आरम्भ होती है और अग्नि से उत्तर दिशा में की जाती है। पहले दाहिना पैर आगे बढ़ाया जाता है। सातवाँ पग समाप्त हुए बिना विवाह पूरा नही माना जाता और वधू कुमारी रह जाती है। अतः यदि सातवाँ पग समाप्त किये बिना वर मर जाय तो वधू को विधवा नहीं मानते।[२] यद्यपि कानून इन दो कृत्यों को आवश्यक मानता है, तथापि प्रथा या रूढि इस नियम को भी शिथिल कर सकती है। परन्तु ऐसी रूढि का कठोर परीक्षण किया जाता है। अर्थात् ऐसे रिवाज को पुरातन, निश्चित और वाध्यकर होना चाहिए। उसको एकरूप का भी होना चाहिए।

जब यह बात प्रमाणित हो जाती है कि विवाह हो चुका है, तो उससे दो पूर्व धारणाएँ उपजती है। एक तो यह कि वह ब्राह्म प्रकार का विवाह था, अर्थात् कन्या-पक्ष ने वर-पक्ष से कोई प्रतिदेय नहीं लिया था। दूसरे, विवाह सम्बन्धी सारे धार्मिक कृत्य कर लिये गये थे, अर्थात् उपरोक्त दोनों अनिवार्य कृतियाँ विधि समेत कर ली गयी थी, या रूढिविहित अन्य धार्मिक कृतियाँ कर ली गयी थीं।[३] याद रहे कि विवाह की वैधता और सन्तान की औरसता की पूर्व-धारणा बड़ी प्रबल होती है। यह धारणा इतना व्यापक प्रभाव रखती है कि यदि कोई स्त्री एक मर्द के साथ पत्नी का-सा आच-

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड २, अध्याय ९।
२. "चुन्नीलाल ब० सूर्यराम" (१९०९) ३३, बम्बई ४३३।
"वृन्दावन ब० चन्द्रा" (१८९६) १२, कलकत्ता १४०।
३. "कस्तूरी ब० चिरंजीव", ए० आई० आर० ६०, इलाहाबाद ४४६।
"मौजीलाल ब० चन्द्रवती" ३८, इण्डियन एपील्स १२२।
"अप्पी बाई ब० खेमजी कुवेरजी" (१९३६) ६०, बम्बई ४५५।
"इन्देरून ब० रामस्वामी" १३ मूर्स, इण्डियन एपील्स १४१।
"सीताबाई ब० विठाबाई", ए० आई० आर० १९५९. बम्बई ५०८।

रण करते तथा उसकी अधीनता स्वीकार करते हुए अधिक काल पर्यन्त रहती है, और वह उसकी सन्तान को अपनी अंगीकार करता चला जाता है, तो यह पूर्व-धारणा कर ली जाती है कि वे दोनों पति-पत्नी है और प्रतिपक्षी को यह साबित करना पड़ जाता है कि उन दोनों के मध्य विवाह हो ही नही सकता था।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दू ला मे अवयस्कों का विवाह निषिद्ध नही है। वरंच शास्त्राज्ञा तो यह है कि यौवनागम या रजोदर्शन होने के पहले कन्या का विवाह अवश्य कर डालना चाहिए। यथा—

प्राग् रजोदर्शनात् पत्नीं नेयात् गत्वा पतत्यधः।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ॥ (निर्णयसिन्धु)
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ (पराशर ७, ८)

अवयस्कों के विवाह जहाँ प्रचलित होते है वहाँ इसके नियम भी विकसित हो जाते है कि कन्या को **प्रदान करने के कौन से सम्बन्धी अधिकारी होंगे**। मिताक्षरा में ये पूर्वानुपर अभिभावक माने गये हैं—(१) पिता, (२) पितामह, (३) भ्राता, (४) प्रत्यासत्ति के क्रमानुसार अन्य कुटुम्बीजन, (५) माता। मिताक्षरा और दायभाग में किंचित् भेद है। दायभाग ने यह क्रम रखा है—पिता, पितामह, भ्राता व अन्य कुटुम्बी-जनों (१–४) के बाद (५) मातामह, (६) मातुल, (७) माता। माता की जब कन्यादान करने की बारी आती है, तब उसको इस कर्म के लिए कोई पुरुष प्रतिनिधि नियुक्त करना पड़ता है।[1] किन्तु इससे यह न समझिए कि माता को वर के चुनाव में कोई अधिकार नही होता। अपितु प्राकृतिक अभिभावक के नाते वर चुनने का प्राथमिक अधिकार उसी का है।[2] उपरोक्त सूची से यह प्रकट होता है कि मातृपक्ष के सम्बन्धियों का अधिकार तभी पैदा होता है जब पितृपक्ष वालों का या तो लोप हो गया हो, या वे अनर्हित हो गये हों, या उन्होंने विवाह का अभिभावक बनने से इन्कार कर दिया हो।[3]

विधवा के पुनर्विवाह के लिए भी क्या अभिभावक की सहमति आवश्यक होती है ? हिन्दू ला में विधवा-विवाह अनुज्ञात नहीं था। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने "हिन्दू

१. "बाई राम कुँअर ब० जमनादास" (१९१३) ३७, बम्बई १८।
२. "मुसम्मात जीवनी ब० मूलाराय" (१९२२) ३, लाहौर २९।
"रंगनायकी ब० रामानुज" (१९३२) ३५, मद्रास ७२८।
३. "कस्तूरी ब० पन्नालाल" (१९१६) ३८, इलाहाबाद ५२०।

विडोज रीमैरेज ऐक्ट" सन् १८५६ में पारित कराकर विधवा विवाह को वैध बनाया। उस अधिनियम की धारा ७ ने यह विहित किया है कि यदि विधवा अवयस्क और अस्पृष्ट हो, तब तो क्रमशः पिता, पितामह, माता, भ्राता या अन्य पुरुष सम्बन्धियों की अनुमति लिये बिना वह पुनर्विवाह नहीं कर सकती। यदि ऐसा कर ले और पति के साथ समागम न हो चुका हो, तब अदालत विवाह को अवैध घोषित कर सकती है। यदि विधवा वयस्क हो और समागम कर चुकी हो, तो उसको अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न होगा कि अभिभावक की अनुमति के अभाव का परिणाम क्या होता है? सिद्धान्त यह है कि विवाहार्थ अभिभावक बनना एक कर्तव्य है न कि अधिकार। अतः अभिभावक की अनुमति न प्राप्त करके विवाह कर लेने से किसी के हक का विनाश नही होता और इसलिए ऐसा विवाह अवैध नहीं माना जा सकता। नजीरी कानून की प्रस्थापना यह है कि यदि वैवाहिक क्रियाएँ विधिवत् कर ली गयी हों और विवाह अन्यथा निर्दोष हो, तो (क) विवाहार्थ अभिभावक की अनुमति का अभाव,[१] (ख) अभिभावक के सामने मिथ्या निरूपण या (ग) अदालती आदेश का उल्लंघन[२] विवाह को अवैध नहीं बना सकता। किन्तु बलप्रयोग और छल ऐसे कारण होते हैं जो विधिवत् संपादित विवाह को भी उत्सादित कर सकते हैं। यह तो ठीक है कि उपरोक्त (क) एवं (ग) ऐसे कारण नहीं होते जो सम्पादित विवाह का उत्सादन कर दें। किन्तु यदि विवाह संस्कार वस्तुतः न हो चुका हो तब? तब तो परिदेवित पक्ष या अभिभावक के हाथ में यह उपाय रहता है कि उपरोक्त कारणों के आधार पर विवाह रोकने के व्यादेश का दावा अदालत में दायर कर दे। जब विवाह संस्कार वस्तुतः हो चुकता है तब जीमूतवाहन द्वारा उपज्ञात अभिवचन "वचनशतेनापि वस्तुनोऽन्यथाकरणाशक्तेः" लागू हो जाता है। अर्थात् तथ्य को सैकड़ों वचन भी नहीं बदल सकते। याद रहे कि यह अभिवचन निदेशक नियमों पर लागू होता है, समाज्ञापक नियमों पर नहीं।

सपिण्ड-विवाह का निषेध

विवाह सम्बन्धी अन्य शास्त्रीय प्रतिबन्धों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है **अगम्य-वर्ग**।

१. **"गजानन्द ब० काउन"** (१९२१) २, लाहौर २८८।

"कस्तूरी ब चिरंजीव लाल" (१९१३) ३५, इलाहाबाद २६५।

२. **"के० सी० चक्रवर्ती ब० एम्परर"** (१९३७) २, कलकत्ता २ २१।

३. **"बाई दीवाली ब० मोती"** (१८९८) २२, बम्बई ५०९।

इसका आशय यह है कि प्रथा ने यदि अनुज्ञात नहीं कर रखा है, तो अगम्य वर्गीय वर-वधू का विवाह अवैध माना जायगा। किन्तु प्रथा को लोक-कल्याण-नीति के विरुद्ध नहीं होना चाहिए, यथा ससुर का अपनी विधवा पुत्र-वधू के साथ विवाह।[1] अगम्य वर्ग किसे कहते है ? इसमें थोड़ा-सा मतभेद मिताक्षरा और दायभाग के बीच है। पहले स्मृतिवचनों को देखें—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने॥ (३, ५)
सपिण्डा तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ (५, ६०)
अविप्लुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्व्विकां कान्तां असपिण्डां यवीयसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीम् असमानार्षगोत्रजाम्।
पंचमात् सप्तमाद् ऊर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥ (याज्ञ० १, ५२–५३)
आ सप्तमात् पंचमाच्च बन्धुभ्यः पितृमातृतः।
अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा॥ (नारद १२, ७)
सप्तमे पंचमे वापि येषां वैवाहिकी क्रिया।
ते च सन्तानिनः सर्व्वे पतिताः शूद्रतां गताः॥ (नारद; रघुनन्दन)

(मिताक्षरा में ऊपर वाली ३५ की पहली पंक्ति ऐसे उल्लिखित है—"असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या पितुः।")

यह सर्वविदित है कि संयुक्त कुटुम्ब हिन्दू समाज की साधारण दशा होती थी। कभी-कभी एक गाँव या मोहल्ला-टोला में एक ही पूर्वज के वंशज बस जाते थे। जहाँ कुटुम्बी जन इतने सान्निध्य में निवास करते हों वहाँ मेल-जोल, सुख-शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा युवतियों के कौमार्य व अक्षततामें पूर्ण विश्वास उपार्जित करने और नागरिक जीवन को पुनीत रखने के उपायों में ऋषियों ने सबसे अधिक प्रभावशाली इसको समझा कि निकटतम कुमार-कुमारियों के पारस्परिक योनि-सम्बन्ध का निषेध कर दें। भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अगम्य वर्ग की संख्या अलग-अलग विहित की है, किन्तु प्रायः सब ने मातृपक्ष की संख्या को पितृपक्ष से कम रखा है। यह भिन्नता निम्नोक्त सूची से स्पष्ट विदित होती है।[2]

१. "जगनाहरसिंह ब० साधूराम" (१९३४) १५, लाहौर ६८८
२. जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृ० १०५।

स्मृतिकार	पितृपक्ष	मातृपक्ष
मनु—	७ पीढ़ी	७ पीढ़ी
विष्णु—	७ पीढ़ी	५ पीढ़ी
याज्ञवल्क्य—	७ पीढ़ी	५ पीढ़ी
वसिष्ठ—	६ पीढी	४ पीढ़ी
नारद—	७ पीढ़ी	५ पीढ़ी
यजुर्वेद—	३ पीढ़ी	२ पीढ़ी
वेदवाक्य—	२ पीढ़ी	२ पीढ़ी
पैठीनसि—	७ पीढ़ी	५ पीढ़ी
पैठीनसि—	५ पीढ़ी	३ पीढ़ी

उपरोक्त "पैठीनसि" का उल्लेख रघुनन्दन रचित स्मृतितत्त्व में तथा मिताक्षरा में हुआ है:

कुमार-कुमारी के विवाह पर जो **अगम्य-वर्ग** वाला प्रतिबन्ध लगा है उसके नियम ये हैं—किसी कन्या का विवाह सपिण्ड वर के साथ नहीं हो सकता। विवाह कार्य तथा उत्तराधिकार दोनो विषयों में सपिण्डता का विचार किया जाता है। विवाह के सम्बन्ध में इसका क्या आशय है ? इस पर मिताक्षरा और दायभाग में मतभेद है। मिताक्षरा के अनुसार वर और वधू का समपूर्वज, पितृपक्ष में सात पीढ़ियों के ऊपर तथा मातृपक्ष में पाँच पीढ़ियों के ऊपर होना चाहिए, अन्यथा उनका विवाह अवैध माना जाता है।[1]

यह ज्ञातव्य है कि मातृपक्षीय सपिण्डों के बीच जो विवाह का उपरोक्त निषेध है वह दक्षिण भारत में प्रथा के प्रभाव से प्रायः विलुप्त हो गया है। उदाहरणार्थ, तैलंगों के यहाँ भाई और बहन की सन्तानों में विवाह हो जाता है और बौधायन (ईसा से ३००–६०० वर्ष पूर्व) ने भी ऐसे विवाहों को मान्यता दी है। रेड्डियों के यहाँ मामा-भानजी के विवाह प्रचलित हैं।

सपिण्ड के अर्थ के बारे में मिताक्षरा के मत का उल्लेख उत्तराधिकार वाले प्रकरण में हो चुका है। यदि सपिण्ड का शाब्दिक अर्थ लिया जाय, तो किसी भी कुमार का किसी कुमारी के साथ विवाह दुस्तर हो जायगा। इसी विचार से याज्ञवल्क्य ने यह घोषित कर दिया है—"यदि वधू माता से पाँच तथा पिता से सात पीढ़ी से अधिक दूरी पर हो तो वह विवाही जा सकती है।"

१. "रामचन्द्र ब० विनायक" (१९१४) ४१, इ० एपील्स २९०।

दायभाग में सपिण्ड का जो अर्थ लगाया गया है वह भी उक्त पूर्व प्रकरण में बतलाया गया है। उसी अर्थ का समनुरूपण करते हुए **दायभाग ने अगम्य-वर्ग** का निम्नोक्त आशय निकाला है—"(१) जो कन्या वर के पिता की अथवा पिता के छः पुरुष पूर्वजों की सन्तान हो तथा उनसे सात पीढ़ी से कम दूरी पर हो। (२) जो कन्या वर के मातामह की अथवा मातामह के चार पुरुष पूर्वजों की सन्तान हो तथा उनसे पाँच पीढ़ी से कम दूरी पर हो। (३) जो कन्या वर के तीन पितृ-बन्धुओ की अथवा उनके छः पूर्वजों में से किसी की सन्तान हो तथा उनसे सात पीढ़ी से कम दूरी पर हो। (पितृबन्धु की पूर्वोक्त परिभाषा यह है कि पिता की बुआ का पुत्र, पिता की मौसी का पुत्र, पिता के मामा का पुत्र।) (४) जो कन्या वर के तीन मातृ-बन्धुओं की अथवा उनके चार पूर्वजो में से किसी की सन्तान हो तथा उनसे पाँच पीढ़ी से कम दूरी पर हो। (मातृबन्धु की भी पूर्वोक्त परिभाषा यही है कि माता की बुआ का पुत्र, माता की मौसी का पुत्र, माता के मामा का पुत्र।) इन चार प्रवर्ग की कन्याओं से वर विवाह नहीं कर सकता है।"[1]

ज्ञातव्य है कि पीढ़ियों की संख्या निर्धारित करने में वर को तथा सम-पूर्वज (कामन ऐन्सेस्टर) को भी गिन लेना चाहिए। यह भी ज्ञातव्य है कि जिन लोगों के साथ विवाह के माध्यम से सम्बन्ध हुआ हो, उनकी सन्तान अगम्य वर्ग के अन्तर्गत नहीं आती।[2] उपरोक्त चार प्रवर्गों को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। यदि उक्त नियम दुरूह प्रतीत हों, तो मा० मुल्ला के हिन्दू ला, १२वें संस्करण के पृष्ठ ६१४ पर तथा डा० जी० सी० सरकार के हिन्दू ला, ८वें संस्करण के पृष्ठ १०७ पर छपा हुआ रेखाचित्र द्रष्टव्य है।

सगोत्र, सप्रवर नियम का विचार

विवाह में सपिण्डता के अतिरिक्त तथा उसी के तुल्य शास्त्रोक्त निषेध है सगोत्रता का एवं सप्रवरता का। अर्थात अपने ही गोत्र या प्रवर की कन्या के साथ विवाह करना शास्त्रानुसार वर्जित माना जाता है। यह निषेध शूद्रों को बद्ध नहीं करता, क्योंकि उनका कोई गोत्र नहीं होता है। ब्राह्मण वर्ण अपने आदि पूर्वज के गोत्रज कहलाते हैं, जो कोई विख्यात ऋषि होते थे। क्षत्रिय वर्ण तथा वैश्य वर्ण अपने ब्राह्मण गुरु के गोत्र को धारण करते हैं। वे दोनों वर्ण भी इस निषेध से आबद्ध माने जाते हैं। गोत्र-प्रवर्तक मुख्य ऋषि आठ है, यथा विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य (बौधायन श्रौतसूत्र)। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार गोत्र लाखों

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वां सं०), पृष्ठ ६१२।
२. "रामकृष्ण ब० सुवम्मा" (१९२०) ४३, मद्रास ८३०।

हैं किन्तु प्रवर केवल ४९ हैं। गोत्रों का विस्तृत वर्णन संस्कारकौस्तुभ (६३७–९२), संस्कारप्रकाश (५९१–६८०), स्मृत्यर्थसार (१४–१७), निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, बालम्भट्टी में देखना चाहिए। गोत्र से यह प्रतीत होता है कि अमुक व्यक्ति किस ऋषि की सन्तान है। पतंजलि का कथन है––"अस्सी हजार ऋषियों ने विवाह किया ही नहीं। अगस्त्य को लेकर आठ विवाहित ऋषियों से ही वंश-परम्परा चली। इन आठों के अपत्य गोत्र हैं। इनके अतिरिक्त 'गोत्रावयव' हैं।" शास्त्रोक्त गोत्रों की तरह यदि कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट गुण में पारंगत हो जाय, तो उसके वंशज उसी के नाम से पहचाने जायेंगे और पुकारे भी जायेंगे। इसको लौकिक गोत्र कहते हैं। यथा—

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वसिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः।
एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्वते ।। (रघुनन्दन)

गोत्र की तरह प्रवर भी ऋषियों का एक वर्गीकरण है। प्रत्येक गोत्र के सदस्य एक या दो या तीन या पाँच (चार कभी नहीं) गणों मे विभक्त होकर एक-एक प्रमुख ऋषि के नेतृत्व में रखे गये। उन नेतृत्वधारी ऋषियों की संज्ञा ही प्रवर हैं। प्रवर को कभी-कभी आर्षेय कहते है। अतः किसी गोत्र में एक, किसी में दो, किसी में तीन, किसी मे पाँच प्रवर मिलते है। यथा वसिष्ठ गोत्र में केवल एक प्रवर है वसिष्ठ। उसी तरह पराशर गोत्र के प्रवर है वसिष्ठ, शाक्त्य, पाराशर्य। वसिष्ठ प्रवर दोनों गोत्रों मे सम है। रघुनन्दन (१५२०–७५ ई०) ने माधवाचार्य के इस वचन को उद्धृत किया है—"प्रवरस्तु गोत्रप्रवर्तकस्य मुनेर्व्यावर्तको मुनिगणः।" अर्थात् प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियों को कहते हैं जिनके आश्रय से गोत्रप्रवर्तक ऋषि का अन्य ऋषियों से प्रभेद ज्ञात हो जाय।" उदाहरणार्थ, विश्वामित्र गोत्र में तीन प्रवर हैं–विश्वामित्र, मरीचि, कौशिक। इनमें विश्वामित्र गोत्र-प्रवर्तक हैं। कौन-सा विश्वामित्र गोत्र ? वह, जिसके प्रवर है मरीचि और कौशिक। सब लोगों का एक गोत्र होता है और कोई नियत प्रवर। धर्मशास्त्र ने **सप्रवर विवाह** को भी निषिद्ध किया है। अतः जो कन्या सगोत्र तो नही किन्तु सप्रवर है, या जो सप्रवर नहीं सगोत्र है, वह नहीं विवाही जा सकती। उदाहरणार्थ यास्कों, बाधूलों, मौनों, मौकों के गोत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी सब का प्रवर एक ही है यानी "भार्गव-वैतहव्य-सावेतस।" अतः इन गोत्रो में परस्पर विवाह निषिद्ध है।[1]

सारांश यह है कि दो व्यक्ति सगोत्र कहे जायेंगे जब वे दोनों अपनी वंशावली

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड २, अध्याय ९।

का अनुरेखण पुरुष पूर्वजों के माध्यम से उसी गोत्र-प्रवर्तक ऋषि से करते हों जिसके नाम से गोत्र प्रसिद्ध हुआ है। उस सम-पूर्वज से दोनों की दूरी चाहे जितनी लम्बी हो। दो व्यक्ति समान-प्रवर या सप्रवर कहे जायेंगे जब वे भिन्न-गोत्रज होते हुए भी एक ही प्रवर से सम्बन्धित हों। प्रवर उस प्रकृष्ट तेजस्वी पूर्वज की पदवी है जो अपने कुटुम्ब या गोत्र की मान-मर्यादा, ख्याति, गौरव को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दे।

सगोत्र व सप्रवर विवाह का निषेध अब एक ऐतिहासिक नियम बनकर रह गया है, क्योंकि सन् १९४६ मे इसके विरुद्ध "हिन्दू मैरेज डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट" पारित कर दिया गया है। उक्त अधिनियम ने यह विहित कर दिया है कि धर्मशास्त्र के वाक्य, नियम, निर्वचन के बावजूद और प्रचलित रीति या रिवाज के भी बावजूद, हिन्दुओं का कोई भी विवाह, जो अन्यथा वैध हो, मात्र इस कारण वश अवैध नहीं हो जायगा कि वर-कन्या सगोत्र या सप्रवर है, अथवा एक ही वर्ण या जाति के उपविभागों मे उत्पन्न हुए है।

सन् १९४६ वाले उपरोक्त अधिनियम ने तो जाति या वर्ण के उपविभागों के बीच होने वाले विवाह को विधिसगत बनाया था। सन् १९४९ वाला "हिन्दू मैरेजेज वैलिडिटी ऐक्ट" उससे एक कदम और आगे बढ़ गया है। इस दूसरे अधिनियम ने यह विहित कर दिया है कि उस प्रचलित कानून के बावजूद, धर्मशास्त्र के वाक्य, नियम, निर्वचन के बावजूद और प्रचलित रीति-रिवाज के भी बावजूद, हिन्दुओ का कोई विगत या होनेवाला विवाह, जो अन्यथा वैध हो, मात्र इस कारणवश अवैध नहीं माना जायगा कि वर-कन्या विभिन्न धर्मों, वर्णों, जातियों, उपजातियों या सम्प्रदायों के सदस्य थे। सन् १९४९ वाले इस अधिनियम म "विभिन्न धर्मों" का आशय यह न समझना चाहिए कि हिन्दू का ईसाई या यहूदी या मुसलिम के साथ विवाह हो सकता है। आशय यह है कि दोनों पक्ष यदि हिन्दू हों तो एक पक्ष के जैन मतावलम्बी, या सिक्ख मतावलम्बी होने से विवाह अवैध नही गिना जायगा। उसकी धारा (२) तथा धारा (३) की आरम्भिक पक्ति पढ़ने से यह सन्देह निवृत्त हो जाता है।

इसी प्रसग मे **अनुलोम व प्रतिलोम** विवाह के गुण, लक्षण व परिणाम को जान लेना चाहिए। ऊची जाति वाले वर के निम्न जाति वाली कन्या के साथ होने वाले विवाह की अनुलोम सज्ञा है। निम्न जाति वाले वर के उच्च जाति वाली कन्या के साथ वाले विवाह की सज्ञा प्रतिलोम होती है। महामहोपाध्याय डा० काणे का मत[1] है कि प्राचीन काल में अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों का प्रचलन था। इसके कई

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड २, अध्याय ९।

दृष्टान्तों का ऐतिहासिक आधार पर उन्होंने उल्लेख किया है। उनका कहना है कि ब्राह्मणों का विवाह शूद्र कन्याओं से भी होता था, यद्यपि ऐसे विवाहों की भर्त्सना की जाती थी। प्रायः दसवीं शताब्दी तक ऐसे विवाह होते रहे। कालान्तर में उनका प्रचार घटकर लुप्त हो गया। आज भी अनुलोम विवाह को कलकत्ता व बम्बई प्रान्तों में वैध माना जाता है, क्योंकि धर्मशास्त्र में उसका निषेध कहीं नहीं पाया जाता।[1] वरंच जैसा ऊपर कहा गया है, धर्मशास्त्र में ऐसे विवाह अनुज्ञात थे। यथा—बौधायन धर्म-सूत्र (१–८–२), मनु (२, १३), विष्णुधर्मसूत्र (२४, १–४), पारस्कर गृह्यसूत्र (१–४), वसिष्ठधर्म सूत्र (१, २५), याज्ञवल्क्य (१, ५७)।

प्रतिलोम विवाह निन्दित और दण्डनीय कहे गये हैं। अतः वे स्पष्ट रूप से तो नहीं किन्तु अन्तर्निहित रूप से वर्जित माने गये हैं। इसीलिए नजीरों ने उनको अवैध ठहराया है।[2] क्या १९४९ वाले "हिन्दू मैरेजेज वैलिडिटी ऐक्ट" ने प्रतिलोम विवाह को भी अनुज्ञप्त कर दिया है? अधिनियम की धारा तीन कहती है—"मात्र इस कारण वश यह अवैध नहीं माना जायगा कि वर-कन्या विभिन्न....जातियों..... के थे।" अतः इस अधिनियम ने असवर्ण विवाह को अर्थात् अन्तर्जातीय विवाह को तो स्पष्टतया अधिकृत कर दिया, किन्तु प्रतिलोम विवाह के विरोध में अन्तर्निहित इस दूसरी आपत्ति का निराकरण नहीं किया है कि वर की जाति से वधू की जाति उच्च-तर है। इसलिए प्रतिलोम विवाह की वैधता में असमजस लगता है। अनुलोम विवाह के विषय में तो ऐसी आपत्ति थी नहीं। इसलिए उक्त अधिनियम ने इलाहाबाद व मद्रास हाई कोर्टों का यह मत[3] निरस्त कर दिया है कि अनुलोम विवाह भी अवैध होता है।

बहु-विवाह, अदालती विवाह और पुनर्विवाह

विवाह के ऊपर संख्या का प्रतिबन्ध धर्मशास्त्र ने केवल नारी के लिए विहित

१. "बाई गुलाब ब० जीवनलाल" (१९२२) ४६, बम्बई ८७१।
"नलिनाक्ष ब० रजनी" (१९३१) ५८, कलकत्ता १३९२।
"मखन कटनी ब० थानेश्वर" (१९५६) असम ११।
२. "लक्ष्मी ब० कल्यानसिंह" (१९००) २, बम्बई ला रि० १२८।
"बाई काशी ब० जमनादास" (१९१२) १४, बम्बई ला रि० ५४७।
"मुन्नीलाल ब० श्यामा" (१९२६) ४८, इलाहाबाद ६७०।
३. "पदुम कु० ब० सूर्य कु०" (१९०६) २८, इलाहाबाद ४५८।
"सुब्बा रमैया ब० एस० वेंकट सुवम्मा" (१९४१), मद्रास ९८९।

किया है, पुरुष के लिए नहीं। नारी दूसरा पति नहीं वर सकती जब तक उसका एक पति जीवित हो। यदि पहले पति के साथ तलाक हो जाय तब दूसरी बात है। तलाक के विषय में आगे चलकर बताया जायगा। हिन्दू पुरुष को बहु-विवाह वर्जित नहीं है। वह चाहे जितने विवाह कर सकता था। इस असीम अधिकार के दुष्प्रयोग और कुपरिणामों को देखकर बम्बई प्रान्त ने १९४६ ई० में "बाम्बे प्रिवेन्शन आव हिन्दू बाइगेमस मैरेज ऐक्ट" पारित कर दिया। वैसे ही मद्रास प्रान्त ने सन १९४९ में "मद्रास हिन्दू (बाइगेमी प्रिवेन्शन ऐण्ड डाइवोर्स) ऐक्ट" पारित कर दिया। दोनों अधिनियमों के विरुद्ध अवैधानिकता का आक्षेप लगाकर घोषणात्मक दावे दायर हुए और खारिज कर दिये गये।[1] सन् १९५५ में "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" पारित हो गया और वह कश्मीर व जम्मू को छोड़कर सारे भारत में लागू है। उसमें सुधार वाले सभी उपरोक्त नियमों को समाविष्ट कर लिया गया है। अब कोई भी हिन्दू पुरुष विशेष दशाओं के अभाव में एक पत्नी के जीते-जी दूसरा विवाह नहीं कर सकता।

लगभग सौ वर्ष हुए, हिन्दू धर्मशास्त्र के विहित किये हुए विधानों व प्रतिबन्धों के विपरीत हिन्दू समाज के एक समूह में ऐसी प्रतिक्रिया उपजी की उसने संशोधन के लिए आन्दोलन शुरू कर दिया। उसके फलस्वरूप सन् १८७२ ई० में "स्पेशल मैरेज ऐक्ट" पारित हुआ, जिसका सन् १९२३ ई० में "स्पेशल मैरेज (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" द्वारा संशोधन किया गया। इस कानून ने यह विहित किया कि हिन्दू और बौद्ध, जैन, सिक्ख धर्मावलम्बी यदि चाहें तो बिना धार्मिक क्रियाओं को किये रजिस्ट्रार के सामने जाकर अपना विवाह सम्पादित कर सकते हैं। उसमें यह भी विहित हुआ कि (क) ऐसा विवाह करके कोई व्यक्ति संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य नहीं रहेगा, वरंच वह विवाह की मिति से पृथक् समझा जायगा। (ख) सम्पदा के उत्तराधिकार के विषय में उसके अधिकार तथा असमर्थताएँ वैसी ही होंगी जैसी "कास्ट डिसएबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट सन् १८५०" में विहित हैं। अर्थात् वह अपने उत्तराधिकार के हक से वंचित नहीं किया जा सकेगा। (ग) ऐसे व्यक्ति की अथवा उसकी सन्तति की सम्पदा का उत्तराधिकार हिन्दू ला से नहीं किन्तु सन् १९२५ वाले "इडियन सक्सेशन ऐक्ट" से विनियमित होगा। (घ) ऐसे व्यक्ति को गोद लेने का हक नहीं होगा, किन्तु उसके पिता को अधिकार है कि अपनी धर्मानुकूल पद्धति के अनुसार किसी को गोद बैठाल ले। उक्त अधिनियम का निरसन "स्पेशल मैरेज ऐक्ट १९५४" ने कर दिया है। इस अधिनियम के अनुसार कोई भी दो स्त्री-पुरुष विवाह सम्बन्ध कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति की या

१. "स्टेट ब० नर्सू अप्पा" (१९५१), बम्बई ७७५।
"ऐस० ऐयर ब० ऐस० अम्मल" (१९५३), मद्रास ७८।

उसकी सन्तति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" से नहीं, किन्तु "इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट" से विनियमित होता है।

विवाह विच्छेद या तलाक

ऊपर कहा गया है कि यदि पहले पति के साथ तलाक हो जाय, तब हिन्दू नारी को दूसरे पुरुष से विवाह करने का हक हो जाता है, अन्यथा एक पति के जीवन काल में दूसरा विवाह वर्जित है। अब तलाक के ऊपर चिन्तन किया जायगा। धर्मशास्त्र में तलाक अश्रुत-अज्ञात विषय है। जहाँ विवाह ऐसा पुनीत और महान् संस्कार माना जाता है कि उससे दो आत्माओं का एकीकरण और दो व्यक्तित्वों का अन्योन्य विलयन हो जाता है, वहाँ तलाक का प्रश्न उठता ही नही। किन्तु जातीय अथवा स्थानीय रीति उस क्रिया को अनुज्ञात भी कर सकती है।[1] धर्मशास्त्र में कहीं पर अन्य-धर्मावलम्बी के साथ विवाह करने का निषेध नहीं मिलता। यह वचन कहीं नहीं मिलता कि ऐसे विवाह को मान्यता न मिले जिसमें वर-वधू के धर्म भिन्न हों।[2] न तो धर्म का परिवर्तन, न जातिच्युतता, न व्यभिचार, न गणिकावृत्ति का धारण और न पति-त्याग विवाह का विच्छेद कर सकते है; यानी धर्मशास्त्र विवाह सम्बन्ध को अकाट्य तथा असमाप्य मानता है।[3]

धर्मशास्त्र मे तो तलाक का उल्लेख नही है, किन्तु सन् १८६६ वाले "नेटिव कन्वर्ट्स मैरेज डिजोल्यूशन ऐक्ट" ने ईसाइयों के लिए विवाह के विच्छेद को अनुज्ञात कर दिया और यह विहित कर दिया कि यदि ईसाई हो जाने के कारण पति-पत्नी में से कोई दूसरे का परित्याग या विवाह अमान्य घोषित कर दे, तो वह ईसाई पति या पत्नी विवाह विच्छेद की डिग्री प्राप्त करके उसी तरह पुनर्विवाह कर सकता है, मानो पति या पत्नी की मृत्यु हो गयी हो। इसी तरह किसी-किसी जाति मे एक दूसरे की सम्मति से, या बिना सम्मति के भी, तलाक या छुड़ौती की रीति प्रचलित पायी जाती है। किन्तु हाई कोर्टो में इस बात पर मतभेद है कि ऐसी रीति दुराचार या लोकनीति

१. "शंकरलिंग ब० सुब्बन" (१८९४) १७, मद्रास ४७९।
२. "सी० दुबे ब० दुबे" (१९५१) २, इलाहाबाद ४३९।
३. "बनारसीदास ब० सुमतप्रसाद" (१९३६) ५८, इलाहाबाद १०१९।
"गुल मु० ब० किंग एम्परर" (१९४७) नागपुर २०५।
"जी० के० कसंवन ब० मु० जग्गो" (१९३६) ६३, इ० ए० २९५।
"पक्कियम ब० सी० पिल्ले" (१९२३) ४६, मद्रास ८३९।
"गोवर्धन ब० जसोदामणि" (१८९१) १८, कलकत्ता २५२।

के आधार पर प्रवर्तनीय है या नहीं।[1] सन १९५५ के "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" ने निर्धारित दशाओं में तलाक के हक को वैध विहित कर दिया है।

नारी की अभिभावकता के विषय में धर्मशास्त्र के ये वाक्य हैं—

रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः॥ (याज्ञवल्क्य १, ८५)
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥ (मनु० ९, ३)

अवयस्क हो या वयस्क, पत्नी का अभिभावक पति ही होता है। उसको यह आग्रह करने का हक होता है कि पत्नी उसके साथ रहे। विधवावस्था में अभिभावकता का हक व कर्तव्य पति के कुटुम्बियों पर पहले अवतरित होता है, उनके बाद पीहर वालों पर।[2] अभिभावकता से मिलता-जुलता अधिकार होता है **दाम्पत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन** अर्थात् पति या पत्नी एक दूसरे पर सहवास का दावा दायर कर सकते हैं। पति के दावे में पत्नी यह अभिकथन सफलता पूर्वक नहीं कर सकती है कि (क) उसने दूसरा विवाह कर लिया है, या (ख) वह व्यभिचारी है, या (ग) मैं अवयस्क हूँ। किन्तु यदि यह प्रमाणित हो जाय कि (क) पति घृणित रोग, यथा कुष्ठ या गर्मी से ग्रस्त है, (ख) घर ही के भीतर रखेली स्त्री को रखे है, (ग) पति का व्यवहार इतना क्रूर और कटु है कि पत्नी की जान का जोखिम है, (घ) पति ईसाई या मुसलमान हो गया है, (च) या अकारण उसकी उपेक्षा करता है, तो दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के दावे को अदालत खारिज कर सकती है।

नारियों की दशा की उन्नति करने तथा उनके हकों का विकास करने के निमित्त समय-समय पर जो अधिनियम पारित हुए है, उनमें से एक है—"हिन्दू मैरीड विमेन्स राइट टु सिपरेट रेजीडेन्स ऐण्ड मेंटीनेन्स ऐक्ट" जो १९४६ में पारित हुआ था। उसने

१. "नारायण ब० लवंग" (१८७८) २, बम्बई १४०।
"खेमकर ब० उमाशंकर" (१८७८) १०, बम्बई एच० सी० ३८१।
"शंकरलिंगम ब० सुब्बन" (१८९४) १७, मद्रास ४७९।
"शिव लिंग्या ब० चौदम्मा" (१९५६) मैसूर १७।
"जीव मगन ब० बाई जेठी" (१९४१) बम्बई ५३५।
"केशव ब० बाई गंडी" (१९१५) ३९, बम्बई ५३८।
२. "खुदीराम ब० बनवारीलाल" (१८८९) १६, कलकत्ता ५८४।

यह विहित कर दिया कि सौत की विद्यमानता पत्नी को पृथक् निवास तथा भरण-पोषण की माँग करने का हक प्रदान करती है। इस हक का सर्जन करने वाले अन्य हेतु ये है (क)—ऐसे घृणित रोग से ग्रस्त होना जो पत्नी के ही सम्पर्क से जनित न हो, (ख) हद दर्जे की निर्दयता, (ग) पत्नी का बिना उसकी अनुमति के परित्याग, (घ) हिन्दू धर्म त्याग, (च) रखेली के साथ वास, (छ) अन्य न्यायसंगत आधार। किन्तु यदि पत्नी स्वतः व्यभिचारिन हो तो उपरोक्त हक खो बैठती है। हिन्दू धर्म-त्याग तथा दाम्पत्याधिकारों के प्रस्थापन वाली वैध आज्ञप्ति (डिग्री) की अकारण वंचना भी उपरोक्त हक को मिटा देती है।

इसी विषय से सम्बन्धित प्रश्न है **विवाह के खर्च** का। धर्मशास्त्र में शरीर और आत्मा को परिमार्जित करने वाले संस्कारों में विवाह का प्रमुख स्थान है। पुरुष के लिए जो महिमा यज्ञोपवीत या उपनयन सस्कार की है, वही नारी के लिए विवाह की मानी गयी है। इसलिए पुत्र व पुत्री दोनों के विवाह पिता के अलंघनीय कर्तव्यों में हैं। ज्ञातव्य है कि पितृ-ऋण से उऋण होने का उपाय सन्तानोत्पादन माना गया है। इसलिए भी ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना एक मानवधर्म गिना जाता है। पिता का कर्तव्य है कि इस धर्म का पालन करने में अपनी सन्तान की सहायता करे। यथा "पुत्रानुत्पाद्य सस्कृत्य वृत्तिं चैषां प्रकल्पयेत्।" पुत्र-पुत्री का विवाह करना नैतिक नहीं वैध कर्तव्य होता है।[1] यह धारणा अशुद्ध लगती है कि उनके विवाह कर्म नैतिक कर्तव्य मात्र होते है।[2] शुद्ध मत यह है कि पुत्र-पुत्रियों के, यहाँ तक कि दाय-प्राप्ति से अपवर्जित सदस्य की सन्तान के विवाहादि संस्कारों का तथा भरण-पोषण का उचित व्यय संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा के जिम्मे जरूरी भार समझा जाता है।[3] द्विरागमन भी विवाह का अंग माना जाता है, अतः उसका व्यय भी संयुक्त कुटुम्ब की सम्पदा पर बाध्यकारी होता है।[4]

बटवारे वाले प्रकरण (११) में उपरोक्त विषय के ऊपर भी विचार किया गया

१. **"सुबैया ब० अनन्त" ५३, मद्रास ८४।**
२. **"सुन्दरी अम्मल ब० एस० ऐयर" २६, मद्रास ५०५।**
३. **"वैकुंठ ब० कलप्पीराम" २३, मद्रास ५१२।**
"रंगनायकी ब० रामानुज" ३५, मद्रास ७२८।
"शिवगोविन्द ब० राम" ८, लखनऊ १८२।
४. **"बजरंगी ब० पदारथ" (१९३०) इलाहाबाद ५०४।**

था। बटवारे के लिए सम्पत्ति विनिश्चित करते समय किस-किस के विवाह के व्यय का पूर्व-प्रबन्ध कर देना जरूरी होता है, बटवारे का दावा दायर हो जाने के बाद किस-किस कन्या के विवाह का व्यय विभाज्य सम्पत्ति पर आवश्यक भार हो सकता है, इत्यादि समस्याओं पर उसी प्रकरण मे प्रकाश डालने का प्रयास किया जा चुका है।

विवाह का प्रयोजन और पुत्रों के भेद

विवाह की महिमा इतनी अधिक इसलिए मानी गयी थी कि एक तो वह समाज में शान्ति, व्यवस्था और सदाचार बनाये रखने का बड़ा प्रभावशाली साधन है। दूसरे विवाह पुत्र-कामना से प्रेरित होकर किया जाता था और पुत्र की कामना के दो अभिप्राय होते थे; एक लौकिक, दूसरा पारलौकिक। लौकिक अभिप्राय यह है कि पुत्र नाम चलायेगा, घर-द्वार सभालेगा और बुढ़ापे का सहारा होगा। पारलौकिक यह कि उसके जन्म मात्र से पिता अपने पितृ-ऋण से उऋण हो जायगा तथा गया-यात्रा, तर्पण-श्राद्धादि कर्मों द्वारा पुत्र अपने पूर्वजों की आत्मा को आध्यात्मिक प्रलाभ पहुँचायेगा। यथा—

पुदिति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः।
पुदः त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥ (शंख-लिखित)
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण बध्नात्येव त्रिविष्टपम्। (मनु ९, १३७)
कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकापातभीरवः।
गयां यास्यति यः कश्चित्सोऽस्मान्संतारयिष्यति ॥
करिष्यति वृषोत्सर्गमिष्टापूर्तं तथैव च।
पालयिष्यति वृद्धत्वे श्राद्धं दास्यति चान्वहम् ॥ (बृहस्पति)
पितॄणां सूनुभिर्जातैर्दानैर्नैवाधमादृणात्।
विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान् ॥ (कात्यायन)

पुत्र दस अथवा बारह प्रकार के कहे गये हैं। उनमें मुख्य हैं औरस या स्वयंजात तथा दत्तक। औरस न हो तो पुरुष या उसकी विधवा गोद लेकर लौकिक परित्राण तथा पारलौकिक संतारण प्राप्त करे। पुत्र की इतनी असीम आवश्यकता मानी गयी है। दत्तक ग्रहण या पुत्रीकरण आगे के प्रकरण का विषय होगा। यहाँ पर पुत्रों के प्रकार जान लेने चाहिए—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ।।
गहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ।।
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
दद्यान् माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ।।
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात् स्वयंकृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः ।।
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ।
पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्व्वाभावे परः परः ।। (याज्ञ० २, १२८–३२)
पुत्रान् द्वादश यान् आह नृणां स्वायम्भुवो मनुः ।
तेषां षड् ड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ।।
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ।।
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयन्दत्तश्च शौद्रश्च षड् अदायादबान्धवाः ।। (मनु ९, १५८–६०)

अर्थात्, (१) **औरस** जिसको पिता अपनी पत्नी से उत्पन्न करे।

(२) **क्षेत्रज** या द्व्यामुष्यायण को पति की अनुमति से अन्य पुरुष पत्नी से उत्पन्न करता था। ऐसे समागम को **नियोग** कहते थे। क्षेत्रज के दो गोत्र होते थे और वह दोनों पिताओं के गोत्र को धारण करता और दोनों का उत्तराधिकारी माना जाता था। यथा "द्विपितुः पिण्डदानं स्यात् पिण्डे-पिण्डे च नामनी। त्रयश्च पिण्डाः षण्णां स्युरेवं कुर्वन्न मुह्यति ।। स एष द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति।" (बौधायन धर्मसूत्र २–२–२१, २२, २३)।

(३) **गूढ़ज** जिसको पति के बिना बताये, पत्नी अन्य पुरुष के गर्भ द्वारा उत्पन्न करती है।

(४) **कानीन** जिसको कुमारी अवस्था में नारी उत्पन्न करे। ऐसा पुत्र उस पुरुष का पुत्र माना जाता है जिसके संग वह नारी बाद में विवाह कर ले। इसके उदाहरण हैं कर्ण तथा वेदव्यास।

(५) **पुत्रिका-पुत्र** उस पुत्री के पुत्र को कहते हैं जिसका विवाह इस शर्त के साथ किया गया हो कि उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र को पुत्री का पिता अपना वंश चलाने के निमित्त ले लेगा।

(६) **सहोढज** वह पुत्र है जो वधू के गर्भ में विवाह के पहले आ चुका हो और बाद में जन्मा हो।

(७) **पौनर्भव** विधवा के गर्भ मे पुनर्विवाह के अनन्तर पैदा होने वाले पुत्र को कहते हैं।

ये सात प्रकार के पुत्र गर्भ सम्बन्ध से होते हैं। धर्मशास्त्र या कानून के प्रवर्तन से पुरुष इनका पिता बन जाता है। इनके अतिरिक्त दत्तक पुत्र की पाँच प्रजातियाँ ये हैं—

(८) **दत्तक** जो विधिपूर्वक गोद दिया और लिया जाता है। इसका विवेचन अगले प्रकरण में होगा।

(९) **क्रीत** जो अपने माता-पिता द्वारा मूल्य लेकर गोद दिया अर्थात् बेच डाला जाता है।

(१०) **कृत्रिम** वह दत्तक पुत्र है जो अनाथ होने के कारण सम्पत्ति के लोभ से दूसरे का पुत्र स्वेच्छा से बन जाता है।

(११) **स्वयंदत्त** भी कृत्रिम के तुल्य अनाथ होता है। भेद यह है कि कृत्रिम में पिता या दत्तक-ग्रहीता गोद लेने का प्रस्ताव करता है और स्वयदत्त में दत्तक स्वयमेव गोद बैठने का प्रस्ताव करता है।

(१२) **अपविद्ध** अपने प्राकृतिक माता-पिता से परित्यक्त, मारा-मारा फिरता हुआ किसी दयावान् द्वारा गोद ले लिया जाता है।

स्मृतिकारों ने उपरोक्त प्रकारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। औरस तथा पुत्रिकापुत्र सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। दत्तक की पाँच प्रजातियाँ मध्यम श्रेणी में रखी गयी है। बाकी पाँच प्रकार के पुत्र निम्न श्रेणी में रखे गये हैं और निकृष्ट माने गये हैं।[1]

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ६४३–५३।

प्रकरण १५

दत्तक-ग्रहण या पुत्रीकरण

पुत्रीकरण ऐसा विषय है जिस पर भारत में अत्यधिक मुकदमेबाजी चली है। स्मृतियों तथा उनकी टीकाओं, व्याख्याओं में और मिताक्षरा मे जो इस विषय का विवेचन उपलब्ध है वह सरल और सुगमता से बोधगम्य है। किन्तु अंग्रेजी शासन के आरम्भ ही में उच्चतम अदालतों के हाथ काशी के नन्द पडित-प्रणीत 'दत्तकमीमांसा' का अंग्रेजी अनुवाद लग गया था, जिस पर वे इतनी मोहित हो गयीं कि उसको प्राधिकारपूर्ण मान बैठीं। यह ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य या परार्ध में रचा गया था। नन्द पडित संस्कृत के विद्वान् तो थे किन्तु विधिविज्ञ नहीं थे, अतः उन्होंने स्मृति आदि के मनमाने अर्थ किये और उनसे निष्कर्ष निकाल कर अड़चनें, झझट, जटिलताएँ एक सरल ऋजु विषय के अन्दर पैदा कर दी। इस ग्रन्थ का मूल्यांकन करके इलाहाबाद हाई कोर्ट की फुल बेंच ने दत्तकमीमांसा के प्रतिकूल मत प्रकट किया,[1] किन्तु प्रिवी कौसिल ने उस मत को इस आधार पर पलट दिया कि ८० या ९० वर्ष से जिस व्यापक भ्रम को अदालतें शुद्ध मानती चली आयीं वह अटल कानून वन चुका है और उसको अब अनिर्णीत प्रश्न मानना असम्भव हो गया है।[2] फलतः दत्तकग्रहण के मामलों में दत्तकमीमांसा की धाक मिथिला, बम्बई, बनारस की उपशाखाओं में आज तक बंधी हुई है। उसी तरह बंगाल व मद्रास की उपशाखाओं में देवानन्द भट्ट कृत 'दत्तकचन्द्रिका' का बोलबाला है। देवानन्द कृत दत्तकचन्द्रिका को श्री गोलापचन्द्र सरकार ने जाली ग्रन्थ ठहराया है और उन्होंने अपने मत के आधार भी सविस्तर बताये है।[3] उनका कहना है कि ये दोनों ग्रन्थ खास मुकदमों में अदालतों को पथभ्रष्ट करने और छलने के अभिप्राय से रचे गये थे और कुछ विशेष दत्तक-ग्रहणों का समर्थन करना ही इन ग्रन्थों का ध्येय था।

गोद लेने के प्रयोजन दो होते है; एक लौकिक, दूसरा पारलौकिक। पुत्र साधन होता है स्वर्गारोहण का, प्रेत-क्रियाओं का, श्राद्ध-तर्पणादि का, वंश तथा नाम चलाने

१. "भगवान्सिंह ब० भगवान्सिंह" १७, इलाहाबाद २९४।
२. "भगवान्सिंह ब० भगवान्सिंह" २६, इण्डियन एपील्स १५३।
३. जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ १५१–१५५।

का। पारलौकिक प्रयोजनों मे से अधिकाश तो अन्य कुटुम्बियों के द्वारा भी सम्पादित किये जा सकते है, जैसे भतीजे द्वारा, किन्तु लौकिक प्रयोजनों का साधन मात्र पुत्र ही हो सकता है, चाहे वह औरस हो चाहे दत्तक।[1] अपने पुत्र या पुत्री को लौकिक तथा पारलौकिक प्रयोजनो के लिए दत्तक-होम या कन्या-दान की क्रिया से दूसरे को समर्पित कर देना परोपकारी, पारमार्थिक व कल्याणकारी कर्म माना जाता है।[2] यह विषय निम्नोक्त छः प्रधान अगों मे अध्यनीय है—(१) पुत्रीकरण का प्रयोजन, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, (२) कौन लोग दत्तक ग्रहण कर सकते हैं, (३) कौन लोग दत्तक-ग्रहण के पात्र बन सकते है, (४) कौन लोग दत्तक को प्रदान कर सकते हैं, (५) पुत्रीकरण की आवश्यक कृतियाँ और अनुष्ठान क्या होते हैं, (६) दत्तक ग्रहण के क्या परिणाम होते है।

प्रत्येक अग पर अलग-अलग विचार करने के पूर्व पाँच बातें जान लेनी चाहिए—एक तो यह कि पुत्रीकरण हिन्दुओं की प्राचीन परिपाटी है जिसका उल्लेख धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में मिलता है, जैसे वसिष्ठधर्मसूत्र, जिसका समय है ईसा के ६०० से ३०० वर्ष पूर्व। दूसरे, यह प्रणाली मुसलमानों और पारसियों में नही प्रचलित हैं। तीसरे, हिन्दू समाज में भी कुछ ऐसे वर्ग या कुटुम्ब है जिनमें रिवाज ने पुत्रीकरण को निषिद्ध कर रखा है। यदि ऐसा रिवाज प्रमाणित हो जाय तो वह हिन्दू ला के पुत्रीकरण को अभिभूत (निरस्त) कर देगा। अदालत ऐसे रिवाज का ही प्रवर्तन करेगी, न कि हिन्दू ला का। चौथे, पाँच भाँति के दत्तक पुत्रों में से आजकल दो ही प्रचलित रह गये है—कृत्रिम व दत्तक। कृत्रिम प्रकार का पुत्रीकरण मिथिला तथा उसके आसपास के क्षेत्र में पाया जाता है। अन्य स्थलों में दत्तक का ही प्रचार है। पाँचवें, सन् १९५६ में पारित होने वाले "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्डीनेन्स ऐक्ट" ने हिन्दू ला के पुत्रीकरण सम्बन्धी नियमों में सारवान् एवं महत्वपूर्ण हेर-फेर कर दिया है। इस अधिनियम के पारित होने के अनन्तर जो पुत्रीकरण सम्पादित होंगे, वे तभी वैध माने जायेंगे जब वे अधिनियम-विहित नियमों का समनुरूपण करेंगे। उसके पूर्व जो पुत्रीकरण हो चुके हों उनके ऊपर इस अधिनियम का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(२) **कौन लोग दत्तक ग्रहण कर सकते हैं?** साधारण नियम यह है कि हर-

१. "हुकुमतेज प्रतापसिंह ब० कलेक्टर एटा" (१९५२) १, इलाहाबाद ६०।
"बाल गंगाधर तिलक ब० श्रीनिवास" (१९१५) ४२, इ० ए० १३५।

२. "सीताराम ब० हरिहर" (१९११) ३५, बम्बई १६९।

एक पुरुष को गोद लेने की क्षमता होती है; और सिवा उसकी पत्नी या विधवा के किसी भी नारी को यह क्षमता नही होती। पत्नी और विधवा का गोद लेने वाला हक जटिल और उलझा हुआ विषय है। उसका चिन्तन सविस्तर आगे किया जायगा। यहाँ पर पुरुष के हक पर जो प्रतिबन्ध लगे हैं उनका निर्देश किया जाता है। एक तो, पुरुष स्वतः गोद ले सकता है, किन्तु वह इस कार्य के लिए सिवा अपनी पत्नी के किसी भी अन्य को प्रत्यायुक्त नही बना सकता। दूसरे, यदि उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र जीवित हों तो वह गोद नहीं ले सकता। तीसरे, यदि उसका एक दत्तक पुत्र जीवित हो, तो वह दूसरे को गोद नहीं बैठा सकता। चौथे, चाहे वह वयस्क हो या अवयस्क, उसका मस्तिष्क स्वस्थ होना चाहिए और उसको सत-असत् का विवेक होना चाहिए।[1] पाँचवें, यदि वह "कोर्ट आव वार्ड्स" की संरक्षा में हो तो पहले उसे "कोर्ट आव वार्ड्स" की अनुमति ले लेनी चाहिए।

यहाँ पर उपरोक्त दूसरे प्रतिबन्ध के विषय में एक शंका उठती है। यदि पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र जीवित होते हुए भी उत्तराधिकार के अयोग्य हों, तो क्या पिता गोद ले सकता है? बम्बई हाई कोर्ट का उत्तर नास्तिवाची है, अर्थात् वह तब भी गोद लेने के हक से वंचित रहेगा।[2] मद्रास हाई कोर्ट का मत इसके विपरीत है, यानी यह कि अनर्हता की विद्यमानता पिता को पुत्रीकरण का अधिकार प्रदान कर देती है,[3] बशर्ते कि १९२८ वाले "हिन्दू इन्हेरिटेन्स (रिमूवल आव डिसेबिलिटीज) ऐक्ट" के पारित हो जाने के बाद मूढता व विक्षिप्तता, जो अनर्हता का हेतु हैं, जन्मजात हों। उचित तो यह मालूम पड़ता है कि १९२८ वाले उपरोक्त अधिनियम की क्रियाशीलता उत्तराधिकार वाले मामलों तक ही सीमित रखी जाय और पुत्रीकरण वाले मामलों पर लागू न की जाय। क्योंकि वह पूर्वोक्त मामलों को ही नियमित करने के लिए पारित हुआ था। वैसे देखने में बम्बई हाई कोर्ट का मत संकीर्ण और स्थूल प्रतीत होता है।

ज्ञातव्य है कि पुरातन काल मे द्वयामुष्यायण प्रकार के पुत्रीकरण का भी प्रचलन था जो अब उठ गया है। उसको अपूर्ण दत्तक या आंशिक दत्तक ग्रहण कहते थे। जो प्रकार अब प्रचलित है उसको पूर्ण या अखण्ड कहते हैं। प्रथम कोटि में दो पुरुष एक

१. "शेषम्मा ब० पद्मनाथ राव" (१९१७) ४०, मद्रास ६६९।
"बालकृष्ण ब० मुरलीधर" (१९४२), बम्बई ७८२।
"जमनादासी ब० वामा सुन्दरी" ३, इण्डियन एपील्स ७२।
२. "मरमप्पा ब० उज्जंगौडा" (१९२२) ४६, बम्बई ४५५।
३. "नगम्मल ब० संकरप्पा" (१९३१) ५४, मद्रास ५७६।

ही बालक को गोद ले सकते थे,[1] किन्तु द्वितीय कोटि में एक ही पुरुष एक बालक को गोद बैठा सकता है।[2] यदि कोई पुरुष दो विधवाएं छोड़े, तो दोनों मिलकर एक ही बालक को गोद बैठा सकती है, यद्यपि कानून इसको ज्येष्ठ विधवा की ही कृति मानेगा।[3] यह भी ज्ञातव्य है कि (क) पुरुष का कुमारपन या विधुरपन, (ख) उसकी पत्नी की असहमति, (ग) पत्नी की गर्भावस्था; ये बाधक परिस्थितियाँ नही गिनी जाती और (घ) न ऐसे औरस पुत्र की विद्यमानता, जो अधर्मी हो जाने के फलस्वरूप श्राद्ध-तर्पण का अधिकारी नहीं रह गया है।[4] (च) पुरुष की जन्मजात अन्धता, (छ) उसका सामान्य कुष्ठरोग और (ज) जारज पुत्र की विद्यमानता भी बाधक परिस्थितियाँ नहीं है।[5] याद रखिए कि नारी सधवा हो या विधवा, उसको स्वतः अपने निमित्त गोद लेने का अधिकार नही होता। वह पति के निमित्त ही[6] गोद ले सकती है।

सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मे० ऐक्ट" के पारित होने के पहले पारितोषिक, उपहार या प्रतिदेय के बदले में गोद देना या गोद देने की संविदा करना अवैध या दण्डनीय नही माना जाता था। उपरोक्त अधिनियम ने प्रतिदेय लेना और लेने का इकरार करना भी एक जुर्म की तरह दण्डनीय बना दिया है। परन्तु ऐसे जुर्म का अभियोग बिना राज्य-सरकार की अनुमति प्राप्त किये नही चलाया जा सकता है। देखिए अधिनियम की धारा १७।

पुत्रीकरण द्वि-क्रियात्मक कार्य होता है, पुत्र का देना व लेना। देने वाला व्यक्ति लेने वाले व्यक्ति से पृथक् और स्वतत्र होना चाहिए, अतः अभिभावक स्वतः अपने

१. "वासप्पा ब० गुलिंगव" (१९३३) ५७, बम्बई ७४।
"कटवा ब० संगन गौडा," ए० आई० आर० १९४२, बम्बई १४३।
२. "एन० कस्तूरी ब० पोनम्मल", ए० आई० आर० १९६१, सु० कोर्ट १३०२।
३. "टी० रतनम ब० बुचैया" (१९२७) ५२, मद्रास ३७३।
४. "दुर्गादास ब० संतोष" (१९४५) १, कलकत्ता १७।
"रंगम ब० अच्छम" (१८४६) ४, मूर्स, इ० एपील्स १।
"दौलतराम ब० रामलाल" (१९०७) २९, इला० ३१०।
"नगम्मल ब० संकरप्पा" (१९३०) ५४, मद्रास ५७६।
५. "महाराज कोल्हापुर ब० सुन्दरम" (१९२५) ४८, मद्रास १।
"फकीरनाथ ब० कृष्णचन्द्र" (१९५४) उड़ीसा १७६।
६. "चौ० पदुमसिंह ब० कुँ० उदयसिंह" (१८६९) १२, मूर्स, इ० ए० ३५०।

प्रतिपाल्य को गोद नहीं ले सकता है।[1] "शरदचन्द्र ब० शान्ताबाई", ए० आई० आर० १९४४, नागपुर २६६ (फुल बेंच) वाला मुकदमा एक विचित्र मामला था। राम जब दूसरे कुटुम्ब में गोद लिया गया तब उसकी एक पत्नी फूला व एक पुत्र श्याम मौजूद थे। दत्तक पुत्र बनने के बाद राम मर गया। अब फूला ने राम के निमित्त श्याम को ही गोद बैठा लिया। हेतु स्पष्ट यह था कि राम की सम्पत्ति बाहरी व्यक्ति न पाये। हाई कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि अभिभावक के नाते फूला स्वतः श्याम को गोद नहीं ले सकती थी, अतः पुत्रीकरण शून्य है।

विधवा के अधिकार

पहले कहा गया है कि जब तक पति जीवित हो, पत्नी उसकी अभिव्यक्त अनुमति के बिना गोद नहीं ले सकती। पति के मरने के बाद **विधवा के अधिकार** क्या रहते है, इस समस्या पर अब विचार करेंगे। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१५–५) का पाठ है— "न स्त्री पुत्रं दद्यात प्रतिगृह्णीयाद्वान्यत्रानुज्ञानाद भर्तुः।" इस छोटे से सूत्र की व्याख्या विभिन्न प्रकार से होने के कारण विभिन्न उपशाखाओं में विधवा के विभिन्न अधिकार[2] माने गये हैं। (१) **मिथिला** उपशाखा में भर्ता की आज्ञा दत्तक ग्रहण के अवसर पर ली जानी चाहिए, जो शर्त पति के देहान्त के बाद स्वभावतः पूरी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त स्त्री को वेदोच्चारण तथा होम करने का अधिकार नहीं होता। इसलिए विधवा किसी हालत में गोद नहीं ले सकती। (२) **बंगाल, बनारस, मद्रास** उपशाखाओं में यदि मृत्यु के पूर्व पति अपनी पत्नी को स्पष्ट रूप से अधिकृत कर गया है, तो विधवा गोद ले सकती है। मिथिला-कथित अनुज्ञान की उपरोक्त व्याख्या इस उपशाखा को अस्वीकार है। (३) **मद्रास उपशाखा** के एक भाग में यह नियंत्रित मत भी प्रचलित है कि एक संयुक्त कुटुम्ब में, जिसका भर्ता बिना अपनी पत्नी को अधिकृत किये मर गया हो, ऐसी विधवा भी गोद ले सकती है; यदि (अ) पहले उसने अपने ससुर की, या (आ) ससुर के अभाव में अन्य जीवित समांशियों के सम्पूर्ण वर्ग की अनुमति ले ली हो। (इ) यदि मृतक पृथक हो चुका था, तब भी ससुर की या (ई) ससुर के अभाव में पति के निकटतम सपिण्डों में से अधिकांश की अनुमति प्राप्त कर लेने वाली उपरोक्त प्रकार की विधवा गोद ले सकती है। अर्थात "भर्तुः" का शाब्दिक नहीं अपितु लाक्षणिक अर्थ लगाना चाहिए। (४) **बम्बई व पश्चिमी उपशाखा** में यह मत प्रचलित है कि

१. **"फकीरप्पा ब० सवित्रेवा"**, ए० आई० आर० १९२१, **बम्बई १।**
"शरदचन्द्र ब० शान्ताबाई", ए० आई० आर० १९४४, **नागपुर २६६।**

२. **हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ६६८–६९।**

पति की "अनुज्ञा" उस स्त्री के लिए निहित हुई है, जिसका पति जीवित हो। अतः विधवा के ऊपर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं हो सकता। अर्थात् विधवा मृत पति की अनुमति के अभाव में भी गोद ले सकती है। इस उपशाखा के विचार से पति-प्रदत्त अनुज्ञा की पूर्व-धारणा सदैव कर लेनी चाहिए, जब तक पतिकृत निषेध या तो अभिव्यक्त या आन्तरिक रूप से न पाया जाय। स्पष्ट है, चारों प्रकार का अर्थ लगाने वाले विद्वान् पाण्डित्य के सागर और मीमांसा-विहित निर्वचन सम्बन्धी नियमों के अपूर्व विशेषज्ञ थे।

मद्रास व पंजाब को छोड़कर सारे भारत के जैन सम्प्रदाय में यह प्रथा सुप्रतिष्ठित पायी जाती है कि विधवा को बिना पति द्वारा अधिकृत हुए ही गोद लेने का हक होता है। नजीरी कानून इसको इतनी बार मान्यता दे चुका है और यह इतना सर्वविदित है कि इसका अभिकथन करना या साक्ष्य प्रस्तुत करना व्यर्थ सा हो गया है।[1] मारवाड़ी अग्रवालों में भी यह प्रथा प्रचलित है, क्योंकि वे जैन सम्प्रदाय के व्यापक रूप से सम्पर्की होते हैं।[2] जैनियों की तरह छिन्दवाड़े के निवासी उन रघुवंशियों में भी उपरोक्त प्रथा प्रचलित है, जो अपनी जन्मभूमि अयोध्या छोड़कर वहाँ बस गये हैं।[3]

विचाराधीन विषय के अन्य पहलुओं में से इन पर भी मनन करना होगा—(१) विधवा के अधिकार का अन्वय, (२) उस अधिकार की सीमा, (३) सह-विधवाओं के अधिकार। इन्हीं तीन मोटे विभागों के अन्तर्गत अनेक प्रश्न व शंकाएँ आ जायेंगी। उन अनेक प्रश्नों व शंकाओं में निमग्न होने के पहले विधवा-कृत दत्तक ग्रहण के थोड़े से व्यापक नियमों को मनोगत कर लेना चाहिए, यथा—

(क) पुरुष के लिए पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र या एक दत्तक की विद्यमानता में पुत्रीकरण निषिद्ध होता है। उसकी विधवा के ऊपर भी वही निषेध बाध्यकारी होगा। धार्मिक क्रियाएँ दोनों ही को करणीय हैं।

(ख) विधवा सोलह, अठारह या इक्कीस वर्ष की न हुई हो, किन्तु यदि उसकी विवेक-बुद्धि विकसित हो चुकी हो, तो वह वयस्क विधवा के तुल्य अपने अधिकार का विनियोग कर सकती है। यदि उसके पति ने बालक का नाम निर्दिष्ट कर दिया था, तब तो विवेक-बुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।

१. "प्रेम राजा ब० मूलचन्द्र करवार" (१९४७) ७४, इ० ए० २५४।
२. "गोविन्दराम ब० शिवप्रसाद" (१९४८), नागपुर ९८।
३. "मु० केसर बाई ब० इन्दरसिंह" (१९४५) ७१, इ० ए० १९०।
मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ६२५–२६।

(ग) होमादि धार्मिक क्रियाएँ पतित या असती विधवा कर नहीं सकती। अतः पतित विधवा अपना अधिकार खो देती है। या उसको उन क्रियाओं के लिए प्रत्यायुक्त (प्रतिनिधि) नियुक्त करना चाहिए, जैसे कि बम्बई में।[१] शूद्र विधवा को असतीत्व बाधक नहीं होता, क्योंकि वह कर्मकाण्ड की अधिकारी होती ही नहीं।[२]

(घ) पुनर्विवाह कर लेने से भी विधवा अपना अधिकार खो बैठती है।[३]

(च) दत्तक की मृत्यु के कारण विधवा पूर्वानुपर अनेक पुत्रीकरण कर सकती है, यदि पति ने सख्या नियत न कर दी हो।[४]

(छ) पुत्रीकरण के प्रयोजन तथा उसकी वैधता मे कोई सम्बन्ध नहीं होता।[५]

विधवा दो दशाओं मे पुत्रीकरण करती है। या तो पति-प्रदत्त अभिव्यक्त अधिकार के अवलम्ब से, या बिना उस अवलम्ब के। पहले प्रथम दशा के ऊपर चिन्तन होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि सिवा पत्नी के अन्य स्त्री पुत्रीकरण के निमित्त अधिकृत नही की जा सकती है, और अन्य पुरुष भी अधिकृत नही हो सकता है। यहाँ तक कि यदि पति अपनी पत्नी के साथ-साथ किसी और को भी अधिकार प्रदान कर दे तो ऐसा पुत्रीकरण ही अवैध हो जाता है।[६] लेकिन यदि पति अधिकृत तो केवल पत्नी को करता और यह निदेश करता है कि अमुक व्यक्ति की सहमति ले लेना अनिवार्य है, तब सूरत बदल जाती है, क्योंकि गोद लेना और गोद लेने योग्य बालक चुनना दो पृथक् व स्वतत्र क्रियाएँ होती है। यदि पति का निदेश यह हो कि अमुक व्यक्ति से सलाह किये बिना पुत्रीकरण मत करना और विधवा इस निदेश की उपेक्षा करके गोद ले ले, तो पुत्रीकरण अवैध माना जायगा, चाहे वह व्यक्ति गोद लेते समय मर ही क्यों न चुका हो।[७] इसके विपरीत यदि पति का निदेश आज्ञापक नही केवल अनुशंसात्मक हो, तो उस निदेश की उपेक्षा पुत्रीकरण को अवैध नहीं करेगी।[८]

१. "प्रताप ब० बाई सूरज" (१९४६), बम्बई १।
२. "देवराव ब० रायमणि" (१९५४), नागपुर ५५८।
"गोविन्द ब० गोदू बाई", ए० आई० आर० १९४६, बम्बई ४३९।
३. "पंचप्पा ब० संगन बसव," (१९००) २४, बम्बई ८९।
४. "सूरज ना० ब० वेंकटरमन" (१९०६) ३३, इ० एपील्स १४५।
५. "के० कनकरतनं ब० के० एन० राव" (१९४२), मद्रास १७३।
६. "अमृतलाल ब० स्वर्णमयी" (१९००) २७, इ० ए० १२।
७. "बाल गं० तिलक ब० श्रीनिवास" (१९१५) ४२, इ० ए० १३५।
८. "सूरज ना० ब० वेंकटरमन" (१९०६) ३३, इ० ए० १४५।

कहा गया है कि सिवा पत्नी के पुत्रीकरण का अधिकार किसी स्त्री को नही मिल सकता। किन्तु यदि कई पत्नियाँ हों तब कौन-सी इसकी अधिकारिणी है? यह प्रश्न उठता है।

यदि कई पत्नियाँ हों और पति ने एक ही को अधिकृत किया हो, तब तो कोई झझट ही नही पैदा होता और वह पत्नी, एव केवल वही, पुत्रीकरण की अधिकारिणी होगी। वह अपनी सह-सपत्नियों से मत्रणा करने को भी वद्ध नही होती। किन्तु यदि दो या अधिक विधवाओं को संयुक्त अधिकार दिया गया हो, तो यह जरूरी है कि वे सब अधिकार का विनियोग मिलकर करें। सम्मिलित विनियोग इतना अनिवार्य है कि यदि उनमे से एक विधवा दत्तक ग्रहण के पहले ही मर जाय तो अधिकार की ही समाप्ति हो जाती है।[1] उपरोक्त "नरसिह" वाली नजीर मे प्रिवी कौंसिल ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि देश मे प्रचलित रीति यह प्रतीत होती है कि ज्येष्ठ विधवा ही अधिकार का विनियोग करे। किन्तु यदि सब मिलकर दत्तक ग्रहण कर लें तो वह क्रिया अवैध नही मानी जायगी, यद्यपि वह ज्येष्ठ विधवा का ही दत्तक गिना जायगा।[2] निष्कर्ष यह निकलता है कि सयुक्त होने से अधिकार अवैध नही हो सकता।[3] यदि अधिकार संयुक्त न होकर पृथक् रूप से दिया गया हो, तो भी ज्येष्ठ विधवा का पहला हक होता है। यदि वह पुत्रीकरण करने से इन्कार कर दे, तब जाकर कनिष्ठ विधवा का हक पैदा होता है। याद रहे कि इस दशा में दोनों विधवाएँ न तो एक ही बालक को गोद ले सकती हैं और न प्रत्येक पृथक्-पृथक बालकों को।[4]

ऊपर कहा जा चुका है कि पति पत्नी को गोद लेने के निमित्त अधिकृत कर सकता है। तो क्या समाशी तथा अवयस्क पति में भी यह क्षमता होती है? उसे क्या कार्यवाही करनी चाहिए? यदि पति ने सदसत् विवेक को प्राप्त कर लिया हो तो अवयस्कता बाधा नही डाल सकती।[5] संयुक्ता कुटुम्ब की सदस्यता भी बाधा नही डालती।[6] अधिकार प्रदान करने के लिए कोई विशेष कार्यवाही विहित नही है। वह मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। लिखित प्रदान करने से उसकी

१. "नरसिंह ब० पार्थसारथि" (१९१४) ४१, इ० एपील्स ५१।
२. "तिरुबेरंगल रतनं ब० वुचैया" (१९२९) ५२, मद्रास ३७३।
३. "राजाराम ब० जोतीप्रसाद" (१९४३), इलाहाबाद ७४७।
४. "ऐस० रुद्रप्पा ब० आर० चनवासप्पा" (१९३३) ५७, बम्बई १।
५. "पटेल चंद्रवदन ब० प० मनीलाल" (१८९१) १५, बम्बई ५६५।
६. "बच्चू ब० मनकुंवर बाई" (१९०७) ३४, इ० एपील्स १०७।

रजिस्टरी कराना अनिवार्य हो जाता है।[1] कोई-कोई पति उक्त अधिकार को अपने इच्छापत्र में समाविष्ट कर देते हैं। यह उपाय वर्जित तो नहीं किन्तु कष्टप्रद होता है, क्योंकि "इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, सन् १९२५" की धारा ६३ के अनुसार उसका प्रवर्तन बिना निष्पादक की नियुक्ति कराये हो नहीं सकता।

जहाँ पर पतिप्रदत्त अधिकार आवश्यक माना जाता है, वहाँ यह नियम भी बन गया है कि अधिकार वाले निदेशों या शर्तों का अशिथिल रूप से पालन होना चाहिए। ऐसे निदेशों के दृष्टान्त ये हैं—(क) मेरे ही कुटुम्ब या गोत्र के बालक को गोद लेना, (ख) निर्धारित समय के भीतर पुत्रीकरण कर लेना, (ग) यदि तुम्हारे गर्भ से पुत्र या पुत्री उत्पन्न हो जाय तो गोद मत लेना, (घ) अमुक बालक को ही गोद लेना और उसके अनन्तर किसी को गोद मत लेना। (क) के कारण विधवा कुटुम्ब या गोत्र के वाहर किसी को गोद नहीं ले सकती।[2] (ख) के कारण समय बीत जाने पर दत्तक ग्रहण अवैध हो जायगा।[3] (ग) के कारण पुत्री के जन्म के बाद अधिकार की इति हो जायगी।[4] (घ) के कारण नामनिर्दिष्ट दत्तक की मृत्यु के उपरान्त विधवा नये सिरे से अन्य बालक को गोद नहीं ले सकती।[5] याद रहे कि उक्त निदेश या शर्त अवैध नही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, राम एक पुत्र श्याम को छोड़कर मरता है, मरने के पहले अपनी पत्नी को वह यह अधिकार दे जाता है कि यदि श्याम के साथ तुम्हारी न पटे, तो किसी को गोद ले लेना। यह अधिकार अवैध माना जायगा, क्योंकि औरस के होते गोद लेना निषिद्ध है।[6] किन्तु यह शर्त वैध मान ली जायगी कि श्याम के निस्सन्तान होने पर, या अविवाहित रह जाने पर, या अवयस्क दशा में मृत्यु हो जाने पर तुम गोद ले लेना।[7]

ऊपर कहा गया है कि निर्धारित समय के बीत जाने के बाद विधवा अपने अधिकार का निष्पादन नहीं कर सकती है। यदि पति ने समय निर्धारित न किया हो तो

१. "सुमित्रा बाई ब० ऋषभ कु०" (१९५३), नागपुर ६९।
"रावत ब० बेनीबहादुर" (१९२६) १, लखनऊ ४०३।
२. "ऐस० सिवडू ब० आदि ना०" (१९४०) मद्रास २३३।
३. "मुतसद्दी ब० कुंदनलाल" (१९०६) २८, इलाहाबाद ३७७।
४. "भगवत कुं० ब० धनुषधारी" (१९१९) ४६, इ० ए० २५९।
५. "यादव ब० नामदेव" (१९२१) ४८, इ० एपील्स ५१३।
६. "सुलखना ब० रामदोलाल" (१८११) १, बंगाल सदर दीवानी ३२४।
७. "राजा बलंकी ब० वेंकटराम" (१८७६) १, मद्रास १७४।

वह दत्तकग्रहण को असीम काल पर्यन्त टालती जा सकती है। यहाँ तक कि वह बिना किसी को गोद लिये ही मर जा सकती है। अर्थात अपने अधिकार का विनियोग करने के लिए वह विवश नहीं की जा सकती। मान लीजिए कि पति अपनी पत्नी को यह अधिकार देता है, कि राम को गोद बैठाना और राम के अभाव में किसी अन्य को। वह राम को नापसन्द करती है, इसलिए वह पुत्रीकरण को तब तक टालती रह सकती है जब तक राम हाथ से निकल नहीं जाता। उसके बाद वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुकूल किसी को भी गोद ले सकती है।[1] ऐसा पुत्रीकरण अवैध नहीं माना जायगा, यद्यपि उसकी टालबाजी सहेतुक थी।

कानून में जिस हक के सर्जन के नियम होते हैं उसके प्रतिसंहरण के भी नियम होते हैं। पुत्रीकरण के अधिकार का प्रदाता (पति) उसका प्रतिसंहरण भी कर सकता है। प्रतिसंहरण दोनों विधि से हो सकता है; प्रकट रूप से तथा अन्तर्निहित रूप से। जो अधिकार रजिस्ट्री किये हुए लिखित दस्तावेज या विलेख से दिया गया है, उसका विखण्डन भी उसी विधि से होना चाहिए। जो मौखिक है उसका विखण्डन भी मौखिक हो सकता है, किन्तु मौखिक प्रदान व प्रतिसंहरण दोनों का प्रमाण कठोर और विश्वासोत्पादक होना चाहिए। जो अधिकार किसी इच्छापत्र में अन्तर्निविष्ट है, उसके प्रतिसंहरण की विधि वही है जो इच्छापत्र के विखण्डन की, अर्थात जो सन १९२५ वाले "इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ७० में उल्लिखित है। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि इच्छापत्र के अतिक्रमण से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उसमें अन्तर्विष्ट दत्तक ग्रहण का अधिकार भी विखण्डित हो गया है।[2]

अब उस दत्तक-ग्रहण के प्रकारों पर चिन्तन करें जो बिना पति-प्रदत्त अधिकार का अवलम्बन लिये विधवा कर लेती है। ऐसे दत्तक-ग्रहण को मद्रास व बम्बई प्रान्तों में ही मान्यता मिलती है। दोनों प्रान्तों में पुत्रीकरण को वैधता से आवृत करने वाली शर्तें पृथक्-पृथक् हैं।

पहले मद्रास प्रान्त को लिया जाय। ऊपर (नं० ३, मद्रास उपशाखा शीर्षक में) बताया जा चुका है कि वहाँ अनधिकृत विधवा चार (अ, आ, इ, ई) सूरतों में गोद ले सकती है। यथा—यदि पति अभिव्यक्त या अन्तर्निहित रूप से निषेध कर गया हो तो विधवा गोद ले ही नहीं सकती। अर्थात् पहली शर्त यह है कि पतिकृत निषेध न

१. "श्रीहरि राव ब० वेंकैया" (१९५३), मद्रास ६२४।
मुल्ला रचित हिन्दू ला (१२वां सं०), पृ० ६२६–६३१।
२. "वेंकट ना० ब० सुब्बामल" (१९१६) ४३, इ० एपील्स २०।

हों। दूसरे, यदि मृतक अलग रहता था, तब विधवा को अपने ससुर की, या उसके अभाव मे निकटतम सपिण्डों की, अथवा उनमें से ऐसे अधिकांश सपिण्डों की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिए जो विवेकी या सयाने व चतुर हों।[1] तीसरे, अनुमति सब सपिण्डों से माँगनी चाहिए[2], किन्तु यदि कोई अनुचित या युक्तिहीन रूप से अस्वीकार कर दे, तो उसकी उपेक्षा भी कर देनी चाहिए।[3] इस प्रसग में दौहित्र की गिनती सपिण्डों मे नही की जाती। सपिण्डों की अनुमति पर आग्रह इसलिए किया जाता है जिसम विधवा को कोई फुसला-बहका कर अनुचित अभिप्राय से गोद न लिवा दे। इस हेतु को ध्यान म रखकर स्वीकृति की पर्याप्तता, कोटि व मात्रा का मूल्यांकन करना चाहिए। चौथे, पितृबन्धुओं के अभाव मे विधवा को मातृबन्धुओं से परामर्श कर लेना चाहिए।[4]

एक रोचक समस्या है—राम एक विधवा तथा एक औरस श्याम को छोड़कर मरता है। स्पष्ट है कि अधिकृत करने का प्रश्न इस स्थिति मे उठता ही नहीं। थोड़े दिनों बाद श्याम अपुत्र मर जाता है और एक इच्छापत्र छोड़ता है, जिसमे वह अपनी माता को यह सम्मति देता है कि वह दत्तक ग्रहण कर ले और उसकी विधवा माता भाल को गोद बैठा लेती है। क्या यह दत्तक ग्रहण वैध है ? याद रहे कि श्याम अपनी माता को गोद लेने का अधिकार नही प्रदान कर सकता, क्योंकि ऐसा अधिकार मात्र पत्नी को दिया जा सकता है। श्याम के जीते-जी उसकी विधवा माता उसकी अनुमति से भी पुत्रीकरण नही कर सकती थी। किन्तु मद्रास प्रान्त मे सपिण्डों की सम्मति से अनधिकृत विधवा भी गोद बैठा सकती है। उक्त प्रश्न का समाधान क्या होगा ? मद्रास हाई कोर्ट ने अपने पूर्व निर्णय[5] को रद्द करके अस्तिवाची[6] उत्तर दिया है और इस उक्ति को अमान्य कर दिया है कि पुत्रीकरण के समय श्याम की सम्पदा मे कोई हित था ही नहीं तथा उन जीवित सपिण्डों की अनुमति नही ली गयी थी जो उस समय निकटतम पाये जाते।

इस विषयान्तर को छोड़कर मूल प्रसंग पर लौट चलें। पाँचवी शर्त यह है

१. "अदु सुमल्ली ब० अदु सुमल्ली" (१९२०) ४७, इ० ए० ९९।
२. "अदु सुमल्ली ब० अदु सुमल्ली" (१९२०) ४७, इ० ए० ९९।
३. "चेल्ला थम्मल (उर्फ) अम्मा मुत्थमल ब० के० पिल्ले" (१९४३) म० १०७।
४. "केसरसिंह ब० सेक्रेटरी आव स्टेट" (१९२६) ४९, मद्रास ६५२।
५. "मनी ब० सुब्बा ऐयर" (१९१३) ३६, मद्रास १४५।
६. "अन्नपूरनम्मा ब० अप्पैया" (१९२९) ५२, मद्रास ६२० (फुल बेंच)।

कि विधवा को (यदि वह किसी पृथक कुटुम्बी की नहीं वरन संयुक्त कुटुम्बी की पत्नी थी) अपने ससुर की, या ससुर के अभाव में सकल उत्तरजीवी समांशियों की सम्मति ले लेनी चाहिए। विचार यह है कि समांशिता के मध्य में एक अनिच्छित या अपरिचित आगन्तुक का पदार्पण यथासम्भव न होने पाये। यदि पृथक कुटुम्बी भी हों तथा संयुक्त कुटुम्बी भी, तब पूर्वोक्त श्रेणी वालों की सम्मति व्यर्थ किन्तु द्वितीय श्रेणी वालों की अनिवार्य होती है। इस नियम का यह अपवाद है कि चूंकि औचित्य के अनुसार, कोई व्यक्ति कुटिलता या धूर्तता या अक्षमतावश अन्य के मार्ग में रोड़े नहीं अटका सकता है, इसलिए यदि सयुक्त कुटुम्बी अनुचित रूप से सम्मति देना अस्वीकार कर दें, तो पृथक् कुटुम्बियों की सम्मति ही दत्तक ग्रहण को वैध बना देगी।[1]

छठी शर्त यह है कि विधवा ने कुटुम्बियों की सम्मति छल-कपट करके न प्राप्त की हो[2] और कुटुम्बियों ने भी स्वार्थ साधने या किसी ऐसे ही कुत्सित अभिप्राय से सम्मति न दी हो।[3] ज्ञातव्य है कि यद्यपि भर्ता निज-प्रदत्त अधिकार को विखंडित कर दे सकता है, तथापि एक कुटुम्बी अपनी सम्मति को वापस नहीं ले सकता। ऊपर कहा जा चुका है कि आम तौर से ज्येष्ठ विधवा ही पति-प्रदत्त अधिकार का विनियोग कर सकती है। वही कुटुम्बियों की दी हुई सम्मति के आश्रय से गोद ले सकती है। अतः कनिष्ठ विधवा सक्षम नहीं गिनी जा सकती; यदि वह कुटुम्बियों की सम्मति तो ले चुकी हो किन्तु ज्येष्ठ विधवा ने अनुमति न दी हो।[4]

अब बम्बई प्रान्त का विचार किया जायगा। मद्रास प्रान्त में पति के निषेध का अतिक्रमण करके विधवा गोद नहीं ले सकती। यही नियम बम्बई प्रान्त में लागू है। दूसरी शर्त यह है कि एक दत्तक के जीवित रहते, विधवा दूसरा पुत्रीकरण नहीं कर सकती। तीसरे, यदि पति ने कोई बन्धन लगा दिये हैं, तो विधवा को उनका पालन करना चाहिए। बम्बई का मत, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह है कि पति की सम्मति उसके जीवन काल में ही जरूरी होती है। उसकी मृत्यु के बाद विधवा को दत्तक ग्रहण का अप्रतिबन्ध अधिकार होता है। इसलिए पृथक कुटुम्बियों की सम्मति लेने को भी वह बद्ध नहीं होती।

यदि पति संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य था, तब सूरत दूसरी हो जाती है। संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य के साथ विधवा के पुत्रीकरण वाले अधिकार पर जो नजीरें हैं उनमें

१. "चेल्ला थम्मल उर्फ अम्मा मुत्थामल ब० के० पिल्ले" (१९४३), म० १०७।
२. "ए० आयंगर ब० रामस्वामी" (१९५३), मद्रास १२३।
३. "के० गणेश ब० गोपाल" (१८९०) ७, इ० एपील्स १७३।
४. "मुट्टू स्वामी ब० पुलवरतल" (१९२२) ४५, मद्रास २६६।

कई परिवर्तन हुए है।[१] उनका सारांश यह है—आरम्भ मे यह मत प्रचलित था कि सयुक्त कुटुम्ब मे विधवा या तो पति द्वारा अधिकृत रही हो, या उसने जीवित समांशियों की[२] अथवा केवल अपने ससुर की सम्मति ले ली हो।[३] यह मत मद्रास वाले नियम के समान है। उसके बाद प्रिवी कौंसिल ने यह मत प्रकट किया कि पृथक् कुटुम्बी और सयुक्त कुटुम्बी दोनों ही की विधवा गोद लेने की अप्रतिबन्ध स्वतंत्रता रखती है। न पति-प्रदत्त अधिकार आवश्यक है, न कुटुम्बियों की अथवा ससुर की सम्मति लेने का वह विवश है।[४] प्रिवी कौंसिल का उपरोक्त मत अनावश्यक अभिव्यक्ति (ओबिटर डिक्टा) प्रतीत होता है और यही युक्ति देकर बम्बई हाई कोर्ट ने अपना आरम्भिक मत पुनः स्थापित कर दिया।[५] कुछ सालों के बाद प्रिवी कौंसिल ने "ईश्वर दादू ब० गज बाई" वाला फुल बेंच को नजीर का पलट कर यह घोषित कर दिया कि सयुक्त कुटुम्ब मे भी कुटुम्बियों की सम्मति अनावश्यक है।[६]

मद्रास की तरह बम्बई मे भी ज्येष्ठ विधवा को तो बिना कनिष्ठ विधवा की सम्मति लिये गोद लेने का अधिकार है, किन्तु कनिष्ठ विधवा को बिना ज्येष्ठ विधवा की सम्मति लिये पुत्रीकरण का हक नहीं है; जब तक यह प्रमाणित न हो कि पति स्वतः यह अधिकार अपनी छोटी पत्नी को दे गया था। यह ज्ञातव्य है कि मद्रास के मत से, ज्येष्ठ विधवा की सम्मति के बिना जो दत्तक ग्रहण कनिष्ठ विधवा कर लेती है, वह अवैध होता है, चाहे पति के कुटुम्बी लोगों ने सहमति दे दी हो।[७] इसके विपरीत बम्बई का मत यह है कि उपरोक्त दशा मे ससुर (जो पति के साथ शामिल था) की सम्मति, ज्येष्ठ विधवा की सम्मति के अभाव-जनित दोष को मिटाकर दत्तक ग्रहण को वैधता से युक्त कर देती है।[८]

विधवा के पुत्रीकरण सम्बन्धी हकों पर विचार किया गया। हर एक हक का कभी न कभी अवसान या परिशमन हो जाता है। विधि-विज्ञानानुसार हक का परिशमन

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ६७०–७४।
२. "रामजी ब० घमाऊ" (१८७९) ६, बम्बई ४९८।
३. "विठोबा ब० बापू" (१८९१) १५, बम्बई ११०।
४. "यादव ब० नामदेव" (१९२१) ४८, इ० एपील्स ५१३।
५. "ईश्वर दादू ब० गजबाई" (१९२५) ५०, बम्बई ४६८ (फुल बेंच)।
६. "भीमा बाई ब० गुरुनाथ गौडा" (१९३३) ६०, इ० ए० २५।
७. "मुद्दू स्वामी ब० पुलवरतल" (१९२२) ४५, मद्रास २६६।
८. "दन यानू ब० टानू" (१९२०) ४४, बम्बई ५०८।

कई प्रकार से होता है, यथा कर्तव्य के अनुपालन से, दूसरे पक्ष की सम्मति से, बिना दूसरे पक्ष की सम्मति लिये एक पक्ष द्वारा अधिकार के प्रवर्तन से, अनुपालन असम्भव हो जाने से, कानून की साक्रया से, चिरभोगाधिकार से। जब कर्तव्य के अनुपालन से अधिकार का अवसान कहा जाता है, तब दो प्रश्न उठते है। एक तो यह कि क्या एक ही कम के करने से विहित कतव्य का पालन हो जाता है ? दूसरे यह कि क्या कर्मो की पूरी श्रेणी को किये बिना कर्तव्य का पालन नही होता ? पहली अवस्था में कर्म हो जाने पर हक की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूरा हो चुका, अब उसको जीवित रहना बेकार है। किन्तु दूसरी अवस्था मे श्रेणी वाले पहले कर्म के हो जाने का कोई प्रभाव श्रेणी मे बचे हुए कर्मो के ऊपर नहीं पड़ता। श्रेणी के प्रत्येक कर्म से बँधा हुआ एक स्वतंत्र कर्तव्य होता है। श्रेणीबद्ध सकल कर्तव्यों का पालन जब तक नहीं हो जाता, तब तक हक का अवसान नहीं हो सकता। इस निर्वचन के प्रकाश में यह विचार करना है कि **विधवा को गोद लेने का जो हक होता है, उसके परिशमन के लिए उसकी मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हेतु हो सकते है ?**

गोद लेने के हक से बँधा हुआ और उसका सहवर्ती कर्तव्य होता है मृत पति के वंश को यथासम्भव चलाना, जिससे कि लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो। अर्थात् पितरों को श्राद्ध-तर्पणादि से शान्ति प्राप्त हो तथा सम्पत्ति की रक्षा के साथ पूर्वजों का नाम कायम रहे। यदि वंश की समाप्ति न हो गयी हो अथवा वंश चलाने के कर्तव्य का अवक्रमण पुत्रवधू या पौत्रवधू के ऊपर चला गया हो, तब तो यह प्रश्न उठता ही नही कि मृत प्रभु की विधवा को पुत्रीकरण का हक है या नहीं। किन्तु पुत्रवधू अथवा पौत्रवधू यदि अपने अधिकार (दत्तक ग्रहण) का बिना प्रयोग किये मर जाती हैं, तब क्या उत्तरजीवी विधवा अपने अधिकार का प्रयोग कर सकती है ? अर्थात् क्या उसका अधिकार उन वधुओं के जीवन काल में स्थगित माना जायगा या विनष्ट ? विधवा पति की अर्धांगिनी और प्रतिनिधि मानी जाती है। अतः पति का वंश चलाने वाला कर्तव्य उसके ऊपर आ जाता है। एक पुत्रीकरण के बाद वह उससे निवृत्त नहीं हो जाती। तभी तो एक दत्तक के मरने के बाद वह क्रमशः कई दत्तक ग्रहण कर सकती है। मतलब यह है कि उसका कर्तव्य कई कर्मों की एक श्रेणी को समाहित करता है, जिससे वह एक, दो या चार कर्म करके नहीं, वरंच आजीवन जितने आवश्यक हों उतने पूर्वानुपर कर्म (दत्तक ग्रहण) करते जाने से ही कृतकृत्य हो सकती है। एक दत्तक ग्रहण करने के बाद उसका अधिकार उसके जीवन भर के लिए विनष्ट नहीं होता, वरंच दत्तक के जीवन पर्यन्त स्थगित या सुषुप्त हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर

वह (अधिकार) पुनर्जीवित या जागृत हो उठता है।[1] स्थगित होकर पुनः सक्रिय हो जाना—यह विधवा के हाथ में विलक्षण अधिकार है, जिसके कारण ऐसा लगता है कि पुत्र, पुत्रवधू एव पौत्रवधू के जीवनान्त में वह पुनरुज्जीवित हो जाता है। लगता तो ऐसा है, किन्तु अब इस प्रश्न पर नजीरी कानून भी विचारणीय है—

विधवा का पुत्रीकरण वाला अधिकार आजीवन बना रहता है यदि उसका पति अपुत्र मरा हो, या यदि वह पुत्र छोड़कर मरा हो तो उस पुत्र ने सिवा अपनी माता के और किसी को अपना उत्तराधिकारी न छोड़ा हो। दोनों दशाओं में सम्पदा विधवा में निहित हो जाती है। अतः दत्तकग्रहण के फलस्वरूप कोई गैर व्यक्ति वियुक्त नहीं होता। तो क्या गैर का वियुक्त होना या न होना यही इस बात की कसौटी समझी जाय कि विधवा के अधिकार की समाप्ति हो चुकी है या नहीं ? प्रिवी कौंसिल[2] व सुप्रीम[3] कोर्ट दोनों ही निम्नोक्त नियमों को घोषित कर चुके हैं—(१) "विधवा के पुत्रीकरण वाले अधिकार का अवसान हो जाता है जब कि उसका पुत्र एक पुत्र या पुत्रवधू को छोड़कर मर जाता है, क्योंकि वे दोनों (पुत्र व पुत्रवधू) वंश चलाने की क्षमता रखते है। यदि विधवा का पुत्र एक पुत्र को नही एक पुत्री को छोड़कर मरा हो और पुत्री की माता पहले ही मर चुकी हो, अथवा पुत्री की माता जीवित तो हो किन्तु पुत्रीकरणार्थ अधिकृत न हुई हो, या उसका पुत्रीकरण वर्जित हो गया हो, तो इन दशाओं में विधवाकृत दत्तक ग्रहण वैध माना जायगा, क्योंकि ऐसे लोगों में वंश चलाने की क्षमता का अभाव है।"[4]

(२) "विधवा का अधिकार इस विचार के ऊपर अवलम्बित नहीं होता कि सम्पत्ति का स्वामित्व विधवा को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति में निहित हो चुका है, जो दत्तक ग्रहण के फलस्वरूप वियुक्त हो जायगा।"[5]

(३) "यह विचार निराधार है कि मात्र यह तथ्य (विधवा) माता के पुत्रीकरण वाले अधिकार का अवसान कर देता है कि उसका पुत्र धार्मिक कृत्य करने योग्य, यानी १५ वर्ष की अवस्था को प्राप्त कर चुका था।"

१. "बापू जी ब० गंगाराम" (१९४१), नागपुर १७८।
"प्रेम ज० कुँअर ब० हरिहर" २१, लखनऊ १।
२. "अमरेन्द्र मानसिंह ब० सनातन" ६०, इ० एपील्स २४२।
३. "गुरुनाथ ब० कमला बाई" (१९५५) १, सुप्रीम कोर्ट रि० ११३५।
४. "चनवसप्पा ब० मदीवलप्पा" (१९३७), बम्बई ६४२।
५. जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ १६६–१७१।

सुप्रीम कोर्ट ने यह भी विचार व्यक्त किया है कि लखनऊ व नागपुर वाली उपरोक्त नजीरों में नियम के कारण ठीक-ठीक नहीं समझे गये हैं।[1] इन तीन नियमों के अतिरिक्त विधवा के अधिकार से सम्बन्धित एक चौथा नियम यह भी है कि अधिकार के विनियोग की कोई कालावधि नहीं है; यदि पति ने कोई निदेश न छोड़ा हो। ऊपर जिस तीसरे नियम का उल्लेख हुआ है उसके स्पष्टीकरण की जरूरत है। विधवा के अधिकार के अवसान का असली हेतु प्रिवी कौंसिल ने (अमरेन्द्र मानसिंह वाले मुकदमे में) यह बतलाया है—"वंश चलाने के लिए प्रबन्ध कर देने के कर्तव्य का जो भार पति के सिर पर था और जिसको उसने अपनी पत्नी के ऊपर कुछ शर्तें लगाकर हस्तान्तरित कर दिया था, उस कर्तव्य को जब उसके पुत्र ने अपने जिम्मे ले लिया और अपने जिम्मे लेकर उसे अपने पुत्र के ऊपर या पुत्रवधू के ऊपर डाल दिया, तब माता का अधिकार भी लुप्त हो गया।" सुप्रीम कोर्ट ने "गुरुनाथ ब० कमलाबाई" मे बम्बई की एक नजीर से जस्टिस चन्द्रावरकर के ये वाक्य सानुमोदन उद्धृत किये हैं—"वैध क्षमता प्राप्त करने के पूर्व जब पुत्र बिना विधवा या पुत्र या दत्तक को छोड़कर मर जाता है, तब तो उस (पुत्र) के जीवन काल में स्थगितावस्था को प्राप्त हुआ विधवा (माता) का अधिकार पुनर्जीवित हो उठता है। किन्तु जिस क्षण में वह (पुत्र) किसी अन्य को मशाल सौंप देता है उसी क्षण से उस (माता) का मशाल-वहन अधिकार नष्ट हो जाता है।"[2]

'दायभाग' के अन्दर प्रत्येक समांशी का भाग निर्धारित रहता है। इसलिए एक दायभागी कुटुम्ब की विधवा की स्थिति वही होती है जो कि मिताक्षरा के अन्दर पृथक्-कुटुम्बी की विधवा की। अतः अधिकारावसान विषयक उपरोक्त नियम दोनों श्रेणी वाली विधवाओं पर लागू होते हैं। उस विधवा के अधिकारावसान विषयक नियम कुछ भिन्न किन्तु संक्षिप्त हैं जिसका पति एक समांशिता का सदस्य था। यथा—**पहला नियम** तो यह है कि विधवा का अधिकार तब तक सजीव रहता है जब तक समांशिता का अस्तित्व कायम है। समांशिता का विघटन दो विधि से होता है; एक तो अन्तिम पुरुष समांशी की मृत्यु से, दूसरे, विभाजन से। अन्तिम पुरुष समांशी की मृत्यु के उपरान्त दत्तक ग्रहण किया जा सकता है या नहीं? इसका उत्तर पहले नास्तिवादी था और इसलिए **दूसरा नियम** पहले यह प्रचलित था कि समांशिता के विघटन के पूर्व मरे

१. "गुरुनाथ ब० कमला बाई" (१९५५) १, सुप्रीम कोर्ट रि० ११३५।

२. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ६४१–४३।

हुए समांशी की विधवा विघटन के बाद दत्तक ग्रहण नहीं कर सकती।[1] दूसरा नियम अब टूट चुका है, क्योंकि प्रिवी कौंसिल ने यह विरुद्ध मत दृढतापूर्वक प्रतिष्ठापित कर दिया है कि चूँकि वैध कल्पना के अनुसार दत्तक ग्रहण भूतकाल-व्यापी होकर उस तिथि से प्रभावशाली बन जाता है जब गोद लेने वाली विधवा का पति मरा था। इसलिए दत्तक ग्रहण की वैधता व अवैधता को कुटुम्ब की उस दशा के आधार पर निर्णीत करना चाहिए जो मृतक के प्राणान्त काल मे थी।[2] अर्थात् यदि उस काल (प्राणान्त काल) मे समांशिता का अस्तित्व था, यानी एक भी पुरुष समांशी जीवित था, तो दत्तक ग्रहण वैध मान लिया जायगा। समांशिता के विघटन व दत्तक ग्रहण के बीच में जो निहित हित उपज चुके हों और सम्पत्ति के जो अन्य-सक्रमण किये जा चुके हों उनका भाग्य-निर्णय औचित्यानुकूल होना चाहिए।[3] इस प्रश्न के ऊपर आगे चलकर फिर से विचार करना होगा। इस समय अगला विचारणीय विषय है दत्तक गृहीत हो सकने की क्षमता।

नवीन शीर्षक आरभ करने के पहले बम्बई प्रान्त की एक विलक्षण बात ज्ञातव्य है। यह बताया जा चुका है कि वहाँ कुटुम्ब के भीतर विवाहागत विधवा उस सम्पत्ति के अन्दर परिसीमित स्वामित्व पाती है जो उसको दाय प्राप्ति में मिली हो। वहाँ विधवा को गोद लेने की क्षमता भी स्वतः होती है। उसे पतिप्रदत्त अधिकार की आवश्यकता नही होती। यदि गोत्रज सपिण्ड के नाते सम्पदा उत्तराधिकार में पाने वाली विधवा दत्तक ग्रहण करती है, तो क्या दत्तक पुत्र को पालक-पिता की सम्पदा के अतिरिक्त वह सम्पत्ति भी मिल जायगी? पहले की नजीरों में इसका उत्तर नास्तिवादी हुआ करता था। किन्तु "अनन्त ब० शंकर" वाली प्रिवी कौंसिल की नजीर ने उसको पलट दिया है। अब उत्तर यह है कि दत्तक पुत्र को वह सम्पत्ति भी मिल जायगी।[4] अब विषय के तीसरे अग को देखा जाय।

(३) **कौन लोग दत्तक ग्रहण के पात्र बन सकते हैं**—धर्मशास्त्र में एक मात्र प्रतिबन्ध मिलता है—"न त्वेवैक पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्याद् वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्।"

१. "चन्द्रा ब० गजराबाई" (१८९०) १४, बम्बई ४६३।
"सूर्य प्र० राव ब० गंगा राजू" (१९१०) ३३, मद्रास २२८।
२. "अनन्त ब० शंकर" (१९४४), बम्बई ११६–७० इ० ए० २३२।
३. "जीवाजी ब० हनमन्त" (१९५०), बम्बई ५१०।
"श्रीनिवास ब० नारायण" (१९५५) १, सुप्रीम कोर्ट रि० १।
४. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला (१२वां संस्करण), पृ० ६४८।

(वसिष्ठसूत्र)। इस प्रतिबन्ध को आज्ञापक नहीं निदेशक माना गया है। दत्तक की परिभाषाओं में भी पात्रता का कोई निषेधात्मक या आज्ञापक विधान नहीं पाया जाता, यथा—

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥ (मनु ९, १६८)
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।
दद्यात् माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्॥ (याज्ञ० २, १३७)

किन्तु 'दत्तकमीमांसा' आदि मे अनेक निषेध तथा नियम उल्लिखित हैं जिनके आधार पर कई नजीरें बन गयी हैं। उसी नजीरी कानून को यहाँ प्रस्तुत किया जायगा। नन्द पडित कृत दत्तकमीमांसा की मार्मिक आलोचना जी० सी० सरकार प्रणीत हिन्दू ला (८वाँ सं०) के पृष्ठ १८१–८७ पर पढ़ने योग्य है। यदि वह ग्रन्थ न लिखा गया होता, तो विषय इतना जटिल न हो जाता।

(क) दत्तक को हिन्दू होना चाहिए और उसको पुरुष भी होना आवश्यक है।[१] पुरुषत्व की शर्त उपरोक्त मनु तथा याज्ञवल्क्य के वचनों पर आश्रित है, जिनमें "सुता" या "पुत्री" की नहीं "पुत्र" या "सुत" की चर्चा है। अर्थात् कन्या गोद नहीं ली जा सकती है। यथा—"दत्तकश्च पुमानेव भवति न कन्या।" (व्यवहारमयूख)

(ख) दत्तक को ग्रहीता या पालक की जाति या वर्ण का होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों सम उपजाति के भी हों।[२] मनु के उपरोक्त वचन में जो "सदृश" शब्द आया है उसका अर्थ कुल्लूक-टीका तथा व्यवहारमयूख में यही किया गया है।

(ग) दत्तक ऐसी जननी का पुत्र नहीं होना चाहिए जिसको पालक वर नहीं सकता हो। यह विस्तृत नियम नजीरों में इसलिए घुस आया कि हाई कोर्ट के जज संस्कृत से अनभिज्ञ थे अतः उनको 'दत्तकमीमांसा' के सदरलैण्ड कृत अंग्रेजी अनुवाद का आश्रय लेना पड़ता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नन्द पंडित-रचित दत्तकमीमांसा की प्रामाणिकता स्वतः अनिश्चित है। दूसरे, जहाँ उपरोक्त मूल ग्रन्थ में ऐसी नारी के पुत्र का दत्तक ग्रहण निषिद्ध है जिसके साथ पालक "नियोग" न कर सकता हो, वहाँ सदरलैण्ड ने नियोग के साथ विवाह को अपनी तरफ से जोड़कर यह अनुवाद कर दिया कि

१. "गंगा बाई ब० अनन्त" (१८८९) १३, बम्बई ६९०।
२. "शिवदेव ब० रामप्रसाद" (१९२४) ४६, इलाहाबाद ६३७।

ऐसे बालक का गोद लेना वर्जित है जिसकी माता से पालक नियोग या विवाह न कर सकता हो। तीसरे, नियोग की प्रथा नन्द पंडित के बहुत पहले से बन्द हो चुकी थी। उस प्रथा को दत्तक-ग्रहण की वैधता की कसौटी बनाना एक सन्देहोत्पादक तथा विस्मय-कारी बात है। ऐसे नियम के आधार पर दी गयी पुरानी नजीरें भी विचित्र प्रतीत होती हैं। कुशल यह हुई की नन्द पंडित के ही ग्रन्थ में यह लिखा मिल गया कि चूँकि कोई पुरुष अपनी माता, पितामही, मौसी से नियोग नहीं कर सकता, इसलिए वह अपने भ्राता, चाचा, मामा, दौहित्र, भानजे को गोद नहीं ले सकता। फलतः नयी नजीरों में दौहित्र, भागिनेय, मौसी के पुत्र तक का निषेध पाया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त यह निषेध शूद्रों पर लागू नहीं होता और प्रथा के अवलम्बन से उनके निषिद्ध पुत्रीकरण भी वैध मान लिये जाते हैं।

(घ) जो बालक श्राद्ध कर्म नहीं कर सकता वह गोद नहीं बैठ सकता, क्योंकि फिर दत्तक ग्रहण का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। अतः जारज, अन्ध, बधिर गोद नहीं लिये जा सकते।[2] संन्यासी भी इसीलिए गोद नहीं बैठ सकता, जब तक वह संन्यास का परित्याग न कर दे।[3]

(च) दत्तक की आयु पर चार मत हैं—(१) यदि चूड़ाकर्म पर्यन्त संस्कार जनक-कुटुम्ब में हो चुके हों, तो वह बालक अयोग्य हो जायगा। (२) यदि चूड़ाकर्म संस्कार तथा उसके बाद वाले संस्कार पालक-कुटुम्ब में किये जायँ तो उस बालक का पुत्रीकरण वैध होता है। (३) पाँच वर्षोपरान्त बालक पुत्रीकरणीय नहीं रह जाता। (४) जिसका चूड़ाकर्म जनक-कुटुम्ब में हो चुका हो किन्तु जिसकी अवस्था अभी पाँच वर्ष से कम हो, वह भी गोद के योग्य उस दशा में हो सकता है कि पालक के यहाँ आकर पहले उसका पुत्रेष्टि कर्म कराया जाय तत्पश्चात् अन्य विहित कियाएँ।[4] नियम मध्यकालीन धार्मिक ग्रन्थों से संकलित हुए हैं। नजीरी कानून में भी इस प्रश्न के ऊपर तीन मत पाये जाते है—

१. बंगाल, विहार, मद्रास, वनारस, उड़ीसा में उपनयन के पूर्व गोद ले लेना

१. "रामचन्द्र ब० गोपाल" (१९०८) ३२, बम्बई ६१९।
"रामकृष्ण ब० चिमनजी" (१९१३) १५, बम्बई ला० रि० ८२४।
२. "एस० सर्वाधिकारी ब० वी० राय चौधरी (१९४४) १, कलकत्ता १३९।
३. "गुलाबराव ब० नागराव" (१९५२), नागपुर ५९१।
४. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ६८०।

चाहिए। आयु का विचार नहीं किया जाता। यहाँ तक कि पालक से भी अधिक दत्तक की आयु[1] हो सकती है।

२. मद्रास में यह भी नियम प्रचलित है कि यदि दत्तक और पालक समगोत्री हों, तो उपनयनोपरान्त भी पुत्रीकरण हो सकता है, किन्तु विवाहोपरान्त नहीं।

३. बम्बई प्रान्त में न आयु का बन्धन है, न उपनयन या विवाह का, यथा "दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नपुत्रोपि च भवतीति तातचरणाः। युक्तं चेद बाधकाभावात्।" (व्यवहारमयूख) अतः पुत्रवान् पुरुष भी गोद लिया जा सकता है।[2]

(छ) बम्बई के उपरोक्त मत के विपरीत नागपुर, इलाहाबाद, मैसूर, मद्रास के हाई कोर्टों ने यह निर्णीत किया है कि विवाहित पुरुष का पुत्रीकरण अवैध है, यहाँ तक कि शूद्रों में भी।[3]

(ज) उपरोक्त नियम, प्रतिबन्ध, निषेध जो पति के लिए कहे गये है, वही पत्नी के ऊपर लागू होते हैं। जिन व्यक्तियों को पति गोद नहीं ले सकता, उनको पत्नी भी नहीं ले सकती है। यथा, अपने पति के भानजे को वह भी गोद नहीं ले सकती, यद्यपि अपने ननदोई को वह ले सकती है। उसी तरह जिनको पति गोद ले सकता था उनको वह भी गोद ले सकती है। जैसे वह अपने भाई के साथ विवाह नही कर सकती, किन्तु भाई के पुत्र को गोद ले सकती है, क्योंकि उसका पति ले सकता था। पति-पत्नी एकात्मा होते है।

(झ) रिवाज इतना प्रवल होता है कि प्रमाणित होने पर, उपरोक्त नियमों, निषेधों का उत्सादन करके निषिद्ध दत्तक ग्रहण को भी वह वैध वना सकता है।[4]

१. "चन्द्रेश्वर ब० विश्वेश्वर" (१९२५) ५, पटना ७७७।
"सुरबाला देवी ब० एस० के० मुखर्जी" (१९४४) १, कलकत्ता ५६६।
"गंगासहाय ब० लेखराज" (१८८७) ९, इलाहाबाद २५३।
२. "बालाबाई ब० महद्दू" (१९२४) ४८, बम्बई ३८७।
३. "झुंका ब० नाथू" (१९१३) ३४, इलाहाबाद २६३।
"हि० बाई ब० मनोहरसिंह" (१९४५), नागपुर ४२५।
"नडाजे गौडा ब० चन्नम्मा" (१९५२), मैसूर ४०।
"एम० थावेर ब० सी० थावेर" (१९४९) ७५, इ० ए० २९३।
४. "वैद्यनाथ ब० अप्पू" (१८८६) ९, मद्रास ४४।
"देवकी ब० रिखी", ए० आई० आर० १९६०, पंजाब ५४२।

(त) ज्येष्ठ पुत्र के पुत्रीकरण का निषेध, जो मनु (९,१०६) और याज्ञ० (२, १३०) से निष्कर्ष रूप में निकाला जाता है, अनुशंसात्मक माना गया है, न कि आज्ञापक।[1]

(थ) तथैव वसिष्ठ का वचन "नत्वेवैकं पुत्रं दद्यात्....." जो ऊपर उद्धृत हो चुका है, आज्ञापक नहीं माना जाता है, यद्यपि उसका अर्थ स्पष्टतया यह है कि एकल पुत्र को दत्तक नहीं करना चाहिए।[2] नजीरी कानून के अनुसार एकल पुत्र भी गोद लिया जा सकता है।

(द) चूँकि दान की क्रिया पुत्रीकरण के लिए जरूरी होती है, जिसका सम्पादन मात्र पिता या माता कर सकते है, इसलिए अनाथ बालक गोद नहीं बैठाया जा सकता।[1]

(ध) दो व्यक्ति एक ही बालक को गोद नहीं बैठा सकते हैं, चाहे दोनों सगे भाई ही हों,[3] और न एक से अधिक बालक साथ-साथ गोद लिये जा सकते हैं।[4] द्व्यामुष्यायण की बात निराली है।

(न) उपरोक्त **द्व्यामुष्यायण** एक विशेष प्रकार का पुत्रीकरण होता है। दत्तक के दो प्रकार हैं, एक **केवल** जिसका विवरण अभी तक किया गया है, दूसरा द्व्यामुष्यायण, जिसका अर्थ है दो पितरों का पुत्र। यथा "अय च दत्तको द्विविधः केवलो द्व्यामुष्यायणश्च। संविदं विना दत्त आद्यः। आवयोरसाविति सविदा दत्तस्त्वन्त्यः।" (व्यवहारमयूख) कहीं-कही "केवल दत्तक" को "शुद्ध दत्तक" संबोधित किया गया है। कहीं-कहीं "द्व्यामुष्यायण" को "द्विप्रवाचन" की संज्ञा दी गयी है। मिताक्षरा में "क्षेत्रज" और "द्व्यामुष्यायण" को पर्यायवाची कहा है। जब कोई पुरुष अपने एकल पुत्र को दूसरे पुरुष को पुत्रीकरणार्थ इस संविदा के सहित प्रदान कर देता है कि वह जनक तथा पालक दोनों पितरों का पुत्र समझा जायगा, तब उस पुत्र को द्व्यामुष्यायण कहते हैं। द्व्यामुष्यायण होने की संविदा साक्ष्य द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए। यदि दो भाइयों के बीच एक ही पुत्र हो और एक भाई उसको दत्तक ग्रहण कर ले, तो भी वह

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, ३, ६७७।
२. "व्यास चि० लाल ब० व्यास रामचन्द्र" २४, बम्बई ३६७।
"काशी बाई ब० तात्या" ७, बम्बई २२१।
"बलूसू गुरुलिंग स्वामी ब० रामलक्षम्मा" (१८९९) २६, इ० ए० ११३।
३. "मरैया ब० रामलक्ष्मी" (१९२१) ४४, मद्रास २६०।
४. "राज कुं० ब० विश्वेश्वर" (१८८४) १०, कलकत्ता ६८८।
५. "सुरेन्द्र केशव ब० दुर्गा सुन्दरी" (१८९२) १९, इ० ए० १०८।

अपने जनक-पिता का उत्तराधिकारी विना उपरोक्त संविदा को प्रतिष्ठापित किये नहीं माना जायगा।[1] उपरोक्त संविदा समेत गोद लिया हुआ पुत्र दोनों कुटुम्बों में उत्तराधिकार पाता है।[2] द्वयामुष्यायण के पुत्र अपने पालक-पिता के दाय में हिस्सेदार होते हैं। द्वयामुष्यायण के मरने पर उसकी जननी-माँ व पालक-माँ उसकी सम्पत्ति को बराबर-बराबर पाती हैं। बराबर-बराबर पा लेने के बाद यदि पालक-माँ एक दूसरा दत्तक ग्रहण कर लेती है, तो क्या भूतकालव्यापी सिद्धान्त के आधार पर जननी-माँ पाये हुए अर्धभाग से वियुक्त हो जायगी ? नहीं।[3] दत्तकमीमांसा में दत्तक का एक नया भेद निकाला गया है। (क) सामान्य दत्तक तथा (ख) क्रीत "अनित्य द्वयामुष्यायण" और उपरोक्त अर्थात् संविदायुक्त दत्तक "नित्य द्वयामुष्यायण" कहा गया है। किन्तु पूर्वोक्त को द्वयामुष्यायण कैसे कहा जा सकता है यह समझ में नहीं आता। क्योंकि वह तो केवल पालक का पुत्र बन जाता है। वह दो पितरों का पुत्र नहीं बना रहता।

(४) कौन लोग दत्तक प्रदान कर सकते हैं—पुत्र को पुत्रीकरणार्थ प्रदान करने का पहला हक पिता का होता है। वह पत्नी से परामर्श करने को बद्ध नहीं है। उसके बाद माता को हक होता है। किन्तु पिता की अनुमति विना वह पुत्र को प्रदान नहीं कर सकती, यदि वह जीवित हो और समझता-बूझता हो। यदि पिता मर चुका हो, या संन्यास ले चुका हो, या समझ-बूझ खोकर अनुमति देने के अयोग्य हो गया हो, तो केवल माता प्रदान कर सकती है, बशर्ते कि पति ने उसको वर्जित न कर रखा हो। यथा—

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः॥ (मनु ९, १६८)
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।
दद्यान् माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्॥ (याज्ञ० २, १३०)

यदि माता-पिता दोनों मर चुके हों, तब तो बालक को प्रदान करने के लिए कोई अधिकृत नहीं रह जाता, न पितामह, न भ्राता, न विमाता।

१. **"हुचराव ब० भीमराव" (१९१८) ४२, बम्बई २७७।**
"लक्ष्मीपति राव ब० वेंकटेश" (१९१७) ४१, बम्बई ३१५।
२. **"श्रीमती उमा ब० गोकुलानन्द" (१८७८) १५, इण्डियन ए० ४०।**
"बिहारीलाल ब० शिवलाल" (१९०४) २६, इलाहाबाद ४७२।
३. **"कंतवा ब० संगन गौडा" (१९४२) बम्बई ३३०।**

मान लीजिए कि राम का पिता "विधर्मी" (मुसलमान) हो जाता है, क्या वह राम को अब भी दत्तक प्रदान कर सकता है ? हाँ, यद्यपि धार्मिक क्रिया उसको प्रतिनिधि द्वारा करानी पड़ेगी।[1] यह निर्णय सन् १८५१ वाले "कास्ट डिस्एविलिटीज रिमूवल ऐक्ट" पर आधारित है, किन्तु हिन्दू प्रकृति व भावना के विपरीत लगता है। मान लीजिए कि राम की विधवा माता पुनर्विवाह कर लेती है। क्या वह अब भी राम को प्रदान कर सकती है ? हाँ।[2] मान लीजिए कि राम का पिता किसी के यहाँ गोद बैठ जाता है। क्या वह राम को पुत्रीकरण के लिए अब भी प्रदान कर सकता है ? हाँ; बम्बई के मतानुसार,[3] न कि नागपुर के मतानुसार।[4] ज्ञातव्य है कि प्रदाता के होशहवास दुरुस्त होने चाहिए और उसको वयःप्राप्त भी हो चुकना चाहिए।

(५) पुत्रीकरण की आवश्यक कृतियां और अनुष्ठान क्या होते हैं—पुत्रीकरण की धार्मिक कृतियाँ "हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र", खण्ड ३ के पृष्ठ ६८७–८९ में वर्णित हैं। उनमें से सर्वोपरि है—(१) जनक या जननी या दोनों द्वारा बालक का प्रदान तथा पालक पिता या माता या दोनों के द्वारा पुत्रीकरण के अभिप्राय से उसका अंगीकार। (२) दत्तक-होम। (क) पालक तथा जनक पक्ष के बीच दत्तक का आदान-प्रदान एक ऐसी अनिवार्य क्रिया है जिकसा लोप न तो द्विज कर सकता है न शूद्र। यहाँ तक कि बिना इसके दत्तक-ग्रहण वैध नहीं वन सकता, चाहे उसकी स्वीकृति मौखिक रूप से या रजिट्री दस्तावेज से व्यक्त कर दी गयी हो।[5] पुत्र को देने और लेने की सादी क्रिया का प्रमाण यदि विश्वासोत्पादक हो, तो वह पुत्रीकरण की वैधता के लिए पर्याप्त समझा जायगा। पुराना हो जाने के कारण जब उपरोक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता तब विविध परिस्थितियों से यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि पुत्रीकरण की वैध शर्तें पूरी हो चुकी थीं। यथा दत्तक-ग्रहण की पालक द्वारा बहुकालीन मान्यता तथा ऐसे अन्य लोगों द्वारा उसकी बहुकालीन मान्यता जिनकी तथ्यों व परिस्थितियों की जानकारी सम्मान्य समझी जा सकती हो।[6] यह याद रहे कि दत्तक को

१. "शामसिंह ब० शान्ताबाई" २५, बम्बई ५५१।
२. "पूता बाई ब० महादू" (१९०९) ३३, बम्बई १०७।
"फकीरप्पा ब० सावित्रेवा" २३, बम्बई ला० रि० ४८२।
३. "मार्तण्ड ब० नारायण" (१९३९), बम्बई ५८६ (फुल बेंच)।
४. "शरदचन्द्र ब० शान्ता बाई" (१९४४) नागपुर ५४४ (फुल बेंच)।
५. "शशिनाथ ब० कृष्णसुन्दरी" (१८८१) ७, इ० एपील्स ३५०।
६. "पन्नालाल ब० चिम्मनप्रकाश" (१९४७), पंजाब ५४।

आदान-प्रदान करने के अधिकार या हक में और उसको शरीरतः लेने व सौंप देने में भेद है। पहली एक मानसिक स्थिति है और उसका प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता। सौंप देना एकमात्र शारीरिक क्रिया है जो अन्य के माध्यम से भी सम्पन्न हो सकती है। अर्थात् प्रथम कोटि के निमित्त प्रतिनिधि की नियुक्ति अवैध और द्वितीय के निमित्त वैध मानी जाती है।[१]

(ख) दत्तक होम का महत्व आदान-प्रदान की अपेक्षा न्यून है। सगोत्र द्विजों में दत्तक-होम आवश्यक नहीं होता।[२] असम गोत्रियों में दत्तक-होम आवश्यक है या नहीं इस पर मतभेद है। मद्रास तथा इलाहाबाद हाई कोर्ट में इस प्रश्न का उत्तर अस्ति-वाची[३] है, और बम्बई में नास्तिवाची।[४] यह आवश्यक नहीं है कि पुत्रीकरण के साथ ही साथ दत्तक-होम कर डाला जाय। होम बाद में हो सकता है। यदि ग्रहीता या प्रदाता की मृत्यु हो जाय, तो होम क्रिया कुछ काल पर्यन्त स्थगित भी की जा सकती है।[५] जैसे आदान-प्रदान की क्रिया प्रत्यायोजित हो सकती है, वैसे ही दत्तक-होम के निमित्त भी प्रतिनिधि नियुक्त हो सकता है।[६]

दत्तक के आदान-प्रदान तथा दत्तक-होम के अतिरिक्त वैधता की यह शर्त भी है कि दोनों पक्षों की तथा यदि दत्तक वयस्क हो तो उसकी भी सम्मति स्वतंत्रता-पूर्वक दी या ली गयी हो। छल-कपट, भ्रम, गलती, प्रसाह (वशीकरण), मिथ्या निरू-पण, अनुचित दबाव ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर हानिग्रस्त पक्ष पुत्रीकरण का उत्सादन करा सकता है।[७] किन्तु प्रतिदेय का लेना-देना ऐसा कारण नहीं माना जाता।[८] पुत्रीकरण जब एक बार हो चुकता है तो उसका विखण्डन करना सब पक्षों के लिए

१. "श्यामसिंह ब० शान्ता बाई" २५, बम्बई ५५१।
"गोविन्दराम ब० शिवप्रसाद" (१९४८) नागपुर ९८।
२. "बाल गंगाधर तिलक ब० श्रीनिवास पंडित" (१९१५) ४२ इ० ए० १३५।
३. "समनाथ ब० बगिसन" (१९४०) मद्रास ९८।
"आत्माराम ब० माधवराव" (१८८४) ६ इलाहाबाद २७६।
४. "गोविन्दप्रसाद ब० रिंदाबाई" (१९२५) ४९, बम्बई ५१५।
५. "वेंकट ब० सुभद्रा" (१८८४) ७, मद्रास ५४८।
६. "लक्ष्मी बाई ब० रामचन्द्र" (१८९८) २२, बम्बई ५९०।
७. "श्री सीताराम ब० श्री हरिहर" (१९११) ३५, बम्बई १६।
८. "नारायण ब० गोपाल राव" (१९२२) ४६, बम्बई ९०८।

असाध्य हो जाता है तथा दत्तक अपने जनक पक्ष में पुनरागमन नहीं कर सकता है।[1] अलबत्ता वह स्वत्व परित्याग करके पालक-पिता की सम्पत्ति को अनंगीकार भले ही कर दे।[2]

(६) **दत्तक ग्रहण के क्या परिणाम होते हैं**—पुत्रीकरण के परिणाम चार स्थूल श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं। अर्थात् देखना चाहिए कि (१) विवाह करने के अधिकार पर, (२) उत्तराधिकार के हक पर, (३) विभाजन में भाग पाने के हक पर और (४) निहित सम्पत्ति को वियुक्त करा पाने के हक पर पुत्रीकरण का क्या प्रभाव पड़ता है। इन प्रश्नों के उत्तर निम्नलिखित स्मृतिवाक्यों पर आधारित नजीरों ने प्रस्तुत किये हैं—

पुत्रान् द्वादश यान् आह नृणां स्वायम्भुवो मनुः।
तेषां षड् बन्धुदायादाः षड् अदायादबान्धवाः॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयन्दत्तश्च शौद्रश्च षड् अदायादबान्धवाः॥ (मनु ९, १५८–६०)
गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्रिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥ (मनु ९, १४२)

(१) **विवाह**—औरस के लिए जो निषेध विवाह-प्रकरण में कहे गये हैं प्रायः वही दत्तक पर लागू होते हैं, यानी जनक व पालक दोनों गोत्रों को बराकर उसे विवाह करना चाहिए। मतलब यह निकलता है कि रिक्थ और गोत्र इन दो को छोड़कर अन्य मामलों (जैसे विवाह) के लिए पुत्रीकरण से रक्त सम्बन्ध का विघटन नहीं होता है। निबन्धकारों में अधिकांश का मत यह लगता है कि मातृकुल की पाँच तथा पितृकुल की सात पीढ़ियों को त्यागना चाहिए।[3] चूँकि दत्तक की पात्रता निर्धारित करने में उसकी माता के साथ पालक के विवाह करने की योग्यता का विचार किया जाता है, इसलिए निष्कर्ष यह मालूम देता है कि दत्तक अपने जनक-कुटुम्ब में से ऐसे बालक

१. "आशा बाई ब० प्रभूलाल", ए० आई० आर० १९६०, राजस्थान ३०४।
२. "लूकर्न ब० पिर्जो" (१९३०) ५७, कलकत्ता १३२२।
३. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ६९३–९६।

को गोद नहीं ले सकता है, जिसको वह उस दशा मे दत्तक ग्रहण नहीं कर सकता था यदि वह जनक-कुटुम्ब में ही बना रहता ।[1]

(२) **उत्तराधिकार का हक**—पुत्रीकरण से दत्तक का जनक-कुटुम्ब में से वियोग व विच्छेद होकर पालक-कुटुम्ब से संयोग व समुत्थान हो जाता है। इसलिए जनक-कुटुम्ब में पुत्रत्व के सारे हकों को गवाँकर पालक-कुटुम्ब में पुत्रत्व के सारे हकों को वह अर्जित कर लेता है। यहाँ तक कि समांशिता की सम्पदा में भी उसका हक या स्वत्व समाप्त हो जाता है और दूसरी में उत्पन्न हो जाता है। यहाँ पर दायभाग और मिताक्षरा में कोई भेद नहीं है। दायभाग के अनुसार दत्तक उस सम्पत्ति के स्वत्व से वंचित नहीं हो जाता जो पुत्रीकरण के पहले उत्तराधिकार द्वारा या विभाजन या दान-उपहार द्वारा या स्वार्जन द्वारा या एकल उत्तरजीविता द्वारा उसमें निहित हो चुका था ।[2] ये नजीरें मनु के "रिक्थं जनयितुर्न हरेत्" वाक्य पर आधारित हैं जिसका अर्थ यह होता है कि दत्तक उस सम्पदा को अपने साथ नहीं ले जा सकता, जिसको उसने पिता से उत्तराधिकार में पाया हो। स्पष्टतः उपरोक्त स्वत्व **पिता के माध्यम से पुत्र को उत्तराधिकार** में नहीं मिलता। जैसे यदि राम का बटवारा अपने पुत्र व पौत्र के साथ हो जाने के बाद एक पौत्र अन्य कुटुम्ब में गोद चला जाता है, तो बटवारे में मिले हुए उस भाग से वह वंचित नहीं हो सकता। किन्तु यदि राम अपने पिता के दायाद के नाते एक सम्पत्ति को पाने के बाद गोद जाता है, तो उस सम्पत्ति को उसे छोड़ ही देना पड़ेगा ।[3]

ऊपर कहा गया है कि दत्तक का जनक-कुटुम्ब से विच्छेद हो जाता है। यदि पुत्रीकरण के समय वह विवाहित था, या सपुत्र था, या उसकी पत्नी के गर्भ में पुत्र था, तो इन लोगों के उत्तराधिकार कैसे विनियमित होंगे ? उसकी पत्नी तो उसके साथ पालक कुटुम्ब में विलयित हो जाती है, क्योंकि पति-पत्नी एकात्मा, दो शरीर

१. **"मूतिया ब० उप्पन" (१८५८), मद्रास सदर दीवानी ११७।**
२. **"राखालराज ब० देवेन्द्र" ५२, कलकत्ता वीकली नोट्स ७७१।**
"श्यामचरन ब० श्रीचरन" (१९२९) ५६, कलकत्ता ११३५।
"वेंकट नरसिंह ब० रंगैया" (१९०६) २९, मद्रास ४३७।
"मानिक बाई ब० गोकुलदास" (१९२५) ४९, बम्बई ५२०।
"वहीना बाई ब० किसनलाल" (१९४९) बम्बई ५८७।
"हरलाल ब० गंगाराम" (१९५१) पंजाब १४२।
३. **"दत्तात्रेय ब० गोविन्द" (१९१६) ४०, बम्बई ४२९।**

माने जाते है।[१] उसके भी स्वत्व पालक कुटुम्ब मे ही उपजते है। किन्तु उसका पुत्र उसके जनक-कुटुम्ब का ही सदस्य बना रहता है और उसके स्वत्व व अधिकार उसी भाँति उपजते व विनियमित होते रहते हैं मानो उसकी वश-परम्परा में कोई बाधा पड़ी ही नहीं थी। वह पुत्र अपने पिता के पालक-कुटुम्ब में कोई हक नहीं अर्जित करता है। यदि उसका पिता गोद बैठ जाने के बाद मर जाय तो उसकी विधवा माँ अपुत्रा समझी जाती है और वह गोद लेने की हकदार हो जाती है। किन्तु वह उसी अपने औरस को दत्तक ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि दाता व ग्रहीता की दो कृतियाँ संयोजित नहीं की जा सकती है।[२] यदि पति के गोद बैठ जाने के पश्चात् गर्भवती पत्नी को पुत्र उत्पन्न हो, तो वह पुत्र अपने पिता के पालक-कुटुम्ब का वशज गिना जायगा और उसी में स्वत्व व अधिकारों को अर्जित करेगा। कारण यह है कि यद्यपि गर्भस्थ होने के समय उसका पिता जनक-कुटुम्ब का अंग था, तथापि उत्पन्न होने के समय वह पालक-कुटुम्ब का अग बन चुका था।[३]

ऊपर कहा गया है कि दत्तक अपने पालक-कुटुम्ब में विलीन होकर उसी का उत्तराधिकारी बन जाता है। अर्थात् वह अपने पालक पिता का, पितामह का, प्रपितामह का, सांपाश्विक कुटुम्बियों का दायाद बन सकता है। विलोमतः पालक कुटुम्ब के उपरोक्त सांपाश्विक जन दत्तक के दायाद बन सकते है, मानो वह औरस रहा हो।[४] उसी प्रकार औरस के तुल्य वह अपनी पालक-माता का, उसके पिता व भ्राता इत्यादि का दायाद बन सकता है। विलोमतः उपरोक्त मातृक कुटुम्बी उसके उत्तराधिकारी बन सकते है।[५] मान लीजिए कि जब लाल ने राम को दत्तक ग्रहण किया तब लाल की पत्नी कची मर चुकी थी। क्या कची का या उसके पिता, भ्राता इत्यादि का उत्तराधिकारी राम अब भा बन सकता है? हाँ, क्योंकि लाल ने राम को जब गोद लिया, तब राम उसका तथा उसकी मृत पत्नी दोनो ही का पुत्र बन गया था।[६] किन्तु यदि पुत्रीकरण के पहले सम्पत्ति किसी दायाद मे निहित हो चुकी हो, तो राम उसको वियुक्त

१. "कलगवदा ब० सोमप्पा" (१९०९) ३३, बम्बई ६६९।
२. "शरदचन्द्र ब० संतव।" (१९४५) नाडपुर ५४४।
३. "अद्वी ब० फकीरप्पा" (१९१८) ४२, बम्बई ५४७।
४. "चन्द्रेश्वर ब० विश्वेश्वर" (१९२६) ५, पटना ७७७।
५. "ऐस० आयंगर ब० पी० थेवंग" (१९३३) ५६, मद्रास ७५९।
६. "सुन्दरम्मा ब० वेंकट सुब्बा" (१९२६) ४९, मद्रास ९४१।

नहीं कर सकेगा।[1] मान लीजिए कि लाल की कची के अतिरिक्त भी पत्नियाँ हैं, किन्तु उनमे से छाँटकर केवल कची के समेत बैठकर वह राम को गोद लेता है। क्या राम उन सब पत्नियों का या उनके पिता-भ्रातादि का उत्तराधिकारी बन सकता है? नहीं, वह कची का तो पुत्र तथा अन्य पत्नियों का वैमात्र सुत समझा जायगा। फलतः राम केवल कंची व उसके भ्राता-पिता आदि का दायाद बन सकता है और विलोमतः वे उसके। किन्तु न वह अन्य माताओं का व उनके भ्राता-पितादि का दायाद बन सकता है और न विलोमतः वे लोग उसके। यदि लाल कंची तथा अन्य कई विधवाओं को छोड़कर मरे, और उनमे से केवल कंची अधिकृत होने के कारण राम को गोद लेती है, तो भी कंची उसकी माता होगी तथा बाकी विधवाएँ उसकी विमाता मानी जायँगी। उनके व उनके पिता-भ्रातादि के उत्तराधिकार के प्रति राम के हक पर भी उपरोक्त सिद्धान्त लागू किया जायगा।[2]

उत्तराधिकार के ही शीर्षक के अन्तर्गत तीन शंकाएँ उठती हैं—(क) पालक-पिता की पृथक् सम्पदा में एवं (ख) समांशिता वाली सम्पदा में दत्तक पुत्र के क्या हक होते हैं? (ग) यदि पुत्रीकरण के पश्चात्, पालक के एक और पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो दत्तक के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है?

(क) यह याद होगा कि पिता को अपनी पृथक् सम्पदा का पूर्ण अधिकार होता है और वह उसका हर प्रकार से अन्य-संक्रमण कर सकता है। वह उसका इच्छापत्र तथा हिबानामा या दानपत्र स्वतंत्रता पूर्वक लिख सकता है और उसके और पुत्रादि न तो बाधा डाल सकते हैं न आपत्ति कर सकते हैं। दत्तक का रुतबा (पद) औरस से न तो बड़ा होता है और न पुत्रीकरण से यह भीतरी आशय ध्वनित होता है कि पालक उसके निमित्त सारी सम्पत्ति को अक्षुण्ण छोड़ जायगा।[3] यह बात और है कि जनक पिता व पालक के बीच ऐसी संविदा पहले से ही हो चुकी हो। उस दशा में पालक उस संविदा से बद्ध होने के कारण सम्पदा का कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकता जो दत्तक के लिए अहितकर प्रतीत हो।[4] पुत्रीकरण चाहे पिता ने स्वतः किया हो चाहे उसकी विधवा ने, उस कर्म से पूर्व-लिखित इच्छापत्र या दानपत्र का विखंडन नहीं

१. "रामकृष्णैया ब० नरसैया" (१९५७) आंध्र प्रदेश १०९।
२. "अन्नपूर्णा ब० फोर्बिस" (१८९९) २३, मद्रास १ (प्रिवी कौं०)।
३. "राजा वेंकट सूर्य ब० कोर्ट आव वार्ड्स" (१९३९) २२, मद्रास ३८३।
"सुब्बा रेड्डी ब० दुराई स्वामी" (१९०७) ३०, मद्रास ३६९।
४. "सुरेन्द्र केशव ब० दुर्गासुन्दरी" (१८९२) १९, इ० ए० १०८।

समझा जा सकता।[1] ज्ञातव्य है कि दायभाग शाखा मे पिता को पूर्ण स्वाधीनता पृथक् व पैतामही दोनों प्रकार की सम्पदा पर होती है। अतः वहाँ भी पूर्वोक्त नियम लागू होते हैं।

(ख) पहले वे कारण सविस्तर बताये जा चुके हैं जिनसे समांशिता वाली सम्पत्ति के अन्य-संक्रमण का समर्थन होता है। जो अन्य-संक्रमण सामान्य समांशियों पर बाध्यकारी होते हैं, वे दत्तक ग्रहण के माध्यम से बने हुए समांशी पर भी बाध्यकारी होंगे।[2] यह भी बताया जा चुका है कि कुछ प्रदेशों में समांशी अपने भाग का संक्रमण वैध आवश्यकता के बिना या अपने भाग से अधिक का अन्य-संक्रमण कर सकता है। वहाँ पर उक्त संक्रमण ऐसे दत्तक के ऊपर भी बाध्यकारी होंगे, जिसका समांशिता में पदार्पण सक्रमण के अनन्तर हुआ हो।[3]

जब संयुक्त कुटुम्ब का कोई सदस्य पुत्रीकरण कर लेता है, तो दत्तक भी उसी तिथि से उस कुटुम्ब का सदस्य बन जाता है। अर्थात् उसी क्षण से उत्तरजीविता का हक उसमें अवस्थित हो जाता है। दत्तक के हकों में पालक किसी कृति, लेख या इच्छापत्र के द्वारा बाधा या त्रुटि नहीं पैदा कर सकता। यह तो ज्ञात ही है कि सम्पत्ति में एकल-उत्तरजीवी समांशी के अबाध, पूर्ण अधिकार पैदा हो जाते हैं। वह उसका यथेच्छ हस्तान्तरण कर सकता है, किन्तु पुत्रीकरण के पश्चात् नहीं। इच्छापत्र की शर्तें उस दत्तक के ऊपर बाध्यकारी होती हैं जिसको इच्छापत्र-कर्त्ता की विधवा ने उसमें दिये गये अधिकार के आधार पर गोद लिया हो।

(ग) यह व्यापक नियम बतलाया गया है कि दायप्राप्ति के विषय में दत्तक के हक औरस के समान होते हैं। उसका एक महत्वपूर्ण अपवाद भी ज्ञातव्य है। यदि पालक को दत्तक-ग्रहण के बाद एक पुत्र पैदा हो जाय तो इस प्रतिद्वन्द्विता में क्या कानून दोनों को सम स्तर पर रखेगा? बौधायन तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में, जो ईसा से ३०० से ६०० वर्ष तक पूर्व के ग्रन्थ हैं, यह विहित है कि दत्तक को चतुर्थांश मिलेगा। स्मृतियों तथा निबन्धों में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है तथा उपरोक्त "चतुर्थांश" के अर्थ भी विभिन्न लगाये गये हैं। विवादचिन्तामणि तथा दायभाग में, जो ईसा के लगभग १००० वर्ष बाद के ग्रन्थ है, कात्यायनस्मृति के, जो उनसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व की है, इस वाक्य का आश्रय लिया गया है—

१. "कल्याणसुन्दरी ब० करुप्पा" (१९२७) ५४, इ० एपील्स ८९।
"कृष्णमूर्ति ब० कृष्णमूर्ति" (१९२७) ५४, इ० एपील्स २४८।
२. "पुत्तप्पा ब० बसप्पा" (१९५३) मैसूर ११३।
३. "बसावन तप्पा ब० मत्तप्पा" (१९३९) बम्बई २४५।

उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः ।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः ।।

फलतः **बंगाल** मे, दत्तक को पालक की सम्पत्ति मे तृतीयांश का भागी माना जाता है ।

फलतः **बनारस** मे, दत्तक को पालक की सम्पत्ति मे चतुर्थांश का भागी माना जाता है ।

फलतः **बम्बई, मद्रास** में, दत्तक को पालक की सम्पत्ति में पंचमांश का भागी माना जाता है।

यह नियम **शूद्रों** पर लागू नही होता। बंगाल व मद्रास मे शूद्र के औरस तथा दत्तक पुत्र सम भाग पाते है।[१] बम्बई में दत्तक को केवल पचमांश मिलता है।[२] मध्य प्रदेश के बनारस उपशाखा वालों मे दत्तक को चतुर्थांश मिलता है।

उपरोक्त तीन शंकाओं के बाद चार अन्य प्रश्न उठते हैं, जिनका समाधान यहीं पर कर लेना उचित है। (क) उपरोक्त वैध हकों व परिणामों मे क्या दत्तक तथा पालक के बीच की गयी संविदा के आधार पर परिवर्तन किया जा सकता है ? (ख) जो स्वत्व किसी अन्य व्यक्ति में निहित हो चुका है, क्या उसको दत्तक वियुक्त कर सकता है ? (ग) जो अन्य-संक्रमण पहले किये जा चुके है उनकी गति क्या होगी ? (घ) जो अध्यर्पण विधवा पहले कर चुकी है उसके विषय में दत्तक की बद्धता कहाँ तक चलेगी ? अब इनमें से प्रत्येक प्रश्न पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

(क) यदि पुत्रीकरण के समय दत्तक वयस्कता प्राप्त कर चुका हो तब वह पालक पिता या ग्रहीता विधवा के साथ अपने हकों की अपह्लासक संविदा कर सकता है। ऐसी अपह्लासक सविदा उस पर व विपक्ष पर पूर्णतया बाध्यकारी समझी जायगी।[४] यदि वह अवयस्क हो तब यह कठिनाई पैदा होती है कि सविदा अवैध समझी जायगी, क्योंकि अवयस्क मे कानूनी क्षमता नहीं होती। क्या ऐसी दशा मे दत्तक के जनक-पिता को पालक-पिता या उसकी विधवा के साथ ऐसी संविदा करने का अधिकार होता है जिससे दत्तक के सामान्य हकों का न्यूनीकरण हो जाय ? हाँ, यदि उन लोगों के समाज मे इस प्रकार की संविदा करने की प्रथा प्रचलित हो और साथ ही साथ यदि न्यूनी-

१. "पेर्राजू ब० सुब्बारायडू" (१९२१) ४८, इ० एपील्स २८०।
२. "तुकाराम ब० रामचन्द्र" (१९२५) ४९, बम्बई ६७२।
३. "लछमन ब० वयाबाई" (१९५५) नागपुर ६५६।
४. "पांडुरंग ब० ऐन० रामकिशन" (१९३२) ५६, बम्बई ३९५।

करण इससे अधिक न हो कि पालक-पिता की विधवा आजीवन सम्पत्ति का सेवन या भोग करेगी। यदि न्यूनीकरण इससे अधिक बढ़ जाय और वयस्क होने के बाद दत्तक अनुसमर्थन भी न करे[1] तो वह संविदा न तो कानून के, न रिवाज के आधार पर प्रभावशाली हो सकती है।[2] किन्तु यदि जनक पिता ने ऐसी संविदा कर ली हो कि विधवा-ग्रहीत्री अपने पति की सम्पदा के एक अंश की पूर्ण स्वामिनी बनी रहेगी, तो वह दत्तक के ऊपर बाध्यकारी हो जायगी, बशर्ते कि वह उचित, निश्छल और दत्तक के निमित्त लाभकारी प्रतीत होती हो।[3]

(ख) जब सम्पदा किसी मे निहित हो चुके, तो उसका वियुक्त होना असम्भव सी घटना लगती है, परन्तु हिन्दू ला में यह विचित्र घटना भी असामान्य परिस्थितियों में घट सकती है। उन्हीं पर अब विचार करना है। ध्यान रहे कि जब कोई पुरुष स्वतः दत्तक ग्रहण क्रिया कर डालता है तब वियुक्तीकरण का कोई प्रश्न उठता ही नहीं; क्योंकि इधर उसकी आँखें बन्द हुई कि उधर उसकी सारी सम्पदा दत्तक में निहित हुई। किन्तु जब उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा गोद लेती है, तो इस बीच में उसकी सम्पदा किसी न किसी में निहित हो चुकती है; या तो स्वतः उसकी विधवा में या अन्य लोगों में। यदि विधवा में निहित हुई है, तब तो मामला सरल है, क्योंकि दत्तक ग्रहण करके वह स्वामित्व दत्तक को सहज रूपेण हस्तान्तरित कर देती है। सम्पदा से कोई गैर नहीं वियुक्त होता है। यदि स्वामित्व किसी अन्य में निहित हो चुका है, तब यह जटिल प्रश्न उठता है कि क्या दत्तक अपने पालक-पिता की सम्पदा लौटा पाने का हकदार हर दशा में हो जाता है? वह पुत्रीकरण के समय तक चाहे जिसके पास पहुँच चुकी हो। यह प्रश्न उस दशा में उठता है कि जब दत्तक का पालक पिता पृथक् हो।

जब वह एक संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य रहा हो, तो दो सूरतें पैदा हो सकती हैं। एक तो यह कि उत्तरजीविता के नियमानुसार समांशिता वाली सम्पत्ति अभी यानी पुत्रीकरण के वक्त उत्तरजीवी समांशियों के ही पास मौजूद है। दूसरी यह कि समांशिता का अन्तिम व एकल सदस्य भी मर चुका है और सम्पदा उसके दायादों के पास पहुँच चुकी है। पहली सूरत में कोई झंझट नहीं है, क्योंकि दत्तक समांशिता का सदस्य बन बैठता है और सम्पत्ति में वैसे ही हितों को पा लेता है। दूसरी सूरत में वियोजन का

१. "ऐस० चेट्टियर ब० वी० चेट्टियर" (१९३२) ५५, मद्रास ४०८।
२. "कृष्णमूर्ति ब० कृष्णमूर्ति" (१९२७) ५४, इ० एपील्स २४८।
३. "राजू ब० नगम्मल" (१९२९) ५२, मद्रास १२८।

प्रश्न उठता है। एक बात जान लेनी चाहिए। जैसा कि बताया जा चुका है, पत्नी के मर जाने पर जब विधुर पुत्रीकरण करता है, तो दत्तक न केवल उसके, वरच उसकी मृत पत्नी के पुत्र के भी हकों से युक्त हो जाता है। अतः ऐसा दत्तक अपनी मृत पालक-माता के स्त्रीधन का हकदार बनकर उसे उन लोगों के हाथ से छुड़ा ला सकता है, जिन्होंने उस (मृत-माता) के दायादों के नाते सम्पत्ति को पा लिया था। यह परिणाम इस अद्भुत वैध कल्पना से निकलता है कि दत्तक उस तिथि को पैदा हो गया था जब पालक माता-पिता मे से कोई मरा था। अर्थात् कानून ने दत्तक-ग्रहण को भूतलक्षी (अतीतकाल-व्यापी) क्रियाशीलता प्रदान कर दी है। इसी को अंग्रेजी भाषा में "डाक्ट्रिन आव रिलेशन बैक" (भूत-लक्षितावाद) कहते हैं। इस वाद या कल्पना का आविष्कार इस बात को प्रस्थापित करने या इस विश्वास को पैदा करने के अभिप्राय से किया गया था कि पालक माता-पिता वंशहीन या अपुत्र नहीं मरे थे और इसलिए अपुत्रता की अपकीर्ति व अधोगति के भागी नहीं माने जा सकते थे। किन्तु उस वाद का विस्तार अन्य बातों के निमित्त भी किया जाने लगा। यहाँ तक उसको विस्तीर्ण किया गया कि मूल्य देकर नेकनीयती के साथ संक्रान्तधारी बनने वालों से भी सम्पदा छिन गयी। यह अन्यायपूर्ण कुपरिणाम देखकर सुप्रीम कोर्ट ने प्राधिकारी रूप से निर्णीत कर दिया है[1] कि निहित सम्पदा को वियुक्त करने वाला दत्तक का हक एक वैध कल्पना या कानूनी गढ़न्त पर अवलम्बित है और उसको इस हद तक व इस भाँति से विस्तृत नहीं करना चाहिए कि अन्यायपूर्ण परिणाम उत्पन्न हो जाय।

उक्त वाद से यह तर्कसंगत निष्कर्ष निकालना तो उचित और जायज है कि वे असमर्थनीय अन्य-संक्रमण उत्सादित हो जाने चाहिए जो सीमित या अस्थायी दायादा (विधवा) ने दत्तक ग्रहण के पूर्व और पालक पिता (मृत स्वामी) की मृत्यु के पश्चात् पिता की पृथक् सम्पदा के विषय में कर डाले हों। मिताक्षरा वाली समांशिता की सम्पदा में मृत पालक-पिता का जो हित रहा हो, उसके विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। उदाहरणार्थ, पालक-पिता के देहान्त के बाद और दत्तक ग्रहण के पहले यदि बटवारा हो गया हो और प्रत्येक समांशी में उसका भाग निहित हो चुका हो, तो बटवारा फिर से खोला जा सकता है, जिसमें कि समुत्थानों तथा अन्तःकालीन लाभ के सहित दत्तक भी अपने पालक-पिता का भाग पा सके।

भूत-लक्षिता वाद के युक्तिसंगत फलस्वरूप निम्नोक्त दशाओं में निहित सम्पदा को वियुक्त करने का अधिकार दत्तक में माना जाता है—

१. "श्रीनिवास ब० नारायण", ए० आई० आर० १९५४, सु० कोर्ट ३७९।

(१) उस पृथक् पैतामही सम्पत्ति को, जो अस्थायी या सीमित दायादा को मिल चुकी हो, वह प्राप्त कर सकता है।[1]

(२) उस अंश को प्राप्त करने के निमित्त, जो उसके मृत पालक-पिता को मिलता, यदि वह विभाजन पर्यन्त जीवित रहता; दत्तक-पुत्र बटवारे का पुनरुद्घाटन करा सकता है।[2]

(३) यह जानते हुए कि पुत्रीकरण होने वाला है, यदि समांशियों ने संयुक्त सम्पत्ति में से कुछ अंशों का असमर्थनीय अन्य-संक्रमण कर डाला है, तो दत्तक को यह हक है कि उन संक्रमणों का भार यथासम्भव उन्ही समांशियों के भागों पर डलवा दे, जिसमें कि वह अपना भाग भार-मुक्त अवस्था मे पा सके।[3] यह असल में विभाजन के पुनरुद्घाटन की ही एक औचित्य-सम्मत विधि है, जिसको दक्षिण भारत मे अपनाया गया है।

(४) जैसा कि ऊपर कहा गया है, जब विभाजन का पुनरुद्घाटन हो, तब दत्तक को अपना भाग पाने के साथ अन्तरिम लाभ का व समुत्थानों का आनुपातिक अंश भी पाने का हक हो जाता है।[4]

(५) दत्तक को ऐसे सक्रान्तधारी को वियुक्त कर देने का अधिकार है, जिसने कि विधवा-पालक माता से बिना आवश्यकता के या बिना सम्पदा के हितार्थ, सम्पत्ति का हस्तान्तरण करा रखा हो। यदि विधवा ने निकटतम प्रत्यावर्तियों के हित में अध्यर्पण कर रखा हो, तो वह उनको भी वियुक्त कर सकता है तथा उनके व उनके दायादों के संक्रान्तधारियों तक को भी।[5] प्रत्यावर्तियों की तरह दत्तक को संक्रान्तग्राही से संपत्ति छुड़ा पाने के निमित्त विधवा की मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है।[6]

इसके प्रतिकूल निम्नलिखित दशाओं में निहित सम्पदा को वियुक्त करने का हक दत्तक को नहीं होता—

१. "श्रीनिवास ब० नारायण", ए० आई० आर० १९५४, सु० कोर्ट ३७९।
२. "तात्या ब० रत्नाबाई", ए० आई० आर० १९४९, फीड्रल कोर्ट १०१।
"सिंग्रियह ब० रामानुज", ए० आई० आर० १९५९, मैसूर २३९।
३. "गुरुपादप्पा ब० करिशिद्धप्पा", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ३१८।
४. "गुरुपादप्पा ब० करिशिद्धप्पा", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ३१८।
५. "महतू ब० शंकर", १९५३, बम्बई १२३१।
"बाहुबली ब० गनदप्पा", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ४५१।
६. "बाहुबली ब० गनदप्पा", ए० आई० आर० १९५४, बम्बई ४५१।

(१) "मृत्यु होते ही इच्छापत्र जाग उठता है और जब तक पुत्रीकरण हो, सम्पदा निकल जाती है"—इस सूत्र का अवलम्ब लेकर नजीरों ने यह नियम बिना दिया है कि दत्तक पैतामही या संयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा के उस अन्य-सक्रमण को वियुक्त नहीं करा सकता, जो पालक-पिता ने उसी इच्छापत्र के माध्यम से कर दिया हो जिसके द्वारा उसने पुत्रीकरण का अधिकार दिया हो। किन्तु यह सूत्र उपरोक्त भूत-लक्षिता वाद के प्रतिकूल है, क्योंकि दत्तक भी तो उसी क्षण में अपने पालक-पिता का पुत्र बन जाता है, जब उसकी (पिता की) मृत्यु घटित हो। किन्तु पूर्वानुपर नजीरों की शृंखला ने इस सूत्र को इतनी दृढ़ता से प्रतिष्ठित कर दिया है कि उससे मतभेद प्रकट करना अहितकर मालूम पड़ता है।[१]

(२) सम्भव है कि पालक पिता के (क) सांपार्श्विक की[२] सम्पदा, या (ख) उस (पिता) की मृत पत्नी की सम्पदा,[३] या (ग) उस पत्नी के किसी सम्बन्धी की सम्पदा किसी दायाद में उत्तराधिकार के रास्ते निहित हो चुकी हो, किन्तु यदि दत्तक का पुत्रीकरण उत्तराधिकार खुलते समय (अर्थात् जब उपरोक्त व्यक्ति मरे थे) सम्पन्न हो चुका होता, तो उस दायाद के बजाय स्वतः दत्तक को (वह) मिल जाती। ऐसी निहित हो चुकने वाली सम्पदा को दत्तक वियुक्त नहीं करा सकता, जैसा कि दृष्टान्त देकर बताया जा चुका है।

(३) सम्भव है कि उत्तराधिकार को छोड़कर अन्य प्रकार या रीति से (जैसे हिबानामा, जो बिना प्रतिदेय के होता है, या बैनामा, जो प्रतिदेय के बदले में होता है) सम्पदा या सम्पदांश एकल उत्तरजीवी-समांशी के हाथ से निकल कर संक्रान्तग्राही में निहित हो चुका है। ऐसी निहित सम्पदा को भी दत्तक वियुक्त नहीं करा सकता,[४] जैसा कि प्रिवी कौंसिल ने व्यक्त किया है—"जब सम्पदा का अखण्ड स्वामी जीवित व्यक्तियों के मध्य होने वाले सौदे के फलस्वरूप उसका हस्तान्तरण एक जीवित व्यक्ति

१. "कृष्णमूर्ति ब० कृष्णमूर्ति", ए० आई० आर० १९२७, प्रि० कौं० १३९। "डी० लक्ष्मी नरसिंहम ब० जी० राजेश्वरी", ए० आई० आर० १९५५, आंध्र प्रदेश २७८।
२. "श्रीनिवास ब नारायण", ए० आई० आर० १९५४, सु० कोर्ट ३७९।
३. "शिवगामी ब० श्यामसुन्दर", ए० आई० आर० १९५६, मद्रास ३२३। "के० रामकृष्णैया ब० एम० नरसैया", ए० आई० आर० १९५७, आंध्र प्रदेश १०९।
४. "झुंकारी बहू ब० फूलचंद्र", ए० आई० आर० १९५८, मध्य प्र० २६१। "पार्थसारथि ब० श्रीनिवास", ए० आई० आर० १९५९, आं० प्र० ५१२।

के हित में कर चुकता है, तो बाद में गोद लिय हुए दत्तक का कोई भी हक उस हस्तान्तरित सम्पदा को प्रभावित नहीं कर सकता।"[१] यद्यपि उपरोक्त अभिव्यक्ति में "इण्टर वाइवोस डिस्पोजीशन" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है दो जीवित व्यक्तियों के बीच सौदा (जैसे बै, हिबा), तथापि इच्छापत्रीय-संक्रमण (जो इन्टर वाइवोस डिस्पोजीशन नहीं है) तथा हिबा व बै (जो इण्टर वाइवोस डिस्पोजीशन हैं) के बीच इस प्रसंग में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। इस पर भी नजीरों की तारतम्यता ने उपरोक्त अभिव्यक्ति का आश्रय लेकर इच्छापत्रीय संक्रमण पर वियुक्ति के निषेधात्मक उपरोक्त नियम का विनियोग नहीं किया है।[२]

(४) सम्भव है कि पालक-विधवा के पास अपना स्त्रीधन (जिसकी सविस्तर व्याख्या पृथक् प्रकरण में हो चुकी है) भी हो। गोद बैठने के पश्चात् दत्तक उस सम्पदा को भी वियुक्त नहीं करा सकता।

दत्तक को औरस का पद व अधिकार ही नहीं मिल जाते; उसके ऊपर औरस पुत्र के कर्तव्य व दायित्व भी आ जाते हैं। विधवा जब गोद लेती है तो पति से प्राप्त सम्पदा उससे वियुक्त हो जाती है। उसका भरण-पोषण उसी सम्पदा से करते रहने का दायित्व दत्तक के ऊपर आ जाता है।[३] यह बात दूसरी है कि इस दायित्व के विषय में दोनों के बीच कोई संविदा पहले ही हो चुकी हो। उत्तराधिकार वाले प्रकरण में बताया गया था कि अनर्ह दायाद का पुत्र उसकी तरह दाय प्राप्ति से वंचित नहीं किया जाता। इस प्रकरण में यह बताया गया है कि औरस तथा दत्तक के हक समान होते हैं। किन्तु ज्ञातव्य है कि अनर्ह दायाद का दत्तक उसके औरस की तरह दाय प्राप्त नहीं कर सकता।[४] इस तरह से दत्तक व औरस के हकों में दो अन्तर हैं—(१) जब पुत्रीकरण के बाद औरस पैदा हो जाता है, तो दत्तक को सम्पदा में औरस के बराबर अंश नहीं मिलता। (२) अनर्ह दायाद का औरस पुत्र तो उत्तराधिकार का हकदार हो जाता है, किन्तु अनर्ह का दत्तक नहीं। दोनों में रहने वाले इस अन्तर को याद रखना चाहिए।

दत्तक के वियुक्तकारी अधिकार की जो चर्चा ऊपर हो चुकी है उसका सिद्धान्त यह मालूम देता है कि पालक-पिताकृत अधिकृत संक्रमण दत्तक के ऊपर बाध्यकारी

१. "कृष्णमूर्ति ब० कृष्णमूर्ति", ए० आई० आर० १९२७, प्रि० कौं० १३९।
२. प्रो० जे० डी० एम० डेरेट प्रणीत मा० हिन्दू ला १२४–२८।
३. "दलेल ब० अम्बिका" (१९०३) २५ इलाहाबाद २६६।
४. मिताक्षरा २, १०–११।

होते हैं, जैसे कि औरस पर। पालक-विधवाकृत अनधिकृत संक्रमण उस पर बाध्यकारी नहीं होते और पुत्रीकरण के बाद तो वह हस्तान्तरण कर ही नहीं सकती। याद रहे कि संक्रमण को वियुक्त करा पाने के लिए प्रत्यावर्ती को तो विधवा की मृत्यु की प्रतीक्षा, करनी पड़ती है, किन्तु दत्तक इस कार्य मे तुरन्त प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि उसका हक पुत्रीकरण के होते ही पैदा हो जाता है।

संक्रमण तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी वियुक्तकारी हक के सम्बन्ध में ऊपर नियम बतलाये गये है। विधवा ने यदि अपने सीमित स्वामित्व का अध्यर्पण पुत्रीकरण के पहले कर दिया हो, तो प्रत्यावर्तियों को उससे वियुक्त कराने के क्या नियम हैं? विधि-संगत अध्यपण के पश्चात् सम्पदा विधवा से छूटकर प्रत्यावर्तियों मे निहित तो अवश्य हो जाती है, किन्तु ध्यान रहे कि पुत्रीकरण उपरोक्त भूत-लक्षितावाद वाली वैधिक कल्पना के प्रभाव से उसी क्षण में क्रियाशील हो उठता है जब विधवा के पति, अर्थात् मृत पालक-पिता ने प्राण त्याग किया था। इसलिए यह परिणाम निकलता है कि अध्यर्पण के अवसर पर भी अध्यर्पित सम्पदा का स्वामी दत्तक था, अर्थात् न विधवा को उसमे आजीवन स्वत्व था, न अध्यर्पण-ग्रहीताओं को ही उसमे प्रत्यावर्ती हित था।[१]

दत्तक-ग्रहण के परिणामों के ऊपर कई पहलुओं से विचार किया गया। अब पुत्रीकरण से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों को भी जान लेना चाहिए। **एक तो** यदि पुत्रीकरण प्रमाणित न हो या अवैध निकल जाय, तो दत्तक से न केवल पालक से मिली हुई सम्पदा वियुक्त हो जायगी, वरन् वह सम्पदा भी जो दत्तक होने के नाते उसको किसी से इच्छापत्र या हिवा के द्वारा मिली हो। दूसरी कोटि में वह सम्पदा समाहित नही की जायगी, जो दत्तक होने के नाते नही, अपितु स्वतत्र अपने व्यक्तिगत रूप से उसको किसी से मिली हो।[२] **दूसरे,** वह जनक-कुटुम्व मे अपने हकों से वचित नहीं होता।[३] **तीसरे,** यथोचित निष्पादन वाली मान्यता के आधार पर दत्तक-ग्रहण न तो प्रमाणित मान लिया जा सकता है न वैध। उसका विश्वासोत्पादक प्रमाण आना चाहिए, क्योंकि धर्मशास्त्रीय नियम अनुल्लघनीय है।[४] "यथोचित निष्पादन" की मान्यता को "फैक्टम वैलेट" कहते है, अर्थात् जो वास्तविक तथ्य बन चुका है उसको हजारों शास्त्रीय

१. **"बाहुबली ब० गुनदप्पा"** (१९५४), **बम्बई १०२६ (फुल बेंच)।**
२. **"फणीन्द्र देव ब० राजेश्वर"** (१८८५) १२ इ० एपील्स ७२।
"सुब्बरैयर ब० सुब्बम्मल" (१९०१) २७, इ० एपील्स १६२।
३. **"वैद्यलिंगम ब० नटेश"** (१९१४) ३७, मद्रास ५२९।
४. **"त्रिकं गौडा मल्लं गौडा ब० एस० पाटील"** (१९४३), **बम्बई ७०६।**

वचन या युक्तियाँ बदल नही सकतीं, यथा "वचनशतेनापि वस्तुनोऽन्यथाकरणाशक्तेः", (दायभाग)। **चौथे,** प्रतिष्टम्भ या "इस्टापेल" के आधार पर दत्तक-ग्रहण को अस्वीकार करने से वह व्यक्ति वंचित अथवा निरोधित किया जा सकता है, जिसने अपनी कृति, अकृति या घोषणा के द्वारा दूसरो में यह धारणा उत्पन्न कर दी हो कि पुत्रीकरण वास्तव में सम्पन्न हुआ था और वैध था।[1]

कृत्रिम पुत्र और घर-जमाई

ऊपर कहा जा चुका है कि पुत्रीकरण की दो ही रीतियाँ अब प्रचलित रह गयी हैं—**दत्तक** जिसकी वार्ता अभी तक सुनायी गयी है और **कृत्रिम** जो मिथिला उपशाखा में प्रचलित है। इस दूसरे की विलक्षणताएँ ये हैं—कृत्रिम की भी सम्मति होनी चाहिए। अतः उसको वयःप्राप्त आयु का होना चाहिए। **दूसरे** उसका व पालक का क्या सम्बन्ध है, इससे कोई मतलब नहीं अवश्य ही दोनों को सवर्ण होना चाहिए। **तीसरे,** कोई कर्मकाण्ड या लेख या देना-लेना इसके लिए जरूरी नहीं होता। **चौथे,** पति, पत्नी दोनों अपने-अपने लिए कृत्रिम पुत्र ग्रहण कर सकते हैं। एक-दूसरे की सम्मति लेने की आवश्यकता नही होती। विधवा भी अपने लिए ऐसा पुत्र गोद बैठा सकती है। उसको किसी की अनुमति लेने की जरूरत नहीं। न तो पत्नी को, न विधवा को अधिकार है कि अपने पति के लिए पुत्रीकरण करे। **पांचवें,** कृत्रिम पुत्र बन जाने से वह अपने जनक-कुटुम्ब में उत्तराधिकारी हकों से वंचित नहीं हो जाता। **छठे,** अपने पालक-कुटुम्ब में सिवा अपने पालक के वह किसी का दायाद नहीं बन सकता है। **सातवें,** यदि पुत्रीकरण के उपरान्त औरस पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो कृत्रिम निर्मूल हो जाता है और कोई अंश नहीं पाता।[2]

कृत्रिम तथा दत्तक के अतिरिक्त कई रिवाजी पुत्रीकरण भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित पाये जाते है, जैसे **इल्लतम्** आंध्र व मद्रास में, **सर्वस्वदानम्** केरल में, **घर-जवाई, खाना-दमाद** बंगाल-पंजाब में। यद्यपि इन विन्यासों को पुत्रीकरण के भेद कहने का प्रचलन है तथापि वास्तव में ये विवाह सम्बन्धी अनुबन्ध होते हैं, जिसके आश्रय से दामाद को ससुराल में एक निश्चित पद व मर्यादा मिल जाती है तथा संविदा के अनु-

१. धारा ११५, इण्डियन एवीडेन्स ऐक्ट।
मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, ६७४–७५।
२. "कन्हैया ब० सूगा", ए० आई० आर० १९२६, पटना ९०।
"गोकुल ब० जानकी", ए० आई० आर० १९५५, पटना ४८७।

सार ससुर की सम्पदा में दायप्राप्ति का हक[1] भी। माननीय जस्टिस वरदाचार्यार का कथन है—"इल्लतम् जामाता को दत्तक पुत्र कहना किसी भी अर्थ में यथार्थ या सत्य नहीं है।"[2] असल में इन रिवाजी पुत्रीकरणों के प्रयोजन तथा दत्तक या कृत्रिम के अभिप्राय में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह विशुद्ध लौकिक, वह मुख्यतः पारलौकिक होता है। पूर्वोक्त विन्यास से पालक पिता को एक दायाद सुलभ हो जाता है और कृषि या व्यापार चलाने के लिए एक कार्यकर्त्ता। इन लोगों के हक कानून से नहीं वरंच अनुबन्ध द्वारा प्रशासित होते हैं।

इनमें से इल्लतम के कानूनी हक (संविदा के अतिरिक्त) अति सीमित हैं। एक तो वह उत्तरजीविता के आधार पर दाय नहीं प्राप्त कर सकता,[3] और स्वतः उसके दायाद उसी के जनक-कुटुम्ब में से आते हैं।[4] स्वतः उसको अन्य-संक्रमणों के विरुद्ध आपत्ति करने या बटवारा कराने का अधिकार नहीं होता और उसकी सन्तान पालक-कुटुम्ब की सदस्य नहीं गिनी जाती।[5] उसके ससुर के औरस ,या दत्तक पुत्र के दायाद से उसकी विधवा भरण-पोषण की अभ्यर्थना (माँग) नहीं कर सकती।[6] यदि पालक की इच्छापत्र-विहीन मृत्यु हो जाय, तो क्या घर-जमाई, इल्लतम या सर्वस्वदानम वाला पुत्र उसका एक पुत्र के तुल्य उत्तराधिकारी बन सकता है? रिवाजी कानून के अनुसार, हाँ।[7] इन नकली पुत्रों के उत्तराधिकारी हक तो रिवाज के ऊपर आधारित होते हैं तथा अन्य प्रकार के हक संविदा के ऊपर।[8]

इन प्रकारों के पुत्रीकरण में दो तथ्य स्पष्टतया प्रमाणित होने चाहिए। एक तो यह कि पालक की पुत्री के साथ दत्तक का विवाह हो गया था। दूसरे यह कि पालक व दत्तक के बीच सम्पदा के विषय में अमुक संविदा हुई थी। यदि संविदा के आधार

१. "नागी ब० नंजुंदप्पा", ए० आई० आर० १९४०, मद्रास ७६१।
२. "मूथल ब० संकरप्पा", ए० आई० आर० १९३५, मद्रास ३।
३. "सीतन्ना ब० वीरन्ना", ए० आई० आर० १९३४, प्रि० कौंसिल १०५।
४. "चेनचम्मा ब० सुब्बैया" (१८८६) ९, मद्रास ११४।
५. "मूथल ब० संकरप्पा", ए० आई० आर० १९३५, मद्रास ३।
६. "ए० वेंकट पड्डू ब० एम० अच्छैयम्मा", ए० आई० आर० १९४५, मद्रास १७२।
७. "पी० लक्ष्मी ब० एल० लक्ष्मी", ए० आई० आर० १९५७, सु० कोर्ट ३१४
८. "नीलकंठन ब० वेलायुधन", ए० आई० आर० १९५८, सु० कोर्ट ८३२।

पर ऐसे दत्तकों को सम्पत्ति का अंश मिल जाय तो वह उनकी स्वार्जित या पृथक् सम्पदा मानी जाती है।[1] ज्ञातव्य है कि पालक-पिता के घर में बस जाने के पहले उसकी पुत्री के साथ विवाह सम्पन्न हो जाना अनिवार्य नहीं है। ऐसे दत्तक का ब्याह बाद में भी हो जा सकता है।[2] पुत्रीकरण के विषय का अध्ययन कर चुकने के बाद अब भरण-पोषण के ऊपर चिन्तन किया जायगा।

१. "मुल्ला रेड्डी ब० पदम्मा" (१८९४), मद्रास ४८।
२. "नरसैया ब० रामचन्द्रैया" (१९५६), आंध्र प्रदेश २०६।

प्रकरण १६

भरण-पोषण

सन् १९५६ में पारित "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" अधिनियम भरण-पोषण के सारे नियमों को परिपूर्ण रूप से समावेष्टित नहीं करता, तथापि जिन मामलों के नियम उसमे विहित हैं उनका निर्णय उन्हीं नियमों के अनुकूल हो सकता है। अर्थात् इस अधिनियम ने उन सब वैधानिक, शास्त्रीय अथवा रिवाजी नियमों को निष्प्रभावित कर दिया है जो उन मामलों पर इसके पहले लागू किये जाते थे। इसके पूर्व जो और जैसा कानून विद्यमान था वह अब प्रस्तुत किया जाता है। याद रहे कि यह विषय हिन्दू ला का महत्वपूर्ण अग है। संसार के अधिक से अधिक जीवों का यथाशक्ति भरण-पोषण करना गृहस्थाश्रम का परम धर्म होता है।

भरण-पोषण की पूर्ति करने का दायित्व सापेक्ष तथा निरपेक्ष होता है। सम्पदा प्राप्त करने या कब्जा पाने के उपलक्ष्य में किसी अन्य के पोषण करने का कर्तव्य जब जिम्मे आता है, तो उसे सापेक्ष दायित्व कहते हैं। सम्पदा मिली हो या न मिली हो, बिना इसका विचार किये, दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होने मात्र के कारण उसके भरण-पोषण का भार जब पड़ जाता है, तो उसे निरपेक्ष दायित्व कहते हैं। निरपेक्ष दायित्व को व्यक्तिगत दायित्व भी कहते है। सापेक्ष दायित्व में आश्रितों के भरण-पोषण की अपेक्षा मृत प्रभु के ऋण को वरीयता दी जाती है।[1]

वृद्धौ च माता-पितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ (मनु)
पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। (बौधायन धर्म सू० २-२-४८)
पितापुत्र-स्वसृ-भ्रातृ-दम्पत्याचार्य्यशिष्यकाः।
एषाम् अपतितान्योन्य-त्यागी च शतदण्डभाक्॥ (याज्ञ० २, २३७)

इन वाक्यों की तरह अन्य वचन भी है, यथा "पुत्रान् उत्पाद्य संस्कृत्य वृत्तिं चैषां प्रकल्पयेत्।" (मिताक्षरा) इनसे विदित होता है कि कतिपय सगे सम्बन्धी ऐसे भी होते हैं, जिनके प्रति दायित्व अप्रतिबन्ध या निरपेक्ष होता है। इन वचनों के अति-

१. "जवाहरसिंह ब० प्रद्युमनसिंह" (१९३३) १४, लाहौर ३९९।

रिक्त अन्य शास्त्रीय वचन दूसरे प्रकार के दायित्व को इंगित करते हैं। यथा "स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयम् ।" (याज्ञवल्क्य २, १७५) एवं—

पितृव्य-गुरु-दौहित्रान् भर्तुः स्वस्रीय-मातुलान् ।
पूजयेत् कव्यपूर्त्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः ॥ (बृहस्पति)
मृते भर्त्तर्य्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ।
विनियोगेऽर्थरक्षासु भरणेऽपि च ईश्वरः ॥
परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ।
तत्सपिण्डेष चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥ (नारद)
याः पत्न्यो विधवाः साध्व्यो ज्येष्ठेन श्वशुरेण वा ।
गोत्रजेनापि वान्येन भर्तव्याश्छादनाशनैः ॥ (नारद)

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए स्मृतिचन्द्रिका ने स्पष्ट कहा है कि उत्तरजीवी भ्राताओं के दायित्व का हेतु यह है कि वे सम्पदा में मृतक के हित (हिस्सा) को प्राप्त करते हैं। यथा—

धनग्राहिणेति सर्वत्र ज्येष्ठादौ शेषो द्रष्टव्यः। धन-ग्रहणनिमित्तत्वाद् भरणस्य। अथ विशेषमाह कात्यायनः—

स्वर्याते स्वामिनि स्त्री तु ग्रासाच्छादनभागिनी ।
अविभक्तधनांशस्तु प्राप्नोत्यामरणान्तिकम् ॥

इन स्मृति वाक्यों से यह निष्कर्ष ध्वनित होता है कि कतिपय सम्बन्धियों का भरण-पोषणदायित्व सापेक्ष या सप्रतिबन्ध है। अर्थात् जिसको सम्पदा मिलती है उसी पर दायित्व आता है।

पिता, माता, पत्नी, अवयस्क पुत्र व कुमारी पुत्री के भरण-पोषण करने का निरपेक्ष दायित्व है। अब "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा १८ ने इन व्यक्तियों के भरण-पोषण के नियम विहित कर दिये हैं। ये नियम मिताक्षरा व दायभाग में एक समान है।

सापेक्ष या सप्रतिबन्ध दायित्व या तो उत्तरजीविता से, या उत्तराधिकार से मिली हुई सम्पदा के आधार पर उत्पन्न होता है। समांशिता का कामकाज गृहपति या मैनेजर के द्वारा सचालित होता है। मैनेजर के ऊपर यह दायित्व रहता है कि पत्नियों तथा सन्तति समेत सकल समांशियों का यथावैभव प्रतिपालन करे। किसी समांशी के मरणोपरान्त उसकी विधवा तथा सन्तान का भी प्रतिपालन कर्तव्य है। यह दायित्व उसी के ऊपर क्यों आता है ? इसलिए कि समांशिता की सम्पदा उसके कब्जे में रहती

है। मिताक्षरा या दायभाग दोनों के संयुक्त कुटुम्ब के विषय में यह सिद्धान्त क्रियाशील होता है।

उत्तराधिकार के माध्यम से जब सम्पदा किसी दायाद को मिलती है, तब उसके ऊपर उन सब लोगों के भरण-पोषण का भार भी चढ़ जाता है, जिनका प्रतिपालन करना मृत स्वामी का किसी प्रकार का नैतिक अथवा वैधिक कर्तव्य था। यह दायित्व भी सम्पदा की भुक्ति से उपजता है। अब उपरोक्त अधिनियम की धारा २२ ने ऐसे भरण-पोषण के नियम विहित कर दिये हैं। ज्ञातव्य है कि जिनका प्रतिपालन करना सामान्यतः किसी व्यक्ति का केवल नैतिक कर्तव्य होता है वही सम्पदा मिल जाने पर वैधिक कर्तव्य में परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ, राम अपने पुत्र श्याम व कुमारी पुत्री कला का प्रतिपालन करने को वैधिक रूप से बद्ध है। किन्तु श्याम पर कला को प्रतिपालित करने का दायित्व मात्र नतिक है। राम की सम्पदा जब श्याम को मिलती है, तो श्याम के ऊपर कला के प्रतिपालन का कर्तव्य नैतिक से बदल कर वैधिक बन जाता है। दूसरा उदाहरण—श्याम तथा कुमारी कला व श्याम की पत्नी रमा एक अकिंचन कुटुम्ब को संघटित करते हैं। राम कुछ सम्पदा अर्जित करके मर जाता है, उसको रमा उत्तराधिकार में पाती है। यद्यपि कुमारी कला के प्रतिपालन का कर्तव्य श्याम के ऊपर मात्र नैतिक था, तथापि रमा के ऊपर वह वैधिक बन जायगा, और सम्पदा से कुमारी कला का पालन करने को वह बद्ध हो जायेगी। यह सिद्धान्त इतना अनम्य है कि यदि शासन ऐसे नैतिक भार से आवृत सम्पदा को राजगमन द्वारा प्राप्त करे, तो वही वैधिक भार बन जाता है, जिसको सम्पदा में से निबाहना शासन का कर्तव्य है।[1] अप्रतिबन्ध या निरपेक्ष दायित्व का सप्रतिबन्ध या सापेक्ष दायित्व से भेद जान लेने के बाद, अब इस पर विचार किया जायगा कि भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकारी कौन होते हैं।

अधिकारी जनों की गणना में आते हैं—(क) पुत्र; औरस व जारज, (ख) दुहिता; औरस व जारज, (ग) पौत्र-पौत्री आदि, (घ) माता-पिता, (च) अनर्ह दायाद, (छ) रखेल या अवरुद्धा स्त्री, (ज) पत्नी, (झ) विधवा, (ट) विधवा पुत्रवधू। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर पृथक्-पृथक् सूक्ष्म विचार होगा।

(क) **औरस पुत्र** जब तक अवयस्क हैं पिता से प्रतिपालन पाने के हकदार रहते हैं, चाहे वे निर्धन हों या स्वार्जित सम्पदा के स्वामी। वयस्क हो चुकने पर यह हक

१. "मु० गुलाब कुं० ब० कलक्टर बनारस" (१९४७) ४, मूर्स इ० ए० २४६।

समाप्त हो जाता है।[1] यदि पिता मिताक्षरा की समांशिता का सदस्य हो, तब तो समांशी के नाते वह व उसकी सन्तान व पत्नी सभी संयुक्त सम्पदा से प्रतिपालित होने के हकदार होते हैं। ऐसी दशा में वयस्कावयस्क का भेद नहीं किया जाता । दाय-भाग वाले सयुक्त कुटुम्ब में, चूंकि पुत्र का अधिकार 'उपरम-स्वत्ववाद' पर आश्रित होता है, इसलिए पिता अपने वयस्क पुत्र का पोषण न तो स्वार्जित सम्पदा से न पैता-मही सम्पदा से करने को बाध्य होता है।

जारज पुत्र दो प्रकार के होते है। एक श्रेणी मे ऐसी रखेल के पुत्र हैं जो सदैव एक ही पुरुष के पास रहे और जिसकी सज्ञा दासी है।[2] दूसरी श्रेणी में ऐसी रखेल के पुत्र हैं जिसका समागम अनेक पुरुषों से होता है। इन प्रकारों में भी पिता के वर्णा-नुसार भेद किया जाता है। अतः जारज के चार भेद हो जाते है और चारों के प्रति-पालन सम्बन्धी हक भिन्न है। यथा—(१) द्विजों का दासी से उत्पन्न पुत्र, (२) शूद्र का दासी से पैदा हुआ पुत्र, (३) किसी वर्ण वाले जनक का अदासी से उत्पन्न पुत्र, (४) किसी वर्ण वाले जनक का अहिन्दू नारी से उत्पन्न पुत्र।

उत्तराधिकार वाले प्रकरण मे कहा जा चुका है कि द्विज के जारज पुत्र को दाय प्राप्ति का हक नही, किन्तु प्रतिपालन का हक होता है। पहले प्रकार के जारज का आजीवन हक पिता की पृथक् सम्पदा के ऊपर आता है।[3] यदि पृथक् सम्पदा न हो, तो पिता की सयुक्त सम्पदा उस भार से सम्बद्ध हो जाती है।[4] दूसरे प्रकार के जारज को जनक की पृथक् सम्पदा मे भाग पाने का हक होता है, जैसा कि बताया जा चुका है। पृथक् सम्पदा के अभाव में जनक की सयुक्त कौटुम्बिक सम्पदा में से आजीवन पालन-पोषण पाने का उसको हक होता है, किन्तु उसका बटवारा करा पाने का नहीं। तीसरे प्रकार के जारज को पिता की पृथक् सम्पदा से और उसके अभाव में संयुक्त सम्पदा से भरण-पोषण पाने का व्यक्तिगत हक होता है। मिताक्षरा व दायभाग में इस प्रश्न पर मतभेद है कि तीसरे प्रकार के जारज को आजीवन भरण-पोषण मिलना चाहिए या नहीं। मिताक्षरा के मत से वह आजीवन प्रतिपाल्य है। दायभाग के मत

१. "बी० एम० चक्रवर्ती ब० बसंत कुमारी देवी" (१९३६) ६३, कल० १०९८।

२. "क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत् ॥" बौधा० धर्मसूत्र १–११–३०।

३. "रोशनसिंह ब० बलवन्त सिंह" (१९००) २७, इ० एपील्स ५१।

४. "ऐच० लक्ष्मीदास ब० ऐम० भीकचंद" (१९३८) बम्बई ७७९।

से वह मात्र वयस्कता पर्यन्त भरणाधिकारी होता है।[1] ज्ञातव्य है कि यह हक व्यक्तिगत है दाययोग्य नहीं। अर्थात् जारज का पुत्र उसे नहीं पा सकता। चौथे प्रकार का जारज पोषण का अधिकारी न तो पिता की पृथक् सम्पदा से है, न उसकी संयुक्त सम्पदा से। अवश्य ही वह अपने पिता पर जाब्ता फौजदारी की धारा ४८८ में रोटी कपड़े का दावा कर सकता है। सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा २० ने इन विवादो का निपटारा करके यह विहित कर दिया है कि वयस्कता पर्यन्त जारजों के भरण-पोषण करने का दायित्व माता-पिता पर मृत्युपर्यन्त बना रहता है।

(ख) **दुहिता—औरस, जारज**—सन् १९५६ वाले उपरोक्त अधिनियम के पहले जो कानून इस विषय पर प्रचलित था वह धर्मशास्त्र के वाक्यों पर आश्रित है। उन वाक्यों में दासीपुत्र का तो उल्लेख मिलता है, दासीपुत्री का नहीं, यथा—

अनपत्यस्य शुश्रूषु र्गुणवान् शूद्रयोनिजः।
लभेताजीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः॥ (मनु)

अर्थात् जारज-पुत्री के भरण-पोषण का कोई विधान नहीं है। किन्तु औरस पुत्री के लिए सम्यक् विधान है। इस विषय के उद्धरण आरम्भ में दिये गये हैं। औरस पुत्र-पुत्री के भरणाधिकार में कोई भेद नहीं किया गया है। पिता अपनी कुमारी सुता का प्रतिपालन करने के लिए अधिकृत या बद्ध होता है। उसके मरणोपरान्त यह दायित्व उसकी सम्पदा से संलग्न हो जाता है। विवाहोपरान्त यह दायित्व पति तथा उसके कुटुम्ब पर चला जाता है। यदि दारिद्र्यवश ससुराल में निर्वाह न हो तो पिता के ऊपर केवल नैतिक दायित्व आता है। यह बतलाया गया है कि जिस सम्पदा के प्रभु के ऊपर किसी के भरण का नैतिक दायित्व हो वह जब दायाद के हाथ लग जाती है, तब वही दायित्व नैतिक से वैधिक रूप में परिणत हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त दशा में भी क्या पिता के दायाद पर दरिद्र विधवा सुता के पालन का दायित्व वैधिक बन जायगा ? बम्बई के हाई कोर्ट का उत्तर नास्तिवादी है,[2] और मद्रास एवं कलकत्ता का अस्तिवादी।[3] दूसरी शंका यह उठती है कि क्या धार्मिक

१. "कुप्पा ब० सिंगवेंलू" (१८८५) ८, मद्रास ३२५।
"नीलमणि सिंह ब० वनशर" (१८७९) ४, कलकत्ता ९१।
२. "बाई० मंगल ब० बाई० रुक्मिनी" (१८९९) २३, बम्बई २९१।
३. "मोक्षदा ब० नन्दलाल" (१९०१) २८, कलकत्ता २७८।
"अंबू बाई अंमल ब० सनीबाइ अंमल" (१९४२) मद्रास १३।

●यित्व (पायस ओब्लीगेशन) के विनियोग से मृत पिता के समय का बकाया गुजारा पुत्र-दायाद से प्रत्युद्धरणीय है ? हाँ।[१]

(ग) **पौत्र, पौत्री**—इत्यादि के भरण-पोषण का कोई वैधिक दायित्व हिन्दू पुरुष के ऊपर नहीं है। किन्तु

पिता माता गुरुर्भार्या प्रजा दीनाः समाश्रिताः।
अभ्यागतोऽतिथिश्चैव पोष्यवर्ग उदाहृतः॥ (मनु)

के अनुसार "समाश्रिताः" की गणना के भीतर आ जाने से पौत्र, पौत्री आदि पोष्यवर्ग समझे जाते है। अतः उनका प्रतिपालन एक नैतिक दायित्व अवश्य है। यह नैतिक दायित्व भी वैधिक दायित्व में परिणत हो जाता है, जब उनके पितामह की सम्पदा उसके दायाद पर अवतरित हो जाय।[२]

(घ) **माता-पिता**—वयोवृद्ध माता-पिता का प्रतिपालन हिन्दू पुरुष का व्यक्तिगत अतएव वैधिक दायित्व होता है। किन्तु विमाता के भरण-पोषण का दायित्व केवल नैतिक है। यदि पिता की सम्पदा उसको उत्तराधिकार में मिल जाय तो यह एक वैधिक दायित्व बन जाता है।[३]

(च) **अनर्ह दायाद**—अनर्हता के शीर्षक में बताया जा चुका है कि जो व्यक्ति मानसिक या कायिक विकलांगता के फलस्वरूप उत्तराधिकार से वंचित हो जाते है, उनको तथा उनके कुटुम्ब को हिन्दू ला ने यह हक प्रदान किया है कि वे उस सम्पदा से प्रतिपालित होते रहें जिससे वे अपवर्जित हो गये हैं। ज्ञातव्य है कि सन् १९५७ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा २८ ने पुराने कानून की अक्षमताओं का निवारण कर दिया है।

(छ) **रखेल या अवरुद्धा**—वह स्त्री है जो एक ही पुरुष की सेवा में अपवर्जी रूप से रहे, जैसे कि धर्मपत्नी रहती है।[४] उसको उस पुरुष की सम्पदा से प्रतिपालित होने का हक होता है, यथा—

अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ (नारद)

१. "रूपा ब० श्रियावती", ए० आई० आर० १९५५, उड़ीसा २८।
२. "प्रोवश ब० प्रावश" (१९४६) २, कलकत्ता १६४।
३. "औदेम्मा ब० वरद रेड्डी" (१९४८) मद्रास ८०३।
४. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ८११–१५।

अदायिकं राजगामि योषिद्-भृत्यौर्ध्व देहिकम् ।
अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ।। (कात्यायन)

मिताक्षरा ने स्त्री व योषित् का अर्थ अवरुद्धा किया है। भरण-पोषण की अधिकारिणी होने के लिए आश्रयी पुरुष के साथ उसका संयोग[1] शाश्वत होना चाहिए और पुरुष की मृत्यु के पश्चात् भी उसका आचरण शुद्ध बना रहे ।[2] यह जरूरी नहीं है कि वह अविवाहिता या विधवा हो[3] या पुरुष के ही घर में बस गयी हो ।[4] किन्तु सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा २१ के अनुसार चूंकि रखेल समाश्रितों की गणना में नहीं आती, इसलिए वह मृत जारज की सम्पदा में भरण-पोषण का हक नहीं रखती, यदि वह उक्त अधिनियम के शक्तिशाली हो जाने के अनन्तर मरा हो।

(ज) **पत्नी** का भरण-पोषणाधिकार सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा १८ में निहित हो चुका है। उसके पहले सन् १९४६ वाले "हिन्दू मैरीड विमेन्स राइट टु सिपरेट रेजीडेन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" से वह हक मान्य शासित होता था। सन् १९४६ वाले अधिनियम को सन् १९५६ वाले अधिनियम की धारा २९ ने निरस्त कर दिया है और उसके नियमों को प्रायः समावेष्टित कर लिया है। पुराने अधिनियम ने उन सिद्धान्तों को परिनियत मान्यता प्रदान कर दी थी, जो उस समय के विद्यमान धर्मशास्त्रीय तथा नजीरी कानून से निकलते थे। अतः उस कानून को भी जान लेना चाहिए।

पत्नी के पति द्वारा प्रतिपालन होने का हक विवाह का ही एक विशिष्ट फल होता है क्योंकि वह उसकी अर्धांगिनी बन जाती है। तलाक, न्यायतंत्री विच्छेद और विवाह को अकृत करने के मामलों में इसका विशेष प्रश्न उठता है। चाहे पति धनी हो या निर्धन,[5] चाहे पत्नी अपेक्षा करे या न करे,[6] वह सदैव प्रतिपाल्य होती है। पति की साख पर वह अपनी जरूरतों के लिए कर्ज ले सकती है। विद्यमान तथा आगे मिलने वाले असासे या परिसम्पद् के ऊपर वह अपने पोषण के दायित्व या भार के

१. "शिवकुमारी ब० उदयप्रताप" (१९४७), इलाहाबाद ६४२।
२. "यशवंत राव ब० काशी बाई" (१८८८) १२, बम्बई २६।
३. "अक्कू प्रहलाद ब० गनेशप्रसाद" (१९४५) बम्बई २१६।
४. "बाई० नागू वाई० ब० बाई० मोघी वाई०" (१९२६), ५३, इ० ए० १५३।
५. "स्कंदस्वामी ब० अंगम्मल", ए० आई० आर० १९६०, मद्रास ३४८।
६. "नगेन्द्रम्मा ब० रामकोटैय्या", ए० आई० आर० १९५४, मद्रास ७१३।

सर्जन कराने का दावा कर सकती है।[१] जब तक "चार्ज" या भार का सर्जन नहीं हो जाता, तब तक पत्नी के पास पति की सम्पदा के ऊपर कोई जोर नहीं रहता।[२] यहाँ तक कि वह सारी सम्पदा को अलग करके पत्नी की सारी आशाओं पर पानी फेर दे सकता है, शर्त यह है कि संक्रान्तग्राही उसके हक से अनभिज्ञ हो और प्रतिदेय देकर संक्रान्तग्राही बना हो।[३] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भरणाधिकार की अपेक्षा पति के ऋणों को प्रथमता मिलती है।[४]

जो भरणाधिकार "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा १८ में निहित है उसके अतिरिक्त जाब्ता फौजदारी की धारा ४८८ में भी पत्नी के लिए रोटी-कपड़ा पाने का उपाय किया गया है। यह याद रहे कि भरणाधिकार की डिग्री या भार (चार्ज) इस आधार पर पारित होता है कि पति और पत्नी में समागम बन्द हो गया है। यदि समागम फिर आरम्भ हो जाय तो उस डिग्री या भार का आधार विलुप्त हो जाता है। अतः डिग्री या चार्ज निष्क्रिय और रद्द हो जाता है।[५] समागम का अर्थ केवल दैहिक संयोग नहीं अपितु संयुक्त जीवन यापन होता है।

पत्नी के प्रतिपालन पाने का हक पति के ऊपर व्यक्तिगत रूप से होता है। क्या इसलिए पति के मरते ही यह हक विनष्ट होकर समाप्त हो जाता है? नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मिताक्षरीय समांशिता के अन्दर सब विधवाओं को संयुक्त सम्पदा में पोषणाधिकार रहता है, क्योंकि उनके भर्ताओं का हित उत्तरजीवी समांशियों में निहित होता रहता है। यदि जाब्ता फौजदारी की धारा ८७ व ८८ में पति की सम्पदा कुर्क हो जाय, तो क्या पत्नी भरण-पोषण की माँग सरकार से कर सकती है? नहीं, यदि उसने उस सम्पदा के ऊपर भार (चार्ज) के सर्जन की डिग्री

१. "रामचन्द्र ब० कमला बाई", ए० आई० आर० १९४४, बम्बई १९१।
रुद्रप्पा ब० वसप्पा" ए० आई० आर० १९६२, मैसूर २०७।
"बी० मानिक्यं ब० बी० वेंकयम्मा", ए० आई० आर० १९५७, आंध्र प्र० ७१०।
२. "लक्ष्मण ब० सत्यभामा बाई" (१८७७), २, बम्बई ४९४।
३. "दत्तात्रेय ब० तुलसा बाई" (१९४३), बम्बई ६४६।
"चन्द्रम्मा ब० म० वेंकट रेड्डी", ए० आई० आर० १९८८, आंध्र प्र० ३९६।
४. "दान कुँवर ब० सरला", ए० आई० आर० १९४७, प्रिवी कौंसिल ८।
५. "वी० वेंकैय्या ब० राघवम्मा", ए० आई० आर० १९४२, मद्रास १।
"पेरून देवी ब० अमा वासिकं", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास १३।

नहीं पारित करा रखी है।[1] यह नियम इतना कठोर है कि पति के जीते जी पत्नी भरण-पोषण की माँग न ससुराल वालों से, न पीहर वालों से कर सकती है, चाहे उसने (पति ने) उसका परित्याग ही कर दिया हो। यदि उनमें से किसी ने उसके पति की सम्पदा पर कब्जा कर लिया हो तब दूसरी बात है।[2] कब्जे के आधार पर दायित्व उसके सिर मढ़ा जा सकता है।

पति से अलग रहने पर स्त्री का भरणाधिकार

पति के साथ रहना और उसकी सब तरह से सेवा करना पत्नी का कर्तव्य होता है। इस कर्तव्य का सहसम्बन्धी हक है पति द्वारा प्रतिपालित होना। यदि वह अपना कर्तव्य नहीं निबाहती, तो हक की माँग कैसे कर सकती है ? ठीक है, किन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। यदि पति अत्याचार करता हो, या पत्नी को अपने साथ रखना अस्वीकार करता हो, या ऐसा ही कोई अन्य समर्थनीय कारण हो, तो वह अलग रहकर भी भरण-पोषणाधिकार का उसके प्रतिकूल प्रवर्तन करा सकती है।[3] साधारण झगड़ा या मारपीट या निर्दयता को समर्थनीय कारण नहीं कह सकते। निर्दयता या मारपीट इतनी घोर व विकट होनी चाहिए कि जिससे जान की जोखिम हो। अत्याचार इतना निरन्तर और गम्भीर होना चाहिए कि पत्नी को तीक्ष्ण मानसिक वेदना होती रहे, जैसे रखैल स्त्री को घर में रखना।[4]

जैसे पति की क्रूरता की एक सीमा है, वैसे ही पत्नी की कर्तव्योपेक्षा की एक मर्यादा होती है, अर्थात् एक सीमा तक वह भी क्षम्य होती है। अनुचित या कुत्सित अभिप्राय से अल्पकालीन अनुपस्थिति भी अक्षम्य है। उचित या अकुत्सित प्रयोजन के निमित्त अपेक्षाकृत दीर्घकालीन अनुपस्थिति भी उपेक्ष्य है। पहली दशा में हक का ह्रास होता है, दूसरी दशा में मात्र निरम्बन। अर्थात दूसरी दशा में पत्नी वापस आकर प्रतिपालन की माँग कर सकती है। यदि इस पर भी पति उसको निकाल दे, तो वह अलग रहकर भरण-पोषण प्राप्त कर सकती है।[5]

१. "चत्रू ब० द क्राउन" (१९२९) १०, लाहौर २६५।
"भारत सचिव ब० अहल्या बाई नारायन" (१९३८), बम्बई ४५४।
२. "रमाबाई ब० त्र्यम्बक" (१८७२) ९, बम्बई हाईकोर्ट २८३।
३. "अप्पी बाई ब० के० कुबेर जी" (१९३६) ६०, बम्बई ४५५।
४. "मल्लवा ब० शिद्दप्पा" (१९४९), बम्बई ७६२।
५. "सुरमपल्ली ब० सुरमपल्ली" (१९०८) ३१, मद्रास ३३८।

ऊपर यह बताया गया था कि सन् १९५६ वाले अधिनियम ने सन् १९४६ वाले प्रायः उन सब नियमों को समाविष्ट कर लिया है, जो विषय सम्बन्धी पूर्ववर्ती कानून से निकले हुए सिद्धान्तों के ऊपर आधारित थे। उस कानून को इन अधिनियमों ने पत्नी के लिए अधिक अनुकूल तथा उदार बना दिया है। उन नियमों का संक्षिप्त वर्णन यह है। सन् १९४६ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइट टु सिपरेट मेण्टीनेन्स ऐण्ड रेजीडेन्स ऐक्ट" की धारा २ ने विहित किया था कि किसी विपरीत रिवाज या कानून के बावजूद, निम्नोक्त कारणों या कारणवश हिन्दू पत्नी अपने पति से पृथक् निवास तथा भरण-पोषण की याचना करने की अधिकारी होगी––(क) यदि पति किसी ऐसे घृणित रोग से पीड़ित है जो उसने पत्नी के सम्पर्क से नही पाया हो। (ख) यदि वह पत्नी के प्रति इतना क्रूर व्यवहार करता है कि उसका पति के साथ रहना अवांछनीय या जोखिम से भरा है। (ग) यदि उसने पत्नी का परित्याग कर दिया है, अर्थात् उसकी सम्मति के बिना या उसकी इच्छा के विरुद्ध अलग कर दिया है। (घ) यदि पति ने पुनर्विवाह कर लिया है। (ङ) यदि वह हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्मावलम्बी हो गया है। (च) यदि वह रखेली स्त्री को घर मे बसाये हुए है, या जाकर उसके घर में रहता है। (छ) यदि अन्य समर्थनीय कारण मौजूद है। इन कारणों या इनमें से किसी कारण के मौजूद होने पर भी हिन्दू पत्नी पृथक् निवास तथा परिपोषण की अधिकारी नही होगी ; यदि वह असती है, या हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्मानुयायी हो गयी है, या दाम्पत्याधिकारों वाली सक्षम अदालत से पारित डिग्री (आज्ञप्ति) के बावजूद उसका पालन बिना समुचित हेतु के नहीं करती है।

इस प्रसंग में असती का उल्लेख ऊपर किया गया है। सन् १९४६ वाले अधिनियम ने तो इस बात को साफ विहित ही कर दिया है कि असती पत्नी भरणाधिकारी नही होती। उसके पहले भी प्राचीन काल से यही विधान था। यथा—

> हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीवनीम् ।
> परिभूतामधः शय्यां वासयेद् व्यभिचारिणीम् ।।
> व्यभिचाराद् ऋतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।
> गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ।। (याज्ञ० १,७०–७२)
>
> नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम ।
> विशेषपतनीयानि स्त्रीण.मेतान्यपि ध्रुवम ।। (याज्ञ० ३,२९८)
>
> चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या ।
> पतिघ्नी च विशेषेण जुंगितोपगता च या ।। (वसिष्ठ)

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यन्तु गच्छति ॥ (मनु)

मिताक्षरा ने स्मृतियों के आधार पर यह विहित किया है—(१) वसिष्ठ के गिनाये हुए चार महापातक करने वाली स्त्री नितान्त परित्याज्य है, जब तक वह प्रायश्चित्त न कर ले; (२) सामान्य व्यभिचार करने वाली स्त्री को न्यूनतम भरण-पोषण, झोपड़ी मे घर के समीप निवास तथा रक्षण मिलना चाहिए।[1] नजीरी कानून यह था कि व्यभिचारिणी पत्नी भरणाधिकारिणी नहीं होती,[2] किन्तु यदि वह पापाचार छोड़कर साध्वी बन जाय तो पति उसको न्यूनतम भरण दे।[3] यह ज्ञातव्य है कि हिन्दू धर्म छोड़ देने के बाद भी पति पर पत्नी के भरण का दायित्व बना रहता है।[4] यह भी ज्ञातव्य है कि अनर्ह दायाद की पत्नी को उस सम्पदा से प्रतिपालित होने का हक रहता है जो उसके पति के हाथ से अनर्हता के कारण निकल गयी हो। सतीत्व की शर्त ऐसी पत्नी पर भी लागू होती है।[5]

(ङ) **विधवा**—मृत प्रभु की विधवा क्या निरालम्ब रह जाती है? चूँकि पत्नी के भरणाधिकार का रूप पति के ऊपर व्यक्तिगत होता है, इसलिए क्या पति की मृत्यु के साथ वह अधिकार भी विनष्ट हो जाता है? नहीं, यदि वह उसकी दायाद हो, तब तो उसको सम्पदा पर आजीवन-स्वामित्व मिल जाता था, जो (हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट सन् १९५६ के बाद) अब पूर्ण स्वामित्व में परिणत हो गया है। यदि वह दायाद नहीं हो, तो दो सूरतें हो सकती हैं। एक तो यह कि मृत प्रभु ने समांशिता वाली सम्पदा में हित छोड़ा है, दूसरे, उसने पुत्रादि ऐसे दायाद छोड़े हैं जिनको उत्तराधिकार में वरीयता मिलती है। पहली सूरत में समांशिता के उत्तरजीवी सदस्यों या उसके मैनेजर पर विधवा के प्रतिपालन का वैधिक दायित्व चढ़ जाता है, क्योंकि उसके मृत पति का अविभक्त अंश उसके कब्जे में आ गया है। दूसरी सूरत में अन्तरित दायादों के ऊपर वह दायित्व आ जाता है, क्योंकि उसके पति की सम्पदा उनको मिली है। दोनों सूरतों में उसका भरणाधिकार विनिश्चित तथा सुरक्षित हो जाता है। दोनों सूरतों का एक विशेष पहलू ज्ञातव्य है। यदि उत्तरजीवी समांशियों में या अन्तरित दायादों

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ८०६–८०७।
२. "देवीसरन ब० दौलता" (१९१७) ३९, इलाहाबाद २३४।
३. "परमी ब० महादेवी" (१९१०) ३४, बम्बई २७८।
४. "मंशा ब० जीवन" (१८८४) ६, इलाहाबाद ६१७।
५. "यशवन्त ब० काशी बाई" (१८८८) १२, बम्बई २६।

में उसके पुत्र समाहित हैं, तो वे व्यक्तिगत रूप से भी उसकी जीविका के लिए उत्तरदायी रहेंगे। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उत्तरजीवी समांशियों का दायित्व निम्नलिखित स्मृतिवाक्यों पर आधारित है—

याः पत्न्यो विधवाः साध्व्यों ज्येष्ठेन श्वशुरेण वा।
गोत्रजेनापि वान्येन भर्तव्याश्छादनाशनैः ।। (नारद)
स्वर्यते स्वामिनि स्त्री तु ग्रासाच्छादनभागिनी।
अविभक्तधनांशं तु प्राप्नोत्यामरणान्तिकम् ।। (कात्यायन)

इन वाक्यों पर स्मृतिचन्द्रिका की टीका यह है—"धनग्राहिणेति सर्वत्र ज्येष्ठादौ शेषो द्रष्टव्यः। धनग्रहणनिमित्तत्वाद भरणस्य"; "धनांशं यावता धनेन क्लृप्तजीवनं धनसाध्यं तु नित्यनैमित्तिककर्म काम्यं व्रतादिकं सिध्यति तावद्धनमित्यर्थः।"

"हिन्दू विमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट १९३७" का उल्लेख उत्तराधिकार वाले प्रकरण में आया था। उसकी धारा ३(३) ने विधवा को अपने पति के अंश में स्वामित्व तथा विभाजन करा सकने का हक प्रदान किया था। इसके फलस्वरूप विधवा को भरणाधिकार प्रवर्तित करने का अवसर आता ही नहीं, यद्यपि उस अधिनियम ने उस अधिकार का उत्सादन नही किया था। अधिकतर विधवा विभाजन का आग्रह न करके भरण-पोषण से ही संतुष्ट रहती थीं। सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने विधवा के अधिकारों में बड़ा परिवर्तन कर दिया है। उसी सन् वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टिनेन्स ऐक्ट" की २१–२२ धाराओं ने भी नये नियम बना दिये हैं। विधवा के अधिकारों का निर्णय अब इन्हीं उपरोक्त अधिनियमों के आधार पर होना चाहिए। फिर भी पुराने कानून व नजीरी कानून को जान लेना साहाय्य-प्रद होगा।

(१) ऊपर बताया जा चुका है कि विधवा अपने पति की पृथक् सम्पदा से या उसकी संयुक्त सम्पदा से प्रतिपालित होने की हकदार है। जो ऐसी सम्पदा पर काबिज हों, वे यह अभिकथन करके इस दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते कि वह पति के जीवन काल में या मृत्यु काल मे अक्षम्य रूप से पृथक् रहती थी।[1] (२) जब तक विधवा का पोषणाधिकार सम्पदा के ऊपर अदालत के द्वारा एक भार (चार्ज) घोषित न कर दिया जाय, वह सम्पदा की बिक्री या नीलाम को अपने भरणाधिकार की आपत्ति उठाकर रोक नहीं सकती। (३) यदि विधवा की गुजर भर के लिए पति की छोड़ी हुई या स्वतः उसकी (विधवा की) सम्पदा पर्याप्त है, तो भी संयुक्त सम्पदा के काबिजों

१. **"सुरमपल्ली ब० सुरमपल्ली" (१९०८) ३१, मद्रास ८८८।**

से वह भरण-पोषण की याचना कर सकती है।[1] अवश्य ही गुजारे की राशि निर्धारित करते समय उसकी (विधवा की) स्वतत्र आय का भी विचार रखा जायगा। यह क्यों ? कारण कि पत्नी अपने पति की अर्धांगिनी होने के कारण समांशिता में उसका प्रतिनिधित्व करती है तथा स्वतः संयुक्त कुटुम्ब की सदस्य होती है। अतएव मृत पति की तरह वह कौटुम्बिक सम्पत्ति से भरण-पोषण की हक़दार होती है; जैसे पृथक् या व्यक्तिगत स्वामित्व के होते हुए भी उसका पति स्वयमेव होता। (४) विभाजनोपरान्त उसके भरण-पोषण का भार उन समांशियों के ऊपर चला जाता है जिनको उसके पति का अंश बाँट में मिला है, यथा पुत्र-पौत्रादि। कारण यह है कि विभाज्य सम्पदा की सूची बनाते वक्त समाश्रितों के प्रतिपालन का लेखा-जोखा पहले ही लगा लिया जाता है, जैसा कि विभाजन वाले प्रकरण में बताया जा चुका है। (५) पत्नी का धर्म है कि पति के साथ रहे और इसलिए अकारण ही अलग रहकर वह उससे भरण की याचना नही कर सकती। किन्तु विधवा को यह शर्त बद्ध नही करती। अलग, यथा पीहर में रहने पर भी वह प्रतिपाल्य है; यदि वह सुमार्ग से विचलित नही होती।[2]

भरणाधिकार और असतीत्व व पुनर्विवाह

इसी प्रसंग में विधवा के असतीत्व का प्रश्न उठता है। यह तो ज्ञात हो ही चुका है कि उत्तराधिकार के ऊपर असतीत्व का क्या प्रभाव पड़ता है। यहाँ देखना है कि भरणाधिकार के ऊपर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। स्मृतियों ने व्यभिचार को घृणित पाप माना है; किन्तु यह भी विहित किया है कि प्रायश्चित्त करने के बाद कुमार्ग के त्याग से पापी को अपने पुराने अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।[3] यथा—

एनस्विभि रनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित्॥ (मनु ११, १८९)

त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोर्न तु निष्कासनं गृहात्तस्याः। निरुन्ध्यादेकवेश्मनि—इति नियमात्। (मिताक्षरा)

यदि विधवा अपना चरित्र भ्रष्ट कर डालती है तो भरणाधिकार को भी खो बैठती है, चाहे वह अधिकार आपसी समझौते या अदालती डिग्री के द्वारा पक्का या

१. "लिंगैया ब० कनकंमा" (१९१५) ३८, मद्रास १५५।
"डी० रंगम्मा ब० डी० चिन्नव्वाई" (१९५७), आंध्र प्रदेश ५९८।
२. "हरि ब० नर्मदा बाई" (१९४९), नागपुर ९६४।
"एकदेश्वरी ब० होमेश्वर" (१९२९) ५६, इंडियन एपील्स १८२।
३. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ८०७।

प्रतिभूत हो चुका हो।[१] फिर भी शुद्ध आचरण को फिर से अपना लेने पर उसको मात्र जीवन यापनार्थ गुजारा मिल सकता है।[२] ज्ञातव्य है कि आरोप लगाने वाले पर ही भ्रष्टता के प्रमाण का भार रहता है।[३] यह भी ज्ञातव्य है कि पोषण के लिए समझौता दो सूरतों में हो सकता है और दोनों तरह के समझौतों पर असतीत्व का प्रभाव भिन्न होता है। एक सूरत यह है कि विधवा ने गुजारे के लिए याचना की या दावा किया और दोनों पक्षों के बीच समझौने से गुजारे की राशि नियत हो गयी। यह गुजारे का आद्योपान्त शुद्ध मामला है। इस सूरत में व्यभिचार वाला नियम लागू होगा, अर्थात् विधवा के पश्चादभावी असतीत्व से उसका अधिकार विनष्ट हो जायगा। दूसरी सूरत यह है कि वह अपने पति की सम्पदा का दावा करती है और दोनों पक्षों में यह समझौता हो जाता है कि वह अपनी अध्यर्थना छोड़ दे और प्रतिपक्षी उसका गुजारा बाँध दे। यह समझौता विशुद्ध गुजारा-विषयक नहीं है और इस मामले में असतीत्व वाला नियम क्रियाशील नहीं होगा, क्योंकि उसका उल्लेख नही किया गया है। अर्थात् इस सूरत में पश्चादभावी असतीत्व विधवा के गुजारे के हक को विनष्ट नहीं करेगा।[४] कारण यह है कि गुजारे का हक एक ऐसा अनुबन्ध है जो समझौते ने विरचित किया है और कानून का यह आग्रह सदैव रहता है कि पक्षधारी लोग अनुबन्ध की शर्तों का अक्षरशः तथा कठोरतया पालन करें। उसी तरह इच्छापत्र मे जो गुजारे का हक निर्धारित हो चुका हो उसका विनाश विधवा का असतीत्व नहीं कर सकता, यदि यह शर्त उसमें उल्लिखित न हो।[५]

असतीत्व वाले प्रश्न का जोड़ीदार है पुनर्विवाह का प्रश्न, जिसके ऊपर अन्य प्रसंग (दायप्राप्ति) में विचार हो चुका है। सन् १८५६ वाले "हिन्दू विडोज रीमैरेज ऐक्ट" की धारा २ ने विहित किया है कि पुनर्विवाह कर लेने से हिन्दू विधवा पहले पति की सम्पदा में भरणाधिकार को खो बैठती है। जिन जातियों या समुदायों में पुनर्विवाह पहले ही से प्रचलित हो, क्या उक्त अधिकार-भंजक नियम उन पर भी लागू होगा? यदि अधिकार-भंजक नियम उक्त प्रथा का आवश्यक अंग प्रमाणित हो या समझा

१. "मोनीराम ब० केरी कोलटानी" (१८८०) ६, इंडियन एपील्स ११५।
"दौलत कुमारी ब० मेघू" (१८९३) १५, इलाहाबाद ३८२।
२. "रामकुमार दुबे ब० भगवन्ता" (१९३४) ५६, इलाहाबाद ३९२।
३. "लक्ष्मीचन्द ब० आनन्दी" (१९३५) ६२, इण्डियन एपील्स २५०।
४. "भूपसिंह ब० लछमन" (१९०४) २६, इलाहाबाद ३२१।
५. "पर्मी ब० महादेवी" (१९१०) ३४, इलाहाबाद २७८।

जाय, तब तो पुनर्विवाह से भरणाधिकार का विनाश अवश्य हो जायगा। दूसरे शब्दों में, क्या उपरोक्त अधिनियम उन जातियों या वर्गों पर भी लागू किया जा सकता है जिनके यहाँ विधवा-विवाह वैसे भी अनुज्ञात है? इसका उत्तर इलाहाबाद हाईकोर्ट का व अवध तथा नागपुर चीफ कोर्टों का नकारात्मक[1] तथा अन्य हाई कोर्टों का सकारात्मक है।[2] सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा २१(३) व धारा २२ ने विहित कर दिया है कि पुनर्विवाह कर लेने के बाद विधवा की गणना समाश्रितों में नहीं रह जाती है, अर्थात वह भरण-पोषण की अधिकारी नहीं रहती।

(ट) **विधवा पुत्रवधू**—मृतक की विधवा तथा विधवा पुत्रवधू दोनों की गणना उन समाश्रितों में है जिनको सन १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टिनेन्स ऐक्ट" की धारा १९ में भरणाधिकार दिया गया है। सन् १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट" तथा १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने विधवाओं के हकों में अधिक सारवत्ता, दृढता व प्रसार समावेष्टित कर दिया है। इसके पहले का नजीरी कानून इस प्रकार का है। यह असामान्य बात नहीं है कि विधवा पुत्रवधू के मृत पति ने कुछ पृथक् वस्तु-सामग्री न छोड़ी हो, या जिस समांशिता का वह सदस्य था उसके पास गुजर के लिए पर्याप्त सम्पदा न हो। तो उसका भरण पोषण कैसे हो? कौन इसका दायित्व उठाये? पहले नियम यह था कि ऐसा दायित्व न तो उसके ससुराल वालों पर है न पीहर के लोगों पर। यहाँ तक कि उसके ससुर पर भी दायित्व नहीं है। यदि ससुर सम्पत्तिवान् हो, तव तो नैतिक दायित्व उस पर आ सकता है, वैधिक फिर भी नही।[3] यह सिद्धान्त बतलाया गया है कि नैतिक दायित्व परिणत हो जाता है वैधिक दायित्व में, जब नैतिक दायित्वधारी की सम्पदा उसके दायाद के हाथ में आ जाती है। उसी सिद्धान्त के विनियोग से, ससुर का नैतिक दायित्व वैधिक में परिणत होकर उसके उत्तराधिकारी को विधवा पुत्रवधू का भरण-पोषण करने के लिए विवश

१. "भोला के० उमर ब० कौसिला" ५५, इलाहाबाद २४।
"गजाधर ब० सुखदेई" (१९३०) ५, लखनऊ ६८९।
२. "आर० पतील ब० एस० घरल" (१९५४) ५६, बं० ला० रि० २२७।
"वासल ब० रामसुरम" (१८९५) २२, कलकत्ता ५८९।
"मुरुगयी ब० विरमकली" (१८७७) १, मद्रास २२६।
"सूरज ब० अत्तर" (१९२२) १, पटना ७०६।
३. "बाई दया ब० नत्या" (१८८५) ९, बम्बई २७९।
"मीनाक्षी ब० राम ऐयर" (१९१४) ३७, मद्रास ३९६।

करने लगता है।[१] पोषणाधिकार का सह-सम्बन्धी पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पति के साथ रहे। विधवा या विधवा पुत्रवधू के ऊपर ऐसी कोई शर्त नहीं लगती।[२]

गुजारे की रकम या भरण-पोषण की मात्रा—मात्रा या रकम निर्धारित करना पहले भी अदालत के विवेक पर आश्रित रहता था और अब भी रहता है। अदालत के मार्ग प्रदर्शन के लिए जो अलिखित नियम पहले विद्यमान थे वे सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेण्टिनेन्स ऐक्ट" की धारा २३ में निगमित हो गये हैं। उदाहरणार्थ पोषण राशि नियत करने में मोटे तौर से ये बातें ध्यान में रखने योग्य होती हैं— (क) सम्पदा का मूल्य क्या है, (ख) यदि मृत प्रभु ने कोई वैध या अवैध इच्छापत्र छोड़ा है तो किस आश्रित के लिए उसमे क्या उपबन्ध किया गया था, (ग) मृत प्रभु तथा पोषणार्थी में कौन नाता था, (घ) दोनों के परस्पर सम्बन्ध कैसे थे, पोषणार्थी की स्वतत्र आय कितनी है, (च) कुल कितने अभ्यर्थी है, (छ) इस काल में "निर्वाह का मूल्य-देशनांक" क्या है। किन्तु यदि कई पोषणार्थी हों, तो यह नहीं देखा जाता कि किसका परिवार बड़ा है किसका छोटा।[३]

उपरोक्त सिद्धान्त व्यापक है। पत्नी का गुजारा नियत करने में ये अन्य बातें भी विचार योग्य होती है। उसका पूर्व आचरण; यदि वह भ्रष्ट हो गयी थी तो उसका हाल का आचरण, पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध, कुटुम्ब के जीवन का स्तर, कुटुम्ब की आय, यदि पति अलग हो तो उसकी आय, पत्नी की उचित आवश्यकताएँ, पत्नी की स्वतत्र आय।[४] जितने दिन वह भ्रष्ट रही है, उतने दिनों का गुजारा तो काट ही लेना चाहिए।[५] जाब्ता फौजदारी की धारा ४८८ में जब रोटी-कपड़े का दावा होता है तो दायित्व से बचने के लिए पति को यह प्रमाणित करना चाहिए कि उस काल में पत्नी वस्तुतः भ्रष्ट जीवन व्यतीत कर रही थी।[६]

विधवा का गुजारा निर्धारित करते समय निम्नोक्त बातों का ध्यान रखना चाहिए। यह याद रखते हुए कि वह विधवा हो चुकी है, उसकी सुविधा व उचित सुख

१. "जयनन्द ब० मु० परन" (१९२९) ४, लखनऊ ४९१।
१. "सिद्धेश्वरी ब० जनार्दन" (१९०२) २९, कलकत्ता ५५७।
३. "चमवा ब० इरया", ए० आई० आर० १९३१, बम्बई ४९२।
४. शान्ति ब० सुघराम", ए० आई० आर० १९५५, पंजाब २२।
५. "देवी ब० गुनवती" (१८९५) २२, कलकत्ता ४१०।
"कन्ता स्वामी ब० मूर गम्मल" (१८९५) १९, मद्रास ६।
६. "इन रि० फूलचन्द", ए० आई० आर० २८, बम्बई ५९।

का वैसा ही प्रबन्ध होना चाहिए जैसा उसके पति के समय में था। संक्षेप में यह देखना चाहिए कि (क) पति ने कितना ऋण छोड़ा है और सम्पदा का मूल्य क्या है[1], (ख) पति तथा विधवा का पद व सम्मान क्या था और है, (ग) धार्मिक कृत्यों तथा अपने पदानुकूल अन्य कर्त्तव्यों को निवाहने के और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की उचित पूर्ति करने के लिए उसको कितना व्यय करना पड़ेगा,[2] (घ) पति के साथ उसकी कैसी पटती थी,[3] (च) भूषण-वसनादि अनुत्पादक सामग्री को छोड़कर उसके पास कितना स्त्रीधन है,[4] (छ) व्यक्तिगत स्वाजित आय तथा स्वेच्छित दान-दक्षिणा-उपहार को छोड़कर उसकी स्थायी आय कितनी है,[5] (ज) पति की मृत्यु के समय सम्पदा का मूल्य चाहे जो रहा हो, विचारणीय मूल्य तो वर्तमान काल का है।[6] प्रायः यही बातें अन्य नारी-समाश्रिताओं का गुजारा विनिश्चित करने में विचारणीय होनी चाहिए।[7]

याद रहे कि "निर्वाह के मूल्य-देशनांक" के घटने-बढ़ने या आय के घटने-बढ़ने के अनुपात से गुजारे की राशि म भी घटा-बढ़ी करी या करा दी जा सकती है, यदि ऐसा करना उचित व न्याय-सम्मत लगे। यह परिवर्तन दोनों दशाओं में हो सकता है, चाहे अदालती डिग्री द्वारा गुजारा नियत हुआ हो या निजी समझौते द्वारा।[8] किन्तु यदि विधवा ने यह शत कर ली हो कि वह किसी भी दशा मे गुजारे की वृद्धि की याचना नहीं करेगी, तो उसको इस सविदा का पालन करना पड़ेगा।[9] ज्ञातव्य है कि सन् १९५६ वाले "हिन्दू ए० ऐण्ड मे० ऐक्ट" की धारा २५ ने अब यह विहित कर दिया है कि यदि परिस्थितियों के अदल-बदलने से गुजारे की राशि का परिवर्तन समर्थनीय लगे, तो उसमें हेर-फेर किया जा सकता है, वह राशि चाहे अदालदी डिग्री द्वारा विनिश्चित की गयी हो, या समझौते द्वारा।

१. "श्रीधर एम० जी० तेली ब० मु० सीताबाई" (१९३८), नागपुर २८९।
२. "लाला म० प्रसाद ब० मु० सहदेई कुं०" (१९३८), लखनऊ १३।
३. "पी० हरजीवनदास ब० बाई रुक्मिनी" (१९३८) बम्बई १।
४. "गोकी बाई ब० लक्ष्मीदास" (१८९०) १४, बम्बई ४९०।
५. "बी० एस० कुंअर ब० बी० ए० कुंअर" (१९३३) १२, पटना ८६९।
"बाई जया ब० जी० कालीदास" (१९४१), बम्बई ४८३।
६. "बीरजू ब० नारायनम्मा" (१९५३) मद्रास २२।
७. "महेश ब० दिगपाल" (१८९९) २१, इलाहाबाद २३२।
८. "ठा० एस० एम० सिंह ब० ठकुराइन बाघी कुं० (१९३६) ११, लख० ६०७।
९. "पी० हरजीवनदास ब० बाई रुक्मिनी (१९३८) बम्बई १।

गुजारे वाले हक पर अन्य-संक्रमण का प्रभाव—जैसा पहले कहा जा चुका है, विधवा का भरणाधिकर न तो पति की पृथक सम्पदा के ऊपर भार होता है, न संयुक्त सम्पदा में उसके हित के ऊपर। उसको भार-निर्णीत करने के तीन उपाय हैं—इच्छा-पत्र, समझौता, अदालती डिग्री। जब तक भार निर्णीत न हो जाय तब तक सम्पदा का हस्तान्तरण अनियंत्रित रूप से हो सकता है। सदभाव से दाम देनेवाले अनजान हस्तांतरग्राही को तो सुरक्षा मिलती है। जान-बूझकर लेनेवाला भी विधवा के आक्रमण से सुरक्षित रहता है, जब तक उसका व संक्रामक का यह षडयंत्र प्रमाणित न हो कि संक्रमण विधवा के हक को मारने के निमित्त किया गया था। यदि भार घोषित हो जाय, अथवा ऐसी साँठ-गाँठ प्रमाणित हो जाय, तब तो संक्रांत सम्पदा भारग्रस्त रहेगी और सक्रान्तग्राही उससे लदा रहेगा। याद रहे कि मृतक के अथवा समांशिता के समर्थनीय ऋणों को इस भार की अपेक्षा पूर्वता मिलती है। यही नियम सन् १९५६ वाले "हिन्दू ए० ऐण्ड मे० ऐक्ट" की धारा २७ में समाविष्ट हो गया है।

यह सुरक्षा उन लोगों के लिए है जिन्होंने सम्पदा को प्रतिकर देकर लिया हो। मृत्यूत्तर और सामान्य दान-ग्रहीता (डिवाइजी और डोनी) प्रतिदेय नहीं देते हैं। उनको यह सुरक्षा उपलब्ध नहीं होती। किसी प्रभु को यह क्षमता नहीं होती कि अपनी सारी सम्पदा का ऐसा इच्छापत्र अथवा हिवानामा लिख दे कि समाश्रितों का पोषणाधिकार समाप्त हो जाय। जब सारी सम्पदा का इच्छापत्रीय ग्रहीता या दानग्राहीता सम्पदा को पा जाता है तो पोषणाधिकार की देनदारी उसके ऊपर आ जाती है। ऐसी दशा में विधवा अपने हक का प्रवर्तन उस सम्पदा के प्रतिकूल कर सकती है जो अन्य के हाथ पहुँच चुकी है। इसी नियम को सन् १९५६ वाले "हिन्दू ए० ऐण्ड मे० ऐक्ट" ने धारा २२(२) में निगमित कर लिया है।

"लम्बित वाद" (लिस पेण्डेस) वाला सिद्धान्त सर्वविदित है, जो सन् १८८२ वाले "ट्रान्सफर आव प्रोपर्टी ऐक्ट" की धारा ५२ में विहित है। यदि कोई संक्रान्तग्राही ऐसी सम्पदा को लेता है जिसका दावा अदालत में लम्बित हो, तो उसको उन शर्तों व दायित्वों से बद्ध होना पड़ेगा, जो डिग्री या आज्ञप्ति में उल्लिखित किये जायँ, उसी तरह मानो वह स्वतः दावे में प्रतिपक्षी था। मान लीजिए कि एक विधवा ने अपने भरणाधिकार को किसी विशेष सम्पदा के ऊपर भार घोषित कराने का दावा दायर किया है। एक प्रतिपक्षी उस सम्पदा का संक्रमण इसी बीच में कर देता है। उसके बाद विधवा की डिग्री हो जाती है। वह हस्तान्तरग्राही उस दायित्व से बद्ध रहेगा। वह इस दायित्व से उसी दशा में बच सकता है कि जब उसका दिया हुआ प्रतिदेय स्वतः एक पूर्ववर्ती समर्थनीय ऋण रहा हो। कारण यह है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,

कि समर्थनीय ऋणों को पूर्वता तथा वरीयता भरणाधिकार की अपेक्षा सदैव दी जाती है।

निवासाधिकार तथा उस पर अन्य-संक्रमण का प्रभाव—पत्नी अपने पति की अर्धांगिनी होती है और विधवा हो जाने पर वह उसका प्रतिनिधित्व करती है। सयुक्त कुटुम्ब की वह एक सदस्या मानी जाती है। समाश्रितों में उसका पद उच्च होता है। अतः पति के या कुटुम्ब वाले घर में उसका निवासाधिकार होना एक स्वाभाविक बात लगती है। पराश्रित और अबला होने के कारण तथा कुल की मर्यादा व पति की कीर्ति रक्षा के निमित्त यह आवश्यक भी है कि वह सगे-सम्बन्धियों के साथ और उनकी देखभाल में जीवन यापन करे। भरण-पोषणाधिकार का निवासाधिकार एक अंग भी है। इस अधिकार का महत्व देखकर सन १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" ने उसके लिए धारा २३ में उपबन्ध रच दिया है। निवासाधिकार की समस्या अब उन्हीं उपबन्धों के आश्रय से निर्णीत हुआ करेगी। किन्तु इस अधिनियम के पहले जैसा कानून प्रचलित था वह यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

पुत्र अपनी विधवा माता को, भाई विधवा भावज को, भतीजा अपनी विधवा चाची को उस घर से नहीं निकाल सकता जो संयुक्त कुटुम्ब का है और जिसमें समांशियों के नाते कोई अपने पिता या माता या चाचा के साथ रह रहा था।[१] समांशीगण या एकल उत्तरजीवी यदि घर बेच डाले तो विधवा के निवासाधिकार के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा? इस प्रश्न के दो पहलू हो सकते हैं। यदि घर असमर्थनीय हेतु से बेच डाला गया है, तो क्रेता विधवा को निकाल नहीं सकता; या कम से कम तब तक जब तक कि विधवा के निवास का उचित प्रबन्ध न हो जाय।[२] हाँ, यदि क्रेता विधवा के हक से नितान्त अनभिज्ञ था, तो शायद कुछ रियायत की जायगी, यद्यपि यह भी एक अनोखी बात है कि हिन्दू परिवार से मामला करने वाले को ऐसी सूचना न हो। दूसरा पहलू यह है कि घर समर्थनीय अभिप्राय से बेचा गया है। ऐसी दशा में अन्य कुटुम्बियों के तुल्य विधवा को भी मकान खाली कर देना पड़ेगा।[३]

कुमारी पुत्रियों के भरण तथा विवाह का दायित्व कुटुम्ब के ऊपर रहता है। उनको कुटुम्ब वाले घर में निवास का अधिकार भी होता है। अर्थात जब तक विवाह न हो जाय उनको घर में रहने का हक है। यदि बिना समर्थनीय हेतु के समांशीगण

१. "बाई देव कुं० ब० समुखराम (१८८९) १३, बम्बई १०१।
२. "गंगादेई ब० जगन्नाथ (१९४७) २२, लखनऊ ५१८।
३. "मु० चम्पा ब० आफिशल रिसीवर झांची (१९३४) १५, लाहौर ९।

या अन्तिम उत्तरजीवी समांशी घर को बेच डाले, तो क्रेता कुमारी कन्याओं को निकाल बाहर नहीं कर सकता। यदि हेतु समर्थनीय था, तब तो कुमारियों के समेत सारा कुटुम्ब संक्रमण से बद्ध हो जाता है, अर्थात् उन सभी का निवासाधिकार विलुप्त हो जाता है।[१] यह नियम उस मकान के मामले ने लागू नहीं होता जिसका एक ही पुरुष अपवर्जी रूप से स्वामी हो। ऐसे मकान का क्रेता, चाहे उसने नीलाम में या जिनी तौर से उसे मोल लिया हो,[२] विधवा को तथा कुमारियों[३] को भी घर से निकाल दे सकता है; उस दशा मे भी जब बिक्री उपरोक्त पुरुष के जीते जी हुई हो, तथा उस दशा मे भी जब बिक्री उसके मरणोपरान्त हुई हो। यह निश्चित सिद्धान्त है कि ऋणों को भरणाधिकार की अपेक्षा पूर्वता और वरीयता मिलती है। उसी सिद्धान्त से ऋण को निवासाधिकार से भी पूर्वता व वरीयता मिलनी चाहिए।

जिन भरणाधिकारी जनों की गणना (क) से (ट) तक ऊपर की गयी है, उनके अतिरिक्त "दीनाः समाश्रिताः" के अन्तर्गत वे दीन सम्बन्धीगण भी आते है जिनका प्रतिपालन मृत प्रभु किया करता था। यदि उसने समुचित सम्पदा छोड़ी है, तो उसके दायाद का नैतिक कर्त्तव्य है कि उनका भरण-पोषण यथासामर्थ्य करता रहे। धर्मात्मा हिन्दू के लिए जो 'पच महायज्ञ' विहित है उनमें से दो है मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ। अतिथि आदि का तथा पशु आदि की तृप्ति का यथाशक्ति प्रबन्ध कर चुकने के अनन्तर ही गृहस्वामी को भोजन ग्रहण करना चाहिए। जब सम्पदा के स्वामित्व के साथ इतने विस्तृत दायित्व सयुक्त है, तो दीन सम्बन्धियों की अवहेलना करके कोई आत्मग्लानि से कैसे छूट सकता है ? किन्तु प्रत्येक दीन समाश्रित को स्वतत्र व पृथक् भरण-पोषण नियत कराने और पाने का हक नहीं होता। उनके अधिकार से बँधा हुआ सह-सम्बन्धित्व का कर्त्तव्य भी है। उनको दायाद के साथ ही घर में निवास करना चाहिए और गृहचर्या तथा सम्पदा-सम्बन्धी अन्य गतिविधियों में यथासाध्य सहयोग भी देना चाहिए। अन्यथा दायाद उनका भार वहन नहीं कर सकेगा।

१. "सूर्य ना० ब० बाल सुब्रह्मण्य (१९२०) ४३, मद्रास ६३५।
२. "जयन्ती ब० अलमेलू (१९०४) २७, मद्रास ४५।
"गंगा बाई ब० जानकी बाई (१९२१) ४५, बम्बई ३३७।
३. "सूर्य नारायण ब० बाल सु०" (१९२०) ४३, मद्रास ६३५।

प्रकरण १७

अवयस्क तथा उसका अभिभावक

इस विषय के ऊपर "हिन्दू विधि" के जो नियम विकसित हो चुके थे, उनमें सन् १९५६ वाले "हिन्दू माइनारिटी ऐण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" नामक अधिनियम ने सारवान् हेरफेर कर दिये है। यदि वे प्राचीन नियम उपरोक्त अधिनियम के विपरीत पड़ते हैं तो वे निराकृत समझे जायेंगे और इस अधिनियम का विनियोग किया जायगा। इस अधिनियम की प्रतिद्वन्द्विता मे न परिनियत, न धर्मशास्त्रीय, न प्रथाजनित प्राचीन नियम ठहर सकते है। फिर भी प्राचीन कानून इस अभिप्राय से प्रस्तुत किया जाता है कि नवीन विधान की पृष्ठभूमि पाठकों को ज्ञात हो जाय।

मनुष्य वयस्कता कब प्राप्त करता है, इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रों में थोडा सा मतभेद है। एक मत से पन्द्रहवाँ वर्ष पूरा होने पर मनुष्य वयस्क हो जाता है। दूसरे मत से सोलहवाँ वर्ष पूरा होने पर। यथा—

बाल आ षोडशा द् वर्षात पोगण्ड इति शस्यते। (नारद)
अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाप्यूनषोडशः।'
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥ (मिताक्षरा)
यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। (हरदत्त)

पहला मत बंगाल में प्रचलित था और दूसरा शेष भारत में। सन् १८७५ में "इण्डियन मेजारिटी ऐक्ट" पारित हुआ, जो सारे देश में और तलाक, पुत्रीकरण, मेहर, विवाह को छोड़कर सब मामलों पर लागू हो गया। उसने विहित कर दिया कि "गार्जियेन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" वाले तथा "कोर्ट आव वार्ड्स ऐक्ट" वाले नाबालिग २१ वर्ष पूरे होने पर वयस्क माने जायँ तथा अन्य नाबालिग १८ वर्ष की उम्र पूरी होने पर। इद दो विशिष्ट अधिनियमों को अछूता छोड़कर सन् १९५६ वाले "हिन्दू मा० एण्ड गा० ऐक्ट" ने सब मामलों में सब हिन्दू नाबालिगो के लिए १८ वर्ष पूर्ण होना वयस्कता की पहचान स्त्री, पुरुष दोनों के लिए नियत कर दी है।

परम्परा के अनुसार तो प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों खण्डों में अवयस्क की अभिभावकता लाभप्रद अधिकार होती है। किन्तु धर्मशास्त्र तथा पाश्चात्य विधि का यह आग्रह है कि अभिभावकता परोपकारमय कर्तव्य है जिसका संचालन अवयस्क के

कल्याणार्थ ही होना चाहिए। प्राचीन काल में अवयस्क की सम्पदा का संरक्षण राजधर्म का एक अग था। यथा—"रक्ष्य बालधनमाव्यवहारप्रापणात्। समावृत्तेर्वा।" (गौतम धर्म सूत्र १०, ४८–४९) तथा "रक्षेद्राजा बालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणां श्रोत्रियवीरपत्नीनाम्।" (शखलिखित) तथा "बालधनं राज्ञा स्वधनवत्परिपालनीयम्। अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा मयेदं रक्षणीय मयेदं रक्षणीयमिति विवदेरन्।" (मनु पर मेधातिथि)। राजधर्म का यह अंग अर्वाचीन काल में अदालतों को सौंप दिया गया है। अर्थात् आजकल जो भी अभिभावक नियुक्त होते हैं वे राजा के अथवा प्रशासन के मात्र प्रतिनिधि हैं। जब इस प्रकार के विचार सर्व युगों में तथा सर्वत्र व्याप्त मिलते हैं, तो यह स्वाभाविक ही था कि अंग्रेजी शासन काल में न्याय, साम्य, शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर अभिभावकता के अंग्रेजी सिद्धान्त यहाँ की न्याय प्रणाली में प्रविष्ट किये जायँ।

न्याय, साम्य, शुद्ध अन्तःकरण के अतिरिक्त एक अन्य आधारभूत सिद्धान्त है अवयस्क के हित व कल्याण का, जिसका महत्व देखकर "हिन्दू मै० एण्ड गा० ऐक्ट" ने उसको धारा १३ मे निमज्जित कर लिया है। उसके शब्द ये है—"हिन्दू अवयस्क के आभभावक नियुक्त या घोषत करते समय अदालत को अवयस्क के हित व कल्याण का सर्वाधिक ध्यान रखना चाहिए। (२) इस आधनियम के उपबन्धों के अथवा विवाह सम्बन्धी अन्य कानून के अन्तर्गत, कोई व्यक्ति अभिभावक नियुक्त होने का हकदार नहीं होगा यदि अदालत की राय में उसकी अभिभावकता अवयस्क के लिए हितकारी व कल्याणप्रद न होगी।" अवयस्क के हित के अतिरिक्त अदालत को अकलंक मातापिता के हक का भी उचित ध्यान रखना चाहिए।

जब इन बातों का ध्यान रखकर अभिभावक की नियुक्ति की जायगी तो यह भी अनिवाय होगा कि ऐसे अभिभावक को पूरी छूट दी जाय कि, अवयस्क की सम्पदा की रक्षा व समुचित प्रबन्ध के निमित्त की गयी अपनी समर्थनीय कृतियों से उस सम्पदा को वह बद्ध कर सके। समर्थनीयता की परख दो प्रकार से होती है। एक तो यह कि स्वतः अभिभावक ने ईमानदारी से परिस्थितियों की नाप-जोख करने के बाद उस कृति को हत प्रद माना। यह कर्तात्मक परख है। दूसरी यह कि अदालत की निगाह में भी वह कृति आवश्यक या कल्याणप्रद प्रतीत हो। यह विषयात्मक परख कहती है। याद रहे कि इन दोनों कसौटियों का प्रयोग करते समय ईमानदार व दाम देकर खरीदने वाले की रक्षा का भी ध्यान रखा जाता है। सब के हित में तथा सबसे अधिक अच्छा उपाय सुरक्षा का यह होता है कि अवयस्क सम्बन्धी कोई कार्यवाही करने के लिए अदालत की सहमति पहले ही से ले ली जाय।

उपरोक्त कथनों से यह विदित हो जायगा कि इस शीर्षक वाले विवाद एकसमान नियमों से निर्णीत नही किये जा सकते। प्रत्येक वाद का विचार उसके निराले तथ्यों व अवस्थितियों को लेकर किया जाता है; अर्थात् सकल सगत तथ्य, अभ्यर्थी या अभिभावक की अर्हता तथा प्रतिद्वन्द्वी कुटुम्बों की स्थिति इत्यादि सब बातें यह जानने के लिए सोच लेनी पड़ती हैं कि अवयस्क का अधिकतम कल्याण किस भाँति हो सकेगा। ऐसे छिटपुट निर्णयों से नजीरों का निर्माण करना दुस्तर होता है। इसीलिए हिन्दू ला की इस शाखा मे नजीरी कानून की स्वल्पता पायी जाती है।

उपरोक्त आम बातों के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अवयस्क का अभिरक्षण (कस्टोडी) तथा उसकी अभिभावकता (गार्जियनशिप) दो पृथक् अवधारणाएँ होती है। जिसके साथ नाबालिग निवास करता है वह उसका सरक्षक कहलाता है। अवयस्क को अपने साथ रखना तथा उसका भरण-पोषण करना यह उसका हक है। उसके भरण-पोषण के व्यय का प्रबन्ध करना यह अभिभावक का दायित्व होता है। सरक्षण एक अधिकार है जिसका अदालती आदेश से प्रदान होता है और उसके साथ शर्ते लगी रहती है तथा बहुधा वह माता-पिता के हित में पारित हुई परिणय सम्बन्धी डिग्री से संलग्न रहता है। इसके विपरीत अभिभावकता कानूनी उपज होती है जो नातेदारी से संलग्न एक हक है। किसी-किसी दशा में अदालती कार्यवाही में भी यह हक प्रदान किया जाता है। वैधिक अभिभावकता व अभिरक्षण; दोनों से अलग एक अन्य अवधारणा होती है—यानी विवाह के निमित्त अभिभावकता। इन सबसे विलक्षण वह अभिभावकता होती है जो दावे के दौरान में अवयस्क प्रतिपक्षी के प्रतिनिधित्व के निमित्त जाब्ता दीवानी के अन्तर्गत अदालती आदेश से रची जाती है। जिन अवयस्कों पर "कोर्ट आव वार्ड्स ऐक्ट" तथा "गार्जियेन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट" लागू किया जाता है, उनकी अभिभावकता के नियम उन्हीं अधिनियमों में विहित हैं। अभिभावकता के ये तीन अन्तिम प्रकार "हिन्दू ला" के अधिक्षेत्र के परे हैं। शेष प्रकारों पर यहाँ चिन्तन करना है।

वैधिक अभिभावक के अन्तर्गत चार श्रेणी वाले आते हैं—(१) स्वाभाविक या नैसर्गिक, (२) इच्छापत्रीय, (३) सन् १८९० वाले "गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" के अधीन अन्तर्भूत या आरम्भिक क्षेत्राधिकार (इन्हेरेण्ट या ओरिजिनेल ज्यूरिस्डिक्शन) में हाईकोर्ट द्वारा नियुक्त, या जिला जज द्वारा नियुक्त, (४) नातेदारी वाली बन्धुता का आश्रय लेने वाला। औरस के जनक-पिता, फिर जनक-माता तथा दत्तक के पालक-पिता-माता **स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक अभिभावक** माने गये है। अवयस्क पत्नी का नैसर्गिक अभिभावक उसका पति समझा जाता है। **इच्छापत्रीय** वह है जिसको अधिकृत माता या पिता इच्छापत्र द्वारा अवयस्क के तन या धन का या दोनों का अभिभावक

वैधिक रीति से नियुक्त करे। अवयस्क विधवा जिन नातेदारों का आश्रय लेती है और जो उसके तन, धन की रक्षा करते हैं, यथा मृत पति के पिता, भ्राता, वे सम्बन्धीगण **चौथी श्रेणी** में आते है। तीसरी श्रेणी का अर्थ स्वतः स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त एक श्रेणी होती है वास्तविक (डि फैक्टो) अभिभावकों की, जैसे दत्तक का य। जारज का जनक-पिता। ये लोग वैधिक अभिभावक नही माने जाते, किन्तु अवयस्क के कल्याण में हित व रुचि रखने के कारण उसके मामलों में निरन्तर अन्तःक्षेप या हस्तक्षेप करते रहते हैं। इनकी करतूतों पर अदालत कड़ी निगरानी रहती है।

(१) **स्वाभाविक या नैसर्गिक या विधाताविहित अभिभावक**—सर्वप्रथम पिता को, फिर माता को (या जिसको इच्छापत्र में उन्होंने जामांकित कर दिया हो) तन, धन का अभिभावक बनने का हक होता[1] है, यह हक और किसी सम्बन्धी को नहीं होता। किन्तु अदालत इस नियम का उल्लंघन भी कर सकती है, यदि उपरोक्त हक-दारों मे दूषण प्रतीत होते हों। दायभाग वाले संयुक्त कुटुम्ब मे तो प्रत्येक सदस्य का अंश विनिश्चित रहता है, किन्तु मिताक्षरा वाले कुटुम्ब में अनिश्चित। इसलिए दोनों तरह के कुटुम्बों में नाबालिग के तन का व उसके पृथक् धन का अभिभावक नियुक्त हो सकता है। दायभाग में तो उसके अश का भी अभिभावक बनाया जा सकता है, किन्तु मिताक्षरा मे नहीं।

यदि पिता स्वयमेव नाबालिग हो तब भी क्या वह अभिभावक बनने का हकदार है? हाँ। किन्तु अपनी सन्तान को छोड़कर अन्य अवयस्क का नहीं। यदि सन्तान अतीव अल्पवयस्क हो तो भी क्या माता की अपेक्षा पिता को वरीयता मिलेगी? हाँ, यदि उसने दूसरा विवाह करके अपनी वरीयता गवाँ न दी हो।[2] ऊपर कहा गया है कि दत्तक के विधि-विहित या नैसर्गिक अभिभावक उसके पालक-पिता-माता होते हैं। प्रश्न यह है कि उनके अभाव में क्या जनक-पिता-माता अभिभावक नियुक्त हो सकते हैं? नहीं, जब तक पालक-पिता के ही कुटुम्ब में कोई उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध हो, क्योंकि नाबालिग और उसके जनक-पिता के हितों में संघर्ष होने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त दोनों कुटुम्बों के हित दत्तकग्रहण के पश्चात् परस्पर विरोधी हो जाते हैं।[3]

१. "कौलेसर बनाम जोरे" (१९०६) २८, इलाहाबाद २३३।
"नानाभाई ब० जनार्दन" (१८८८) १२, बम्बई ११०।
"के० चेनप्पा ब० के०ओंकारप्पा", ए० आई० आर०, १९४० मद्रास ३३।
२. "इन रि० मुरुगा" (१९५०) मद्रास ८५।
३. "मनोमोहिनी दासी ब० हरिप्रसाद" (१९२५) ४, पटना १०९।

ऊपर कहा जा चुका है कि दायभाग वाले संयुक्त कुटुम्ब में अवयस्क सदस्य के अंश का तो अभिभावक नियुक्त हो सकता है, किन्तु मिताक्षरा वाले संयुक्त कुटुम्ब में नही। इस दूसरी दशा में समांशिता एक सम्पुट इकाई होती है जिसका काम-काज मैनेजर या कर्ता के माध्यम से संचालित होता है। उसमें न तो वयस्क सदस्य का पृथक् अस्तित्व होता है न अवयस्क सदस्य का। इसलिए नाबालिग समांशी का कोई बाहरी अभिभावक समांशिता के भीतर खप और समायोजित नही हो सकता। मैनेजर ही अवयस्क के तन तथा अंश का संरक्षक एवं अभिभावक होता है। समांशिता के मैनेजर में उसकी अवयस्कता से अनर्हता उत्पन्न नही होती है। अतएव समांशिता के नाबालिग मैनेजर को उसके नाबालिग सदस्य का अभिभावक समझ लेने में कोई आपत्ति या बाधा नहीं आती। फिर भी दैवयोग से यदि समस्त समांशी अवयस्क हों, उस दशा में अदालत सारी संयुक्त सम्पदा के निमित्त एक अभिभावक मात्र उस समय तक के लिए नियुक्त कर सकती है जब तक उनमे से ज्येष्ठतम वयस्कता न प्राप्त कर ले। जब वह वयस्कता प्राप्त कर चुके, तब उसे मैनेजरी वापस मिल जानी चाहिए।[१]

नाबालिग जारज पुत्र के अभिभावक होते हैं क्रमशः उसके पिता व माता, तथा दत्तक पुत्र के क्रमशः उसके पालक पिता, माता और अवयस्क पत्नी का अभिभावक उसका पति होता है,[२] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यदि उनमें से कोई हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्म का अनुगामी बन जाय, तो भी, "कास्ट डिस एबिलिटीज रिमूबल ऐक्ट १८५०" उसके उपरोक्त अधिकार को सुरक्षित बनाये रखता है।[३] यदि उनमें से कोई विधवा हो और वह पुनर्विवाह कर ले, तो "हिन्दू विडोज रिमैरेज ऐक्ट १८५६" उसके उपरोक्त अधिकार को सुरक्षित नहीं बनाये रखता है।[४] यदि नाबालिग ही हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार कर ले तो क्या उपरोक्त नियम उस पर बाध्यकारी होंगे, या उसको अपनी रुचि व विवेक के विनियोग की स्वतंत्रता होगी ? इसका सुचिन्तित उत्तर यह है कि अदालत केवल इस बात का ध्यान रखकर उचित आदेश देगी कि कौन सी व्यवस्था अवयस्क का सर्वाधिक हित व कल्याण करेगी।[५]

१. "चन्द्रपालसिंह ब० सर्वजीतसिंह" (१९३६) ११, लखनऊ ६७।
२. "एथीलवलू ब० पेठकूल", ए० आई० आर० १९५०, मद्रास ३९०।
३. "कौलेसर ब० जोरें" (१९०६) २८, इलाहाबाद २३३।
४. "फकीरप्पा ब० सवित्रेवा", ए० आई० आर० १९२१, बम्बई १।
५. "इन द मैटर आव सैथरी" (१८९२) १६, बम्बई ३०७।
"मुकुंद ब० नवदीप" (१८९८) २५, कलकत्ता ९९।
"सरद ब० फोर्मान" (१८९०) १२, इलाहाबाद २३१।

जो व्यक्ति विधाता-विहित होने पर भी, भारतेतर देश मे या तो पहले से निवास करता हो, या बाद में रहने लगा हो, तो वह अपने अधिकार से हाथ धो बैठता है, क्योंकि उस दशा में सम्पदा के अभिभावक के ऊपर नियत्रण रखना असम्भव हो जाता है ।[1] जिन समाजों में "हिन्दू विडोज रिमैरेज ऐक्ट १८५६" के बिना ही विधवा-विवाह प्रचलित है, उनमें तो माता पुनर्विवाह के फलस्वरूप निश्चय ही अपने हक को नहीं खोती ।[2]

यहाँ तक विधाता-विहित अभिभावकों की पात्रता पर विचार किया गया। अब उनकी क्षमता या समर्थता के ऊपर चिन्तन किया जायगा। अर्थात् (१) कहाँ तक वे अवयस्क की सम्पदा का सक्रमण कर सकते है, (२) कहाँ तक वे नाबालिग की तरफ से सविदा कर सकते है तथा (क) समझौता व (ख) ऋण की अभिस्वीकृति कर सकते है। इन सब समस्याओं पर सन् १९५६ वाले "हिन्दू माइनारिटी ऐण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" ने विशिष्ट नियम विहित कर दिये है जो उस समय तक के विद्यमान कानून पर आधारित हैं। उसी कानून की गाथा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

(१) "हनुमानप्रसाद ब० मुसम्मात बबुई" नामक विख्यात नजीर[3] में प्रिवी कौंसिल ने यह घोषित किया था—"एक बाल दायाद के मैनेजर को गैर की सम्पदा पर भार लादने की जो सामर्थ्य हिन्दू ला ने दी है वह सोपाधि तथा सीमित है। उसका उचित उपयोग केवल आवश्यकता निवारणार्थ या सम्पदा के हितार्थ हो सकता है। किसी विशेष मामले में ये बातें सोचने योग्य होती हैं कि सम्पदा पर कैसा निष्पीडन है, कौन-सा सकट निवारण करना है, या उसके निमित्त क्या लाभ उपलब्ध करना है। जज महोदयों का मत है कि जिन पक्षों से महाजन मामला कर रहा हो उनके विषय में उसे परिपृच्छा करके अपना सतोष व विश्वास कर लेना चाहिए कि उस विशेष मामले में मैनेजर सम्पदा के हितार्थ कर्म कर रहा है। किन्तु वे यह भी मानते है कि यदि वह (महाजन) ऐसी पूछताछ कर लेता है और ईमानदारी बरतता है, तो उसके ऋण की वैधता के लिए यह पूर्वगामी शर्त अनिवार्य नही है कि जो पर्याप्त आवश्यकता अभिकथित है और जिसका महाजन उचित रूप से विश्वास कर चुका है, वह वस्तुतः विद्यमान भी रही हो। उनकी समझ में ऋण-राशि के व्यय व विनियोग का अधीक्षण या पर्यवेक्षण करना महाजन का कर्तव्य नहीं है।" प्रिवी कौसिल के इस अभिवचन के

१. "सुधार थम्मल ब० शेषाचल" (१९३१) ५४, मद्रास ७५८।
२. "प्रेम ब० हरनाम", ए० आई० आर० १९३९, लाहौर १२५।
३. (१८५६) ६, मूर्स, इण्डियन एपील्स ३९३।

अनुसार हिन्दू नाबालिग के स्वाभाविक अभिभावक को यह सामर्थ्य है कि प्रबन्ध के सिलसिले मे आवश्यकता निवारण के या सम्पदा के हित के निमित्त सम्पदा का कोई भी भाग वह बै या रेहन कर डाले। हस्तान्तरग्राही को क्या बातें साबित करनी चाहिए और प्रमाणभार किसके ऊपर किस मात्रा तक रहता है, इसका विवरण वही है जो सयुक्त परिवार के मैनेजर के सम्बन्ध मे प्रकरण ९ व १० के अन्तर्गत बताया जा चुका है।

(२) अन्य-सक्रमण के द्वारा नाबालिग वाली सम्पदा को आबद्ध करने की स्वाभाविक अभिभावक की सामर्थ्य बतलायी गयी है। साधारण ऋण, यथा प्रोनोट या तमस्सुक लिखने के अधिकार पर कौन-कौन नियम लागू होते है, इसका सक्षिप्त इतिहास यह है—प्रिवी कौंसिल की दो नजीरों ने[१] यह निर्णय दे दिया था कि स्वाभाविक अभिभावक को अवयस्क के ऊपर व्यक्तिगत दायित्व रख देने के लिए कोई संविदा कर लेने की सामर्थ्य नहीं होती। इन नजीरों का परिणाम निर्धारित करने मे हाई कोर्टों के दो भिन्न मत हो गये। बम्बई हाई कोर्ट[२] के मत से नाबालिग के विरुद्ध ऐसे साधारण ऋण की डिग्री पारित नही हो सकती जो उसकी तरफ से अभिभावक ने लिया हो। पटना व मद्रास हाई कोर्टो ने अपने मत इसके विपरीत घोषित किये। फीडरल कोर्ट आव इण्डिया ने सब मतों की समीक्षा करके ये तीन सिद्धान्त निर्धारित कर दिये है[३]—

(क) वास्तविक अभिभावक हो या विधिसम्मत अभिभावक हो (डि जूरे या डि फैक्टो), उसको यह सामर्थ्य नहीं दी गयी है कि जब तक वैध आवश्यकता न हो या अवयस्क के कल्याणार्थ न हो, वह अवयस्क के या उसकी सम्पदा के ऊपर ऋण के भुगतान का वादा करके व्यक्तिगत दायित्व चढ़ा दे।

(ख) अनधिकृत प्रवेशक को छोड़कर वास्तविक तथा विधिसम्मत दोनों तरह के अभिभावक अवयस्क के रक्षार्थ या कल्याणार्थ धन उधार लेकर उसकी सम्पदा को देनदार बना सकते हैं और ऐसे ऋण की डिग्री भी, एक विशेष सिद्धान्त के आधार पर, उसकी सम्पदा के विरुद्ध पारित हो सकती है। वह सिद्धान्त है प्रतिनिवेशन (सब्रो-

१. "बघेला ब० शेख मस्लुद्दीन" १४, मूर्स, इण्डियन एपील्स ८९।
"चंदर ब० राधाकिशन" १९, कलकत्ता ५०७।

२. "शकर ब० नाथू", ए० आई० आर० १९३२, बम्बई ४८०।

३. "कुडा मुदी ब० मैनेनी" (१९४९) ११, फीड्रल कोर्ट रि० ६५।
"तदावर्ती ब० मैनेनी" (१९४९) ११, फीड्रल कोर्ट रि० ६५।
मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वां सं०) पृ० ६८७।

गेशन) का; अर्थात् अभिभावक की जगह पर महाजन संस्थापित हो जाय और उसी के (अभिभावक के) इस हक से मंडित भी हो जाय कि यदि अभिभावक को ही उपरोक्त ऋण चुकाना पड़ जाय तो वह अवयस्क की सम्पदा से प्रतिपूरित हो सकता है। अवयस्कता के कारण नाबालिग तो संविदा में पक्षधारी बन नहीं सकता। अतः संविदाकारी अभिभावक ही महाजन के प्रति देनदार बनाया जाता है। इस कारण से प्रतिनिवेशन वाले उपरोक्त घुमावदार उपाय का आश्रय लेना पड़ता है।

(ग) पर-क्राम्य संलेख (निगोशिएविल इन्स्टरूमेण्ट) के बल पर उगाहे गये ऋणों के विषय में भी ये सिद्धान्त प्रयोज्य है। दोनों प्रकार के अभिभावक द्वारा लिखित रुक्का या प्रोनोट के आधार पर अवयस्क देनदार नहीं बन सकता है, चाहे वह प्रोनोट नाबालिग की ही तरफ से लिखा गया हो।

यद्यपि प्रोनोट के आधार पर अवयस्क के ऊपर व्यक्तिगत डिग्री नहीं पारित हो सकती, तथापि यदि उसके नाम से ऋणी ने प्रोनोट लिख दिया है, तो वह (अवयस्क) उस प्रोनोट के आधार पर दावा करके डिग्री प्राप्त कर सकता है।[1] फीडरल कोर्ट वाली उपरोक्त नजीर के दूसरे, यानी प्रतिनिवेशन वाले सिद्धान्तानुसार चूँकि साधारण उत्तमर्ण (महाजन) नाबालिग की सम्पदा से अपना सादा ऋण वसूल कर सकता है, इसलिए ऐसे महाजन आम तौर से अपने अर्जीदावे की रचना उसी ढग से करके नाबालिग की सम्पदा के विरुद्ध डिग्री पारित होने की याचना करते हैं।[2]

स्पष्ट हो गया कि अवयस्क की आवश्यकता या उसके लाभ के लिए तो उसका अभिभावक उसकी सम्पदा को भार-पूरित कर सकता है, किन्तु उसको (अवयस्क को) संविदा के द्वारा व्यक्तिगत रूप से आबद्ध नहीं कर सकता। प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्पदा सम्बन्धी संविदा अवयस्क के लिए लाभप्रद हो, तो क्या उसका प्रवर्तन हो सकता है? क्या ऐसी संविदा का यथावत् अनुवर्तन (स्पेसिफिक पर्फामेन्स) कराया जा सकता है? बहुत दिनों से यह मत चल रहा था कि अन्योन्यता का अभाव होने के कारण अवयस्क के विरुद्ध यथावत् अनुवर्तन की डिग्री कभी पारित नहीं हो सकती। सन् १९४८ में प्रिवी कौंसिल ने यह कथन किया[3]—"चूँकि अवयस्क-कृत अनुबन्ध शून्य होता है, स्पष्टतया कोई संविदा विद्यमान है ही नहीं, जिसका यथावत् अनुवर्तन हो

१. "पण्ढरीनाथ ब० आजम खां" (१९२६) ५०, बम्बई ८३१।
२. "संका ब० बैंक आव बर्मा" (१९१२) ३५, मद्रास ६९२।
"नटेश ब० मनक्का", ए० आई० आर० १९३८, मद्रास ३९८।
३. "सुब्रह्मण्य ब० सुब्बाराव" ७५, इण्डियन ए० ११५।

सके। अंग्रेजी नजीरों पर आधारित विपरीत मत को प्रिवी कौंसिल ने प्रत्यादिष्ट कर दिया है। उसका हवाला देना व्यर्थ है। जब अवयस्क के अभिभावक या मैनेजर ने उसकी तरफ से संविदा की हो, तो बात दूसरी हो जाती है। भारत के हाईकोर्टों ने प्रिवी कौंसिल की नजीर के बाद यह मत स्थापित कर दिया है कि एक ऐसा अनुबन्ध अवयस्क के विरुद्ध भी और उसकी ओर से भी प्रवर्तित किया जा सकता है जो अभिभावक ने उसकी ओर से किया हो, जिसको करने के लिए वह अधिकृत रहा हो और जो अवयस्क के लिए लाभकारी हो। किन्तु उपरोक्त शर्तों में से यदि एक भी पूरी न हो, तो अनुबन्ध का प्रवर्तन कदापि नही हो सकता है।" अर्थात् इन शर्तों के पूरी हो जाने के बाद न केवल सम्पदा का क्रय-विक्रय, अपितु क्रय-विक्रय करने का अनुबन्ध भी प्रवर्तनीय बन जाता है। फिर भी संविदा पूरी करने का दायित्व सम्पदा के ही ऊपर रहता है।[1] अवयस्क के व्यक्तित्व पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

ऊपर कही हुई दोनों शर्तें अनिवार्य है, यानी यदि कृति अभिभावक की क्षमता के परे हो, या उसने उस कृति को अवयस्क की तरफ से न करके स्वतः अपनी तरफ से किया हो, तो वह कृति अवयस्क को बद्ध नही कर सकती। ये दोनों शर्तें तथ्य के प्रश्न होती है। दस्तावेज की भाषा तथा किन परिस्थितियों मे वह लिखा गया था, इन बातों पर विचार करना पड़ता है। यदि अवयस्क के नाम का संविदा मे अथवा दस्तावेज में उल्लेख नही किया गया है, तो केवल इस बात से यह निष्कर्ष नही निकलता कि वह कृति नाबालिग की तरफ से नही स्वतः अपनी ओर से अभिभावक ने की थी।[2] सन् १९५६ वाले "हिन्दू माइनारिटी ऐण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" की धारा ८ ने अभिभावक की उपरोक्त सारी सामर्थ्यो को तथा सिद्धान्तों को निगमित कर लिया है। चूंकि अभिभावक को क्रियाशीलता की समुचित स्वतन्त्रता मिले बिना, न संसारी क्रियाकलाप सरलतापूर्वक चल सकता है और न वह अवयस्क का प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकता है, इसलिए मानना पड़ेगा कि उसको अवयस्क की तरफ से सुलहनामा करने का भी अधिकार होता है।[3]

सुलह करने की सामर्थ्य से मिलती-जुलती सामर्थ्य है ऋण की अभिस्वीकृति या अधिकार। सन् १९०८ वाले "इण्डियन लिमिटेशन ऐक्ट" की धारा १९, २० के

१. "वी० सूर्यप्रकाशन ब० ए० गंगाराजू", ए० आई० आर० १९५६, आंध्र प्र० ३३।
२. "नंदनप्रसाद ब० अब्दुल अजीज" (१९२८) ४५, इलाहाबाद ४९७।
"बलवंतसिंह ब० क्लैंसी" (१९१२) ३४, इलाहाबाद २९६।
३. "सुब्रह्मण्य ब० अरुमूगा" (१९०३) २६, मद्रास ३३०।

अनुसार ऋणी की तरफ से किये हुए ब्याज के भुगतान से या ऋण की अभिस्वीकृति से मियाद विस्तृत हो जाती है। ये दोनों क्रियाएँ महत्वपूर्ण परिणाम पैदा कर सकती हैं। क्या नाबालिग को उसका अभिभावक उनसे आबद्ध कर सकता है? इस पर जो मतभेद हाई कोर्टों में था उसका समाधान करते हुए उसी अधिनियम की धारा २१ (१) ने यह विहित कर दिया है कि वैधिक अभिभावक द्वारा की हुई उपरोक्त कृतियां "अधिकृत अभिकर्ता" के कर्म मान ली जायेंगी। उपरोक्त अधिकारों की चाहे जिस प्रसंग में चर्चा आये; छल, कपट, धूर्तता, बदनीयती से दूषित अभिभावक के कर्म अधिकृत नहीं माने जा सकते और न वे कर्म जो परिकल्पी (स्पेकूलेटिव) या अनावश्यक या अनुचित हों। अनुचित कर्म का यहाँ पर आशय है वे कर्म जिनको एक नीतिप्रिय व्यक्ति युक्तियुक्त न समझता हो।

(२) **दूसरी श्रेणी वाले इच्छापत्रीय अभिभावक**—हिन्दू माता-पिता, दोनों ही इच्छापत्र लिखने का अधिकार रखते हैं। किन्तु दोनों के अधिकार में अन्तर है। पिता द्वारा इच्छापत्रीय अभिभावक की नियुक्ति अकाट्य होती है; यहाँ तक कि वह माता को भी अपवर्जित कर सकता है। किन्तु माता-कृत इच्छापत्रीय नियुक्ति उपेक्षणीय होती है। पिता-कृत नियुक्ति इतनी अनुपेक्षणीय होती है कि यदि वह राम को अपनी पुत्री के तन व धन दोनों का अभिभावक नियुक्त कर गया हो, तो विवाहोपरान्त उसका पति उसके तन का तो अभिभावक बन जायगा, किन्तु उसके धन का अभिभावक राम ही बना रहेगा। इच्छापत्रीय अभिभावक को इच्छापत्र में लिखे निदेशों का पालन करना पड़ता है।

सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" के पहले कोई हिन्दू समांशी (मिताक्षरा में) समांशिता वाली सम्पदा के विषय में इच्छापत्र नहीं लिख सकता था। प्रश्न यह उठा कि क्या कोई समांशी अपने अवयस्क पुत्रों के लिए संयुक्त सम्पदा के विषय में इच्छापत्रीय अभिभावक नियुक्त कर सकता है? बम्बई व मद्रास के हाई कोर्टों का उत्तर है कि नहीं नियुक्त कर सकता है।[२] आधारभूत सिद्धान्त यह है कि समांशिता मे उत्तरजीविताधिकार के प्रयोग के कारण मृत्यु के बाद किसी समांशी को सम्पदा के प्रबन्ध को विनियमित करने का अधिकार नहीं होता है। इसलिए इच्छापत्र द्वारा अभिभावक को नियुक्त करके अपनी इच्छानुसार उससे प्रबन्ध करवाने का भी अधिकार

१. **"राजराजेश्वरी ब० शंकर नारायण" (१९४८), मद्रास ३५१।**
२. **"व्रजभूषणदास ब० घासीराम" (१९३५) ५९, बम्बई ३१६।**
"चिदम्बर ब० रंगस्वामी" (१९१८) ४१, मद्रास ५६१।

समांशी को नहीं होता। आम तौर से इच्छापत्रीय अभिभावक को वही अधिकार होते हैं जो स्वाभाविक अभिभावक को; यदि इच्छापत्र में कुछ विपरीत आदेश उल्लिखित न हो।

(३) तीसरी श्रेणी वाले अभिभावक, जिनको अदालत नियुक्त करती है—सन् १८९० के "गार्जियन्स ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" की धारा ४, ५, ७ ने अदालत को अधिकृत किया है कि यदि विश्वास हो जाय कि अवयस्क के कल्याणार्थ अभिभावक की नियुक्ति अभीप्सित है, तो वह उसके तन या धन या दोनों के निमित्त अभिभावक नियुक्त कर दे। शर्त यह है कि पिता ने कोई इच्छापत्रीय निदेश इसके विषय में न छोड़ा हो। तन का अभिभावक चुनने में जिन-जिन बातों का विचार करना होता है वे उक्त अधिनियम की धारा १७ में उल्लिखित हैं। उनमें खास दो हैं। एक तो यह कि सदसत् बुद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात नाबालिग की निजी रुचि का भी ध्यान रखना चाहिए। दूसरे, और यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि कौन से प्रतियोगी की नियुक्ति अवयस्क के लिए सर्वाधिक कल्याणप्रद होगी।

संयुक्त सम्पदा में अवयस्क समांशी के हित का अभिभावक नहीं नियुक्त हो सकता। उसकी पृथक् सम्पदा के लिए ही अभिभावक की नियुक्ति हो सकती है। ऐसे अभिभावक के अन्य-संक्रमणीय अधिकार कितने और कहाँ तक माने जाते हैं? वह बिना अदालत की अनुमति लिये अन्य-संक्रमण नहीं कर सकता। यदि कर दिया हो, तो अवयस्क अथवा उसकी सम्पदा में जो किसी प्रकार का हित रखता हो, वह उस संक्रमण का उत्सादन करा सकता है। अदालत की अनुमति लेकर जब अभिभावक अवयस्क की सम्पदा का हस्तान्तरण करता है, तब तो संक्रान्तग्राही नितान्त सुरक्षित हो जाता है और उसको किसी प्रकार की जाँच-पड़ताल करने की आवश्कयता नहीं रह जाती।

ऊपर कहा जा चुका है कि सयुक्त सम्पदा में अवयस्क समांशी के अंश का अभिभावक नही नियुक्त हो सकता। किन्तु चार्टर्ड हाई कोर्ट को अन्तर्भूत शक्ति (इन्हेरेन्ट पावर) प्राप्त है कि वह सयुक्त सम्पदा में अवयस्क के अंश का अभिभावक अविभक्त कुटुम्ब के मैनेजर को ही नियुक्त कर दे, यदि ऐसा करना अवयस्क के कल्याणार्थ प्रतीत हो। अपने आदेश में हाई कोर्ट उस अभिभावक को अवयस्क के अंश समेत संयुक्त सम्पदा का संक्रमण करने की अनुमति देकर अवयस्क के भाग के विषय में शर्तें विहित कर सकता है।

(४) नातेदारी वाली बन्धुता का आश्रय लेनेवाले चौथी श्रेणी के अभिभावक—मृतक के सम्बन्धी गण, प्रत्यासत्ति के क्रमानुसार उसकी विधवा के अभिभावक बनने के हकदार होते हैं। सामान्यतः उनके हक को विधवा के पीहर वालों की अपेक्षा वरीयता

मिलती है।[1] यह हक विधवा के पुनर्विवाह के बाद समाप्त हो जाता है। ज्ञातव्य है कि यदि ससुराल वाले अभ्यर्थी मृतक से कई पीढ़ी दूर हों और पीहर वाले विधवा के माता-पिता के करीबी हों, तो प्रथम कोटि की अपेक्षा द्वितीय कोटि को वरीयता मिलनी चाहिए।[2]

इन चार श्रेणियों से परे वे अभिभावक होते है जो वास्तव में अवयस्क की सम्पदा का प्रबन्ध बिना किसी तरह के वैधिक हक या नियुक्ति के करने लगते है। "हनुमानप्रसाद बनाम मु० बबुई"[3] वाली प्रसिद्ध नजीर के माफिक वैसी ही शर्तें यदि पूरी हो जायँ, तो ऐसे अभिभावक द्वारा किया हुआ अन्य-सक्रमण भी अवयस्क की सम्पदा पर बाध्यकारी हो जाता है। अवयस्क की बहन का विवाह एक ऐसा प्रयोजन है जिसके व्यय के निमित्त वास्तविक अभिभावक-कृत अन्य-सक्रमण सम्पदा पर बाध्यकारी समझा जायगा।[4] विमाता भी अवयस्क की **वास्तविक अभिभावक** मानी जा सकती है, और यदि आवश्यक शर्ते पूरी होती हों, तो वह भी स्वीकृत अन्य-सक्रमण से अपने सौतेले पुत्र की सम्पदा का आबद्ध कर सकती है।[5] किन्तु एक पृथक् निवासी चाचा, जिससे कोई सरोकार नही और जिसने अवयस्क के मामलों मे कोई रुचि कभी ली ही नही, उसकी सम्पदा को वास्तविक अभिभावक बनकर बेच नही सकता।[6] सिर्फ बैनामा लिखने के निमित्त जो अभिभावक बने उसे **तदर्थ अभिभावक** (ऐडहाक) कहते हैं। ऐसे अभिभावक द्वारा अथवा वास्तविक अभिभावक द्वारा बिना आवश्यकता या बिना सम्पदा के लाभार्थ किया हुआ अन्य-सक्रमण अवयस्क को आबद्ध नहीं कर सकता है।

यद्यपि वास्तविक अभिभावक के लिए यह बाध्यकर नहीं होता कि अपनी नियुक्ति अदालत के आदेश से कराये, तथापि यदि अवयस्क सम्पत्तिवान् हो और अभिभावक

१. "चिन्ना ब० विनगैथम्मल", ए० आई० आर० १९२९, मद्रास ११०।
"गंगा ब० नरसिंह", ए० आई० आर० १९३५, लाहौर २५।
२. "तोता ब० राम" (१९११) ३३, इलाहाबाद २२५।
३. ६ मूर्स, इण्डियन एपील्स ३९३।
४. "शिवगोविन्द ब० रामाधीन" (१९३३) ८, लखनऊ १३२।
५. "तुलसीदास ब० राय सिंहजी" (१९३३) ५७, बम्बई ४०।
"कोंडा मूदी ब० मैनेनी" ११, फीडरेल कोर्ट रि० ६५।
६. "हरिलाल ब० गोवर्धन" (१९२७), बम्बई १४०।

अपनी नियुक्ति का प्रयास न करे, तो लोग और खास कर अदालत उसकी नीयत व अभिप्राय पर सन्देह करने लगते हैं। यह सन्देह इतना गम्भीर माना गया कि "हिन्दू मा० ऐण्ड गा० ऐक्ट १९५६" ने धारा ११ द्वारा वास्तविक अभिभावक को अवयस्क की सम्पदा में हस्तक्षेप करने से वर्जित कर दिया है। अर्थात् लगता है कि वास्तविकता का उत्सादन हो गया है।[१] किन्तु इस धारा के निर्वचन के विषय में अभी मतभेद है। यह ज्ञातव्य है कि कानून-मियाद की धारा २०, २१ के अधीन एक वास्तविक अभिभावक को अभिस्वीकृति या देनदारी करके मियाद बढ़ा देने की सामर्थ्य नहीं है।[२] न वह प्रोनोट लिखकर अवयस्क या उसकी सम्पदा को आबद्ध ही कर सकता है, चाहे ऋण समर्थनीय अभिप्राय के निमित्त ही लिया गया हो।[३]

अवयस्क की अभिरक्षा को पुनः प्राप्त करने के निमित्त अभिभावक को कौन उपाय उपलब्ध है ? अभिभावक को स्वतन्त्र दावा करने का हक होता है। यह बम्बई हाई कोर्ट का मत है।[४] इसके विपरीत यह मत है कि अभिभावक को दावा दायर करने का हक नही है। उसको "गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट १८९०" के अधीन अभ्यर्थना करनी चाहिए, क्योंकि उस अधिनियम में दावा की कार्यवाही विहित नही है। यह मद्रास, पंजाब व इलाहाबाद हाई कोर्ट का मत है।[५]

अब स्पष्ट है कि अभिभावक का हक है अवयस्क की अभिरक्षा का, उसकी सम्पत्ति पर कब्जा करने और रखने का, मुकदमों में अवयस्क का प्रतिनिधित्व करने का, राजीनामा करने का,[६] पंचायत के लिए स्वीकृति देने का। ज्ञातव्य है कि यदि मुकदमे में अभिभावक की **घोर अनवधानता** (ग्रॉस नेग्लीजेन्स) के कारण अवयस्क के किसी हक की ह्रासकारी डिग्री पास हो जाय, तो अवयस्क को उस डिग्री को उत्सादित कराने का

१. "नारायण ब० रामचंद्र", ए० आई० आर० १९५७, बम्बई १४६।
२. "नागैया ब० नरसैया", ए० आई० आर० १९३८, मद्रास ८५३।
३. "के० श्रीमूल ब० एम० पुंडरीकाक्ष", ए० आई० आर० १९४९, फेडरल कोर्ट २१८।
४. "अछरतलाल ब० चिं० लाल" (१९१६) ४०, बम्बई ६००।
५. "सेठी ब० रमन्दी" (१९१९) ४२, मद्रास ६४७।
"चैता ब० वजीरा", (१८९६) पंजाब रिकार्ड नं० ४१।
"शामलाल ब० भिंडो" (१९०४) २६, इलाहाबाद ५९४।
६. "देवी ब० केशव", ए० आई० आर० १९४५, इलाहाबाद ४२३।
"करम ब० चुनी", ए० आई० आर० १९३३, लाहौर ४१९।

अधिकार पैदा हो जाता है।[1] पैरवी की घोर अनवधानता ऐसी महान् होनी चाहिए कि मानों अवयस्क की अनुपस्थिति थी ।[2] घोर अनवधानता के अतिरिक्त कपट, छल, साठगाँठ के आधार पर भी अवयस्क डिग्री का, सुलहनामे का तथा "फैमिली अरेंजमेण्ट" का उत्सादन करा सकता है।

उपरोक्त हकों के अतिरिक्त अभिभावक को **प्रतिपूर्ति (री इंवर्समेण्ट)** का भी हक होता है। ज्ञातव्य है कि अभिभावक का पद एक न्यासी का होता है। वह अपने श्रम व देखभाल की एवज में पारिश्रमिक पाने का हकदार नहीं होता। बिना अदालत की सम्मति के वह उस ऋण को भी काट नही ले सकता जो अवयस्क के मृतक पिता ने उससे लिया था। किन्तु अवयस्क की सम्पदा में से वह उन खर्चों की प्रतिपूर्ति कर सकता है जो उसने उचित रूप से अवयस्क के ऊपर किये हों। उसको उन खर्चों की प्रतिपूर्ति का भी हक है जो उसको अवयस्क के प्रतिनिधि के रूप में मुकदमे की प्रति-रक्षा के निमित्त उठाने पड़ें। अर्थात् प्रतिनिवेशन (सब्रोगेशन) वाले नियमानुसार किसी मुकदमेबाजी में वह उन हकों और छूटों या उन्मुक्तियों का अधिकारी बन जाता है जो अवयस्क को प्राप्य हों। यदि उसने अवयस्क को कर्ज दिया हो तो उसके पास दो उपाय हैं। या तो अवयस्क की सम्पत्ति में से अपनी प्रतिपूर्ति कर ले, या अवयस्क को लेखा-जोखा देने और सम्पदा सौंप चुकने के पश्चात्, उसके ऊपर मियाद के भीतर दावा दायर करे। परन्तु एक "वास्तविक अभिभावक" को केवल दूसरा उपाय उपलब्ध होता है, क्योंकि उसकी गैरजिम्मेदारी के कारण पहले उपाय के कुपरिणाम अनेक हो सकते हैं। लेखा-जोखा दे चुकने के बाद अभिभावक को अवयस्क से उन्मोचन ले लेना चाहिए। क्योंकि जब उन्मोचन मिल चुकता है और यदि वह बिना अनुचित प्रभाव के प्राप्त किया गया था, तब अवयस्क विगत प्रबन्ध की जाँच नहीं करा सकता।

जहाँ अभिभावक को कानून ने इतने हक दिये हैं, वहाँ उस पर दायित्व भी डाल दिये है। एक तो, विश्वासघात (ब्रीच आव ट्रस्ट) के लिए सर्व प्रकार के अभिभावक व्यक्तिगत रूप से उत्तरदाता होते हैं, क्योंकि उनका पद न्यासी के तुल्य होता है।

१. **"एगप्पा ब० रामनाथन"**, ए० आई० आर० १९४२, मद्रास ३८४।
"मरुदमूथू ब० अरुणा-चलम", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास ३९५।
"नारायण ब० गोपालन", ए० आई० आर० १९६०, केरल ३६७।

२. **"सी० श्रीराममूर्ति ब० आफिशल रिसीवर"**, ए० आई० आर० १९५७, आंध्र प्रदेश ६९२।

अतः चिरभोगाधिकार या कब्जा मुखालिफाना का प्रलाभ वह कभी उठा ही नहीं सकता। दूसरे, उसका प्रबन्ध एक साधारण विवेकी मैनेजर के तुल्य होना चाहिए। अतः अवयस्क की सम्पत्ति और निधि से उपजे हुए लाभ की, तथा उस लाभ की भी देनदारी उसके ऊपर रहती है जिसको घोर अनवधानतावश उसने खो दिया हो। तीसरे, अनुचित प्रभाव या बेईमानी से रंजित सौदे और मामले जो अभिभावक ने स्वतः या परोक्ष रूप से किये या कराये हों, उनकी उत्तरदायिता उसी पर रहती है। चौथे, हिसाब समझाने का दायित्व उस पर रहता है।

प्रकरण १८

दान तथा इच्छापत्र

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहु र्दानमेकं कलौ युगे ।। (मनु १,८६)

दान का सभी धर्मों में बड़ा माहात्म्य माना गया है। उसके छः अंग कहे गये है—"दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचित काल, उचित देश।" (देवल)। उसके तीन प्रकार होते है, सात्विक, राजस, तामस, (श्रीमद्भगवद्गीता १७–२० २१, २२)। ये तो परमार्थी दान की बातें है जो उसके महत्व को प्रकट करने के लिए कही गयी है। लौकिक दान की गाथा इस प्रकार है—

धर्मशास्त्र के व्यवहार भाग में इस विषय का विचार "दत्तानपाकर्म" या "दत्ता-प्रदानिक" शीर्षक के अधीन किया गया है। इसका अर्थ है दत्त को वापस लेना। नारद स्मृति मे दान के चार भाग किये गये है—(१) जो अदेय है, (२) जो देय है, (३) जो देना न्यायानुकूल है, (४) जो देना न्यायानुकूल नही है। दान की शास्त्रीय परिभाषा यह है—दान उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा किसी द्रव्य में अपने स्वत्व का विनाश और दूसरे के स्वत्व का उसमें सर्जन किया जाता है, एव इसकी पूर्ति तभी (उसके पहले नही) होती है जब वह दूसरा व्यक्ति उस दान को मानसिक, वाचिक या कायिक अभिव्यक्ति के द्वारा अगीकार कर लेता है। वाचिक अभिव्यक्ति ऐसे वचन से होती है—"यह मेरा हो गया"। कायिक अभिव्यक्ति के अनेक रूप होते हैं, जैसे हाथ मे लेना, या स्पर्श करना इत्यादि। मानसिक अभिव्यक्ति द्रव्य को न लौटाने या रख लेने या मौन से समझ ली जाती है, यथा—"मौनं स्वीकार लक्षणम्"। यह मिताक्षरा का मत है। दायभाग ने पाडित्यपूर्ण व्याख्या के अन्त में अगीकृति को बिल्कुल अनावश्यक कारक समझा है। उसके मत से दाता के स्वत्व के निर्वापण अथवा दान-ग्रहीता के स्वत्व के सर्जन के लिए ग्रहीता की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नही होती। अब ये शास्त्रीय विचार निरर्थक हो गये है, क्योंकि यह विषय अब "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की संशोधित धारा २ तथा १२९ के आधार पर निर्णीत होने लगा है।

आम तौर से हिन्दू को अपनी पृथक् या स्वार्जित सम्पदा का दान या हिबा कर देने का अधिकार होता है। किन्तु इस व्यापक अधिकार पर धर्मशास्त्रीय प्रतिबन्ध भी लगे हुए हैं। यथा—

सर्वस्व-गृह-वर्जं तु कुटुम्बभरणाधिकम् ।
यद् द्रव्यं तत्स्वकं देयमदेयं स्यादतोऽन्यथा ।। (कात्यायन)

समांशिता वाली सम्पत्ति का दान मिताक्षरा में वर्जित किन्तु दायभाग में अनुज्ञेय है। मिताक्षरा वाले नियम का एक अपवाद है। अन्तिम व एकल उत्तरजीवी समांशिता वाली सम्पत्ति का भी दान कर सकता है। यहाँ जन्म-स्वत्ववाद (मिताक्षरा) तथा उपरम-स्वत्ववाद (दायभाग) स्मरणीय है। इस दूसरे वाद के अनुसार कर्त्ता के पद पर जब पिता आसीन होता है, तो संयुक्त सम्पदा का स्वामित्व या स्वत्व उसी में निहित रहता है और पुत्रों का सिवा भरण-पोषण के उसमें कोई हक नहीं होता। अतः एक समांशी-पिता पोषणाधिकार का ध्यान रखकर सारी पैतामही सम्पदा का दान कर सकता है। मिताक्षरा वाली समांशिता में कर्त्ता-पिता को खास दशाओं में सम्पत्ति के केवल एक लघु अंश के दान कर देने का हक होता है; अन्यथा आम तौर से वह अपना अंश भी दान में नहीं दे सकता है। यह नियम पुरुषों के अधिकार से सम्बन्धित है।

स्त्री या तो विधवा होती हैं या कुमारी या सधवा। कुमारी, सधवा व विधवा नारियाँ उस स्त्रीधन का दान इच्छानुसार कर सकती हैं जो सौदायिक की गणना में आता हो। अन्य प्रकार के स्त्रीधन में दान देने के उनके अधिकार सप्रतिबन्ध होते है, जैसा कि प्रकरण १२ व १३ में बताया जा चुका है। उत्तराधिकार में मिली पति की सम्पदा का थोड़ा-सा भाग उसकी विधवा दान में भी दे सकती है। किन्तु इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगे हुए हैं जो प्रकरण १३ में बताये गये हैं। व्यवहारमयूख वाली उप-शाखा मे नारी को उदारतापूर्ण अधिकार मिले हैं, जिनमें से एक यह है कि विधवा अपने पति की जंगम सम्पदा का दान भी कर सकती है। नारियों के अधिकारों में सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा १४ ने परिवर्धन कर दिया है, क्योंकि इस अधिनियम के पूर्व या पश्चात् कब्जे में आयी हुई सब सम्पदा पर नारी का पूर्ण स्वामित्व समझा जाने लगा है। अर्थात दान करने के विस्तृत अधिकार उसको मिल गये हैं। इतने नियम देय व अदेय द्रव्य के विषय में बताये गये हैं। अब दान की वैधिक रीति जान लेनी चाहिए।

सन् १८८२ वाला "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" सन् १९२९ में संशोधित हुआ था। उसका "गिफ्ट", दान या हिबा वाला समूचा प्रकरण हिन्दू-कृत दान पर लागू हो गया है। धर्मशास्त्रीय नियमों के बजाय उक्त अधिनियम की धाराएँ हिन्दू-कृत दान को विनियमित करने लगी हैं। धर्मशास्त्र के अनुसार दान को लिखित होने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब तक दाता अपना कब्जा दानग्रहीता को नहीं सौंप देता तब तक दान पूरा नहीं समझा जा सकता। इस शर्त को उक्त अधिनियम की धारा

१२३ ने निराकृत कर दिया है। अब कब्जे का अर्पण दान को वैध बनाने के लिए आवश्यक नही रह गया है और न कब्जे के अर्पण मात्र से दान वैध बन सकता है; अवश्य ही जगम सम्पत्ति के दान को प्रभावशाली बनाने के लिए अर्पण उक्त अधिनियमानुसार भी पर्याप्त होता है।

धारा १२२ मे दी हुई परिभाषा में वैध दान के आवश्यक अवयव हैं—(१) देय वस्तु को निश्चित विद्यमान सम्पत्ति होना चाहिए, (२) दान स्वेच्छित व प्रतिदेय रहित हो, (३) दान ग्रहीता स्वतः या उसकी ओर से कोई उसके जीवन काल में दान को अंगीकार कर ले, अन्यथा वह शून्य माना जायगा। लेकिन यह आवश्यक अवयव नहीं है कि दान ग्रहीता पैदा हो चुका हो। अतः अजात व्यक्ति के हित में भी दान किया जा सकता है। धारा १२३ ने विहित किया है कि अचल वस्तु का दान एक ऐसे लिखित पत्र के द्वारा किया जाना चाहिए जिसकी रजिस्टरी हो गयी हो, जिसमें दाता ने हस्ताक्षर कर दिये हों और जिसके दस्तखत का अभिप्रमाणन कम से कम दो साक्षियों ने कर दिया हो। उस धारा ने यह भी विहित किया है कि चल वस्तु का दान अर्पण से भी हो सकता है तथा ऐसे रजिस्टरी किये हुए लिखित पत्र से भी, जिसमें दाता ने हस्ताक्षर कर दिये हों।

उपरोक्त परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि उक्त अधिनियम ने अर्पण को अनावश्यक अवयव ठहरा दिया है, तथापि दान की अंगीकृति को नहीं हटाया है। अर्थात् दान-ग्रहीता की स्वीकृति अभी तक एक आवश्यक अवयव है। दाता द्वारा दस्तावेज का लिखा जाना दान की स्वीकृति का प्रमाण नहीं होता। स्वीकृति एक तथ्य होती है जिसका स्वतंत्र प्रमाण देना चाहिए। शास्त्रीय विधि में अजात व्यक्ति के हित में दान नहीं किया जा सकता, क्योंक अर्पण, जो उस विधि में दान का एक आवश्यक कारक माना जाता है, केवल जीवित व्यक्ति को किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्वीकृति भी केवल जीवित व्यक्ति दे सकता है। किन्तु प्रचलित हिन्दू ला ने इस नियम को तोड़ दिया है।

उक्त नियम का निर्वापण तीन चरणों में पूरा हुआ था। पहले सन् १९१४ में "हिन्दू ट्रान्सफर्स ऐण्ड बिक्वेस्ट्स ऐक्ट" पारित हुआ, जिसने विहित किया कि उक्त अवैधकारी नियम उन दानों पर लागू नहीं होगा जो मद्रास नगर को छोड़कर मद्रास प्रान्त के निवासी हिन्दुओं ने १४ फरवरी सन् १९१४ के उपरान्त किये हों, तथा उन दानों पर भी, जो उस तारीख से पूर्व हो चुकने पर भी उस तारीख के पश्चात् प्रभावशाली बनने वाले हों। फिर सन् १९१६ में "हिन्दू डिस्पूजीशन आव प्रापर्टी ऐक्ट" पारित हुआ, जिसने विहित किया कि अवैधकारी उक्त नियम उन दानों पर भी लागू

नहीं होगा जो २० सितम्बर सन् १९१६ को या उसके अनन्तर हिन्दुओं ने मद्रास प्रान्त के बाहर भारत के किसी खण्ड में किये हों। अन्त मे सन् १९२१ मे "हिन्दू ट्रान्सफर्स ऐण्ड विक्वेस्ट्स (सिटी आव मद्रास) ऐक्ट" पारित हुआ, जिसने मद्रास नगर से भी अवैधकारी उक्त नियम का निर्वासन कर दिया। फलतः हिन्दू ला का निम्नोक्त नियम अब इस देश के सब खण्डों पर लागू है—"सन् १८८२ वाले "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" के परिच्छेद २ मे उल्लिखित प्रतिबन्धों का ध्यान रखकर, किसी दान को मात्र इस आधार पर अवैध नही कर देना चाहिए कि, वह व्यक्ति दान की तिथि तक उत्पन्न नही हुआ था जिसके हित मे दान किया गया था।"[1]

सन् १९१४–२१ में जो तीन अधिनियम पारित हुए उनमें अलग-अलग वे शर्तें भी दी हुई हैं जिनके बिना नया वैधकारी नियम लागू नही हो सकता। उन शर्तों को एकत्रित करने और एकरूप बना देने के निमित्त सन् १९२९ में "द ट्रान्सफर आव प्रापर्टी (एमेण्डमेण्ट) सप्लीमेन्टरी ऐक्ट" पारित किया गया। उन शर्तों व प्रतिबन्धों को जान लेना चाहिए। उसके पहले कुछ अन्य सम्बन्धित बातें ज्ञातव्य है। एक तो वे दो अधिनियमों मे उल्लिखित है, यानी "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" के परिच्छेद २ में दान सम्बन्धी तथा "इंडियन सक्सेशन ऐक्ट १९२५" की धारा ११३–१६ में इच्छापत्र सम्बन्धी। दूसरे, ये शर्तें और प्रतिबन्ध दोनों प्रकार के सक्रमण के लिए समान हैं। तीसरे, उपरोक्त सन् १९१४, १६, २१ वाले तीनों अधिनियमों की पृष्ठभूमि में प्रसिद्ध "टैगोर केस" है जिसका निर्णय प्रिवी कौसिल ने सन् १८७२ में किया था। चौथे, दत्त-सम्पत्ति का फलोपभोग यदि दाता अपने निमित्त आजीवन सुरक्षित कर ले तो इस प्रतिबन्ध के फलस्वरूप दान अवैध नहीं हो जायगा, क्योंकि इस शर्त के कारण दान-ग्रहीता के तात्कालिक स्वामित्व में त्रुटि नहीं आती।[2] ज्ञातव्य है कि यदि स्वामित्व में त्रुटि रह जाय तो दान अवैध हो जाता है। पाँचवें, स्वामित्व का तो हस्तांतरण हो जाय, किन्तु इन शर्तों के साथ कि दान-ग्रहीता न तो दत्त सम्पत्ति का अन्य-संक्रमण करेगा न विभाजन, तो ये शर्तें अप्रवर्तनीय मानी जायेंगी। छठे, छल-कपट और अनुचित दबाव को छोड़कर अन्य कारण से दान का विखण्डन नही हो सकता है।[3] जब दाता परदा-नशीन या विधवा हो, तो दान ग्रहीता पर इस बात का प्रमाणभार आ जाता है कि दाता अपने कर्म तथा हकों को भली-भाँति समझती-बूझती थी।[4]

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वां सं०), पृष्ठ ५३०–३१।
२. "लल्लूसिंह बनाम गुरुनारायण" (१९२३) ४५, इलाहाबाद ११५।
३. "गंगाबक्श ब० जगतबहादुर" (१८९६) २२, इ० एपील्स १५३।
४. "देव कुं० ब० मान कुं०" (१८९४) २१, इ० एपील्स १४८।

"टैगोर केस" के[1] तथ्य टेढ़े-मेढ़े है। "टेल मेल" उस सम्पदा को कहते हैं जो दायादों में से मात्र पुरुषों को केवल जन्म भर के लिए मिले। उक्त दावे में सम्पदा का इच्छा-पत्रीय प्ररिक्थ दान इन निदेशों के साथ किया गया था—(१) क को सम्पदा मिले उसके जीवन पर्यन्त, तत्पश्चात् क के ज्येष्ठ पुत्र को जीवन भर के लिए, तत्पश्चात् उस ज्येष्ठ पुत्र के ज्येष्ट पुत्र को जीवन पर्यन्त, इसी प्रकार अन्य पुत्रों को उत्तरोत्तर केवल जीवन पर्यन्त। दूसरे शब्दों में क तथा उसके दायादों को "टेल मेल" के नियमानुसार सम्पदा मिले। (२) क की कुल-हानि या समाप्ति के बाद सम्पत्ति मिले ख को तथा ख के दायादों को "टेल मेल" के नियम से। (३) ख की कुल-हानि अथवा समाप्ति के अनन्तर सम्पदा मिले ग को तथा ग के दायादों को "टेल मेल" के नियम से। इसके अतिरिक्त इच्छापत्र मे नारियों व उनकी सन्तति का अपवर्जन था और "प्रैमोजेनीचर" वाली प्रणाली के पालन का स्पष्ट अनुरोध भी था। "प्रैमोजेनीचर" प्रणाली उत्तराधिकार की उस विशेष रीति को कहते है जिसमे पिता की सम्पूर्ण सम्पदा ज्येष्ठ पुत्र पर अवतरित हो जाती है। इच्छापत्र-कर्ता जब मरा तब क जीवित तो था पर अपुत्र था। ख भी जीवित था और उसके एक पुत्र च उत्पन्न हो चुका था। ग मर तो चुका था किन्तु उसने एक पौत्र छ को छोड़ा था जो इच्छापत्र कर्ता के सामने उत्पन्न हो चुका था।

स्वतः इच्छापत्र-कर्ता के एक पुत्र ज था, जो ईसाई धर्मानुयायी हो चुका था। इसी लिए इच्छापत्र में उस (ज) का कोई उल्लेख ही नहीं था। इच्छापत्र-कर्ता की मृत्यु के पश्चात् ज ने इच्छापत्र के निराकरण का दावा दायर कर दिया। प्रिवी कौंसिल ने यह निर्णय दिया कि क को तो आजीवन सम्पदा मिलेगी। किन्तु उसके बाद वह (सम्पदा) न उसके दायादों को, न ख व उसके दायादों को, न ग व उसके दायादों को मिल सकती है, क्योंकि "टेल मेल", जो कि अंग्रेजी कानून की देन है, धर्मशास्त्रीय विधि के लिए अपरिचित व अज्ञात प्रणाली है। फलतः सम्पदा ज को मिल जायगी, क्योंकि वही इच्छापत्रकर्ता का दायाद होता है। ख व च व छ भी अपवर्जित कर दिये गये, क्योंकि यद्यपि वे जीवित थे तथापि "टेल मेल" की प्रणाली धर्मशास्त्रीय विधि के अनुकूल नही थी; अपरच इच्छापत्र के अनुसार क की शाखा की समाप्ति के बिना ख की तथा ग की शाखाओं का हक उत्पन्न ही नहीं होता था। ज के ईसाईपन से उत्पन्न अनर्हता का सन् १८५० वाले "कास्ट डिसेबिलीटीज रिमूवल ऐक्ट" ने शमन कर दिया था।[2]

१. "(यतीन्द्रमोहन) टैगोर ब० (गणेन्द्रमोहन) टैगोर" १८, वीकली रि० ३७३।
२. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ५५१–५२।

प्रिवी कौसिल के उपरोक्त कथन से विदित होगा कि कानून किसी हिन्दू को यह अधिकार नही देता कि वह अपनी इच्छानुसार शास्त्रविहित उत्तराधिकारी क्रम को इच्छापत्र के मिस से बदल दे। यदि इच्छापत्र में ज के अपवर्जन का उल्लेख होता, तो वह अपने पिता की सम्पदा को दाय मे प्राप्त न करता, क्योंकि ऐसा निदेशन हिन्दू विधि के विरुद्ध नहीं पड़ता है। किन्तु "टेल मेल" के क्रम का निदेश तथा नारी दायादों का अपवर्जन उसके विपरीत पड़ता है। ऐसे निदेश अप्रवर्तनीय होते है। अपरंच अजात व्यक्ति को दान या प्ररिक्थदान के द्वारा सम्पदा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह भी हिन्दू ला के विपरीत है। इसी आखिरी नियम के अधिनियमों द्वारा विखण्डन का इतिहास यहाँ बताया गया है। उन अधिनियमों में जो चार शर्तें विहित हैं वे इस प्रकार है—

(१) यदि सम्पदा पहले क को दान अथवा प्ररिक्थदान में दी जाय, तदुपरान्त एक अजात व्यक्ति के निमित्त निदेशित की जाय, तो अजात व्यक्ति उस सम्पदा को तभी पा सकता है जब उसको अबाध तथा सम्पूर्ण स्वामित्व देने का निदेश हो। यदि सीमित स्वामित्व निदेशित हो, तो वह (अजात) व्यक्ति न तो दान से उस सम्पदा को पा सकेगा न प्ररिक्थदान से। देखिए "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा १३ तथा "इं० सक्सेशन ऐक्ट सन् १९२५" की धारा ११३।

(२) दूसरी शर्त को अंग्रेजी मे "रूल एगेन्स्ट पर्पेचूयिटी" कहते है, अर्थात् शाश्वत हस्तान्तरण के विरुद्ध नियम। अर्थात् ऐसे अजात व्यक्ति के निमित्त किया गया दान प्रभावशाली नही हो सकता जिसको सम्पदा उस दशा मे मिलने वाली हो जब वह एक या अधिक जीवित व्यक्तियों की मृत्यु के बाद पैदा होकर वयस्कता प्राप्त कर चुके। इसी तरह की इच्छापत्र विषयक शर्त यह है—ऐसे अजात व्यक्ति के निमित्त किया गया प्ररिक्थदान अवैध माना जायगा, जिसको सम्पदा उस दशा में मिलने वाली हो, जब वह ऐसे एक या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु के पश्चात् पैदा होकर वयस्कता प्राप्त कर चुके, जो इच्छापत्र-कर्ता के मरण काल पर जीवित हों। ये दोनों नियम क्रमशः "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा १४ मे तथा "इं० सक्सेशन ऐक्ट १९२५" की धारा ११४ में मिलेंगे।

यह शर्त उदाहरणों से जल्दी समझी जा सकेगी—अ एक निधि का प्ररिक्थदान क के जीवनकाल भर को इस निदेश के साथ करता है कि, क के बाद ख आजीवन उसे भोगे, तथा ख के बाद उसके (ख के) ऐसे पुत्र को वह निधि प्राप्त हो, जो सबसे पहले २५ वर्ष का हो जाय। दैवात् ख की मृत्यु अ से पहले हो जाती है; किन्तु वह (ख) पुत्रों को छोड़कर मरता है, और वे सब अ के मरते समय जीवित हैं। उनमें से एक

पुत्र उन व्यक्तियों के जीवन काल मे ही २५ वर्ष पूरे कर चुकेगा जो दाता के मरण काल में जीवित होंगे। ऐसा प्ररिक्थदान वैध है, न कि अवैध।

मान लीजिए कि अ एक निधि का प्ररिक्थदान क के निमित्त आजीवन, फिर ख के निमित्त आजीवन इस निदेश के साथ करता है कि ख के बाद निधि उस (ख) के उस पुत्र को मिले जो (अपने भाइयों मे) सबसे पहले २५ वर्ष पूरे कर ले। दैव योग से क तथा ख दोनों अ के मृत्यु काल पर जीवित मौजूद है। यह प्ररिक्थदान अवैध है। इसका कारण यह है—ख का वह पुत्र जिसकी २५ वर्ष की आयु सर्वप्रथम पूरी करने की सम्भावना है, अ की मृत्यु के बाद पैदा हो सकता है। इसका परिणाम क्या होगा ? क और ख में से जो कोई उत्तरजीवी होगा उसकी मृत्यु के पश्चात् १८ वर्ष से अधिक का काल बीत चुकेगा जब वह पुत्र २५ वर्ष पूरे करेगा। अतः निधि का जब उस भाग्यवान् पुत्र में निधान होगा तब क व ख को मरे १८ वर्ष (वयस्कता प्राप्ति काल) से अधिक बीत चुके होंगे। किन्तु यह संयोग उक्त शर्त के विपरीत है। "रूल एगेन्स्ट पर्पेचुइटी" का प्रयोजन यह है कि सम्पदा का निधान किसी-न-किसी में उचित काल के अन्दर हो जाय और यह क्रिया अनिश्चित काल तक टलती न रहे, क्योंकि सम्पदा के मुक्त व सक्रिय हस्तांतरण का अवरोध समाज के लिए अहितकर होता है।

उक्त प्रयोजन को देखते हुए, यदि सम्पत्ति का निधान पूरा हो जाय, और तत्पश्चात् किसी वियुक्तकारी घटना के घटित होने की सम्भावना हो तो उक्त नियम का प्रयोग नहीं होगा। सम्पदा को निहित करके "उत्तरवर्ती शर्त" को जोड़ देने से इस नियम का उल्लंघन नही होता है। उदाहरणार्थ, यदि अ घोषित करे कि मैं अपने मकान का प्ररिक्थदान अपनी पुत्री को कुमारावस्था पर्यन्त करता हूँ, इस निदेश के साथ कि उसके परिणय के पश्चात् मेरे कनिष्ठतम भ्राता का ज्येष्ठ पुत्र उसे प्राप्त करे। तो ऐसा प्ररिक्थदान अवैध नहीं माना जायगा, क्योंकि दाता की मृत्यु होते ही मकान उसकी कुमारी कन्या में निहित हो जायगा, यद्यपि उत्तरवर्ती शर्त के कारण स्वामित्व के वियुक्त होने की भी सम्भावना रहती है। सम्भव यह भी है कि पुत्री का विवाह इतने दिनों तक टलता जाय कि दाता के सब भतीजे वयस्कता प्राप्त कर चुकें।[१]

(३) जब सम्पदा का दान या प्ररिक्थदान एक कक्षा को किया जाय और उस कक्षा के अन्तर्गत कुछ ऐसे लोग आते हों, जिनके हित में प्ररिक्थदान निम्नोक्त कारणवश अवैध पड़ता हो, तो वह प्ररिक्थदान आमूल अवैध नहीं माना जायगा, अपितु मात्र

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृ० ५५४–५७।

ऐसे लोगों के विषय मे अवघ होगा। अवैधकारी कारण कई होते हैं, यथा "रूल आव पर्पेचुइटी" अथवा उन शर्तों का उल्लघन जिनके बिना अजात व्यक्ति अपवर्जित हो जाता है। यह शर्त "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा १५ को तथा "इं० सक्सेशन ऐक्ट सन् १९२५" की धारा ११५ को समाहित करती है।

इस शत को दृष्टान्त से समझना चाहिए। अ एक निधि का प्ररिक्थदान क को आजीवन करके निदेश करता है कि क के मरने के बाद उसकी वे सब सन्तान निधि को पायें जो २५ वर्ष की हो चुकें। अ के मरण काल में क जीवित है और उसके कुछ सन्तान भी पैदा हो चुकी है। उन सब सन्तानों को २५ वर्ष की आयु उस कालविधि के भीतर प्राप्त कर लेनी चाहिए जो शर्त (१) में निर्धारित है। मान लीजिए कि क की कुछ सन्तान अ के मरने के बाद भी उत्पन्न होती है। वे सब अजात व्यक्ति हैं और वे या उनमें से कुछ नियत १८ वर्ष की कालावधि के भीतर २५ वर्ष की आयु नही प्राप्त कर पाती है। क की सब सन्तान एक कक्षाकी है और इस कक्षा के अन्तर्गत दो तरह के लोग है। क की पूर्वोक्त सन्तान तो शर्त पूरी करने के कारण रिक्थ पायेंगी। उसकी शेष सन्तान शर्त पूरी न कर पाने के कारण रिक्थ की अधिकारी नहीं होंगी। अर्थात् अ-कृत प्ररिक्थदान पूर्णतया अवैध नहीं हो जायगा। इस नियम ने उसको आंशिक वैधता दे दी है।

(४) यदि एक दान या प्ररिक्थदान स्वतः अवैध हो, तो उसके ऊपर आश्रित तथा उसके पश्चात् क्रियाशील होने वाला दान या प्ररिक्थदान भी अवैध हो जायगा। एक अवैध दान या प्ररिक्थदान के बाद कार्यान्वित होने वाले दान या प्ररिक्थदान में स्वतत्र अस्तित्व नहीं होता। अतः वह भी अवैध माना जाता है। यद्यपि युक्तिसंगत तो यह लगता है कि पहले वाले संक्रमण के शून्य होने का परिणाम होगा पश्चात् वाले दान या प्ररिक्थदान को सक्रिय कर देना, गतिशील कर देना, तथापि भारतीय विधि ने उपरोक्त नियम को विहित कर दिया है। देखिए "ट्रा० आव प्रा० ऐक्ट" की धारा १६ तथा "इं० स० ऐक्ट १९२५" की धारा ११६।

उदाहरण के लिए, अ अपने मकान का प्ररिक्थदान कामिनी को आजीवन इस निदेश के साथ करता है कि "शेष सम्पदा" (अर्थात् कामिनी के मरने के बाद) ख के कनिष्ठतम पुत्र को मिलेगी, जब वह अठारह वर्ष का हो जाय, बशर्ते कि वह तब तक विश्वविद्यालय की मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास कर चुके; किन्तु यदि वह मैट्रीकुलेशन पास न करे, तो शेष सम्पदा मिले ग को। यदि ख पुत्र न छोड़े, तो भी शेष सम्पदा मिले ग को। ख के एक पुत्र अ के मरने के बाद पैदा होता है। अर्थात् जब अ मरा तब ख का पुत्र एक अजात व्यक्ति था। अजात व्यक्ति को शर्त (१) के अनुसार अबाध

व अखण्ड स्वामित्व मिलना चाहिए। किन्तु उपरोक्त निदेश इस शर्त को पूरा नहीं करता है। अतः वह अवैध है, अप्रवर्तनीय है। उस निदेश की अवैधता अपने उत्तरवर्ती निदेश को दूषित कर देती है। इसलिए ग को भी "शेष सम्पदा" नहीं मिलेगी। मान लीजिए कि ख अपुत्र मर जाता है और उसके मरने के समय कामिनी स्वतः जीवित थी। अर्थात् दूसरे निदेश के प्रयोग का अवसर पैदा ही नहीं होता। इस दशा में ग को शेष सम्पदा पाने का सीधा हक हो जाता है। वह हक ख के पुत्र वाले दूषत निदेश से स्वतत्र है।[1]

उपरोक्त चार शर्तें या नियम दान (हिवा) और प्ररिक्थदान दोनों क्रियाओं पर समान रूप से लागू होते है। कारण यह है कि दान व प्ररिक्थदान दो रूप है संक्रमण वाली एक ही क्रिया के। उनमें अन्तर केवल यह होता है कि दान में सम्पदा का हस्तांतरण तत्काल हो जाता है और प्ररिक्थदान में सम्पदा का अवतरण दाता की मृत्यु होने के बाद होता है। उपरोक्त चार नियमों के अतिरिक्त जो भी नियम इस प्रकरण में बताये गये है या बताये जायँ, उनको उभय क्रियाओं से सम्बन्धित समझना होगा। निम्नलिखित अन्य नियम भी ज्ञातव्य है।

(१) सबसे पहला सचय विरोधी नियम है। किसी सम्पदा की आय को सचित करते रहने का निदेश उतने काल के विषय मे अप्रवर्तनीय माना जाता है जितना कि इच्छापत्रकर्ता के देहान्त से अठारह वर्ष के उपरान्त हो। वैध अवधि वाली आय का व्यय इच्छापत्रीय निदेशानुकूल किया जाता है। इस नियम के निम्नोक्त अपवाद है। (क) इच्छापत्रकर्ता का, या इच्छापत्रीय हितग्राहियों का ऋण भुगतान करने के निमित्त, (ख) इच्छापत्रकर्ता की, या इच्छापत्रीय हितग्राहियों की सन्तति के संस्कारों इत्यादि के निमित्त, (ग) दत्त सम्पदा के रखरखाव तथा संरक्षणार्थ आय के संचय के निदेश अनुज्ञात होते है। संचय सम्बन्धी निदेश किस दशा में अनुज्ञात या पालनीय है यह प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर रहता है। यदि किसी दानपत्र या इच्छापत्र में उल्लिखित सचय का निदेश स्वतः अवैध न हो, अर्थात् यदि निदेश इतना अनुचित न हो कि लोकनीति के विपरीत पड़ता हो, यदि वह अवैध अभिप्राय से प्रेरित न हो, या वह हिन्दू ला के प्रतिकूल न पडे, तो उसको क्रियाशील होने देना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ यदि "पर्पेचुइटी" निर्मित करने का उद्देश्य जान पडे, या सम्पत्ति का निरपेक्ष स्वामित्व प्रदान करने के बावजूद उसकी आय को जोड़ते रहने का आदेश हो।

१. जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ४६९।

२. "राजेन्द्रलाल ब० राज कु०" (१९०७) ३४, कलकत्ता ५।

(२) दानपत्र या इच्छापत्र के द्वारा क अपनी सम्पदा ग को आजीवन देकर उसको अधिकृत कर सकता है कि वह (ग) स्वतः सम्पदा के अवतरण का प्रबन्ध दानपत्र या इच्छापत्र के द्वारा कर दे। ग की जो नियुक्ति क ने की यह वैध है और इसके बल पर ग ऐसे व्यक्ति को भी दान या प्ररिक्थदान कर सकता है जो क के मरने के समय अजात था।

(३) जब दानपत्र या इच्छापत्र दो या अधिक व्यक्तियों के हित में लिखा जाय तो वे सम्पदा मे सह-आभोगी बनते है, न कि संयुक्त आभोगी। (सयुक्त आभोगियों मे उत्तरजीविताधिकार होता है, सह-आभोगियों में उत्तराधिकार वाला नियम लागू होता है।)[1] यदि दानग्रहीता या प्ररिक्थदानग्रहीता एक समांशिता के सदस्य हों तब भी वे सह-आभोगी ही बनेगे।[2]

(४) जब दान या प्ररिक्थदान किसी नारी के हित मे किया जाता है तो (१९५६ वाले हिन्दू स० ऐक्ट के पहले) यह प्रश्न दानपत्रीय शर्तो पर निर्भर होता है कि अबाध स्वामित्व प्रदान हुआ है या सीमित। यदि दस्तावेज इस विषय में मौन हो, तो पूर्व-धारणा यह कर ली जाती थी कि दाता यह जानता था कि नारियों का स्वामित्व सीमित ही होता है।[3] इसलिए नारी ग्रहीता का स्वामित्व प्रायः सीमित माना जाता था। किन्तु यदि अखण्ड स्वामित्व, यथा सक्रमणीय या उत्तराधिकारी हक का दस्तावेज मे स्पष्ट उल्लेख हुआ हो, तब उसको अचल सम्पत्ति में अन्य-सक्रमण के अधिकार वैसे ही प्राप्त हो जाते थे मानो वह सम्पदा उसका स्त्रीधन हो। सन् १९५१ मे हमारे सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दे दिया है कि नारी को अखण्ड स्वामित्व देने के लिए दस्तावेज में यह घोषित करना आवश्यक नही है कि उसको सक्रमण का अधिकार दिया गया है, या उसके वाद उसी के दायादों को सम्पदा मिलेगी। यदि दस्तावेज की भाषा से पूर्ण स्वामित्व का निष्कर्ष निकले तो यही पर्याप्त होगा।[4] यदि पुरुष के हित में लिखित दस्तावेज से पूर्ण स्वामित्व का निष्कर्ष निकले, तो नारी के हित मे लिखी उसी या वैसी ही भाषा से वही निष्कर्ष निकालना चाहिए।[5]

१. "जोगेश्वर ना० ब० रामचन्द्र दत्त" (१८९६) २३, इ० ए० ३७।
२. "बच्चीबाई ब० नागपुर वर्सिटी" (१९४६), नागपुर ४३३।
३. "शमशुल ब० सेवकराम" (१८७४) २, इ० एपील्स ७
४. "रामगोपाल ब० नन्दलाल" (१९५१), सुप्रीम कोर्ट १३९।
५. "नाथूलाल ब० दुर्गाप्रसाद" (१९५५), सुप्रीम कोर्ट आर० ५१।

दस्तावेज की भाषा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों से भी दाता के आशय का थोड़ा बहुत पता चलाया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्तराधिकार या संक्रमणाधिकार समेत दान देने से पूर्ण स्वामित्व का आशय प्रतीत होता है। यह निष्कर्ष इनना प्रबल होता है कि ऐसे वाक्य से उसका प्रभाव न्यून नहीं पड़ता, जैसे "अपव्यय न करना" या "तुम्हारे भरण-पोषणार्थ"। अपरंच ऐसे शब्दों के प्रयोग, जैसे "मालिक", "तमलीक" प्रायः पूर्ण स्वामित्व के द्योतक होते हैं,[1] यदि संदर्भ से विपरीत अर्थ न निकलता हो।[2]

(५) यदि दान या प्ररिक्थदान के साथ कोई अनैतिक या भ्रष्ट निदेश संयुक्त हो, तो संक्रमण आमूल अवैध नहीं हो जाता, अपितु वह निदेश मात्र अप्रवर्तनीय होता है।

(६) यदि किसी दान या प्ररिक्थदान में दो स्वतंत्र तथा वैकल्पिक निदेश हों और उनमें से एक वैध तथा दूसरा अवैध उस समय पर प्रतीत हो जब वह संक्रमण सक्रिय होने वाला हो, तो क्या वह पूर्णतया अवैध मान लिया जायगा? नहीं, केवल वैध निदेश ही क्रियाशील होने पायेगा,[3] किन्तु सम्पूर्ण संक्रमण अवैध नहीं समझा जायगा।

(७) दान या प्ररिक्थदान करके दाता ऐसी उत्तरवर्ती शर्त लगा सकता है जिसके घटित होने पर संक्रमण विफल हो जाय और सम्पदा किसी अन्य को प्राप्त हो जाय। वह अन्य व्यक्ति यदि अजात हो तब भी कोई दोष नहीं होता। किन्तु उक्त शर्त ऐसी अवश्य होनी चाहिए जिसका घटित होना किसी जीवित (या विद्यमान) व्यक्ति की मृत्यु के तुरन्त बाद सम्भव हो। उदाहरणार्थ, अ अपनी सम्पदा का प्ररिक्थदान अपने पाँच पुत्रों के हित में इस शर्त के साथ करता है कि यदि उनमें से कोई पुत्र या पौत्रहीन मरे तो उत्तरजीवी पुत्र या पौत्र उसे पायें। दाता के मरणकाल में पाँचों पुत्र जीवित हैं। बाद में एक पुत्र क सन्तानहीन किन्तु अपनी विधवा को छोड़कर मरता है। दाता का वियुक्तकारी निदेश वैध है और क वाल अंशदान विफल हो जायगा, साथ ही क की विधवा अपवर्जित हो जायगी एवं उसका पाँचवाँ अंश उत्तरजीवी भाइयों को मिल जायेगा। इच्छापत्र के अनुसार प्रत्येक पुत्र में पाँचवाँ अंश अखण्ड रूप से निहित

१. "राम ब० नन्द", ए० आई० आर० १९५१, सुप्रीम कोर्ट १३९।
"विश्वनाथ ब० चंदिका कुं०", ए० आई० आर० १९३३, प्रिवी कौं० ६७।
"कृष्णस्वामी ब० श्रीनिवास", ए० आई० आर० १९४५, मद्रास ३६२।
२. "ठा० जगमोहन ब० मु० शिवराज" (१९२८) ३, लखनऊ १९।
३. "रायकिशोरी ब० देवेन्द्रनाथ" (१८८७) १५, इ० एपील्स ३७।

हो जाने के बाद पुत्र-पौत्र विहीन मरने पर वह अंश वियुक्त हो जाता है। विफलकारी शर्त निाहतकारी निदेश के साथ जुड़ी रहती है।

दूसरा दृष्टान्त यह है--अ अपनी सम्पदा का प्ररिक्थदान अपनी पुत्री क को करके इस शर्त के साथ पूर्ण स्वामित्व समर्पित कर देता है कि यदि क अपुत्र मर जाय तो सम्पदा मेरे (अ के) पुरुष दायादों को प्रत्यावृत्त हो जायगी। प्रत्यक्ष है कि वियुक्तकारी घटना के घटित होने के अवसर पर दाता के पुरुष दायाद जो होंगे, वे दान के समय या दाता के मृत्युकाल पर विद्यमान नहीं हो सकते। फलतः विफलकारी शर्त यानी अ के पुरुष दायादों को सम्पदा के प्रत्यावृत्त होने का निदेश शून्य माना जायगा और क के पूर्ण स्वामित्व में बाधा नहीं पड़ेगी।[1] यह "निष्पाद्य प्ररिक्थदान" कहलाता है।

(८) "निष्पाद्य प्ररिक्थदान" का समकक्ष होता है "शेष सम्पदा का दान" या "प्ररिक्थदान"। इसका आशय यह है कि एक ही कृति अथवा दस्तावेज द्वारा दो तरह के स्वामित्व निर्मित होते हैं। पहले स्वामित्व की विद्यमानता में दूसरा स्वामित्व सजीव नहीं हो सकता किन्तु वह निष्क्रिय पड़ा रहता है। उसको प्रत्याशित स्वामित्व कह सकते हैं। यह प्रत्याशित स्वामित्व पुष्ट होकर तब सजीव और सक्रिय हो उठता है जब पहला स्वामित्व समाप्त हो चुकता है। "शेष सम्पदा के दान" या "प्ररिक्थदान" को वैधता वही दो शर्तें प्रदान करती थीं जो "निष्पाद्य दान" को करती हैं। अर्थात एक तो किसी विद्यमान जीवित व्यक्ति के मरने के तुरन्त बाद (दूसरा स्वामित्व) "शेष सम्पदा" सजीव हो उठे। दूसरे, द्वितीय स्वामित्व का अधिकारी व्यक्ति दान या प्ररिक्थदान की तिथि पर या दाता के मृत्युकाल पर विद्यमान हो। दूसरी शर्त अब आवश्यक नहीं रह गयी है और एक अजात व्यक्ति के हित में भी "शेष सम्पदा" का दान व प्ररिक्थदान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अ अपनी सम्पदा क को आजीवन प्रदान करके "शेष सम्पदा" ख को प्रदान करता है। अ के मृत्युकाल पर क और ख उभय जीवित हैं। यह दान या प्ररिक्थदान वैध है।

(९) स्पष्ट हो गया कि दान या प्ररिक्थदान के साथ जोड़ी हुई सब शर्तें वैध नहीं होतीं। यथा यह शर्त प्रवर्तनीय नहीं है कि दानग्रहीता न बटवारा करायेगा न संक्रमण करेगा और सिवा निदेशित विधि के अन्यथा उपभोग भी न करेगा। इन निदेशों के बावजूद दान ग्रहीता को अखण्ड स्वामित्व प्राप्त हो जायगा। ऐसी शर्त भी अप्रवर्तनीय होती है कि दान ग्रहीता को वयस्कता के बाद भी नियत समय तक सम्पदा

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ५५९-६१।

पर दखल नही मिलेगा। इस निदेश के बावजूद दान ग्रहीता को वयस्क होते ही कब्जा मिल जायगा। अर्थात् वयस्कता के अनन्तर कब्जे का विधारण नही किया जा सकता। किन्तु यदि ऐसा निदेश किया जाय कि २० वर्ष तक आय क को मिलती रहे, तब ख को सम्पदा पर दखल मिलेगा। तो ख को कब्जा २० वर्ष तक नही मिलेगा।[१]

उपरोक्त पूरे कथन से यह समझ में आ जायगा कि दान या प्ररिक्थदान की वैधता निर्धारित करने के लिए दोनों बातों को देखना पड़ता है। एक तो यह कि ग्रहीता कौन है, दूसरे यह कि देय (दत्त-सम्पदा) कौन-सी है, अर्थात् वह स्वामित्व किस भाँति का है जो प्रदान किया गया है। दूसरे शब्दों मे, दान या प्ररिक्थदान के ग्रहीता के उचित या वैध पात्र होने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि प्रदत्त स्वामित्व या सम्पद् विधिसम्मत हो। पहले दान को वैध बनाने वाली शर्तों और फिर ऐसी भी शर्तों को दिखाया गया है जो दान व प्ररिक्थदान दोनों प्रकार के संक्रमण पर लागू होती है।

अब **प्ररिक्थदान** सम्बन्धी कुछ और बातें बताने के पूर्व इस बात का स्मरण दिलाना है कि चूँकि दायभाग में सयुक्त कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का भाग निर्धारित रहता है, इसलिए वह उसका दान भी कर सकता है और प्रारक्थदान भी। इसके विपरीत मिताक्षरा में एक समांशी सम्पदा के किसी अश का न तो दान कर सकता है न प्रोरक्थदान, क्योंकि सयुक्त सम्पदा मे किसी का अश ज्ञात नही रहता। किन्तु सन् १९५६ वाले "हि० स० ऐक्ट" की धारा ३० ने यह विहित कर दिया है कि मिताक्षरा में भी एक समांशी अपने अविभक्त हित का इच्छापत्र लिख सकता है। चूँकि उक्त अधिनियम दान वाली क्रिया में प्रयोज्य नही होता, इसलिए एक समांशी अब भी अपने अविभक्त अश का दान नही कर सकता है। इसी प्रसंग में कुछ ऐतिहासिक वार्ता भी ज्ञातव्य है।

इच्छापत्र (वसीयतनामा) का प्रचलन

प्राचीन धर्मशास्त्रों में इच्छापत्रीय अवक्रमण की चर्चा नही मिलती, जिससे यह विदित होता है कि पूर्वकाल मे प्ररिक्थदान करने का चलन हिन्दू समुदाय मे नही था। इसका प्रचलन पहले न होने के और बाद में हो जाने के कई एक कारण बताये जाते है। एक तो सयुक्त कौटुम्बिक जीवन मे कोई समांशी अपना पृथक् स्वत्व सोचता ही नहीं था। जब सम्पदा विषयक अपने-पराये की भावना मन में थी ही नहीं, तो इच्छा-पत्र लिखने का संकल्प जागृत होता कैसे? अपरच, पुत्रीकरण के दो हेतुओं (लौकिक व पारमार्थिक) मे से लौकिक हेतु उसी मानवीय इच्छा की पूर्ति करने वाला होता है,

१. "मु० रामकुंअर ब० आत्मासिंह" (१९२७) ८, लाहौर १८१।

जिसके लिए प्ररिक्थदान किया जाता है। विशेषतः पत्नी के हित में लिखे अनुमति-पत्र (गोद लेने की अनुमति) का इच्छापत्र से सादृश्य प्रतीत होता है। अर्थात् प्ररिक्थदान एक नितान्त नूतन अवधारणा नही है। अंग्रेजी शासन की स्थापना के वाद जब सम्पदा के मामले अदालतों में पहुँचने लगे, तो अंग्रेज जजों के लिए अपने जातीय संस्कारों को निर्णयों मे पुरस्थापित करना स्वाभाविक ही था। स्वामित्व का एक कारक होता है अन्यसक्रमणाधिकार। उस कारक पर बल देते हुए उन लोगों ने प्ररिक्थदानाधिकार को एक सहज वैधिक क्रिया मान लिया।

अंग्रेज जजों के साथ-साथ अंग्रेज वादेक्षक (सोलीसिटर) भी वड़े-वडे नगरों में आ बसे और अपना धन्धा चलाने लगे। सम्पत्तिवान् लोग उनके परामर्श से दस्तावेज लिखने और अपनी सम्पदा का व्यवस्थापन करने लगे। सोलीसिटरों के प्रभाव से हिन्दू लोग इच्छापत्र लिखने लगे। इसके अतिरिक्त वंग प्रदेश के पर्मानैण्ट सेटिलमेण्ट वाले कानून ने तथा अठारहवी शताब्दी वाले "रेगूलेशन" १० व ११ ने परोक्ष रूप से इच्छा-पत्रीय अवक्रमण को प्रोत्साहित किया। कुछ लोगों का मत है कि हिन्दू लोग अंग्रेजी शासन के पहले ही मुसलमानों से प्ररिक्थदान करना सीख चुके थे। उदाहरणार्थ, मराठों के आधिपत्य काल का एक लेख सन् १७७५ का मिला है जो नरो वावाजी लिखित इच्छापत्र जैसा लगता है।[१]

प्ररिक्थदान वाली प्रणाली का प्रादुर्भाव हिन्दू समाज के भीतर चाहे जिस समय मे तथा चाहे जिस मार्ग से हुआ हो, उसको इतने दिनों से मान्यता मिल रही है कि वह हिन्दू ला का एक दृढ अग बन गयी है। सौ वर्ष पूर्व प्रिवी कौंसिल ने यह कथन किया था—"इतने काल के पश्चात् अव यह तर्क करना व्यर्थ है कि धर्मशास्त्र मे इच्छापत्र की चर्चा नहीं मिलती, इसलिए हिन्दू अपनी सम्पदा का प्ररिक्थदान नहीं कर सकता। अनेक नजीरों ने यह मत प्रस्थापित कर दिया है कि हिन्दू को इच्छापत्रीय अधिकार है और उसका विनियोग कम से कम उन सीमाओं के भीतर किया जा सकता है जो कानून ने दान वाले संक्रमण के लिए विहित कर दी है। नजीरें इतनी अधिक है कि उक्त मत के ऊपर अब शका नही की जा सकती है।"[२] अब प्ररिक्थदान पर लागू होने वाले नियम सक्षेप मे बतलाये जाते है—

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड ३, पृष्ठ ८१७।
जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ४४३।

२. "सूर्यमणि दासी ब० दीनबन्धु मलिक" (१८६२) ९ मू०, ई० ए० १२३।
"वीरप्रताप ब० राजेन्द्रप्रताप" (१८६७) १२ मू०, इ० ए० १।

(१) इच्छापत्र कोई भी वयस्क तथा स्वस्थ चित्त वाला हिन्दू किसी भी व्यक्ति के हित में लिख सकता है। यदि दान ग्रहीता आगे जन्म लेने वाला व्यक्ति हो तो वही चार शर्तें पूरी होनी चाहिए जो ऊपर बतायी जा चुकी हैं। याद रहे कि दान व प्ररिक्थ-दान एक ही व्यापार के रूपान्तर हैं।

(२) जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, (क) हिन्दू ला की दोनों शाखाओं में स्वार्जित सम्पत्ति का प्ररिक्थदान किया जा सकता है। (ख) दायभाग की सारी संयुक्त सम्पदा को पिता इच्छापत्र द्वारा हस्तान्तरित कर सकता है, किन्तु अन्य सदस्य केवल अपने ही अंश को। (ग) मिताक्षरा में यह अधिकार केवल एकल उत्तरजीवी समांशी को प्राप्त था। उसके साथ यह प्रतिबन्ध लगा हुआ था कि उसकी मृत्यु के पूर्व यदि पुत्रीकरण या जन्म के माध्यम से कोई पुत्र समांशिता का सदस्य बन जाय, तो उस दशा में इच्छापत्र निर्जीव हो जायगा और नवजात शिशु उत्तरजीविता की रीति से सम्पत्ति पा जायेगा। किन्तु १९५६ वाले "हि० स० ऐक्ट" की धारा ३० ने समांशी को अब अधिकृत कर दिया है। (घ) नारी सम्पदा वाले प्रकरण में उल्लिखित प्रतिबन्धो के साथ नारी स्वामिनी स्त्रीधन का प्ररिक्थदान कर सकती थी। किन्तु अब सन् १९५६ वाले "हि० स० ऐक्ट" की धारा १४ ने नारियों को पूर्ण स्वामित्व प्रदान करके उनकी प्ररिक्थदायिनी शक्ति को संवर्धित कर दिया है।

(३) कोई भी हिन्दू मौखिक प्ररिक्थदान कर सकता था और लिखित भी। लिखित होने पर न तो दाता का हस्ताक्षर आवश्यक था न अभिप्रमाणन। अदालतें "प्रोवेट" (इच्छापत्र-प्रमाण या प्रमाणित इच्छापत्र) दोनों दशाओ में प्रमाण लेकर प्रदान कर देती थीं। सन् १८७० में "हिन्दू विल्स ऐक्ट" पारित हुआ। इसने यह विहित किया कि हिन्दू इच्छापत्रों का लिखित होना दो दशाओं में आवश्यक है। एक तो यदि वे पहली सितम्बर १८७० के बाद बंगाल प्रान्त के भीतर लिखे गये हों अथवा मद्रास व बम्बई के हाई कोर्टो के सामान्य प्रारम्भिक अधिक्षेत्रों के भीतर। दूसरे, यदि वे लिखे तो अन्यत्र गये हों, किन्तु उक्त क्षेत्रों के भीतर अवस्थित अचल सम्पदा से सम्बन्धित हों। इनके अतिरिक्त अन्य प्ररिक्थदान फिर भी मौखिक हो सकते थे। इच्छापत्रों पर कठोरतर नियंत्रण करने की आवश्यकता देखकर सन् १९२६ में "इंडियन सक्सेशन (एमेण्डमेण्ट) ऐक्ट" पारित किया गया, जिसको अन्य अतिरिक्त प्ररिक्थ-दानों पर भी लागू कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि पहली जनवरी सन् १९२७ के बाद हिन्दुओं के सभी इच्छापत्रों का सन् १९२६ वाले "इंडियन सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ६३ के अनुसार लिखित तथा हस्ताक्षरित और कम से कम दो साक्षियों से अभि-

प्रमाणित होना अनिवार्य हो गया है। इन औपचारिकताओं के सिवा कानून ने इच्छा-पत्र के लिए कोई प्रपत्र नहीं नियत किया है।

(४) मानव-चित्त चंचल और अस्थिर होता है, इच्छाएँ बदलती रहती हैं। स्वभावतः इच्छापत्र में परिवर्तन करते रहने को दाता अन्तकाल तक प्रेरित होता रहता है। वह इच्छापत्र का **विखंडन** भी कर सकता है और उसमें हेर-फेर भी। इन दोनों क्रियाओं को नियंत्रित तथा विनियमित करने के निमित्त कानून ने "इं० स० ऐक्ट सन् १९२५" की धारा ७० व ७१ अधिनियमित कर दी हैं। इन धाराओं का उल्लंघन करके जो विखण्डन या परिवर्तन पहली अक्तूबर सन् १९२९ के अनन्तर किये गये होंगे वे निष्फल समझे जायेंगे।

(५) एक समांशी दूसरे समांशियों को अपनी स्वार्जित सम्पदा का प्रारिक्थदान कर सकता है और यदि साथ ही साथ वह अपने अविभाजित अंश का प्ररिक्थदान एक बाहरी व्यक्ति (ख) को कर दे तो यद्यपि ऐसा प्ररिक्थदान अवैध होता है तथापि औचित्य के आधार पर वह उत्सादित नहीं किया जायगा। अपितु समांशियों से निर्वाचन करने को कहा जायगा, अर्थात् पूछा जायगा कि आप लोग मृतक का अविभाजित अंश लेंगे या उसकी पृथक् स्वार्जित सम्पदा, क्योंकि आप दोनों लाभ नहीं उठा सकते।[१] यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि अविभाजित अंश के प्ररिक्थदान के निषेध के दो अन्य अपवाद है। एक तो, ऐसी सम्पदा का ऐसे समांशी को प्ररिक्थदान वैध होगा जो एकल उत्तरजीवी सिद्ध हो। दूसरे, प्ररिक्थदान के वक्त यदि न तो कोई समांशी गर्भस्थ हो न अवयस्क और सकल समांशी गण अपनी सहमति दे दें, तो उस दशा में भी ऐसी सम्पदा का प्ररिक्थदान वैध मान लिया जायगा, क्योंकि उसका विरोध करने के लिए कोई बचेगा ही नही।

(६) एक हिन्दू कृत प्ररिक्थदान का विखंडन उसके विवाह से नहीं हो सकता। द्वितीय इच्छापत्र का लिखा जाना पहले के विखंडन के बराबर होगा। किन्तु यदि दूसरा अवैध हो तो वह स्वतः निष्फल हो जायगा। इच्छापत्र को फाड डालने, जला देने या अन्य विधि से विनष्ट कर देने से भी उसका विखंडन हो जाता है। यह क्रिया चाहे दाता स्वयं करे या दूसरे से अपने सामने कराये।

(७) स्वार्जित या पृथक् सम्पदा के प्ररिक्थदान का विखंडन पुत्र के जन्म या दत्तक ग्रहण से नहीं होता, यदि ये घटनाएँ उसके पश्चात् घटित हों। प्ररिक्थदान सम्बन्धी इन नियमों को जान लेने के बाद इच्छापत्र सम्बन्धी प्रक्रिया को भी समझना चाहिए।

१. **"किशन चंद ब० निरंजन दास", ए० आई० आर० १९२६, लाहौर ९६७।**

प्रक्रिया के नियम "इंडियन सक्सेशन ऐक्ट १९२५" ने संक्षेपतः ये निर्धारित किये हैं। उपरोक्त नियम (३) के आरम्भ में उल्लिखित क्षेत्रों (बंगाल, बम्बई, मद्रास वाले) मे एक अधिकृत अदालत से प्रोवेट (इच्छापत्र-प्रमाण) लिये बिना कोई निष्पादक या प्ररिक्थग्राही (एक्जीक्यूटर या लिगेटी) अपने हक को अदालत में प्रस्थापित नही कर सकता है। अन्य क्षेत्रों में "प्रोवेट" अनिवार्य नहीं होता। मृतक के पावने (वह द्रव्य जो उसको पाना था) को और उसकी सम्पत्ति को वसूल करने वाली प्रक्रिया में भेद किया जाता है। उसका पावना वसूल करने की डिग्री (आज्ञप्ति) तब तक कोई व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक वह इच्छापत्र-प्रमाण, या "सक्सेशन सर्टीफिकेट" या "लेटर्स आव एड्मिनिस्ट्रेशन" (प्रशासन पत्र) न दाखिल कर दे। किन्तु मृतक की इच्छापत्र रहित सम्पत्ति मे किसी प्रकार का हक प्रस्थापित करने के लिए ऐसा कोई झझट नही करना पड़ता है। देखिए सन् १९२५ वाले "इ० सक्सेशन ऐक्ट" की धारा २१२–२१४। याद रहे कि सयुक्त सम्पदा के सम्बन्ध मे न "प्रोवेट" न प्रशासनपत्र प्रदान किया जा सकता है।

अधिकृत अदालत जिस व्यक्ति को प्रशासनपत्र प्रदान कर दे वह "एक्जीक्यूटर" या "एड्मिनिस्ट्रेटर" (निष्पादक या प्रशासक) कहलाता है। उसी व्यक्ति मे मृतक की सारी सम्पत्ति निहित हो जाती है। अतः सब प्रयोजनों के लिए वही व्यक्ति मृतक का वैध प्रतिनिधि माना जाता है। द्रष्टव्य सन् १९२५ वाले "इं० सक्सेशन ऐक्ट" की धारा २११। यह भी ज्ञातव्य है कि समाशिता वाली सम्पदा का इच्छापत्रीय दान सन् १९५६ के पहले निषिद्ध था। इसलिए उस श्रेणी वाली सम्पत्ति निष्पादक या प्रशासक मे निहित नही हो सकती थी। ज्ञातव्य है कि मृतक की सम्पत्ति को निष्पादक या प्रशासक मे निहित करने के लिए प्रोवेट प्राप्त कर लेना अनिवार्य नहीं होता।[1]

इस प्रक्रिया की पूर्ति का फल क्या है? निष्पादक मे चूंकि सम्पत्ति निहित हो जाती है, इसलिए वह उसका अन्य-सक्रमण कर सकता है। परन्तु अचल सम्पत्ति के विषय में जो निदेश उल्लिखित हो उनका उसको पालन करना पड़ेगा। अन्यथा निष्पादक को चाहिए कि वह "प्रोवेट" वाली अदालत की अनुमति ऐसी सम्पत्ति के संक्रमण के विषय में प्राप्त कर ले। यही नियम प्रशासक पर लागू होते है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, उसके पास भी इच्छापत्रकर्ता की सम्पत्ति निहित हो जाती है। द्रष्टव्य सन् १९२५ वाले "ईंडियन सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ३०७।

१. **"वेंकट सुवम्मा ब० रमैया" (१९३२) ५५, मद्रास ४४३।**

इन सामान्य बातों को जान लेने के बाद एक जटिल विषय में तन्मयता से संलग्न होना पड़ेगा, अर्थात् **इच्छापत्र का अन्वय लगाना**। यह कार्य अधिक कठिन हो जाता है, क्योंकि प्रायः इच्छापत्र की रचना ऐसे लोग करते है जो कानून नही जानते। वे असली मन्तव्य को घुमावदार भाषा में व्यक्त करने का प्रयास करते हैं और पारिभाषिक शब्दावली का मौके गैर मौके पर केवल दस्तावेज को अलंकृत करने के अभिप्राय से प्रयोग कर बैठते है। कभी-कभी प्ररिक्थदाता स्वतः अपना इच्छापत्र लिख डालता है और उपरोक्त दूषणों के अतिरिक्त वह अपनी कौटुम्बिक गाथा लिखकर ऐसी बातों की चर्चा कर देता है जो असंगत भी होती है और यह प्रकट करती है कि दाता अपने कर्मो की सफाई दे रहा है। इस प्रकार रचे हुए इच्छापत्रों में परस्पर विरोधी उपबन्ध पाये जाते है। ऐसी कुरचनाओं के अन्वय लगाने का काम जब प्रतियोगी वकीलों के हाथ में आ जाता है तो उनके वाद-विवाद एक गोरखधन्धा प्रस्तुत कर देते हैं, जिसको सुलझाने के निमित्त समयान्तर में कतिपय मूलभूत नियम गढ लिये गये है। उनका व्यापक अभिप्राय जान लेना हितकर होगा।

(१) सबसे अधिक मौलिक सिद्धान्त तो यह है कि निर्णायक अपने को दाता के स्थान में बैठा हुआ कल्पित करके उसके प्रयोजनों का पता उसकी अभिव्यक्ति से लगाने की चेष्टा करे।

(२) अन्वय लगाने के नियमों से इच्छापत्र नहीं तैयार किया जाता; वह तो दाता की इच्छा का पता लगाने का यंत्र होता है।

(३) अन्वय लगाने के बहाने अदालत इच्छापत्र में सुधार नहीं कर सकती। यदि वह अवैध, त्रुटिपूर्ण या अयुक्त है तो अदालत उसको वैसा ही बना रहने देगी।

(४) दाता के अभिप्राय को यथाशक्ति क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाता है। अतः प्ररिक्थदान के जो अवयव अदूषित होते हैं वे प्रवर्तित कर दिये जाते है।

(५) कभी-कभी इच्छापत्र के दो वैकल्पिक अन्वय सम्भव होते हैं। उदाहरणार्थ, एक अभिप्राय यह प्रतीत हो कि लिखने वाला इच्छापत्र-विहीन मर जाना चाहता था, और दूसरा इसके विपरीत; उस दशा में यह पूर्व धारणा कर ली जायगी कि लेखक इच्छापत्र लिखना चाहता था। उसी तरह यदि दो वैकल्पिक अन्वयों में से एक दाता के घोषित अभिप्राय को दूसरे अन्वय की अपेक्षा अधिक पूर्णता से क्रियान्वित करने वाला हो, तो पहला अन्वय लगाया जायगा। उसी तरह यदि एक अन्वय के अनुसार

दाता के बाद सम्पत्ति किसी में तुरन्त निहित हो सकती हो, तो विपरीत अन्वय से पहले वाले को वरीयता मिलेगी।[१]

(६) दाता का अभिप्राय मालूम करने के लिए केवल इच्छापत्र का सहारा लेना चाहिए और इसकी विधि यह है—इच्छापत्र के खण्डों को स्वतंत्र न समझ कर उन सब को मिलाकर इस रीति से पढ़ना चाहिए कि उस (इच्छापत्र) में एक-लयता प्रतीत होने लगे। इस विधि से पढ़ने के बाद पूरे पत्र मे से अभिप्राय का पता लगाना चाहिए।

(७) इच्छापत्र का अन्वय उसके शब्दों से लगाया जाता है। यदि शब्द अनेकार्थ और वाक्य अस्पष्ट हों, तो असली अर्थ निकालने के निमित्त अदालत प्रवर्तमान परिस्थितियों तथा लोगों के स्वभाव या आदतों का भी सहारा ले सकती है।

(८) यदि इच्छापत्र के उपबन्ध इतने अनिश्चित, अनेकार्थ, अस्पष्ट हों कि दाता का अभिप्राय जाना न जा सके, तो ऐसी दशा में वह शून्य समझा जायगा और बाहरी प्रमाण अग्राह्य होगा। किन्तु यदि किसी बाहरी प्रमाण का उल्लेख इच्छापत्र में हो या अनेकार्थता स्पष्ट न होकर अन्तर्हित हो, तो बाहरी प्रमाण ग्राह्य हो जायगा।[२]

(९) प्रिवी कौंसिल का यह कथन स्मरणीय है—"हिन्दू के इच्छापत्र का अन्वय लगाते वक्त उन इच्छाओं तथा धारणाओं को याद रखना अनुचित नहीं होता जो कि सम्पदा के अवक्रमण के विषय में हिन्दुओं में सामान्यतः हुआ करती हैं। यह मान लिया जा सकता है कि एक हिन्दू आम तौर से इसका इच्छुक होता है कि सम्पत्ति, विशेषतः पैतामही सम्पत्ति, कुटुम्ब के भीतर बनी रहे। यह भी मान लिया जा सकता है कि वह इस बात को जानता है कि आम तौर से नारियाँ अखंड व संक्रमणीय स्वामित्व नहीं पाती हैं।"[३] जिस समाज या श्रेणी में दाता पैदा होकर रहता हो उसके पूर्वाग्रहों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि दाता अपनी पुत्रियों को इस निदेश के साथ सम्पदा देता है कि वे तथा उनकी सन्तति ब्याज का भोग तो करती रहेंगी, किन्तु सम्पदा को हिबा, बै, रेहन नहीं कर सकेंगी, तो ग्रहीतागण केवल आजीवन स्वामित्व

१. **"एन० कस्तूरी ब० डी० पौन्नम्मल", ए० आई० आर० १९६१, सु० कोर्ट १३०२।**
"निम्बल ब० टी० राजू", ए० आई० आर० १९५१, सु० कोर्ट १०३।

२. **मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृ० ५४४–४६; जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृष्ठ ४७०–८६।**

३. **"मो० शमसुल ब० सेवकराम" (१८७४) २, इण्डियन एपील्स ७।**

पायेंगी।[1] उसी तर्क से जो इच्छापत्र सन् १९५६ के पश्चात् नारियों के हित में लिखे जायँ, उनके विपय मे यह मान लिया जा सकता है कि दाता इस बात को जानता था कि अब नारियाँ पूर्ण स्वामित्व पाती है।

इतनी बाते सामान्य या प्रचलित इच्छापत्रों के सम्बन्ध में वतायी गयी। इनके अतिरिक्त खास तरह के इच्छापत्र भी होते हैं जिनको **विशेषाधिकृत इच्छापत्र** कह सकते है। उनकी भी संक्षिप्त चर्चा सुनायी जाती है। समुद्र में स्थित नाविक और युद्धक्षेत्र में स्थित जवान या उड़ाका जिस प्ररिक्थदान को करते है उसको "विशेपाधिकृत इच्छापत्र" कहा जाता है। जिसमें औपचारिकताओं के अभाव के कारण ऐसी दशा मे फँसे व्यक्तियों की इच्छा विफल न हो जाये, इसलिए "विशेषाधिकृत इच्छापत्र" का आविष्कार किया गया। ऐसा प्ररिक्थदान मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। यदि मौखिक हो तो वह ऐसे दो जनों के सामने किया जाय जो एक साथ मौजूद हों। यदि उसके निदेश उसकी जीवितावस्था में लिखे तो गये परन्तु उसमें हस्ताक्षर करने के पहले वह मर चुका हो, तो ऐसा लिखित इच्छापत्र भी वैध होता है। दाता ने यदि स्वतः इच्छापत्र को लिख तो डाला हो किन्तु हस्ताक्षर और अभिप्रमाणन बाकी रह गये हों, या उसने उसको दूसरे से लिखवाया हो और स्वतः उस पर हस्ताक्षर कर दिये हों, पर उसका अभिप्रमाणन बाकी रह गया हो, इन दशाओं में भी लिखित इच्छापत्र वैध माना जाता है।[2]

१. "विभूति देवी ब० एम० चन्द्र लहरी" (१९३७) १, कलकत्ता ४००।
२. "इं० सक्सेशन ऐक्ट १९२५", धारा ६६।

प्रकरण १९

धर्मस्व अर्थात् धर्मार्थ तथा पुण्यार्थ दान

धर्म के कई अर्थ होते है जिसके अन्तर्गत पुण्यदान भी आता है। यथा—

धर्मो ह्यस्त्री पुण्याचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ।
अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे ।। (मेदिनी)
धर्माः पुण्य-यम-न्याय-स्वभावाचार-सोमपाः। (अमर)

हिन्दू जब धर्म के लिए सम्पत्ति सकल्पित करता है, तो उसकी आकांक्षा दो प्रकार से धर्म अर्थात् पुण्य कमाने की होती है। इन दो प्रकारों को **इष्ट** और **पूर्त** कहते हैं। इष्ट की सज्ञा "अन्तर्वेदिक" भी है और उसका अर्थ है यज्ञ-यागादि मे धन का व्यय। पूर्त की एक सज्ञा है "बहिर्वेदिक" और उसका अर्थ है यज्ञमण्डप के बाहर जनता के कल्याणार्थ धन का व्यय, यथा धर्मशाला, आरोग्य शाला, पाठशाला, उद्यान, वापी, कूप, तड़ागादि का निर्माण व जीर्णोद्धार, रखरखाव।

इष्ट और पूर्त के निमित्त जब सम्पत्ति लगा दी जाती है तो उसको धर्मस्व कहते हैं। धर्मस्व दो प्रकार के होते हैं—सार्वजनिक और निजी। पहले में सारी जनता का हित रहता है। अन्तिम में कतिपय निश्चित लोग ही हित रखते हैं। जब धार्मिक कर्मो, शिक्षा या लोक कल्याण के निमित्त सम्पदा समर्पित होकर सब लोगों के लिए बिना रोकटोक के निःशुल्क खुली, गम्य और सेव्य कर दी जाती है, तब उस धर्मस्व को सार्वजनिक कहते है। जब ऐसे देवालय के निमित्त सम्पत्ति समर्पित कर दी जाती है, जो किसी विशेष कुटुम्ब की पूजा-अर्चना के लिए निर्मित हुआ हो और जिसमे साधारण जनता का उपयोग न हो, तो उस धर्मस्व को निजी कहते है।

हर एक वयस्क और स्वस्थ चित्त वाले हिन्दू को धर्मस्व की सृष्टि करने की क्षमता होती है। धर्मस्व का सर्जन इच्छापत्र के माध्यम से भी किया जा सकता है और दानपत्र के माध्यम से भी। जिन कार्यो की गिनती "इष्टा-पूर्त" में की जा सकती है वह परिपूर्ण नही हो सकती। उसके कुछ उदाहरण ऊपर लिखे गये हैं और कुछ आगे हैं। किन्तु दो बातें याद रखने योग्य है। एक तो कार्य को सुनिश्चित या निर्धारणीय होना चाहिए। यदि कार्य निश्चित करने के योग्य नहीं है, तो अदालत न्यासियों या प्रबन्धकों के ऊपर नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण नहीं रख सकती। और यह औचित्य का एक

आधारसूत्र होता है कि धर्मस्व के ऊपर अदालत का कठोर नियंत्रण होना आवश्यक है। "धर्मार्थ दान" का अर्थ इतना संदिग्ध और अनिश्चित माना गया है कि सारा दानपत्र अवैध हो जाता है।[1] दूसरे, आधुनिक समाज की आवश्यकताओं तथा लोक-कल्याण-नीति के विचार से धर्मार्थ तथा पुण्यार्थ कार्यों की नामावली का विस्तार करते जाना हितकर नही है। क्योंकि सम्पत्ति फँसकर एक जगह रह जाती है, किन्तु उसका जितना अधिक मुक्त हस्तान्तरण हो सके उतनी ही अधिक देश की आर्थिक दशा सुधरती चलती है।

धर्मार्थ और पुण्यार्थ कार्यों के उदाहरण ये है—

कृत्वा मठं प्रयत्नेन शयनासनसंयुतम्।
पुण्यकाले द्विजेभ्योऽथ यतिभ्यो वा निवेदयेत्॥ (भगवतीपुराण)
देवायतनकर्त्ता च यतीनामाश्रयस्य च।
सत्त्रमण्डपकारी च क्रीडन् याति दिवोत्तमम्॥ (अगस्त्यवचन)
कुर्यात् प्रतिश्रयगृहं पथिकानां हितावहम।
निजगेहैकदेशे वा साधून् पान्थान् निवासयेत्॥
अक्षयं पुण्यमुद्दिष्टं तस्य स्वर्गापवर्गदम।
सर्व्वकामसमृद्धोऽसौ देववद् दिवि मोदते॥ (मार्कण्डेयपुराण)

इसी प्रकार के कर्म है—श्राद्ध, पूजा अर्चा, अतिथि भोजन, विद्यालय प्रतिष्ठा, दुर्गा पूजा, दाता के दरिद्र कुटुम्बियों व सम्बन्धियों का प्रतिपालन। मन्दिरों में भोग आरती, अनाथों को भोजन वस्त्र देना इत्यादि धर्मार्थ तथा पुण्यार्थ कार्य माने गये है।[2] अन्ध विश्वास कहकर ऐसे कार्यों को हम अवैध नहीं घोषित कर सकते।[3] याद रहे कि धर्मार्थ व पुण्यार्थ कार्य में भेद करना बेकार होता है, क्योंकि हिन्दू विश्वासानुसार जो कार्य धर्मार्थ है वह पुण्यार्थ अवश्य होगा। धार्मिक क्रियाएँ "सर्वसुखाय सर्वहिताय" होती हैं। किसी कम्पनी के कर्मचारियों की सुविधा या विश्राम के निमित्त दान को भी पुण्यार्थ मान लिया गया है, यद्यपि यह कार्य धर्मनिरपेक्ष और लौकिक है। ऐसी उदार अर्थसगति के बावजूद अदालतें धर्मार्थ प्रिक्थदान का अन्वय लगाने में प्रायः संकीर्णता बरतती है। इस संकीर्णता के तीन कारण है। एक तो ऐसे प्रिक्थदान "रूल एगेन्स्ट

१. **"गौरीशंकर इ० बनाम मोहनलाल" (१९४०) १५, लखनऊ ६७४।**
"रनछोरदास ब० पार्वती बाई" (१८९९) २६, इं० एपील्स ७१।
२. **हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, खण्ड २, अध्याय २५।**
३. **"जमशेदजी ब० सूनाबाई" (१९०९) ३३, बम्बई १२२।**

पर्पेचुटी" (शाश्वतता के विरुद्ध नियम) से तथा आयकर से विमुक्त समझे जाते है, अर्थात् ऐसे प्रारिक्थदान प्रायः इन दोनो प्रतिबन्धो की वचना करने के निमित्त किये जाते है। दूसरे, निजी धमस्व के प्रबन्धकों से जमा-खर्च माँगकर उसकी जाँच करना कष्टसाध्य होता है। तीसरे, प्ररिक्थदाता बहुधा ऐसे धमस्व की आड़ मे अपनी सन्तानों तथा कुटुम्बियों के प्रतिपालन का उपबन्ध किया करता है।[1]

पुण्यार्थ धमस्व की व्याख्या करना असम्भव सा लगता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। फिर भी यह निश्चित है कि दानपत्र मे जिस कार्य का निदेश किया गया है उसे हिन्दुओ के प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारों व विश्वासों के प्रतिकूल नही होना चाहिए।[2] किसी समाधि की पूजा, किसी मृतक की स्मृति को सदा जागृत रखना, बलिप्रदान, तांत्रिक साधना व संस्कार; ये ऐसे हेतु है जिनके लिए प्ररिक्थदान करना लोककल्याण नीति या पुण्य की भावना के विपरीत होने के कारण अवैध माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि जो कार्य आज पुण्यार्थ समझा जाता है, सम्भव है कि दो या चार शताब्दी पहले वह पुण्यार्थ न माना जाता रहा हो। और प्रतिलोमतः जो कार्य दो-चार शताब्दी पूर्व पुण्यार्थ माना जाता था, सम्भव है वह आज वैसा न समझा जाय, क्योंकि जनमत मे और सामाजिक आवश्यकताओं मे परिवर्तन होता रहता है। कार्य की पुण्यार्थता परखने की दो सामान्य कसौटियाँ प्रतीत होती है। एक तो यह कि क्या पर्याप्त जनसमूह के मत से उक्त कार्य पारलौकिक लाभ को उपलब्ध कराता है। दूसरे, क्या वह जन-जनार्दन के लिए कल्याणकारी है। याद रहे कि हिन्दू धर्म अति सहिष्णु और उदार धर्म है। इसमे अन्य धर्मों के प्रति आदर तथा सद्भाव मौजूद है। यहाँ तक कि नास्तिक व शून्यवादियों का भी वह बहिष्कार नहीं करता। अतः किसी अन्य धार्मिक संस्था के निमित्त यदि कोई हिन्दू एक धमस्व की रचना कर दे, तो उसको अवैध नही मानना चाहिए।

धर्मस्व के निमित्त एक हिन्दू ऐसी सब सम्पत्तियों का संक्रमण कर सकता है जिनके दान या प्ररिक्थदान करने का उसे अधिकार हो। वह धमस्व के निमित्त सर्वस्व-दान भी कर सकता है। धमस्व दो प्रकार का होता है, क्योंकि सम्पत्ति का समर्पण या तो **सर्वांगपूर्ण** होता है या **आंशिक**। किस प्रकार का समर्पण दाता ने किया है, यह एक तथ्य का प्रश्न होता है, जिसका उत्तर समर्पणपत्र की अन्तर्वस्तु से निकाला जाता है और यदि दस्तावेज न लिखा गया हो, तो अन्य साक्ष्य से। उदाहरणार्थ, क ने

१. जे० डी० एम० डेरेट प्रणीत माडर्न हिन्दू ला, पृष्ठ ४८९–९२।
२. "सरस्वती ब० राजगोपाल", ए० आई० आर० १९५३, सु० कोर्ट ४९१।

एक घाट बनवाया, किन्तु उसका औपचारिक ढग से संकल्प या समर्पण नहीं किया, न लिखा। ऐसी दशा मे क का अभिप्राय उसकी तथा उसके वशजों की करतूत से निकालना पड़ेगा। यदि वे लोग मालिकों के ढग से, न कि पडों के ढग से, घाट की मरम्मत और चुंगी की वसूली करते आये हों तो उसका (क का) अभिप्राय समपण करने का माना ही नही जायगा। अपरच घाट उन लोगों की निजी सम्पत्ति समझा जायगा।[1] उसी तरह से यदि क सम्पत्ति के पूर्ण स्वामित्व का समर्पण किसी देवता को कर दे और उसकी आय का किसी को हितग्राही न बनाये, तो इसको **सर्वांगपूर्ण समर्पण** कहेंगे। क का उस सम्पत्ति पर कोई हित बाकी नही समझा जायगा। मन्दिर के सेवाइत या महन्त को विशेष दशाओं मे अन्य-संक्रमण का अधिकार हो जायगा और अखण्ड स्वामित्व देवता मे निहित रहेगा।

यदि क एक सम्पत्ति का किसी देवता को हितग्राही बना देता है, अथवा देवता के हित म सम्पत्ति के ऊपर भार रख देता है और देवता को उस सम्पत्ति का स्वामित्व नही समपित करता है, तो यह **आंशिक समर्पण** कहलायेगा। ऐसी दशा मे स्वामित्व अपने तीनों अवयवों (विभाजनकारी, उत्तराधिकारी, सक्रमणीय अधिकार) समेत क में ही अवस्थित रहेगा। देवता को मात्र भारकारी तथा हितग्राही भाग मिलेंगे। उदाहरणार्थ, यदि यह निदेश हो कि सम्पत्ति की आय क के सन्तानार्थ मकान बनाने मे भी खर्च की जाय, तो ऐसा समर्पण आंशिक होगा। किन्तु यदि यह निदेश हो कि समर्पित मकान के भीतर सेवाइत रहे और देवता की सेवा-अर्चा करे, तो समर्पण आंशिक नही सर्वांगपूर्ण समझा जायगा।

ऊपर देवता, देवमूर्ति, देवोत्तर सम्पत्ति (देवता या प्रतिमा की सम्पत्ति) की चर्चा हुई है। देवप्रतिमा एक निर्जीव वस्तु या पदार्थ होती है और वह न तो सहमति दे सकती है न सविदा कर सकती है, न सम्पदा का प्रबन्ध कर सकती है और न अनधिकृत प्रवेशक के विरुद्ध अपने अधिकारों का प्रवतन कर सकती है। तब देवमूर्ति कैसे सम्पत्ति का स्वामित्व धारण करेगी ? यह एक नियमविरोधी और भ्रामक बात लगती है। पाश्चात्य विधिवेत्ता बहुत दिनों तक इस उधेड़-बुन मे पड़े रहे। अन्त मे उन्होंने "वैधिक व्यक्तित्व" वाली अवधारणा का चमत्कारी आविष्कार किया। वैधिक इतिहास के अनुसार निर्जोव पदार्थ का मानवीकरण करने के पूव वहाँ पहले जनसमूह मे मानवीय गुणों का उपारोपण किया गया था; यथा "कौण्टीज", "बारोज", "हण्ड्रेड्स", "गिल्ड्स" इत्यादि। फिर कम्पनियों व निगमों मे भी उक्त गुणों का आरोप किया गया।

१. "महारानी हेमकुमारी ब० गौरी शं० तिवारी" (१९४१) ६८, इं० ए० ५३।

इनको "वैधिक व्यक्ति" मान लिया गया और वैधिक व्यक्ति का प्राकृतिक व्यक्ति से भेद किया जाने लगा। यथा, कम्पनी के हिस्सेदार अपने पृथक्-पृथक् रूप में तो प्राकृतिक व्यक्ति है, किन्तु कम्पनी के सदस्यों के सामूहिक रूप में (अर्थात् कम्पनी के रूप मे) वे एक इकाई बनकर वैधिक व्यक्तित्व धारण कर लेते हैं। कम्पनी का वैधिक व्यक्तित्व सदस्यों के प्राकृतिक व्यक्तित्व से सदैव पृथक् तथा स्वतन्त्र बना रहता है। कम्पनी "साल-वेण्ट" बनी रहती है और उसके दो चार हिस्सेदार अपने प्राकृतिक रूप में "इन्साल-वेण्ट" हो जा सकते हैं। हिन्दुओं में यह अवधारणा बहुत पहले उपज चुकी थी। देखिए, डाक्टर आर० सी० मजूमदार कृत "कर्पोरेट लाइफ इन एन्शेण्ट इण्डिया।"

देव-मूर्ति में स्वामित्व की स्थापना

उक्त अवधारणा (वैधिक व्यक्तित्व) के अवलम्बन से पाश्चात्य जजों की समझ में यह आ गया कि निर्जीव देव-प्रतिमा में सम्पत्ति का स्वामित्व अवस्थित होकर क्रियाशील बन सकता है। असल में जब प्रतिमा में देवता को प्रतिष्ठित मान कर हिन्दू उसकी पूजा के निमित्त सम्पत्ति का समर्पण करता है, तो यह वैधिक कल्पना कर ली जाती है कि उसके वैधिक व्यक्तित्व में वह सम्पत्ति निहित हो गयी है। वह सम्पत्ति उस जड़ मूर्ति की नही किन्तु उस देवता की हो जाती है जो अनुप्राणित होकर उसमें व्याप्त हो जाता है। यदि वह मूर्ति खण्डित, नष्ट, भ्रष्ट हो जाती है तो भी समर्पित सम्पत्ति का स्वामित्व उस अविनाशी विधि-कल्पित व्यक्तित्व में निवास करता है।

इसलिए अर्वाचीन मत यह है कि मूर्ति मे सम्पत्ति का स्वामी बनने की तथा अपने हकों के लिए मुकदमा लड़ने की क्षमता होती है। यह क्षमता उसमें कब आती है ? जब समर्पण हो गया हो; अर्थात् जब प्रतिष्ठापक सम्पत्ति में से अपने हित को अपने से वियुक्त करके देवता में उसे निहित कर दे। समर्पण का सारवान् तत्व है उत्सर्ग, अर्थात् देवता के निमित्त इस हेतु से अपनी सम्पदा का परित्याग कि उसका व्यय निर्दिष्ट तीर्थ या अन्य स्थान में स्थापित नामनिर्दिष्ट देवता के ऊपर किया जाय। केवल सम्पदा का देवता के नाम दाखिलखारिज या रजिस्ट्री करा देना समर्पण का असली प्रमाण नही होता है। न यह जरूरी है कि सम्पत्तिग्रहीता देवता की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा हो चुकी हो।

जैसे अन्य सम्पत्ति का स्वामी आराध्य देवता (या देवी) है वैसे ही अपनी प्रतिमा का भी वह स्वामी है। वह मैनेजर के माध्यम से जैसे सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है, वैसे ही अपनी मूर्ति की देख-रेख, सेवा-शुश्रूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि का भी। यदि प्रतिष्ठापक स्वतः अपने को मैनेजर नियुक्त कर दे और अपने बाद प्रबन्धकों का क्रम निर्धारित कर दे तो कोई हर्ज नहीं। किन्तु समर्पण के बाद उसे स्वामित्व से हाथ

बिल्कुल धो बैठना चाहिए।[1] स्वामित्व से हाथ धो बैठने का तात्पर्य यह नही है कि समपण करते समय वह सम्पत्ति के ऊपर किसी के हित मे भार भी नही रच सकता। तात्पर्य यह है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वह सम्पत्ति में स्वामित्व का लवलेश स्वतः अपने लिए नही बचा रख सकता। समपण के बाद मैनेजर को हटाने या बदलने के मिस से वह फिर से मालिक नही बन जा सकता।[2]

ज्ञातव्य है कि कानून मिथ्या या भ्रमकारी समपण का समथन नहीं करता है। समर्पण असली है या मिथ्या यह प्रतिष्ठापक की परवर्ती करतूतों तथा व्यवहार से आँका जाता है। उदाहरणार्थ, समर्पण करने के बाद देवता की मूर्ति की स्थापना, प्रतिष्ठा किये विना या सार्वजनिक मन्दिर वनवाये और पुजारी नियुक्त किये बिना यदि प्रतिष्ठापक अपने देवता के नाम से सम्पत्ति खरीदता है, तो उस सम्पत्ति को देवोत्तर नही मानेंगे अपितु उसी की समझेंगे।[3] यदि सम्पत्ति की आय एव लाभ को वह देवता के निमित्त व्यय न करके अपने ऊपर खर्च कर डालता हो, तो वह देवोत्तर नही उसी की सम्पत्ति मानी जायगी और इजराय डिग्री मे कुर्क व नीलाम हो सकेगी।[4] अर्थात् यदि समर्पण महाजनों की वचना करने या उत्तराधिकार के सामान्य क्रम को वदलने या सक्रमण को वर्जित करके सम्पत्ति को अनन्त काल पर्यन्त कुटुम्व मे वनाये रखने के आशय से किया गया है, तो ऐसी सम्पत्ति को देवोत्तर नही मानेंगे। कारण यह है कि ऐसा समपण वास्तविक नही मिथ्या होता है। उसी तरह यदि आय के अधिकांश को तो प्रतिष्ठापक के कुटुम्व के प्रतिपालनार्थ व्यय करने का निदेश हो और शेष न्यूनांश पूजा-अर्चा के निमित्त, तो ऐसी सम्पदा को देवोत्तर नहीं मानेंगे।[5]

धर्मस्वन्यास (ट्रस्ट) का एक रूप

देवोत्तर वाली प्रणाली न्यास से मिलती-जुलती है और न्यास की प्रणाली हिन्दुओं को प्राचीन काल से ही ज्ञात थी। यह कहना गलत है कि मुसलमानों के वख्फ से हिन्दुओं ने न्यास की प्रणाली सीखी।[6] इसकी उपादेयता यह थी कि प्राचीन काल में

१. "व्रजोवाला ब० सेवाइत", ए० आई० आर० १९५३, कलकत्ता २८५।
"मनोरमा ब० दासी", ए० आई० आर० १९३१, कलकत्ता ३२९।
२. "परमेश्वरम् ब० एम० चंद्रशेखर", ए० आई० आर० १९५६, ट्रावंकोर १९६।
३. "व्रजसुन्दरी ब० लक्ष्मी" (१८७३) २०, वीकली रिपोर्ट ९५।
४. "रामधन ब० प्रयाग" (१९२१) ४३, इलाहाबाद ५०३।
५. "निरंजन ब० बिहारी", ए० आई० आर० १९२९, इलाहाबाद ३०२।
६. "इन द मैटर आव कोहन्दास" (१८८१) ५, बम्बई १५४।

राजा व महाजन दोनों पाप के भय के कारण देवोत्तर सम्पत्ति, या देवोत्तर कहलाने वाली सम्पत्ति का अपहरण नहीं करते थे—मुसलमान खुदा और दोजख से डरते थे तथा हिन्दू ईश्वर व नरक से। दूसरे, एक सामान्य दायाद की प्रवृत्ति यह होती है कि अन्तिम स्वामी के आश्रित वर्ग और प्रिय सम्बन्धी गणों के प्रति अवहेलना तथा निष्ठुरता का प्रदर्शन करे। इस परिणाम से बचने का सुगम उपाय लोगों ने यह निकाला था कि समर्पण पत्र में ही उन लोगों की वार्षिकी निर्धारित कर दी जाय। देवकोप या परलोक बिगड़ने के त्रास से कोई समर्पण पत्र में निदेशित योजना को भंग करने का साहस नहीं करता था। अतएव अन्तिम स्वामी अपने आत्मीय जनों के भरण-पोषण के विषय में निश्चिन्त होकर मरता था। तीसरे, आयकर से मुक्ति पाने और साथ ही साथ आय का मनमाना उपभोग करने का भी समर्पण एक सरल उपाय होता है। इस प्रकार निजी व सार्वजनिक दोनों प्रकार के धर्मस्वों में दो हेतुओं का सम्मिश्रण पाया जाता है—धार्मिक और सांसारिक प्रलाभ। बडे हों या छोटे, सब सार्वजनिक देवालयों में चढावा भी चढ़ता है। इसलिए उनके पंडा, पुजारी, सेवाइत, मैनेजर इत्यादि के पद लाभ-प्रदायक होते है। उन पदों की गिनती सम्पत्ति या सम्पत्ति-सम्बन्धी हकों में की जाती है।[1] अतः मैनेजर की दो हैसियतें होती हैं; एक न्यासी की, दूसरी हितग्राही की।

धर्मस्व की रचना करने के लिए दस्तावेज लिखना जरूरी नहीं होता। यदि उसकी रचना प्ररिक्थदान के माध्यम से की जाय, तब तो इच्छापत्र का लिखना और उसमें हस्ताक्षर करना और दो गवाहों का अभिप्रमाणन करना जरूरी हो जायगा। धर्मस्व रचने के लिए न्यास का सर्जन भी अनावश्यक है। किन्तु यह आवश्यक है कि वे कार्य स्पष्टता समेत व्यक्त कर दिये जायँ जिनका सम्पन्न होना अभीप्सित हो। यह भी आवश्यक है कि धर्मस्व वाली सम्पत्ति अलग करके समर्पित कर दी जाय। न इसके लिए कोई प्रपत्र निर्धारित है न शब्दावली। न संकल्प और जल के साथ विनियोग करना जरूरी है न समर्पण क्रिया। धर्मस्व की सृष्टि के लिए यह पर्याप्त और आवश्यक भी है कि इस अभिप्राय की स्पष्ट तथा असंदिग्ध अभिव्यक्ति कर दी जाय कि अब से अमुक सम्पत्ति न्यास की हैसियत से दाता-प्रतिष्टापक-स्रष्टा में या अन्य निर्दिष्ट व्यक्ति में निहित हो गयी है।[2] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह भी जरूरी नहीं है कि समर्पण-ग्रहीता देवता की प्रतिमा प्ररिक्थदान के अथवा दाता की मृत्यु के

१. **"राजकली ब० रामरतन", ए० आई० आर० १९५५, सुप्रीम कोर्ट ४९३।**
"जानकी ब० कौसल्यानंदन", ए० आई० आर० १९६१, पटना २९३।
२. **"दीपलाल ब० गोलाबचन्द" (१९५६), राजस्थान १७१।**

समय विद्यमान हो।[1] "रूल एगेन्स्ट परपेचुटी" भी धर्मस्व में बाधक नहीं होता,[2] क्योंकि वह नियम लौकिक दान व प्ररिक्थदान पर लागू होता है, न कि धार्मिक पर। दान व प्ररिक्थदान के शीर्षक में उक्त नियम का उल्लेख हो चुका है। उसी प्रकरण (१८) में यह बताया गया था कि सम्पत्ति की आय को संचित करते रहने का निदेश किस दशा में और किस सीमा तक प्रवर्तनीय होता है। वह नियम भी धर्मस्व के मामले में लागू नहीं होता। ज्ञातव्य है कि "शेष सम्पदा" (इस्टेट इन रिमेण्डर) का भी धर्मस्व के निमित्त समर्पण हो सकता है।[3] अर्थात् क इस प्रकार के प्ररिक्थदान द्वारा भी धर्मस्व की सृष्टि कर सकता है कि अमुक सम्पत्ति में आजीवन हक मेरा, मेरे बाद आजीवन हक मेरी पुत्री का और उसकी मृत्यु के अनन्तर वह सम्पत्ति अमुक देवालय को अर्पित हो जायगी।

सेवाइत, प्रबन्धक या महन्त का पद

समर्पित सम्पदा या धर्मस्व का कारोबार और देवालय का पूजा-पाठ चलाने की क्या विधि है? देवालय के मैनेजर को सेवाइत कहते हैं। उसी का धर्मस्व पर कब्जा रहता है। उसी के हाथ में धर्मस्व का प्रबन्ध होता है।

देवालय की संस्था की तरह धार्मिक विद्यापीठ होता है जिसको मठ कहते हैं। देवता की मूर्ति की तरह मठ भी एक वैधिक व्यक्ति या कल्पित इकाई होता है। मठ के मैनेजर को महन्त कहते हैं। सेवाइत के तुल्य महन्त के भी धर्मस्व पर कब्जा व प्रबन्ध के अधिकार होते हैं। देवता की प्रतिमा या मठ को मुकदमे चलाने व उनकी प्रतिरक्षा करने का अधिकार नहीं होता। यह अधिकार भी मैनेजर तथा महन्त में निहित होता है।

सेवाइत का कर्तव्य है कि मूर्ति की सेवा-अर्चा का तथा देवता की सम्पत्ति का समुचित प्रबन्ध बनाये रहे। वह सेवा कार्य के लिए तो प्रत्यायुक्ति कर सकता है। अर्थात् पुजारी नियुक्त करके पूजा के निमित्त उसको अपना प्रतिनिधि बना सकता है। किन्तु सम्पत्ति के प्रबन्ध का दायित्व उसी के ऊपर रहता है। उस कार्य की प्रत्या-युक्ति वह (सेवाइत) नहीं कर सकता। बहुधा प्रतिष्ठापक दो तरह की नियुक्तियाँ करता है। वह न्यासियों को भी नियुक्त कर देता है जिनमें धर्मस्व निहित हो जाता है, वह सेवाइत को भी नियुक्त कर देता है जो सम्पत्ति का तथा पूजादि का प्रबन्ध करने का

१. "चतुरभुज ब० चतुरजीत" (१९११) ३३, इलाहाबाद २५३।
२. "प्रफुल्ल ब० जोगेन्द्रनाथ" (१९०५) ९, कलकत्ता वीकली नोट्स ५२८।
३. "गोविंद ब० गोमती" (१९०८) ३०, इलाहाबाद २८८।

उत्तरदायी होता है। सेवाइतों को नियुक्त करने का अधिकार प्रतिष्ठापक को होता है। उसके अभाव में धर्मस्व की प्रथा का अनुसरण किया जाता है। वह यदि किसी नारी को सेवाइत नियुक्त कर दे, तो उसकी नियुक्ति अवैध नहीं होगी।[१] सेवाइती अन्य सम्पत्ति के समान एक दाययोग्य अधिकार होता है। उस पद का उत्तराधिकार भी अब सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" से विनियमित होगा। सेवाइती अधिकार संक्रमणीय नहीं होता यद्यपि एक सेवाइत ऐसे व्यक्ति के हित में अपने हक का परित्याग कर सकता है जो उत्तराधिकारी क्रम के भीतर आता हो। त्याग करने की क्रिया दान या प्रतिक्थदान के माध्यम से की जाती है।[२]

सेवाइत का अधिकार क्या होता है ? वह सयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर के अधिकार से मिलता-जुलता है। (१) एक सेवाइत के विरुद्ध दिया गया निर्णय उसके उत्तराधिकारी सेवाइतों को भी बद्ध करता है, बशर्ते कि वह छल-कपट से दूषित न हो। (२) उसका किया हुआ सुलहनामा मालिक (अर्थात् देवमूर्ति) पर भी बाध्यकारी होता है। (३) सेवाइत इसका भी अधिकृत होता है कि खास प्रयोजनों के निमित्त मूर्ति की सम्पत्ति को भारपूर्ण करे, बै करे या रेहन करे। वे खास प्रयोजन होते है मूर्ति की आवश्यकता, या उसकी सम्पत्ति का हित। इनके उदाहरण है पूजा, अर्चा, अनुष्ठान, संस्कार, कल्प, मन्दिर तथा संलग्न भवनों की मरम्मत व रख-रखाव इत्यादि।[३] यहाँ पर "हनुमानप्रसाद ब० मुसम्मात बबुई"[४] वाली प्रसिद्ध नजीर स्मरणीय है। उसमे जो सक्रमण सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्त विहित किये गये है वे विचाराधीन विषय पर भी प्रयोज्य है। उनमे से एक यह है कि जो महाजन मूर्ति की सम्पत्ति के विषय में ईमानदारी के साथ दाम लगाकर और प्रयोजन की उचित पूछ-ताछ करने के बाद सेवाइत के साथ सौदा करता है, उसके हित की अदालत में संरक्षा की जायगी। (४) मूर्ति की सम्पत्ति का सेवाइत परिकल्पित सौदा या सट्टा नही कर सकता। (५) यदि सेवाइत कोई अनुचित सौदा कर बैठे तो ज्यादा से ज्यादा वह उसी के जीवन काल तक सफल या प्रवर्ती रहेगा; बाद मे निष्फल पड जायगा।[५] (६) व्यापक नियम यह है कि सेवाइत को अन्य-सक्रमण केवल मात्र प्रतिरक्षा स्वभाव वाले कर्मों के निमित्त करना

१. **"राज ब० राम", ए० आई० आर० १९५५, सुप्रीम कोर्ट ४९३।**
२. **"प्रयाग ब गोविंद चार्लू", ए० आई० आर० १९३५, मद्रास २२०।**
३. **"अनंत ब० प्रयाग" (१९३७) १, कलकत्ता ८४।**
४. **(१८५६) मूर्स, इंडियन एपील्स ३९३।**
५. **"राम ब० नौरंगीलाल", ए० आई० आर० १९३३, प्रिवी कौंसिल ७५।**

चाहिए। उदाहरणार्थ, वह कृषि वाली भूमि का स्थायी पट्टा नहीं कर सकता है।[1] (७) धर्मस्व को ही आमूल विनष्ट कर देने वाला कोई सौदा या कर्म सेवाइत नहीं कर सकता, जैसे मन्दिर या प्रतिमा का विक्रय—ये कर्म पतित व देवस्वापहरण माने जाते है। ऐसा अन्य-सक्रमण भी निषिद्ध है जो समर्थनीय तो हो, किन्तु जिसके समर्थन-कारी प्रयोजन को स्वतः संक्रान्तग्राही ने रचा हो।[2]

(८) यदि सेवाइत-कृत सक्रमण अंशतः समर्थनीय हो, तो औचित्य के आधार पर, देवमूर्ति से उतनी राशि दिलाकर उसका उत्सादन किया जा सकता है। सेवाइत के अन्य अधिकार निम्नांकित है—

(९) यद्यपि सेवाइत-कृत सुलहनामा देवमूर्ति पर बाध्यकारी होता है तथापि यदि वह सुलहनामा छल-कपट से दूषित तथा मूर्ति के हितों के विपरीत था तो उस पर (सुलहनामे पर) आधारित डिग्री (आज्ञप्ति) का उत्सादन तुरन्त कराया जा सकता है।[3] (१०) ऐसी दशा मे कोई अन्य व्यक्ति मूर्ति की ओर से दावा दायर कर सकता है,[3] यद्यपि सामान्यतः दावा दायर करने का अधिकार मात्र सेवाइत को ही होता है। अन्य व्यक्ति का मतलब एक अजनबी नही है। जो अन्य व्यक्ति मूर्ति की ओर से "नेक्स्ट फ्रेण्ड" बनकर दावा करे उसका कोई हित या अभिरुचि अवश्य होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, वास्तविक सेवाइत या संभावी सेवाइत या किसी नाते से प्रबन्ध में भाग लेने वाला, उपासक या प्रतिष्ठापक का कुटुम्बी।[4] (११) किन्तु जब तक सेवाइत अपने पद पर आरूढ है तब तक मूर्ति के विरुद्ध वह चिरभोगाधिकार या कब्जा मुखालिफाना को परिपक्व नहीं कर सकता है।[5]

देवोत्तर संपति के सक्रमण वाले मुकदमे मे इस बात का प्रमाणभार सक्रान्तग्राही पर रहता है कि वैध आवश्यकता या सम्पदा का कल्याण वास्तव मे विद्यमान थे, अथवा उनके अस्तित्व की यथाशक्ति जाँच करके उसने अपना सतोष कर लिया था। कभी-

१. "पलनियप्पा ब० देवशिखामणि", ए० आई० आर० १९१७, प्रि० कौं० ३३।
२. "नीलाद्रि ब० चतुर्भुज", ए० आई० आर० १९२६, प्रिवी कौंसिल ४२।
"विराम ब० नरेन्द्र", ए० आई० आर० १९६१, इलाहाबाद २६६।
३. "श्रीराम ब० सी० एन० सिंह", ए० आई० आर० १९५२, पंजाब ४३८।
४. "जगदिन्द्र ब० हेमंत" (१९०४) ३१, इंडियन एपील्स २०३।
५. "विक्रम ब० दौलत", ए० आई० आर० १९५६, सुप्रीम कोर्ट ३८२।
"शंकर नारायण ब० श्री पुवननाथ स्वामी", ए० आई० आर० १९४९, मद्रास ७२१।
६. "श्री श्री ईश्वर ब० सुशील बाला" (१९५४), सुप्रीम कोर्ट आर० ४०७।

कभी सेवाइत अदालत की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् अन्य-संक्रमण करने का कदम उठाता है। उस दशा में हस्तान्तरण के ऊपर न तो सेवाइत के न संक्रान्तग्राही के विपरीत कोई आशका या आपत्ति कर सकता है और न उस अनुमति का, दूषित प्रक्रिया अथवा क्षेत्राधिकार के अभाव के आधार पर विरोध कर सकता है।[1] अमित समय बीत चुकने पर जब संक्रमण पर आक्षेप किया जाय, तो उसके समर्थन या औचित्य की पूर्व धारणा कर लेना ही ठीक होता है।[2] सेवाइत के ऊपर दायित्वों का भार भी होता है।

सेवाइत को न्यासी के ही तुल्य ईमानदारी बरतनी चाहिए। उसके ऊपर हिसाब-किताब समझाने का दायित्व सदैव चढ़ा रहता है। प्रतिष्ठापक तथा उसके दायाद सेवाइत के विपरीत हिसाब का दावा तथा उसके संक्रान्तग्राहियों के विपरीत सम्पत्ति के प्रत्यादान का दावा सदैव कर सकते है, क्योंकि उनका धर्मस्व के अन्दर कुछ न कुछ हित बना ही रहता है। हिसाब वाले दावे में उस राशि की डिग्री सेवाइत के ऊपर व्यक्तिगत रूप से पारित हो जायगी जिसको उसने अनुचित काम में व्यय कर दिया हो अथवा जिसका हिसाब वह नही समझा पाया हो। प्रतिष्ठापक ने यदि आरम्भ में ही उसको हिसाब के दायित्व से विमुक्त कर दिया हो, तब भी वह हिसाब की देनदारी से छुटकारा नही पा सकता, क्योंकि इस तरह की संस्थाएँ निष्कलंक ईमानदारी निबाहे बिना चल नही सकती।[3] सार्वजानक न्यास के निमित्त जाब्ता दीवानी की धारा ९२ में जो प्रक्रिया विहित है, वही प्रक्रिया सेवाइत के ऊपर प्रयोज्य है।[4] किन्तु बम्बई, मद्रास, उडीसा की सरकारों ने अपने-अपने यहाँ के देवोत्तर कार्यों के विनियमन व नियंत्रण के लिए विशेष परिनियम पारित कर रखे हैं। वहाँ पर उक्त धारा ९२ (जाब्ता दीवानी) क्रियाशील नही होती।

सेवाइत न केवल हिसाब के लिए उत्तरदायी होता है, अपितु वह पदच्युत भी किया जा सकता है। पतित आचरण के कारण या अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए अपने को अयोग्य कर डालने के कारण सेवाइत पदच्युत किया जा सकता है। उपरोक्त कारणवश पुजारी भी हटा दिया जा सकता है। मात्र प्रमाद या मात्र अप्रवीणता को

१. "पी० सील ब० पी० मलिक" (१९३६) ६३, कलकत्ता ४५४।
२. "बाबा मगनीराम ब० कस्तूरभाई" (१९२२) ४९, इंडियन एपील्स ५४।
३ "गुलजारी ब० कलेक्टर" (१९३१) ५८, इंडियन एपील्स ४६०।
"उपेन्द्र ब० नीलमणि", ए० आई० आर० १९५७, कलकत्ता ३४२।
४. "लक्ष्मण राव ब० देवेन्द्र राव", ए० आई० आर० १९५०, नागपुर २१५।

लेकर इन लोगों की पदच्युति नही की जा सकती है।[1] किसी-किसी पन्थ या समाज में सेवाइत को हटाने का अधिकार रीति-रिवाज या आपस के बनाये कायदों से विनियमित होता है। यदि रिवाज अवैध अथवा अनुचित प्रतीत हों, तो अदालत उनका प्रवर्तन करने को बद्ध नहीं होती। ऐसी दशा में सहज न्याय, शुद्ध अन्तःकरण तथा औचित्य के अनुसार निर्णय करना चाहिए।[2]

निजी और सार्वजनिक देवस्थान

ऊपर कहा गया है कि प्रतिष्ठापक या उसके कुटुम्बी सेवाइत से हिसाब-किताब तलब कर सकते हैं। निजी देवालय में लगी हुई सम्पत्ति का हिसाब उनके सिवा कोई नहीं माँग सकता। किन्तु सार्वजनिक मन्दिरों वाली सम्पत्ति का हिसाब माँगने का जनता में से हर एक को हक होता है। इसलिए दोनों प्रकार के धर्मस्वों का भेद जान लेना आवश्यक है। जो मन्दिर सामान्य जनता के लिए भी गम्य हो उसको सार्वजनिक मान लेना ठीक तो लगता है। किन्तु इसमें यह कठिनाई खडी होती है कि चढ़ावे के लोभ से सेवाइत और पुजारी निजी मन्दिर में भी बहारी लोगों को प्रवेशाधिकार दे सकते हैं। अतः सुप्रीम कोर्ट के मतानुसार निम्नोक्त पहचानें उपयोगी होती हैं।[3]

(क) जो कुटुम्ब मन्दिर को निजी कहता है उसने जनता के प्रवेश, दर्शन, पूजा में किसी प्रकार की रोक या बाधा डाली या नहीं डाली। (ख) समर्पण पत्र के अन्दर प्रतिष्ठापक ने अपनी निर्वंशिता की चर्चा तो नहीं की, क्योंकि एक निस्सन्तान हिन्दू की प्रायः सार्वजनिक कल्याणकारी कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। (ग) क्या निवास-गृह से पृथक व एक स्वतंत्र मन्दिर में देवमूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी थी। (घ) क्या पास-पड़ोस वालों की प्रेरणा से मन्दिर का निर्माण हुआ था। (च) क्या बाहरी लोगों ने भी चन्दा दिया था। (छ) क्या शोभायात्रा निकाली गयी थी। (ज) क्या मरम्मत इत्यादि अभिदान या आम चन्दा लगाकर की जाती थी। (झ) सेवाइत के पद पर बाहरी लोग आरूढ होते थे या नहीं। सारभूत पहचान तो यह है कि प्रतिष्ठापक का आरम्भिक संकल्प सार्वजनिक आध्यात्मिक कल्याण करने का था या अपने कुटुम्ब-मात्र का।[4] निजी मन्दिर भी सामान्य जनता के अमित कालीन उपयोग के प्रभाव से

१. "जयगुनेस्सा ब० मजीलुल्ला", ए० आई० आर० १९२४, कलकत्ता १९२४।
२. "जूरो ब० गोविन्द" (१९११) १२, क० ला० जर्नल ४९७।
"जगन्नाथ ब० सीनू" (१९१९) ४२ मद्रास, ६१८।
३. "नारायण ब० गोपाल", ए० आई० आर० १९६०, सुप्रीम कोर्ट १००।
४. मुल्ला कृत हिन्दू ला, ५९७–९८; डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला ५०८।

सार्वजनिक समझ लिया जा सकता है।[१] (ट) पूर्ण और आंशिक समर्पण का जो भेद ऊपर बताया गया था, उस भेद के आश्रय से निजी व सार्वजनिक मन्दिरों की पहचान करना गलत होगा। उभय भाँति के मन्दिरों में सम्पदा दोनों प्रकार के समर्पण द्वारा लगा दी जा सकती है।[२] समपण पत्र की भाषा तथा अन्य प्रमाणों से ऐसी शंकाओं का समाधान किया जाना चाहिए।

यहाँ तक निजी व सार्वजनिक मन्दिरों के भेद का महत्व बताया गया। उसी प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि जब किसी निदिष्ट पन्थ या समाज के निमित्त कोई सार्वजनिक मन्दिर निमित होता है, तो सार्वजनिक होने के बावजूद उसमें अन्य पन्थ या समाज के सदस्य प्रवेश पाने के अधिकारी नही होते।[३] किन्तु सार्वजनिक होने के बावजूद, मन्दिर के पुजारी व कर्मचारी प्रवेश का समय निर्धारित करके प्रवर्तित भी कर सकते है।[४] धर्मस्व पर विस्तृत विचार करते हुए देख लिया गया है कि सम्पत्ति व देवमूर्ति का स्वामित्व (एक "वैधिक व्यक्ति" के रूप मे) देवता का होता है। बड़े-बड़े मन्दिरों मे जो चढ़ावा चढ़ता है वह अति मूल्यवान् होता है। उसमे किसका स्वामित्व समझा जाय; सेवाइत का, या पुजारी का, या उसी अदृश्य अधिपति देवता का? चढ़ावा या भेंट किसके निमित्त भक्त जन अपित करते हैं? उसी अव्यक्त दैवी शक्ति के निमित्त, जिसे कि वे मूर्ति मे व्याप्त समझते है और जिससे वे मूर्ति के अनुप्राणित होने का विश्वास करते हैं।[५]

ऊपर बताया गया है कि एक सेवाइत अपने पद का किसी अन्य सभावी-सेवाइत के हित मे परित्याग या अध्यपण कर सकता है। अर्थात् वह बिना किसी प्रतिदेय के अपने पद का हस्तान्तरण कर सकता है। दूसरे शब्दों मे, वह उसका दान या हिबा कर सकता है। इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि वह अपने पद का अध्यर्पण या दान किसी गैर के हित मे भी कर सकता है। न यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वह अपने पद का हर प्रकार से सक्रमण करने को अधिकृत होता है। इसके विपरीत न तो

१. "बालकृष्ण ब० गनेशप्रसाद" (१९५२), उड़ीसा २०३।
२. "एम० दशरथरमी ब० डी० सुब्बा", ए० आई० आर० १९५७, सु० कोर्ट ७९७।
३. "शंकरलिंग ब० राजेश्वर" (१९०८) ३५, इंडियन एपील्स १७६।
४. "हिन्दू रेलिजस एन्डाऊमेण्ट्स, मद्रास ब० एल० टी० स्वामियर" (१९५४), सुप्रीम कोर्ट आर० १००५।
५. "छोटालाल ब० मनोहर" (१९००) २६, इंडियन एपील्स १९९।

वह अपने पद का विक्रय कर सकता है और न उसका पद इजराय डिग्री में कुर्क व नीलाम हो सकता है।[1] यह निषेध लोककल्याण नीति पर आधारित है।

"रूल एगेन्स्ट परपेचुइटी" (शाश्वतता-निषेध) वाला नियम अन्य स्थावर सम्पत्ति की तरह सेवाइत के पद को भी नियंत्रित करता है। अतः कोई प्रतिष्ठापक यह निदेश नहीं कर सकता है कि मेरे ही पुत्र, पौत्र तथा उनके वंशज ही उत्तरोत्तर सेवाइत बना करेंगे। सेवाइती पर स्वामित्व-विरोधी शर्त भी वह नहीं लगा सकता, न हिन्दू विधि-विहित उत्तराधिकारी नियमों में परिवर्तन कर सकता है। उन चार नियमों के बाहर, जो प्रकरण १८ में बताये गये हैं, वह अजात व्यक्ति को सेवाइती का दान या प्ररिक्थदान भी नहीं कर सकता है।

यदि प्रतिष्ठापक द्वारा विहित उत्तराधिकारी क्रम असफल हो गया हो, तो सेवाइती उसी कुटुम्ब में प्रत्यावर्तित हो जाती है। किन्तु जब तक वह क्रम असफल नहीं हो जाता, उसको उसमें हस्तक्षेप करने की क्षमता नहीं होती। अपरंच धर्मस्व का अनुदान एक बार करके प्रतिष्ठापक उसका विखंडन यह कहकर नहीं कर सकता कि धर्मस्व का उद्देश्य पूरा नहीं किया जा रहा है। ऐसी आशंका होने पर उसका उपचार यह है कि उन उद्देश्यों का अदालत के माध्यम से प्रवर्तन कराया जाय। किन्तु धर्मस्व का स्वामित्व प्रतिष्ठापक या उसके दायादों के पास प्रत्यावर्तित नहीं हो सकता है। यदि उसने कोई सेवाइत नियुक्त न किया हो, तो सेवाइती उसमें और उसके दायादों में निहित रहती है, बशर्ते कि उसने व्यक्त रूप से उस स्वत्व का भी परित्याग न कर दिया हो। ये नियम निजी व सार्वजनिक दोनों तरह के धर्मस्वों पर लागू होते हैं।

परोपकारी धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था

देवप्रतिमा और मठ के सदृश "वैधिक व्यक्ति" या "कल्पित व्यक्तित्व" हिन्दू ला के अन्दर और भी हैं। यथा सदाव्रत यानी भोजन का निःशुल्क वितरण, तड़ाग, पवित्र अमराई, धर्मशाला यानी यात्रियों के लिए निःशुल्क या अल्प शुल्क लेकर निवास, छात्रालय, अनाथालय इत्यादि, जिनमें धर्मस्व लगा हो। इन संस्थाओं के मैनेजर का भी पद सेवाइत के तुल्य न्यासी का होता है।[2] कभी-कभी साधु सन्तों की समाधियों या स्थानों के साथ भी धर्मस्व सन्निहित रहते हैं।[3] ये संस्थाएँ या संस्थान भी "वैधिक

१. "विरंचिनारायण ब० विरंचि ना०" (१९५३), उड़ीसा ३३३।
"दुर्गा ब० चंचल" (१८८३) ४, इलाहाबाद ८१।
२. "वी० मरियप्पा ब० पुत्तारमैय्या", ए० आई० आर० १९५८, मैसूर ९३।
३. "गजानन ब० रामराव", ए० आई० आर० १९५४, नागपुर २१२।

व्यक्तित्व" धारण करके मेनेजर के माध्यम से नाना कृत्यों को आचरित कर सकते है। अदालत इस प्रकार के धमस्वों पर भी नियत्रण कर सकती है, यथा मैनेजर से हिसाब लेना, उसका पदच्युत करना, प्रबन्धक-मण्डल नियुक्त करना इत्यादि। नियंत्रण के प्रवाह मे पदच्युति आदि उपायो का विनियोग करने के पहले अदालत को यह निर्णय करना चाहिए कि प्रतिष्ठापक ने सम्पदा धार्मिक या पुण्य कामों के निमित्त समपण करने के बाद किसी व्यक्ति का उसका सेवाइत या मैनेजर नियुक्त किया था, अथवा उस व्यक्ति के हाथ सम्पदा का समपण करके उसके ऊपर निर्देशित धार्मिक तथा पुण्य कृत्यों के सम्पादन का भार डाला था। दोनों तरह के समपण मे स्पष्ट भेद है। पूर्वोक्त दशा म अनुदत्त सम्पदा पुनर्ग्राह्य होती है यदि निर्देशित कृत्यों का पालन न होता हो। दूसरी दशा म अनुदान पुनर्ग्राह्य नहीं होता है।[1] उपरोक्त प्रश्न का निर्णय दानपत्र की भाषा तथा परिस्थितियों के आधार पर करना होता है।[2]

मठ और महन्त

मठ नामक सस्था अधिक प्रचलित और अनोखी होने के कारण विशेष रूप से विचारणीय है। उसकी प्रतिष्ठा धार्मिक शिक्षा के प्रचार व उन्नयन के निमित्त की जाती है। मठाधिकारी या मठाधीश या महन्त सस्था का अध्यक्ष तथा प्रतिनिधि और मैनेजर होता है। उसका पद एक सेवाइत की तरह न्यासी जैसा ही होता है। वह धार्मिक शिक्षकों का प्रमुख गिना जाता है और आध्यात्मिक विद्या का स्रोत तथा प्रवर्तक। पूर्वानुपर महन्त प्रायः आदि मठाधीश का ही नाम धारण करते चले जाते है। मठों के नियत्रण तथा प्रशासन के जो नियम विद्यमान है उनके उद्गम तथा आधार बहुधा परम्परा और प्रथा ही हुआ करती है। कुछ संस्थाओं में महन्त का आबाल ब्रह्मचारी होना आवश्यक होता है, कुछ मे सन्यासी होना, किन्तु कुछ में गृहस्थ भी मठाधिकारी हो सकते हैं।

प्रशासन व नियंत्रण के अतिरिक्त, परम्परा इसको भी विनियमित करती है कि महन्त का चुनाव किस विधि से और किन लोगों मे से किया जाय, तथा इसको भी कि शिष्यों व भक्तों की दी हुई भेंटें मठ की सम्पत्ति समझी जायेंगी, अथवा व्यक्तिगत रूप से मठाधिकारी की। परम्परा से भी प्रबल होती है प्रतिष्ठापक की इच्छा व अभि-

१. "पी० वी० भीमसेन ब० सिरीगिरी", ए० आई० आर० १९६१, सुप्रीम कोर्ट १३५०।
२. "योगानन्द ब० श्री अगेहेश्वर स्वामीवरू", ए० आई० आर० १९६०, सुप्रीम कोर्ट ६२२।

प्राय। दोनों के अभाव में तथा उभय से भी प्रबल उस नियम का आधिपत्य होता है, जिसको न्याय, औचित्य और शुद्ध अन्तःकरण विहित करे।

मठों के भेद और चेलों का चुनाव

मठाधिकारी की नियुक्ति परम्परा के अनुसार तीन भाँति से की जाती है। अतः मठ भी तीन भाँति के होते है। एक तो **मौरूसी मठ** कहलाते हैं, जिनके महन्त को अपना उत्तराधिकारी चुनने का कही प्रधान, कहीं अपवर्जो हक होता है। दूसरे, **पंचायती मठ,** जिनका महन्त या तो वरिष्ठ महन्तों की समिति द्वारा, या किसी जाति अथवा पन्थ के नेताओं द्वारा निर्वाचित होता है। ये दो मठों के प्रकार प्रचलित मिलते हैं। तीसरे, जो दुलभ है **हाकिमी मठ** कहलाते है और उनके महन्त को राजा अथवा राजकुल का वशज नामजद करता है।

मौरूसी मठ का महन्त अपने दीक्षाप्राप्त वरिष्ठ चेलों में से ज्ञान, विद्या, चरित्र का विचार रखकर एक को नामजद करता है। कहीं-कही पर नामजदगी का उपासकों या यजमानों द्वारा समर्थन भी जरूरी होता है। यदि महन्त अपने उत्तराधिकारी को एक इच्छापत्र में नामजद कर दे, फिर दूसरे इच्छापत्र मे किसी अन्य को नामजद करे, तो पहले वाले शिष्य पर किसी प्रकार का हक निहित नही होता, क्योंकि महन्त के जीवन काल में कोई उसकी प्रतिद्वन्द्विता नही कर सकता।[1] किन्तु यदि प्रचलित प्रथा के अनुसार नामजद महन्त को किसी प्रकार के संमान या हक मिलते हों, तो वह युवराज मान लिया जायगा, जिसकी पदच्युति द्वितीय नामजदगी के द्वारा नहीं की जा सकती।[2] विद्या, ज्ञान, तपस्या, वरिष्ठता के हिसाब से एक चेला महन्त का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी होने के योग्य हो सकता है। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि वह लौकिक उत्तराधिकारी भी बनने के योग्य हो, क्योंकि एक मठाधिकारी को लौकिक कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है, जो कष्टसाध्य होते हैं। गृही (विवाहित स्वामी वाले) मठों में सामान्यतः चुनाव महन्त की पुरुष सन्तान मे से किया जाता है।[3] किन्तु उन तथा अन्य मौरूसी मठों में उत्तराधिकारी महन्त की नामजदगी या चुनाव प्रायः भक्तों के समर्थनाधीन रहता है। क्या समर्थन के अभाव में कोई व्यक्ति महन्त के पद पर आरूढ हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर उस मठ मे प्रचलित प्रथा के आधार पर ही दिया जा सकता है।

१. "रामप्रपन्न ब० सुदर्शन", ए० आई० आर० १९६१, उड़ीसा १३७।
२. "तिरुवम्वल ब० चिन्ता" ए० आई० आर० १९१७, मद्रास ५७८।
३. "तुलसीराम ब० रामप्रपन्न", ए० आई० आर० १९५६, उड़ीसा ४१।

महन्त के अधिकार व दायित्व

नये महन्त का अधिष्ठापन विधिपूर्वक किया जाता है। पूर्व महन्त की व्यक्तिगत सम्पत्ति को छोड़कर मठ की सारी चल-अचल सम्पत्ति पर नये महन्त को कब्जा कर लेने का हक हो जाता है। छल-कपट के प्रसंग में एक महन्त के विरुद्ध जो अदालती निर्णय या डिग्री पारित हो जाती है, वे उसके उत्तराधिकारियों पर भी बाध्यकारी होती है। उसी शर्त के माफिक एक महन्त के कृत कर्म से उसका उत्तराधिकारी भी बद्ध हो जाता है। मठ के हित तथा वैधिक आवश्यकता के बिना किये गये संक्रमणों को छोड़कर, एक महन्त-कृत बाकी हस्तान्तरण उसके उत्तराधिकारी पर बाध्यकारी होते है। अनधिकृत या असमर्थनीय सक्रमण कम से कम हस्तान्तरकर्ता के समय तक तो प्रभावशाली बना ही रहता है। "हनुमानप्रसाद बनाम मुसम्मात बबुई"[1] वाली नजीर के सिद्धान्त महन्त-कृत अन्य-संक्रमण पर भी लागू होते हैं। अर्थात् यदि संक्रान्तग्राही ने यथासंभव सक्रमण की वैधता व समर्थनीयता की सूक्ष्म जाँच कर ली थी तो वह सक्रमण मठ के ऊपर बाध्यकारी बना रहेगा।

सेवाइत के जो अधिकार व दायित्व पूर्व में कहे गये है, वही महन्त के भी समझने चाहिए। दोनों पदों (सेवाइती व महन्ती) में जो महत्वपूर्ण अन्तर है वह भी ज्ञातव्य है। सेवाइत के हाथ में जितनी भी आय जिस किसी भी मार्ग से पहुँचती है उस सब आय का वह देव-प्रतिमा की तरफ से अभिरक्षक मात्र होता है। उस आय में उसका कोई व्यक्तिगत हित नहीं हो सकता, सिवा उतने अंश के, जिसको वहाँ की प्रथा के अनुसार वह पा सकता हो। यदि वह प्रतिष्ठापक का वंशज हो, तो उस नाते से भी और उतनी ही सीमा के भीतर उसका देवोत्तर आय में हित रहता है। इसके विपरीत यदि मठाधिकारी या महन्त अपने सुप्रबन्ध तथा कुशल प्रशासन के फलस्वरूप मठ के सारे कार्यों, आवश्यकताओं, उत्सवों के व्यय सुचारु रूप से निपटाने के बाद फाजिल राशि बचा लेता हो, तो उस राशि का वह अपने विवेकानुसार उपयोग कर सकता है। उस पर यह प्रतिबन्ध नहीं रहता कि मठ के प्रयोजनों से इतर वह कोई खर्च नहीं कर सकता है। न वह बचत करने, न फाजिल राशि का संचय करने को विवश होता है।[2] ज्ञातव्य है कि महन्त के मरने के बाद फाजिल संचित आय उसके व्यक्तिगत दायादों

१. (१८५५) ६ मूर्स, इण्डियन एपील्स ३९३।

२. "विद्यापूर्ण ब० विद्यानिधि" (१९०३) २७, मद्रास ४३५।
"देवशिक्षामणि ब० पेरियानन" (१९३६), इंडियन एपील्स २६१।

को न मिलकर[1] मठ की अन्य सम्पत्ति की तरह मठ के कोष में जमा हो जाती है। याद रहे कि महन्त फाजिल आय को अपने भोग-विलास में नहीं उड़ा सकता।[2]

धर्मस्व जिन प्रयोजनों तथा उद्देश्यों के निमित्त प्रतिष्ठापित हुआ था, वही यदि सफल न होते हों, तो क्या करना चाहिए ? उस दशा मे "साइप्रेस" वाली पद्धति अपनानी चाहिए। यह अंग्रेजी कानून का सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि जब धर्मस्व के आदि उद्देश्यों को पूरा करना असम्भव हो जाय, तो यथासम्भव उन्हीं के तुल्य उद्देश्यों की पूर्ति में उस धर्मस्व को नियोजित करना चाहिए। इस क्रिया को "पुनर्निदेशन" या "तद्वत् विनियोग" कह सकते हैं। इसका सम्पादन अदालत के माध्यम से किया जाता है। किन्तु यदि उद्देश्यों के व्यावहारिक तथा उपयोगी बने रहने के बावजूद, खर्च और विनियोग के विषय में सेवाइत या महन्त तथा यजमानों के बीच मतभेद हो, तब क्या करना चाहिए ? उस दशा में भी अदालत के माध्यम से योजना निर्धारित होनी चाहिए, और अदालत को धर्मस्व के आदि उद्देश्य को अपना पथप्रदर्शक माने रहना चाहिए। यदि समाज या सम्प्रदाय में पूर्ण सहमति हो, तो आदि उद्देश्य को छोड़ा भी जा सकता है और नये उद्देश्य की तरफ धर्मस्व का पुनर्निदेशन भी हो सकता है। किन्तु पुनर्निदेशन पुण्य और धर्म के विरुद्ध नहीं होना चाहिए।[3]

१. "अप्पा ब० विघ्नेशम", ए० आई० आर० १९३७, मद्रास ११८।

२. "अरुणाचलम ब० वेंकटाचलपति" (१९१९) ४६, इंडियन एपील्स २०४।

३. जे० डी० एम० डेरेंट प्रणीत माडर्न हिन्दू ला, पृ० ५१८–१९।

प्रकरण २०

प्रकीर्ण या विविध विषय

हिन्दू विधि के विशिष्ट अगों का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् निम्नोक्त गौण अगों का भी मनन कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इन प्रसंगों की भी चर्चा प्रायः हुआ करती है।

(१) अविभाज्य सम्पदा (रियासत, जागीर आदि)

विभाजन के प्रकरण (११) में बताया गया था कि हिन्दू की सकल सम्पत्तियों का बटवारा नहीं कराया जा सकता। समांशिता वाली या संयुक्त सम्पदा तो विभाज्य होती है किन्तु स्वार्जित सम्पदा अविभाज्य है। उसी तरह बड़े-बड़े राज्य और बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ या तो पुरातन प्रथा के कारण या अनुदान पत्रों की शर्तों के कारण एकल उत्तराधिकारी पर ही अवतरित होती हैं और अन्य दायादों को उनमें भाग माँगने का हक नही होता। अविभाज्य सम्पत्ति पैतामही हो सकती है और स्वार्जित भी। भारत में अब अविभाज्य प्रकार वाली सम्पदाएँ नही रह गयी हैं।[1] सन् १९५६ वाले "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" के परिणाम स्वरूप अविभाज्य सम्पदाओं का लोप हो गया है। कारण यह है कि उस अधिनियम ने अपने उत्तराधिकारीय नियमों से केवल उन राज्यों या रियासतों को विमुक्त किया है जिनके राजाओं ने भारत सरकार के साथ सन् १९५६ के पहले से यह संविदा पक्की कर ली हो कि एकल दायाद पर ही रियासत अवतरित हुआ करेगी या जिनको ऐसी विमुक्ति किसी पूर्वपारित अधिनियम ने दे दी हो।

सम्राट् को या शासन को यह अधिकार होता है कि भूमि के अनुदान में यह शर्त संलग्न कर दे कि इसका अवक्रमण अमुक क्रम (यथा एकल ज्येष्ठ पुत्र) से हुआ करेगा। किन्तु ऐसा अधिकार प्रजा या शासित वर्ग को नहीं है।[2] इस प्रकार की अविभाज्य सम्पत्तियाँ स्वाधीनता के पहले अनेक थीं। राजस्थान, दक्षिण भारत के प्राचीन रजवाड़े, विस्तृत जमीन्दारियाँ, बगाल, पंजाब, बिहार की बड़ी रियासतें, महाराष्ट्र की

१. "चेल्ला दोराइ बनाम वरगुनराम", ए० आई० आर० १९६१, मद्रास ४२।

२. "राजेन्द्र ब० रघुवंश" (१९१८) ४५, इंडियन एपील्स १३४।
"पालनी ब० मुठू वेंकट चरला" (१९२५) ५२, इंडियन एपील्स ८३।

जागीरें व सरजाम उनके थोड़े से उदाहरण है। इनकी सृष्टि प्राचीन काल मे ऐसे हुई थी कि एक बड़ा सम्राट् अपने लम्बे-चौड़े साम्राज्य के छोटे-छोटे भूभाग सम्यक् प्रशासन के लिए कर देता था। कम्पनी के शासन काल मे कुछ राज्य बने, कुछ बिगड़े, कुछ घटे, कुछ बढ़े। ब्रिटिश शासन ने उनमें से मुख्य मुख्यों को मान्यता प्रदान कर दी। उनमे प्रचलित प्राचीन प्रथा को देखकर ऐसा लगता है, या ऐसी पूर्व-धारणा कर लेना सरल है कि अतीत के दानपत्र या सनदें खो गयी हैं जिनमें अविभाज्यता की शर्त लिखी हुई थी। यह पूर्व-धारणा अनुदान के आदि अभिप्राय से भी उपजती है। किन्तु प्रमाण-भार सदैव उस पक्ष पर रहता है जो अविभाज्यता का अभिकथन करे।[1] इन अविभाज्य रियासतों के अधिपति भी जागीरों की सृष्टि करके[2] अविभाज्यता की शर्त सलग्न कर देते थे।

सयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति वाला यह सिद्धान्त पहले बतलाया गया है कि यदि कोई सदस्य स्वार्जित सम्पत्ति को संयुक्त सम्पत्ति में इस प्रकार से सम्मिश्रित कर दे कि उसका अभिप्राय अपना पृथक् स्वामित्व परित्याग करने का प्रतीत होने लगे, तो ऐसा समुत्थान सयुक्त सम्पदा के लक्षणों से युक्त हो जायगा। यह सिद्धान्त अविभाज्य सम्पत्ति पर लागू नहीं होता, क्योंकि उसके स्वामी को उसकी आय का स्वेच्छित उपयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। अतः अपनी आय को संचित करके यदि वह एक नयी सम्पत्ति का उपार्जन करे, तो वह नयी सम्पत्ति अविभाज्य सम्पत्ति का अंग नहीं बन सकती, अपितु उस स्वामी की पृथक् तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति गिनी जायगी। उसके मरने के बाद उसको राज्य के उत्तराधिकारी नहीं, उसके व्यक्तिगत दायाद पायेंगे।[3] यदि प्रतिदेय देकर सरकार किसी अविभाज्य सम्पदा पर अधिकार कर ले, तो उस धनराशि को विभाज्य समझेंगे या अविभाज्य ? मद्रास हाई कोर्ट के मत से वह धनराशि विभाज्य है।[4] किन्तु आंध्र के हाई कोर्ट के मत से वह धनराशि भी अविभाज्य है।[5]

मिताक्षरा वाली परम्परागत सम्पदा की तरह यह (अविभाज्य सम्पदा) भी पैता-

१. "मार्तंड ब माथुर" (१९२८) ५५, इंडियन एपील्स ४५।
२. "प्रमोद ब० उड़ीसा राज्य", ए० आई० आर० १९६२, सु० कोर्ट १२८८।
३. "जगदम्बा कुमारी ब० नारायन सिंह" (१९२३) ५०, इंडियन एपील्स १। "अपर्णा ब० शिव" (१९२४) ३, पटना ३६७।
४. "जनार्दन ब० मद्रास राज्य", ए० आई० आर० १९५३, मद्रास १८५। "चेल्ला दोराइ ब० वी०पी० चिन्नाथाइयर", ए० आई० आर० १९६१, मद्रास ४२।
५. "गोपाल कृष्ण ब० सर्वज्ञ", ए० आई० आर० १९५५, आंध्र २६४।

मही सम्पदा समझी जायगी, किन्तु इस विलक्षणता के साथ कि वह अविभाज्य बनी रहती है तथा 'जन्म-स्वत्ववाद' उस पर लागू नहीं होता। उस पर पैतामही सम्पदा वाला यह नियम भी लागू नहीं होता कि कोई समांशी कर्ता या गृहप्रभु-कृत अन्य-संक्रमण के विरुद्ध आपत्ति और आक्षेप कर सकता है। यह नियम भी लागू नही होता कि अन्य समांशियों को उससे परिपोषित होते रहने का हक है। केवल राजा के पुत्रों को भरण-पोषण का हक होता है। जिन राज्यों में लघु कुटुम्बी गणों को भी भरण-पोषण मिलता है, वह उनके हक पर नहीं, प्रचलित रीति पर आधारित है।[1] एक स्वामी का ऋण उसके उत्तराधिकारी पर वाध्यकारी नहीं होता; इस अपवाद के साथ कि पुत्र देनदार होता है तथा अन्य उत्तराधिकारी भी बद्ध होता है यदि ऋण कुटुम्ब की आवश्यकतार्थ लिया गया हो।[2]

उत्तराधिकार प्रत्येक राज्य की प्रथा के अनुसार विनियमित होता रहता है, कानून के अनुसार नहीं। अधिकतर ज्येष्ठ पुरुष सन्तान के उत्तराधिकार वाली रीति प्रचलित मिलती है। ज्येष्ठ पुत्र वह समझा जाता है जो पहले जन्म ले, न कि वह जो ज्येष्ठ रानी के गर्भ से पैदा हो।[3] ज्येष्ठ वंश-परम्परा जब तक समाप्त न हो, तब तक कनिष्ठ-परम्परा वाले दायाद राज्य नहीं पा सकते। अर्थात् राजा के अनेक पुत्रों (क ख ग घ) में से सबसे बड़ा क गद्दी पर बैठेगा, फिर क का ज्येष्ठ पुत्र, फिर ज्येष्ठ पौत्र इत्यादि। जब तक यह परम्परा चलेगी, तब तक ख, ग, घ की परम्परा में से कोई उत्तराधिकारी नहीं बन सकता।[4] दत्तक ग्रहण के बाद यदि औरस पुत्र पैदा हो जाय तो दत्तक को छोड़कर केवल औरस ही उत्तराधिकार पायेगा।[5] शूद्र राजा का असली दासीपुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बन सकता है, यदि (क) राजा ने औरस सन्तान या विधवा या समांशी न छोड़े हों, (ख) राजा अपने समांशियों से पृथक् हो चुका हो,

१. "कमिश्नर इं० टैक्स ब० ज्ञान", ए० आई० आर० १९४५, पटना २०५।
"नन्दकिशोर ब० पट्टा", ए० आई० आर० १९४०, मद्रास ८५०।
"राम ब० राजा पित्तपुर", ए० आई० आर० १९१८, प्रिवी कौंसिल ८१।
"कलक्टर गोरखपुर ब० राम" (१९३४) ६१, इंडियन एपील्स २८६।
२. "इंदर ब० हरपाल" (१९१२) ३४, इलाहाबाद ७९।
३. "जगदीश ब० शिवप्रताप" (१९०१) २८, इंडियन एपील्स १००।
४. "सुन्दर लिंगस्वामी ब० रामस्वामी" (१८९९) २६, इंडियन एपील्स ५५।
५. "साहब गौदा ब० सिद्दन गौदा" (१९३९), बम्बई ३१४।

या (ग) राज्य मृतक की स्वार्जित सम्पदा रही हो, क्योंकि उपरोक्त अधिकारी दासी-पुत्र को अपवर्जित कर सकते हैं ।[१] ज्ञातव्य है कि १९३७ वाला "द हिन्दू विमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" अविभाज्य सम्पदाओं पर लागू नही होता था। याद रहे कि मिताक्षरा के अन्दर समांशिता वाली सम्पत्ति के उत्तराधिकार वाले मामलों में रक्त के सान्निध्य से वरीयता नहीं मिलती है। यह नियम अविभाज्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार-वाले मामलों में भी लागू होता है। इसलिए यदि अविभाज्य पैतामही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी एक सगा और एक सौतेला भाई हों और सौतेला ज्येष्ठ हो, तो ज्येष्ठ होने के बल पर वह सौतेला होने के बावजूद सगे को अपवर्जित करके राज्य प्राप्त करेगा। इस-नियम के दो अपवाद हैं। एक तो दायभाग वाले संयुक्त कुटुम्ब मे उपरोक्त दशा मे छोटा किन्तु सगा भाई वरीयता पायेगा ।[२] दूसरे, यदि अविभाज्य सम्पत्ति सयुक्त व पैतामही (मौरूसी) नहीं, वरच स्वार्जित हो, तब सगा भाई, छोटा होने के बावजूद, बड़े किन्तु सौतेले भाई से वरीयता पा जायगा ।[३]

पैतामही अविभाज्य सम्पदा के उत्तराधिकार पर दो अन्य पहलुओं से विचार करना चाहिए। (१) जैसे कि सम्पदा का मृत स्वामी सयुक्त कुटुम्ब का सदस्य था। उसके उत्तराधिकार की समस्या का समाधान उत्तरजीविता वाले नियम के अनुसार किया जायगा, अर्थात् ज्येष्ठ पुरुष दायाद की एक शाखा समाप्त हो जाने के बाद, राज्य उत्तरजीवी दूसरी शाखा के ज्येष्ट पुरुष के ऊपर अवतरित होगा, और रक्त-सान्निध्य का नहीं, अपितु ज्येष्ठता का विचार किया जायगा। अतः मृत स्वामी की विधवा उसकी दायाद नहीं मानी जायगी ।[४] उदाहरणार्थ, यह रेखाचित्र लिया जाय। अ जब मरता है तो कुटुम्ब में उसका छोटा पुत्र ख तथा ज्येष्ठ पुत्र क का पुत्र ग ये दो जने जीवित है। ख का ग की अपेक्षा निकटतर रक्त-सान्निध्य है। फिर भी ज्येष्ठतर शाखा का वशज होने के बल पर ग को वरीयता मिलेगी और वह ख को अपवर्जित कर देगा।

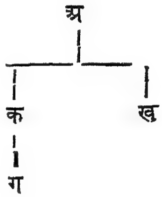

(२) जैसे कि पैतामही अविभाज्य सम्पदा का मृत स्वामी अपने कुटुम्बियों से पृथक् हो चुका था। ऐसी दशा

१. "के० वी० थंगावेल् ब कोर्ट वार्ड्स", ए० आई० आर० १९४७, मद्रास ३८।
२. "नील कृष्ण ब० वीरचंद्र" (१८६९) १२ मूर्स, इंडियन एपील्स ५२३।
३. "सुब्रह्मण्य ब० शिवसुन्दर" (१८९४) १७, मद्रास ३१६।
४. "चौधरी चिन्तामन ब० मु० नौलखो" (१८७५) २, इंडियन एपील्स २६३।

में उत्तराधिकार के सामान्य नियमों के अनुसार राज्य का अवतरण होगा। अर्थात् अपुत्र मरने की दशा में मृत प्रभु की विधवा, फिर पुत्री इत्यादि राज्य को प्राप्त करेंगी।[1] उनके बाद उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुरुष दायाद वाले नियम से प्रशासित होगा। राज्य और रियासत के मामले में पृथक्ता का प्रमाण खूब प्रबल तथा विश्वासप्रदायक होना चाहिए। कारण यह है कि कनिष्ठ शाखा वाले कुटुम्बी जन विभाजन करके राज्य पाने के सम्भावित या प्रत्याशित संयोग को सहज में छोड़ देंगे यह अस्वाभाविक लगता है।

ऊपर कहा गया है कि विशेष परिस्थितियों में विधवा भी अविभाज्य सम्पदा की उत्तराधिकारी बन सकती है। इसके तथा अन्य उत्तराधिकारी नियमों के साथ भी यह परन्तुक (अपवाद) संलग्न समझना चाहिए कि प्रथा सदा ही कानूनी विधान को अभिभूत कर देती है। विधवा को अपवर्जित करने वाली रीति को सिद्ध करने का प्रमाण-भार उसको अभिकथित करने वाले पक्ष के ऊपर रहता है। यदि अविभाज्य सम्पदा पैतामही (मौरूसी) नही वरन स्वार्जित हो, तब उसके उत्तराधिकार के नियम वही होंगे जो सामान्य पृथक सम्पदा के होते हैं, चाहे मृत प्रभु अपने कुटुम्ब से पृथक रहा हो या संयुक्त। "शिव गंगा" नामक प्रसिद्ध प्रिवी कौंसिल वाले मुकदमे[2] में एक स्वार्जित अविभाज्य रियासत का स्वामी अपनी विधवा और संयुक्त भतीजों को छोड़कर मरा था। उसमें यह निर्णय दिया गया कि भतीजों को अपवर्जित करके विधवा राज्य की अधिकारी है। ऊपर यह भी कहा गया है कि सामान्यतः एक राजा का ऋण उसके उत्तराधिकारी पर बाध्यकारी नहीं होता। किन्तु यदि उसके ऊपर डिग्री हो चुकी है तथा वह रियासत के प्रतिनिधि के रूप में मुद्दालेह (प्रतिवादी) बना था, तब उसका इजराय उसके पुत्र-उत्तराधिकारी के ऊपर भी हो सकता है।[3]

(७) बेनामी सौदे

बेनामी की प्रणाली शास्त्रीय हिन्दू ला का अंग न होने पर भी इतनी प्राचीन हो चुकी है[4] और यहाँ के निवासियों की प्रकृति व विचारों से इतना मेल खाती है कि अदालतों ने उसको कानून की एक शाखा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी है।

१. "ठकुरानी तारा कु० ब० चतुर्भुज" (१९१५) ४२, इंडियन एपील्स १९२।
"मु० पार्वती कु० ब० चन्द्र कु०" (१९०९) ३६, इंडियन एपील्स १२५।
२. "कात्मानचिन्नियार ब राजा शिवगंगा" (१८६३) ९ मूर्स, इं० ए० ५३९।
३. "राव भीमसिंह ब० शेरसिंह" (१९४७), नागपुर ८३०।
४. "केदार ब० प्रहलाद", ए० आई० आर० १९६०, सुप्रीम कोर्ट २१३।

अदालतों ने इसकी मान्यता इस सिद्धान्त पर आधारित की है कि यदि वैधिक नीति और उपबन्धों के विपरीत न पड़ता हो, तो यथासम्भव, दिखावटी को छोड़कर असली स्वत्व को क्रियाशील होने देना चाहिए। मुसलमानों के बीच इस प्रणाली को "फर्जी" के नाम से सम्बोधित करते हैं, यद्यपि दोनों नामों की उत्पत्ति फारसी भाषा से हुई है। इस प्रणाली का प्रयोग दो निमित्तों से किया जाता है। एक है सरकार (आय-कर) तथा महाजनों की वंचना। दूसरा है यह अंध विश्वास कि कुछ ऐसे नाम हैं जिनके उल्लेख से संक्रमणपत्र फलीभूत होता है। इस प्रणाली का उपयोग पट्टा, रेहन, वै सभी हस्तान्तरणों में किया जाता है।

यह प्रणाली हिन्दू व मुसलमान भारतीयों के व्यक्तिगत कानूनों का इतना घनिष्ठ अंग बन चुकी है कि जिस विदेश में जाकर वे बस जाते हैं वहीं इसका विनियोग अदालत से मान्यता पाने लगता है। जब सम्पदा का असली किन्तु परोक्ष प्रभु या हितग्राही प्रतिकर या धन प्रदान करके अपने किसी आत्मीय जन अथवा समाश्रित अथवा इष्टदेव के नाम दस्तावेज लिखाता है, या उनमें से किसी के नाम हिबा या वै या विनिमय के द्वारा अपनी निजी सम्पत्ति का संक्रमण बिना इस अभिप्राय के कर देता है कि हस्तान्तरग्राही का कोई स्वत्व उसमें पैदा हो जाय, तब उस सौदे को **बेनामी** कहते हैं, तथा उस संक्रान्तग्राही को **बेनामीदार** या **फर्जीदार** कहते हैं। बेनामीदार मात्र एक ऐसा न्यासी होता है, जिसे आग्रह किये जाने पर बेनामी सम्पदा हितग्राही या असली (परोक्ष) स्वामी को वापस कर देनी पड़ती है।[1] व्यवहार में हितग्राही अपना नियंत्रण तथा प्रबन्ध बनाये रखता है और मुनाफा लेता रहता है। बहुधा बेनामीदार को कोई कर्तव्य नहीं निबाहना पड़ता है, फिर भी वह हितग्राही का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् बेनामीदार सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमे लड सकता है और डिग्री प्राप्त कर सकता है, एवम् उसके ऊपर जो डिग्री पारित हो जाती है वह असली (परोक्ष) प्रभु पर बाध्यकारी होती है।[2] सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमा लड़ने और उसमें प्रतिरक्षात्मक पैरवी करने को छोड़कर बहुत कम ऐसे अन्य मामले हैं जिनमें असली प्रभु का पता लगाना अदालत जरूरी नही समझती। इसके विपरीत जब असली मालिक का पता चल जाता है तो चार अपवादों को छोड़कर उसके स्वत्व का प्रवर्तन किया जाता है। उन अपवादों को जानने के पहले निम्नोक्त चार बातें ज्ञातव्य हैं।

१. "विलास ब० देशराज" (१९१५) ३७, इलाहाबाद ५५७ (प्रि० कौंसिल)।
२. "नरेन्द्र ब० मिदनापुर", ए० आई० आर० १९४०, कलकत्ता ११५।
"गुरु ब० शिव" (१९१८) ४६, इंडियन एपील्स १।

एक तो बेनामी की प्रणाली छल, कपट, ठगी, वंचना की तरह कोई जुर्म नहीं होती। अ एक मकान क के नाम खरीद कर छोड़ देता है। उसके बाद ख की डिग्री अ के ऊपर हो जाती है। ख यदि यह प्रमाणित कर दे कि मकान का असली प्रभु अ है और क मात्र बेनामीदार है, तो ख अपनी डिग्री के इजराय में उस मकान को नीलाम करा सकता है, और अ किसी जुर्म का दण्डभागी नहीं ठहराया जा सकता। दूसरे, बेनामी वाला कानून औचित्य वाले इस सिद्धान्त से विकसित हुआ है कि जब राम एक सम्पत्ति बीरू के नाम खरीदता है तो बीरू उस सम्पत्ति को न्यासी के रूप में धारण करता है, और राम उस सम्पत्ति का हितग्राही बन जाता है। विवाद उठने पर इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ता है कि मूल्य अदा करने के लिए धन किस स्रोत से आया था।

औचित्य के नियम इग्लैण्ड से यहाँ लाये गये है। परन्तु उनके साथ उपरोक्त सिद्धान्त का यह अपवाद नहीं लाया गया कि यदि राम अपना धन लगा कर सम्पत्ति अपने पुत्र या पत्नी के नाम खरीद देता है तो यह पूर्व धारणा कर ली जाती है कि उसने उनको "अग्रतो दान" (जिसको अग्रेजी में "एड्वान्समेण्ट" कहते हैं) कर दिया है, अर्थात् उनके उन्नयन के निमित्त वह सम्पत्ति खरीद दी है। यहाँ चाहे जिस व्यक्ति के नाम सम्पत्ति खरीदी गयी हो कीमत का देने वाला हर हालत मे उसका स्वामी माना जाता है। असली स्वामी का पता लगाने के लिए मूल्य के स्रोत की खोज करने के अतिरिक्त इन बातों पर भी विचार किया जाता है कि सम्पत्ति का मुनाफा कौन सेवन करता रहा था, बेनामीदार का असली मालिक से नाता क्या था और खरीदने का अभिप्राय क्या था।

तीसरी ज्ञातव्य बात यह है कि बहुधा एक पुरुष अपना धन बैंक मे जमा करके अपने व पत्नी के सयुक्त नाम से इस निदेश के साथ हिसाब खोल देता है कि संचित राशि उत्तरजीवी को मिलेगी। चूँकि "उन्नयनार्थ" (ऐडवान्समेण्ट वाली) विदेशी मान्यता भारत में प्रयोज्य नही है, इसलिए पति ही उस राशि का स्वामी माना जायगा और उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी दानग्राही नही समझी जायगी, जब तक दान करने का आशय स्पष्टतः प्रमाणित न किया जाय।[१] चौथे, बेनामी वाले मामलों में आरम्भिक प्रमाणभार उस पक्ष पर रहता है जो ऐसा अभिकथन करे। अवश्य ही सन्देह पैदा होने से अधिक प्रमाण पहुँचने के बाद प्रमाणभार उस पक्ष के ऊपर चला जाता है जो बेनामी को अस्वीकार करता हो। अब उपरोक्त चार अपवादों को बतलया जायगा।

१. "शम्भुनाथ शिवपुरी ब० पु० नाथ" ७१, इंडियन एपील्स १९७।

(१) जब अदालती नीलाम में, या बकाया मालगुजारी के लिए विकी हुई सम्पदा का किसी व्यक्ति के नाम बिक्रीनामा (सेल सर्टीफिकेट) निकल चुके, तव असली स्वामी अपने स्वत्व की घोषणा का या सम्पत्ति पाने का दावा नहीं कर सकता है। यह नियम इतना महत्वपूर्ण है कि उसको कई परिनियमों मे समाहित कर दिया गया है, यथा जाब्ता दीवानी की धारा ६६; बंगाल लैण्ड रेवेन्यू सेल्स ऐक्ट सन् १८५९ की धारा ३६; यू० पी० लैण्ड रेवेन्यू ऐक्ट १९०१ की धारा १७८; मद्रास रेवेन्यू रिकवरी ऐक्ट १८६४ की धारा ३८।

(२) यदि बेनामीदार की नीयत डोल जाय और असली प्रभु की अनभिज्ञता मे वह किसी से धन लेकर उस व्यक्ति के नाम बै, रेहन, पट्टा इत्यादि के द्वारा सम्पत्ति का सक्रमण कर डाले, जिसको सक्रामक के बेनामीदार होने की वास्तविक अथवा अन्याश्रित सूचना न हो, तो असली प्रभु उस सक्रमण का निराकरण नही करा सकता।[1] ऐसा ही नियम "ट्रान्सफर आव प्रापर्टी ऐक्ट" की धारा ४१ ने विहित कर दिया है।

(३) यदि महाजनों को वचन करने और धोखा देने के प्रकट अभिप्राय से बेनामी दस्तावेज लिखा गया हो और साथ ही उसकी पूर्ति हो चुकी हो, तो असली प्रभु उस सम्पत्ति को बेनामीदार से वापस नही पा सकता। क्योंकि सिद्धान्त यह है कि कोई व्यक्ति अपने ही छल-कपट का बेजा फायदा नहीं उठा सकता। परन्तु यदि उद्देश्य की पूर्ति न हो चुकी हो, तो दशा दूसरी हो जाती है। उस दशा में असली प्रभु सम्पत्ति वापस पा सकता है।[2] बेनामीदार और असली मालिक दोनों ही कपट में भागीदार होते हुए भी, जिसका कब्जा होता है, कानून उसमें हस्तक्षेप नही करता। किन्तु जब तक फल की पूर्ति नहीं हो जाती, तब तक असली प्रभु छल का परित्याग करके अपनी नीयत को शुद्ध बना सकता है, और शुद्ध नीयत वाले की सहायता कानून सदैव करता है। "इण्डियन ट्रस्ट्स ऐक्ट" की धारा ८४ का भी यही अथवा इससे मिलता-जुलता आशय है।

(४) चौथा अपवाद लोक कल्याण नीति से सम्बद्ध है। मान लीजिए कि राम एक सम्पत्ति अपने नाम इसलिए नही खरीद सकता कि ऐसा करना लोक कल्याण नीति के विरुद्ध और निषिद्ध है। जैसे नीलाम करने वाले अफसर का बोली को अपने ही नाम खत्म कर देना, या सरकारी अफसर का बिना सरकार की अनुमति लिये, अपने

१. "सरयूप्रसाद ब० वीरभद्र" (१८९३) २०, इंडियन एपील्स १०८।
"मीर मु० मुजफ्फर ब० कि० मोहन" (१८९५) २२, इंडियन एपील्स १२९।
२. "गिरिधरलाल ब० मनिकम्मा" (१९१४) ३८, बम्बई १०।
"नबाबसिंह ब० दलजीतसिंह" (१९३६) ५८, इलाहाबाद ८४२।

ही मण्डल के भीतर मूल्यवान् स्थावर सम्पत्ति खरीदना। वह इस निषेध की वचना इस युक्ति से करता है कि सम्पत्ति का बेचनामा अपने अभिन्न मित्र श्याम के नाम लिखा देता है। ऐसी दशा में राम उस सम्पत्ति को श्याम से अदालत के माध्यम से नहीं प्राप्त कर सकता, यद्यपि दूसरा पहले का बेनामीदार है।[1]

चूँकि फर्जी सौदे प्रचलित तथा वैध मान लिये गये हैं इसलिए कानून ने यह सुविधाजनक तथा आवश्यक समझा कि बेनामीदार अपने ही नाम से अर्थात् स्वतः मुद्दई या वादी बनकर दावा दायर कर सके। वह संविदा के आधार पर भी दावा कर सकता[2] है और अचल सम्पत्ति के दखल का भी।[3] ऐसे दावों के परिणाम वास्तविक प्रभु पर बाध्यकारी होते हैं, यद्यपि वह दावे में पक्षधारी न बनाया गया हो, क्योंकि ऐसी दशा में यह पूर्व-धारणा कर ली जाती है कि बेनामीदार ने वास्तविक प्रभु की जानकारी में ही दावा दायर किया था।[4]

(३) दामदुपत

इसका अर्थ है मूल और ब्याज मिलकर दुगुना हो जाना। यह नियम शास्त्रीय हिन्दू ला का प्रत्यंग होने के कारण हिन्दुओं का व्यक्तिगत कानून है, न कि सामान्य विधि का एक नियम। दामदुपत मनुस्मृति के ८–१५१ तथा गौतम धर्म-सूत्र के १२–२८ वचनों पर आधारित है। संक्षेप में दामदुपत यह विहित करता है कि किसी समय में ब्याज-सहित मूल की राशि मूल की दुगुनी एक बार में वसूल नहीं की जा सकती। इस नियम का प्रयोग केवल धन वाले ऋण पर होता है, अन्य वस्तुओं या पदार्थों के ऋण पर नहीं। अन्य पदार्थों का दुगुना से अठगुना तक महाजन वसूल कर सकता है। यथा—

मणि मुक्ता प्रवालानां सुवर्ण रजतस्य च।
तिष्ठति द्विगुणा वृद्धिः फल कैटाविकस्य च॥
तैलानां चैव सर्वेषां मद्यानामथ सर्पिषाम्।
वृद्धिरष्टगुणा ज्ञेया गुडस्य लवणस्य च॥
कुप्यं पंचगुणं भूमिस्तथैवाष्टगुणा मता॥[1] **(कात्यायन)**

१. "शिवनाथ ब० माताप्रसाद" (१९०५) २७, इलाहाबाद ७३।
२. "कामता ब० इन्दुमती" (१९१५) ३७, इलाहाबाद ४१४।
"सुब्बा ना० ब० रामस्वामी" (१९०७) ३०, मद्रास ८८।
३. "गुरुना० ब० शिवलाल सिंह" (१९१९) ४६, इंडियन एपील्स १।
४. "कनीज ब० वलीउल्ला" (१९०८) ३०, इलाहाबाद ३०।

इस नियम को विहित करने का हेतु यह कहा जाता है कि प्राचीन काल में 'कानून मियाद' या तो इतना स्पष्ट नहीं था या उसका कठोर प्रवर्तन नहीं होता था। इसलिए उत्तमर्ण (महाजन) ब्याज को खूब बढ़ने देते थे और "पवित्र दायित्व" वाली मान्यता का लाभ उठाकर अधमर्ण (ऋणी) के पुत्र-पौत्रों से अगणित राशि वसूल करने लगते थे। इस लोभमय प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए धर्मशास्त्रियों ने दामदुपत का नियम बना दिया। पहले ऐसा नियम यूरोप में भी प्रचलित था और आजकल भारतेतर अन्य प्राच्य देशों में भी विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि यह नियम बुद्धि-सम्मत और औचित्यानुकूल है।[1] इसीलिए कई भारतीय प्रान्तों ने इसको परिनियत कर लिया है, जिनकी गणना आगे चलकर की जायगी।

इस व्यापक नियम के कई अपवाद धर्मशास्त्र में पाये जाते हैं। यथा—

एतच्च सकृत् प्रयोगे सकृदाहरणे च वेदितव्यम्। पुरुषान्तरसंक्रमणेन प्रयोगान्तर-करणे तस्मिन्नेव वा पुरुषे अनेकशः प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिकं द्वैगुण्याद्यतिक्रमेण पूर्व-वद्वर्धते। सकृत्प्रयोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा वृद्ध्या हरणेऽधमर्णे देयस्य द्वैगुण्यसंभवात्पूर्वाहृतवृद्ध्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धत एव। (मिताक्षरा)

शिखावृद्धिं कायिकां च भोगलाभं तथैव च।
धनी तावत्समादद्याद यावन्मूलं न शोधयेत्॥ (बृहस्पति)

संक्षेप में वे अपवाद निम्नोक्त हैं—(१) यदि ब्याज एकमुश्त वसूल न किया जाय किन्तु दैनिक या मासिक क्रम से लिया जाय, तो उसकी राशि मूल से कई गुनी भी हो सकती है। (२) यदि पुराने ऋण के बदले मूल तथा संचित ब्याज की उत्तमर्ण व अधमर्ण के बीच नयी संविदा की जाय, तो नयी राशि के ऊपर ब्याज चलकर आदि मूल से कई गुना भी वसूल किया जा सकता है। (३) आदि या प्रथम अधमर्ण का स्थानापन्न अधमर्ण दुगुने से अधिक भी ब्याज का देनदार हो सकता है। अर्थात स्थानापन्न ऋणी इस नियम का प्रलाभ नहीं भोग सकता। (४) यदि अधमर्ण मूल का अंश अदा कर दे, या उत्तमर्ण कुछ छूट दे दे, या पुराने के अतिरिक्त नया ऋण उधार दे दे, और नयी राशि के विषय में पक्षों के बीच नवीन संविदा होकर उस पर ब्याज चलने लगे, उस दशा में भी यह नियम लागू नहीं होगा। अब प्रासंगिक विषय पर आधुनिक नियम बतलाये जाते हैं।

इस नियम में मूल का अर्थ है वह राशि जिस पर उस समय ब्याज चलता हो जब दावा दायर हुआ है। मान लीजिए कि ६०० रु० चार किस्तों में भुगताना है और

१. बापूराव ब० अनन्त" ४६, नागपुर। २१०।

सूद समेत तीन किस्त अदा हो चुकी हैं। १५० रु० वाली चौथी किस्त का व १५५ रु० उसके सूद का दावा दायर हुआ है। १५० रु० से अधिक सूद नहीं दिलाया जा सकता, यद्यपि १५५ रु० की राशि आदि मूल ६०० रु० से कम है।[1] यह नियम उसी दशा में लागू होता है जब एक ही पक्ष को हिसाब लेने का अधिकार हो। ऐसे रेहन वा कब्जे के मामले मे जहाँ रेहनदाता तथा रेहनग्रहीता (राहिन तथा मुर्तहिन) दोनों को निश्चित अवकाशों के बाद हिसाब समझना-समझाना पड़ता हो, यह नियम लागू नहीं किया जाता।[2] उपरोक्त शास्त्रीय अपवाद नम्बर (१) एवं नम्बर (२) आज भी माने जाते हैं।[3]

"लिक्वीडेटेड डेट" या "निर्धारित ऋण" उसको कहते हैं जिसकी राशि पक्षों के इकरार द्वारा निश्चित हो गयी हो या हो सकती हो, यथा रुक्के पर या रेहननामे पर दिया हुआ ऋण। "अनिर्धारित दायित्व" इसका उलटा होता है, यथा संविदा भग से अथवा जिन्ह से उपजा हर्जाना। दामदुपत वाला नियम "निर्धारित ऋण" पर तो प्रयोज्य है किन्तु "अनिर्धारित दायित्व" पर नही। अतएव न्यासी के छल-कपट से उपजे व्यक्तिगत दायित्व पर यह नियम लागू नही होगा।[4] यह नियम ऋण के ऊपर तभी तक प्रयोज्य होता है जब तक पक्षों के बीच महाजन तथा धर्ता का नाता कायम रहे। अदालती निणय व डिग्री हो जाने के बाद वसूली तक ब्याज दिलाने मे यह नियम बाधा नहीं डाल सकता।[5]

इसका सर्जन हिन्दू समाज के भीतर हुआ था और उस काल में उत्तमर्ण तथा अधमर्ण उभय हिन्दू मतावलम्बी होते थे। तो क्या आजकल भी इस नियम के प्रयोग के लिए उभय पक्ष का हिन्दू होना आवश्यक है? कलकत्ता हाई कोर्ट का उत्तर सकारात्मक है।[6] यदि इस नियम की रचना हिन्दू अधमर्णो की रक्षा व त्राण के निमित्त निर्मित हुई थी, तो क्या उत्तमर्ण का हिन्दू होना आवश्यक नही है और आदि अधमर्ण का हिन्दू होना ही पर्याप्त है? बम्बई हाई कोर्ट का उत्तर अस्तिवाची है, और उस

१. नौशेरवाजी ब० लछमन" (१९०६) ३०, बम्बई ४५२।
२. "दगद्सा ब० रामचन्द्र" (१८९५) २०, बम्बई ६११।
३. "दगद्सा ब० रामचन्द्र" (१८९५) २०, बम्बई ६११।
"सुखलाल ब० वापा" (१८९९) २४, बम्बई ३०५।
४. "फूलचंद ब० हु० चंद", ए० आई० आर० १९६०, बम्बई ४३८।
५. "कुसुम ब देवी", ए० आई० आर० १९३६, प्रिवी कौंसिल ६३।
६. "उमा ब० श्री वरीनाथ" (१८९७) १, क० वी० नो० १७८।

मत के अनुसार यदि आदि ऋणी मुसलिम था तो यह नियम अप्रयोज्य है, चाहे उसने अपना ऋण बाद में एक हिन्दू को हस्तान्तरित कर दिया हो।[1] मान लीजिए कि ब्याज की रकम जब राम के ऊपर मूल से अधिक हो गयी तब उसने उस ऋण को रहीम को हस्तान्तरित कर दिया। इस दशा में यह नियम उतने काल तक तो ब्याज को नियंत्रित करेगा जब तक दायित्व राम के ऊपर था, किन्तु जब दायित्व रहीम के ऊपर आ गया तब से नहीं।[2]

यह नियम सारे भारत में लागू नहीं है, किन्तु केवल निम्नोक्त स्थलों में ही है। यह समस्त बम्बई प्रान्त में प्रयोज्य है, किन्तु बंगाल प्रान्त के भीतर मात्र कलकत्ता में। न तो यह मद्रास प्रान्त के भीतर लागू है न राजस्थान प्रान्त में ही। संथाल परगना व मध्यप्रदेश में भी यह नियम लागू है।

(४) खोजा, कच्छी मेमन तथा जैन समुदाय

प्रथम दो समुदायों की विचित्रता यह है कि यद्यपि ये वेद-वेदान्त तथा वर्णाश्रम धर्म को अंगीकार नहीं करते, तथापि कई मामलों में हिन्दू रीति-रिवाजों व विधि-निषेधों का अनुगमन करते हैं। इसलिए "हिन्दू ला" के अन्तर्गत इनकी संक्षिप्त चर्चा कर देना प्रासंगिक लगता है, और आवश्यक भी। खोजा व कच्छी मेमन लोग हिन्दू थे। प्रायः ५०० वर्ष हुए वे मुसलिम धर्म के अनुयायी बन गये। मुसलिम मतावलम्बी हो जाने के पश्चात् भी उन्होंने दायप्राप्ति तथा उत्तराधिकार वाले हिन्दू नियमों का परित्याग नहीं किया। बम्बई प्रान्त के खोजा व कच्छी मेमन, सौराष्ट्र के अन्तर्गत पोरबन्दर और मोर्वी में रहने वाले हलाई मेमन, गुजरात निवासी सुन्नी बोहरा लोग, भड़ुच निवासी मालेसलाम-गिरासिया लोग तथा बोरसद के निवासी सुन्नी बोहरा लोग मुस्लिम होने के बावजूद दायप्राप्ति व उत्तराधिकार के मामलों में हिन्दू ला वाले नियमों से प्रशासित होते हैं। इसका आधार प्राचीन प्रथा माना जाता है जो इतनी मजबूत हो गयी है कि इसके विरुद्ध अभिकथन करने वाले पक्ष के ऊपर प्रमाणभार आ जाता है।[3]

परन्तु याद रहे कि "हिन्दू ला" वाली समांशिता की मान्यता उपरोक्त मुस्लिम समुदायों पर लागू नहीं है। इन लोगों में 'जन्म-स्वत्ववाद' भी नहीं अंगीकार किया

१. "हरिलाल ब० नागर" (१८९७) २१, बम्बई ३८।
"अली ब० शावजी" (१८९७) २१, बम्बई ८५।
२. "अली ब० शावजी" (१८९७) २१, बम्बई ८५।
३. "मोहम्मद सिद्दीक ब० हाजी अहमद" (१८८६) १०, बम्बई १।

जाता है।[१] खोजा अपनी समग्र सम्पत्ति का प्ररिक्थदान कर सकता है। इन लोगों को इस गैर मुसलमानी रिवाज से विमुक्ति प्रदान करने या अन्य उद्देश्यों के लिए अंग्रेजी शासन काल मे दो अधिनियम पारित किये गये। सन् १९२० मे "कच्छी मेमन ऐक्ट" पारित हुआ, जिसमें सन् १९२३ मे सशोधन किया गया और यह विहित कर दिया गया कि हिन्दुस्तान निवासी कोई वयस्क कच्छी मेमन निर्धारित अधिकारी के सामने निर्धारित प्रपत्र में यह घोषित कर सकता है कि मैं इस अधिनियम का लाभ उठाने का इच्छुक हूँ। ऐसी घोषणा करने के बाद वह अपने अवयस्क वंशजों के समेत दाय-प्राप्ति तथा उत्तराधकार वाले मामलों में "मुहम्मेडन ला" से प्रशासित होने लगता है। इसी उद्देश्य से इससे भी अधिक व्यापक अधिनियम सन् १९३७ मे पारित किया गया जिसका नाम है "शरियत ऐक्ट"। इसने यह विहित किया कि रिवाजी कानून के बजाय मुसलमानों पर "मुहम्मेडन ला" प्रयोज्य हुआ करेगा।

जैन धर्म प्राय: १०,००० वर्ष प्राचीन बताया जाता है। इनके अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी बुद्धावतार के समकालीन माने जाते हैं। वेदों के अनादि प्राधिकार को ये लोग मान्यता नही देते। ये लोग भारतवर्ष भर मे बिखरे हुए हैं, तथापि दक्षिण भारत में और कर्णाटक, गुजरात, मेवाड़ तथा मारवाड़ मे इनकी सख्या अधिक मिलती है। वर्णाश्रम धर्म को ये स्वीकार करते है और इनमे से अधिकांश के पूर्वज अतीत में वैश्य वण के थे। जब तक कोई विरोधी रीति-रिवाज संतोषप्रद रूप से प्रमाणित न हो, तब तक इनके सकल मामलों मे सामान्य हिन्दू ला का प्रयोग किया जाता है।[२] हिन्दुओं से इनका तादात्म्य इतना अभिन्न है कि सन् १९३७ वाला "हिन्दू वीमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" तथा सन् १९५६ वाला "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" दोनों बिना असमजस या सकोच के जैनियों पर लागू किये जा रहे हैं। उसी भाँति "हिन्दू एडाप्शन ऐण्ड मेन्टीनेन्स ऐक्ट" व "हिन्दू मैनारिटी ऐण्ड गार्जियनशिप ऐक्ट" तथा सन् १९५५ वाला "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" ये तीनों जैनियों पर भी प्रयोज्य है।

साधारणतः जैन विधवा मात्र आजीवन स्वामित्व अपने पति की सम्पत्ति में पाती है। किन्तु कई वर्गों में वह पूर्ण स्वामित्व भी विशेष प्रथा के आधार पर पा जाती

१. "जान मो० ब० दातू" (१९१४) ३८, बम्बई ४४९।
"हाजी उसमान ब० हारून" (१९२३) ४७, बम्बई ३७९।
२. "अमवा ब० महदगौदा" (१८९८) २२, बम्बई ४१६।
"पेमराज ब० चंद्र कुअर" (१९४७) ७४, इ० ए० २५४।

हैं ।[1] हिन्दुओं की तरह यद्यपि जैन यह नहीं मानते कि पुत्र के बिना पितर लोग तरते नही, तथापि ससारी कल्याण के निमित्त उनकी तरह वे लोग भी पुत्रीकरण करते है। उनकी कुछ पक्तियों में विधवा बिना मृतक की अनुमति के भी गोद ले सकती है और बिना सपिण्डों की सहमति के भी। किन्तु ये विशेष प्रथाएँ प्रतिष्ठापित करनी पड़ती है। उसी तरह द्विजाति जैनियों में विशेष रिवाज के बिना विवाहित पुरुष को गोद बैठाना वर्जित माना जाता है। हिन्दुओं की तरह सरावगी अग्रवाल जैनियों में अनाथ बालक का पुत्रीकरण नहीं हो सकता, क्योंकि उसको प्रदान करने वाला कोई नहीं होता और बिना प्रदान किये दत्तक ग्रहण परिपूर्ण नहीं माना जाता । इस (उक्त) वर्ग में रिवाज के बल पर दौहित्र तथा भानजे का पुत्रीकरण हो सकता है ।[2] हिन्दुओं की तरह पुत्रीकरण के बाद यदि औरस पुत्र पैदा हो जाय, तो जैनियों में भी दत्तक अपने पालक पिता की सम्पत्ति में केवल चतुर्थांश पाता है ।[3] इन लोगों में दत्तक ग्रहण में कोई धार्मिक क्रिया करना आवश्यक नहीं समझा जाता है। जाति-बिरादरी को प्रीति भोज देना और उनकी उपस्थिति में गोद लेने व देने की क्रिया कर लेना मात्र पर्याप्त समझ लिया जाता है।

(५) शूद्र वर्ग

यद्यपि भारतीय संविधान ने धर्म-निरपेक्ष शासन का निर्माण किया है और यद्यपि सन् १९५५–५६ वाले "हिन्दू कोड" में जाति या वर्ण के भेद-भाव की आमूल अवहेलना की गयी है, तथापि "हिन्दू ला" के आधार धर्मशास्त्रों में, हिन्दू समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते है और इनसे बचे हुए लोगों की शूद्र संज्ञा है। द्विजाति तथा शूद्र का भेद उत्तराधिकार, पुत्रीकरण एवं विवाह के मामलों में व्यक्त होता है, जिसकी चर्चा उक्त विषयों के प्रकरणों में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है। "हिन्दू कोड" के सक्रिय हो जाने के बाद यह भेद तो मात्र एक बौद्धिक रुचि का विषय रह गया है। तथापि चतुर्वर्ण एवं शूद्र वर्ग के सम्बन्ध में निम्नोक्त बातें जान लेना हितकर तथा साहाय्यप्रद होगा ।

१. "शिवसिंह राव ब० मुसम्मात दुखा" (१८७८) ५, इ० ए० ८७ ।
"शंभुनाथ ब० ज्ञानचंद" (१८९४) १६, इलाहबाद ३७९ ।
२. "शिवसिंह राव ब० मुसम्मात दुखा" (१८७८) ५, इ० ए० ८७ ।
"हसन अली ब० नागामल (१८७६) १, इलाहाबाद २८८।
३. "ऋषभ ब० चुन्नीलाल" (१८९२) १६, बम्बई ३४७ ।

(१) आचरण और व्यवसायों के भेद को लेकर प्रायः प्रत्येक सभ्य समाज चार समूहों में विभाज्य होता है, यथा (क) विद्यार्जन, बौद्धिक विकास तथा धार्मिक अनुष्ठानों अथवा तपस्या में सलग्न लोग, (ख) शारीरिक संयम एव शौर्य से मडित योद्धागण एवं विचारशील प्रशासक वर्ग, जिनके ऊपर राष्ट्र की प्रतिरक्षा अवलम्बित होती है, (ग) धनार्जन तथा सम्पन्नता संवर्धन में निरत उद्योगी समूह, (घ) शिल्प तथा कला इत्यादि के द्वारा या अन्य प्रकार की सेवाएँ एव श्रम अर्पण करके उपरोक्त तीन वर्गो की सहायता करने वाला समूह। भगवदगीता के इस वचन ने—"चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म्म विभागशः" (४–१३) वर्णो की रचना को एक प्राकृतिक क्रिया बताने के बाद "गुण कर्म्म विभाग" की यह व्याख्या की है—

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म्मं शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ (१८, ४२–४४)

जन्म के समय ब्राह्मण भी शूद्र होता है। उपनयन संस्कार के बाद वह ब्राह्मण तो बन जाता है किन्तु ब्राह्मणोचित कर्तव्य से विमुख हो जाने पर अपनी जाति से पतित हो जाता है। यथा—

विप्राः शूद्रसमास्तावद् विज्ञेयास्तु विचक्षणैः।
यावद् वेदे न जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्तु तत्परम॥ (शंख)
योऽनधीत्य द्विजो वेदम अन्यत्र कुरते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम आशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु २, १६८)

यद्यपि उपरोक्त तथा अन्य ऐसे ही अनेक स्मृतिवाक्यों ने वर्णोचित कर्तव्यों पर बहुत बल दिया है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से वंश परम्परा ही वर्ण या जाति को मुख्यतः विनिश्चित करती है, अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, तथैव शूद्र का पुत्र शूद्र माना जाता है।

(२) क्या शूद्र लोग दास या गुलाम होते हैं? बम्बई हाई कोर्ट के एक विद्वान् जज सर रैमोण्ड वेस्ट ने यह मत प्रकट कर दिया था—"हिन्दू ला की दृष्टि में शूद्र

लोग दास होते हैं और उनके विवाह उपस्त्रीगमन के सिवा कुछ नहीं होते"।[1] किन्तु यह मत अशुद्ध और तथ्य से विपरीत है। किसी भी स्मृति ने शूद्र को दास नहीं कहा है। उस जाति में दौहित्र और भागिनेय का पुत्रीकरण अवश्य प्रचलित है। अपरंच उनके यहाँ जारज तथा औरस पुत्रों का पिता के दाय में बराबर अंश होता है। किन्तु स्मृतियों ने इन नियमों को प्रशस्त नहीं समझा है।

(३) शूद्र की पहचान क्या है? जिस समुदाय का वर्ण विचाराधीन हो स्वतः उसकी चेतना का पता चलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त विधवा-विवाह की रीति और जारज एव औरस पुत्रों के सापेक्ष अधिकार तथा इसी तरह की प्रथाओं की विद्यमानता वर्ण निर्धारण करने में उपयोगी तथ्य होते है।[2] जनमत तो यह मालूम पड़ता है कि तीन कसौटी लगाकर जाति की परख करनी चाहिए। एक तो जाति की चेतना क्या है, दूसरे, उसमें कौन-सी रीतियाँ प्रचलित हैं, तीसरे, अन्य जातियाँ उस चेतना को स्वीकार करती हैं या नहीं।[3]

(४) किन-किन समुदायों की गणना शूद्रों में होती है? **लिंगायत** समाज के जो लोग दक्षिण महाराष्ट्र और वेलारी मण्डल में बसे हुए हैं, हिन्दुओं की एक शाखा हैं, और वासव नामक एक धार्मिक सुधारक (समय ईसा के लगभग ११०० वर्ष बाद) के अनुयायी है। आर्य-समाज की तरह वे केवल वेदों को मान्यता देते हैं। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) मे वे केवल शिव (महेश) को परमात्मा मानते हैं। शिव के चिह्न लिंगम् की आराधना करने से उनकी संज्ञा लिंगायत पड़ी है। जातिभेद को अस्वीकार करने से जब यह प्रश्न अदालतों में उठा कि उनकी गणना द्विजों में की जाय अथवा शूद्रों में (क्योंकि ये लोग यज्ञोपवीत धारण नहीं करते, फिर भी दीक्षा ग्रहण करते हैं), तो मद्रास हाई कोर्ट ने उनको शूद्र नही माना और बम्बई हाई कोर्ट ने उनकी गणना शूद्रों मे की।[4] **कायस्थ** जाति शूद्र नहीं द्विज है।[5] महाराष्ट्रियों में कुछ वंश

१. **"गोपाल ब० हनुमन्त" ३, बम्बई २७३।**
२. **"महाराज कोल्हापुर ब० सु० ऐयर" (१९२५) ४८, मद्रास १।**
३. **"कल्लप्पा ब० शिवप्पा" (१९३८), बम्बई १३३।**
"सुव्राव ब० राधा" (१९२८) ५२, बम्बई ४९७।
४. **"सोमशेखर ब० महादेव" (१९३०) ५३, मद्रास २९७।**
"फकीर गौडा ब० गंगी" (१८९८) २२, बम्बई २७७।
"फकीर गौडा ब० गंगी" (१९३६), प्रिवी कौंसिल १८।
५. **"राजेन्द्र ब० गोपाल" (१९२८) ७ पटना २४५।**

द्विज, कुछ शूद्र गिने जाते है।[१] **यादव** लोग (अहीर) शूद्र नही अपितु श्री कृष्ण जी के वशज अर्थात् चन्द्रवशी क्षत्रिय हैं। **भाटिया** लोग द्विज, किन्तु **जाट** लोग शूद्र होते हैं।[२] जिस वग का **भूमिहार** कहते है वे ब्राह्मण वर्ण के नही होते।[३] इनकी सख्या बिहार प्रान्त मे अधिक मिलती है। **देशमुख** लोग जो महाराष्ट्र देश मे पाये जाते हैं वेशूद्र समझे जाते है।[४] धारवाड़ मं बसे हुए **पांचाल** गण शूद्र गिने जाते है।[५]

(५) ऊपर कहा गया है कि शूद्र व द्विज के बीच कई मामलों में भेद पाया जाता है। उनके उदाहरण ये हैं—(क) **पुत्रीकरण** में दत्तक को प्रदान करने और उसको ग्रहण करने के सिवा अन्य काई धामिक कृति आवश्यक नहीं होती है। इसलिए कुष्ठरोगी, पांसुला या असती स्त्री भी गोद ले सकती है। शूद्रों में गोत्र नहीं होता। इसलिए किसी भी कुटुम्ब का लड़का गोद लिया जा सकता है। उन लोगों के यहाँ दौहित्र का, भागिनेय या उसके पुत्र का और मौसी के पुत्र का पुत्रीकरण भी विधि-सम्मत होता है। व्य० मयूख के अधिक्षेत्र में विवाहित पुरुष भी गोद बैठ सकता है, किन्तु दत्तकचन्द्रिका के अधिक्षेत्र मे ऐसा (विवाहित पुरुष का) पुत्रीकरण अवैध माना जाता है। द्वितीय पुत्रीकरण उनके यहाँ भी वर्जित है, किन्तु यदि पहला दत्तक मर जाय तो उस दशा मे वह अनुज्ञात हो जाता है। पुत्रीकरणोपरान्त पैदा हुआ औरस पुत्र विभाजन के अवसर पर दत्तक के बराबर अश पाने का अधिकारी हो जाता है।

(ख) **विवाह** जाति-बिरादरी के भीतर ही होना चाहिए, जैसे कि द्विजातियों मे होता है। उनके यहाँ भी अनुलोम विवाह अधिकृत और प्रतिलोम निषिद्ध माना जाता है। विवाह के विषय में अदालत यह पूव-धारणा कर लेती है कि वह अनुमोदित प्रकार का था। शूद्र का विवाह भी द्विजातियों की तरह एक आवश्यक संस्कार होता है।

(ग) **दायप्राप्ति** तथा **बटवारे** और **प्रतिपालन** सम्बन्धी शूद्र वर्ग की विशेषताएँ उक्त शीर्षकों में प्रज्ञात करायी जा चुकी हैं।

"ईश्वरप्रसाद ब० राय हरिप्रसाद" (१९२६) ६, पटना ५०६।
"तुलसी ब० बिहारी" १२, इलाहाबाद ३२८।
१. "सुब्राव ब० राधा" (१९२८) ५२, बम्बई ४९७।
२. "आया ब० थारी" ७४, पी० ऐल० आर० (१९१३)।
३. "सीतादेवी ब० गोपाल" (१९२८), पी० ३७५।
४. "जीजी बाई जाबू", ३३ एन०, २७४।
५. कलप्पा ब० शिवप्पा", ३९, बंबई ला रि० १२८९।

खण्ड २

प्रकरण १

सन् १९५५-५६ वाली हिन्दू संहिता (हिन्दू कोड)

इस "कोड" में अभी चार ही अधिनियम सम्मिलित है, जिनमे सबसे लघुकाय है सन् ५६ का ३२वाँ कानून और उसकी सज्ञा है "हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम।" आइए "कोड" का मनन इसी लघु अधिनियम से आरम्भ किया जाय। कोड के अन्य तीन अधिनियम हैं सन् १९५५ का "हिन्दू मैरेज ऐक्ट", तथा सन् १९५६ के "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेन्टीनेन्स ऐक्ट" व "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट।"

हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम, १९५६

(१९५६ का ३२वाँ)

(हिन्दुओं में अवयस्कता और संरक्षकता से सम्बद्ध विधि के कतिपय भागों को संशोधित और संहितावद्ध करने के लिए अधिनियम)

संक्षिप्त नाम और विस्तार

१. (१) यह अधिनियम हिन्दू अवयस्कता और सरक्षकता अधिनियम, १९५६ कहलाया जा सकेगा।

(२) इसका विस्तार जम्मू और कश्मीर राज्य के सिवाय समस्त भारत पर है और जिन राज्य क्षेत्रों पर इस अधिनियम का विस्तार है, उन राज्य क्षेत्रों के अधिवासी उन हिन्दुओं पर भी यह लागू है जो कि उक्त राज्यक्षेत्र के बाहर हैं।

यहअधिनियम १८९० के अधिनियम ८ का अनुपूरक होगा

२. इस अधिनियम के उपवन्ध एतत्पश्चात् अभिव्यक्त रूप से यथा उपवन्धित के सिवाय संरक्षक तथा प्रतिपालित अधिनियम, १८९० (१८९० का ८) के परिवर्धन में, न कि अल्पीकरण में, होंगे।

इसके लिए सन् १८९० वाला "गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" पढ़ लेना चाहिए, क्योंकि "हिन्दू अ० और संरक्षता अ०" ने उसका निराकरण नहीं किया है, अपितु अपनी प्रस्तावना में स्पष्टतया कह दिया है कि सम्वद्ध विधि के मात्र कतिपय भागों को संशोधित एवं संहितावद्ध कर देना अभीप्सित है। सन् १८९० वाले अधिनियम ने सर्व

नियमों को संपिंडित करके संरक्षित व संरक्षक के समस्त हकों तथा उपचारों को निर्धारित कर दिया है। उसमें संरक्षक की नियुक्ति की प्रक्रिया का और उन विचारों का विस्तृत उल्लेख है, जिन पर अदालत को संरक्षक नियुक्त करने में ध्यान देना चाहिए। उसके उपबन्ध तभी लागू होते हैं जब अदालती आदेश से संरक्षक की नियुक्ति की जाय। "हिन्दू ला" में जो व्यक्ति स्वाभाविक तथा इच्छापत्रीय अभिभावक कहलाते हैं उनको व उनके अधिकारों को उसने अछूता छोड़ दिया है। उसके सारे उपबन्धों की आधारशिला यह सर्वोच्च विचार रखा गया है कि अवयस्क के कल्याण को ही सर्वोपरिता दातव्य होती है। परन्तु जिन मामलों के लिए नूतन अधिनियम में उपबन्ध बन गये हैं, उनके विषय में सारे प्राचीन कानून व रीतियाँ या रूढ़ियाँ निष्प्रभावित मानी जायेंगी।

नूतन अधिनियम देश में ता० २५ अगस्त १९५६ से प्रयोज्य हो गया था, क्योंकि राष्ट्रपति ने उसी दिन उसको अपनी अनुमति प्रदान की थी। उसने अधिनियमित रूपेण उन लोगों को घोषित कर दिया है जो एक हिन्दू अवयस्क के तन-धन के प्राकृतिक एवं इच्छापत्रीय अभिभावक बनने के अधिकारी हैं। उसने अभिभावकों के ऊपर प्रतिबन्ध भी लगा दिये है।

अधिनियम का लागू होना

३. (१) यह अधिनियम—

(क) वीर शैव, लिंगायत या ब्राह्म, प्रार्थना या आर्य समाज के अनुयायियों के सहित ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि हिन्दू धर्म के रूपों या विकासों में से किसी के नाते धर्म से हिन्दू है,

(ख) ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि धर्म से बौद्ध, जैन या सिक्ख है, और

(ग) जब तक कि उन राज्य क्षेत्रों में जिन पर कि इस अधिनियम का विस्तार है, अधिवासित ऐसे किसी अन्य व्यक्ति के बारे में, जो कि धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी नहीं है, यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो वह ऐसी बात के बारे में, जिसके लिए कि इसमें व्यवस्था की गयी है, हिन्दू विधि द्वारा या उस विधि की भाग रूप किसी रूढ़ि या प्रथा द्वारा शासित नहीं होता, ऐसे अन्य व्यक्ति पर भी लागू है।

व्याख्या—निम्नगत व्यक्ति, अर्थात्—

(क) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके दोनों जनक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हों,

(ख) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके जनकों में से एक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है और जिसका लालन-पालन उस आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के सदस्य के रूप में किया गया है जिसका कि ऐसा जनक है या था, और

(ग) ऐसा कोई व्यक्ति, जिसने हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख धर्म ग्रहण किया है, या पुर्नग्रहण किया है,
यथास्थिति धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खण्ड (२५) के अर्थों के अन्दर वाली किसी अनुसूचित आदिम जाति के सदस्यों पर तब तक लागू न होगी जब तक कि केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निर्दिष्ट न कर दे।

(३) इस अधिनियम के किसी प्रभाग में हिन्दू पद का ऐसे अर्थ लगाया जायगा मानो कि इसके अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति है जो कि यद्यपि धर्म से हिन्दू नहीं है तथापि ऐसा व्यक्ति है जिस पर कि यह अधिनियम इस धारा मे अन्तर्विष्ट उपबन्धों के बल से लागू होता है।

यह अधिनियम भारतीय हिन्दुओं के ऊपर लागू है। हिन्दू कौन है? इसकी व्याख्या खण्ड (१) के आरम्भ में की गयी है। इसके उत्तर में सन १९५५–५६ तक जो कानून तैयार हो चुका था उसी को "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" तथा "हि० अ० और सं० अ०" में सपिण्डित कर दिया गया है। कलकत्ता हाई कोर्ट की उस नजीर का एक अंश उद्धरणीय है जो प्रिवी कौंसिल मे अनुमोदित हुई थी। वह अश यह है—"हिन्दू धर्म की उदारता और लचीलापन देखकर विस्मय होता है। धार्मिक विद्या, सहिष्णुता, निजी आराधना की अपरिमित स्वतंत्रता, अनपवर्जनता उसकी विशेषताएँ हैं। धार्मिक की अपेक्षा उसके सामाजिक नियम कठोरतर है। अगणित जाति-प्रजातियों में अनेकों पद्धतियाँ प्रचलित पायी जाती है।" इसीलिए "हिन्दू" समाहित करता है जैनियों, बौद्धों और सिक्खों को भी। बल्कि यह कहना अधिक शुद्ध होगा कि जो कोई न ईसाई है, न मुस्लिम है, न यहूदी है, न पारसी, वह हिन्दू है।

व्याख्या के प्रथम दो चरणों में, वह औरस अथवा जारज सन्तान भी "हिन्दू" के अन्तर्गत मान ली गयी है, जिसका जनक या जननी, दो में से एक भी हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख रहा हो। उसके तीसरे चरण ने इस नजीरी मत को कानून का रुतबा

दे दिया है कि शुद्धि के अनन्तर एक व्यक्ति हिन्दू माना जायगा, वह बीच में चाहे जो धर्म ग्रहण कर चुका हो।

उपधारा (२) में भारतीय संविधान का उल्लेख है। संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खण्ड २५ में अनुसूचित कबीलों की परिभाषा लिखी हुई है और अनुच्छेद ३४२ में उन कबीलों की अधिसूचना छापने की विधि लिखी हुई है। इस विधि का अनुवर्तन सन् १९५० व १९५१ में हो चुका है। इस उपधारा के अनुसार उन आदिम कबीलों पर न "हिन्दू विवाह अधिनियम" के उपबन्ध और न "हिन्दू अ० और स० अ०" के उपबन्ध तब तक लागू किये जायेंगे जब तक उनको लागू करने का आदेश केन्द्रीय सरकार "गजट" में न प्रकाशित करे। उपधारा (३) मे यह स्पष्टतः जताने का प्रयास किया गया है कि "हिन्दू" की व्याख्या अपवर्जी और वहिष्कारी रीति से नहीं, वरंच व्यापक तथा समाहित शील रीति से करनी चाहिए।

परिभाषाएँ

४. इस अधिनियम में—

(१) "अवयस्क" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी अठारह वर्ष की आयु पूरी नही हुई है,

(२) "सरक्षक" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जो अवयस्क के शरीर की या उसकी सम्पत्ति की या उसके शरीर और सम्पत्ति दोनों की देखरेख कर रहा है, और इसके अन्तर्गत—

(क) प्राकृतिक सरक्षक है,

(ख) अवयस्क के पिता या माता के इच्छापत्र द्वारा नियुक्त संरक्षक है,

(ग) न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित सरक्षक है, और

(घ) किसी प्रतिपालक अधिकरण से सम्बन्द्ध किसी अधिनियमिति के द्वारा या अधीन इस रूप मे कार्य करने के लिए सशक्त व्यक्ति है,

(३) "प्राकृतिक" सरक्षक से धारा ६ मे वर्णित संरक्षकों में से कोई अभिप्रेत है।

इस धारा मे परिभाषाएँ वहुत गिनी जा चुकी हैं और पारिभाषिक शब्द इतने लोकप्रचलित है कि उनका आशय समझाना आवश्यक नहीं लगता। इसी लिए यह वाक्य—"जब तक कि प्रसग से अन्यथा अपेक्षित न हो" इस धारा में उल्लिखित नहीं है, यद्यपि अन्य अधिनियमों की परिभाषात्मक धारा में वह सामान्यतः संलग्न रहता है। फिर भी निर्वचन का यह नियम सर्वथा स्मरणीय है कि पारिभाषिक शब्दों का ऐसा अर्थ लगाना चाहिए जो संदर्भ या विषय के प्रतिकूल या असंगत न पड़े।

अधिनियम का सर्वोपरि प्रभाव

५. इस अधिनियम में अन्यथा व्यक्त रूप से उपबन्धित के सिवाय—

(क) इस अधिनियम के प्रारम्भ से अव्यवहित रूपेण पूर्व प्रवृत्त हिन्दू विधि का कोई मूलपाठ, नियम या निर्वचन या उस विधि की भागभूत कोई रूढि या प्रथा किसी ऐसे मामले के बारे में, जिसके लिए इस अधिनियम में उपबन्ध बनाया गया है, प्रभावी नहीं होगी,

(ख) इस अधिनियम के प्रारम्भ से अव्यवहित रूपेण पूर्व प्रवृत्त कोई अन्य विधि, जहाँ तक कि वह इस अधिनियम मे अन्तर्विष्ट उपबन्धों में किमी से असंगत है, प्रभावी नही होगी।

इस धारा ने २५ अगस्त सन् १९५६ से "हि० अ० और स० अधिनियम" को अभिभावी प्रभाव दे दिया है। फलतः जिन मामलों के लिए इस अधिनियम के भीतर उपबन्ध हो, उन पर उस तारीख से न तो कोई शास्त्रीय वाक्य या उसका निर्वचन लागू होगा, न कोई ऐसी प्रथा या रूढि, जिसमें कानून की शक्ति आ चुकी हो। इस अधिनियम ने पूर्ववर्ती नजीरी और परिनियत कानून को भी उन मामलों के विषय में निष्प्रभावित कर दिया है, चाहे उस कानून को प्रान्तीय सरकार ने रचा हो, या केन्द्रीय सरकार ने। किन्तु याद रहे कि यह अधिनियम सन् १८९० वाले "गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" को अपना अनुपूरक मानता है।

हिन्दू अवयस्क के प्राकृतिक संरक्षक

६. हिन्दू अवयस्क के शरीर और हिन्दू अवयस्क की अविभक्त पारिवारिक सम्पत्ति में उसके अविभक्त हित का अपवर्जन करके सम्पत्ति की बावत वैसे अवयस्क के प्राकृतिक संरक्षक—

(क) लड़के या अविवाहित लड़की की अवस्था में पिता और तत्पश्चात् माता है परन्तु जो अवयस्क पूरे पाँच वर्ष की आयु का नहीं हो चुका हो, वह मामूली तौर से माता की अभिरक्षा में रहेगा,

(ख) जारज लड़के या जारज अविवाहित लड़की की अवस्था में माता और तत्पश्चात् पिता है,

(ग) विवाहित लड़की की अवस्था में उसका पति है, परन्तु यदि व्यक्ति—

(क) हिन्दू नहीं रहा है, या

(ख) यदि वह वानप्रस्थ या यति या सन्यासी बनकर संसार को पूर्ण रूपेण और अन्तिम रूपेण त्याग चुका है,

तो वह व्यक्ति अवयस्क के प्राकृतिक सरक्षक के रूप में इस धारा के उपबन्धों के अधीन कार्य करने के लिए हकदार नहीं होगा।

व्याख्या—इस धारा में 'पिता' और 'माता' पद के अन्तर्गत सौतेला पिता और सौतेली माता नहीं है।

हिन्दू अवयस्क के प्राकृतिक अभिभावक कौन होते हैं, इस प्रश्न पर जितना कानून पहले निर्मित हो चुका था, उसमें इस अधिनियम ने कोई काट-छाँट नहीं की है। इस धारा ने स्पष्टतया विहित कर दिया है कि पाँच वर्ष की आयु तक बालक या बालिका का अभिरक्षक पिता नहीं माता रहेगी। क्या इसका तात्पर्य यह है कि छठे वर्ष में प्रवेश करने पर माता की अभिरक्षा आत्मगत रूप से समाप्त होकर पिता के हाथ लग जायगी? नहीं, क्योंकि यदि विधानमण्डल का ध्येय यही होता, तो धारा के भीतर ऐसी अभिव्यक्ति मिलती। मालूम यह पड़ता है कि हर अवस्था में अदालत को अवयस्क के हित एवं कल्याण का ही सर्वोपरि ध्यान बनाये रखना चाहिए। हर मामले के अपने विलक्षण तथ्य और अवस्थितियाँ होती हैं। अदालत को उनका भी विचार करना चाहिए। उसके पथ प्रदर्शनार्थ सन् १८९० के "गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" की धारा (१७) की दूसरी व तीसरी उपधाराओं में इस सम्बन्ध में कतिपय नियम लिखे मिलेंगे। यदि कल्याणार्थ आवश्यक प्रतीत हो तो अभिरक्षा वाले अपने व्यक्तिगत पवित्र दायित्व को पिता या माता हस्तान्तरित भी कर सकते है। सन् १९१४ की "मिसेज ऐनी बेसेण्ट व० नारायन्यह" (४१, इं० ए० ३१४) नामक विख्यात प्रिवी कौंसिल की नजीर में यह निर्णीत हुआ था कि ऐसा हस्तान्तरण किया जा सकता है और विखंडित भी किया जा सकता है और यदि अदालत को उचित प्रतीत हो, तो अदालत हस्तान्तरण के विखंडन को रोक भी सकती है।

दत्तक पुत्र की प्राकृतिक संरक्षकता

७. जो दत्तक पुत्र अवयस्क है, दत्तक ग्रहण पर उसकी प्राकृतिक संरक्षकता दत्तक-ग्रहीता पिता और तत्पश्चात् दत्तक ग्रहीत्री माता में निहित हो जाती है।

इस धारा में "दत्तक पुत्र" की चर्चा तो है, किन्तु "दत्तक पुत्री" की नहीं। कारण यह है कि "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" जिसने प्राचीन "हिन्दू ला" के विपरीत बालिका के पुत्रीकरण को अनुज्ञात कर दिया है, "हिन्दू अ० और सं० अधिनियम" के क्रियाशील हो जाने के पश्चात् पारित हुआ था। प्रश्न यह उठता है कि अब दत्तक पुत्री का प्राकृतिक संरक्षक कौन समझा जाय? "हिन्दू ए० ऐण्ड मे० ऐक्ट" की धारा (१२) ने धर्मशास्त्र का अनुसरण करके विहित किया है कि पुत्रीकरण

के अनन्तर "शिशु" की अपने जनक-कुटुम्ब के साथ सारी ग्रन्थियों का विघटन हो जाता है और साथ ही साथ वे पालक कुटुम्ब के साथ जुड़ जाती हैं। इस नियम को देखकर प्रतीत यह होता है कि दत्तक-पुत्री की भी प्राकृतिक संरक्षकता, अवयस्कता के स्थिति काल में, उसके पालक-पिता व पालक-माता के पास पहुँच जाती है।

प्राकृतिक संरक्षक की शक्तियां

८. (१) हिन्दू अवयस्क का प्राकृतिक संरक्षक इस धारा के उपबन्धों के अधीन रहते हुए ऐसे समस्त कार्यों को करने के लिए शक्ति रखता है, जो कि अवयस्क के फायदे के लिए या उस अवयस्क की सम्पदा के आपन, सरक्षा या फायदे के लिए आवश्यक, युक्तियुक्त और उचित हैं, किन्तु संरक्षक व्यक्तिगत प्रसंविदा के द्वारा किसी हालत मे भी अवयस्क को बाध्य नहीं कर सकता।

(२) प्राकृतिक संरक्षक न्यायालय की पूर्वतन अनुज्ञा के बिना—

(क) अवयस्क की स्थावर सम्पत्ति के किसी भाग को बन्धक या भारित या विक्रय, दान, विनिमय द्वारा या अन्यथा हस्तान्तरित नही करेगा, या

(ख) ऐसी सम्पत्ति के किसी भाग को पाँच वर्षो से अधिक होने वाली अवधि के लिए या जिस तारीख को अवयस्क वयस्कता में प्रवेश करेगा उस तारीख से एक वर्ष से अधिक होने वाली अवधि के लिए पट्टे पर नही देगा।

(३) प्राकृतिक संरक्षक ने उपधारा (१) या उपधारा (२) के उल्लघन में स्थावर सम्पत्ति का जो कोई व्ययन किया है, वह उस अवयस्क की या उसके अधीन दावा रखने वाले किसी व्यक्ति की प्रेरणा पर शून्य करणीय होगा।

(४) कोई न्यायालय प्राकृतिक संरक्षक को उपधारा (२) मे वर्णित कार्यों में से किसी को भी करने के लिए अनुज्ञा आवश्यकता की अवस्था या अवयस्क के स्पष्ट प्रलाभ के लिए देने के सिवाय न देगा।

(५) संरक्षक और प्रतिपालित अधिनियम, १८९० (१८९० का ८) उपधारा (२) के अधीन न्यायालय की अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के लिए आवेदन को और उसके बारे में सब सूरतों में ऐसे लागू होगा, मानो कि यह उस अधिनियम की धारा २९ के अधीन न्यायालय की अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के लिए आवेदन हो, और विशिष्टत:—

(क) आवेदन से संसक्त कार्यवाहियों की बाबत यह समझा जायगा कि वे उस अधिनियम के अधीन उसकी धारा ४ क के अर्थ में कार्यवाहियाँ हैं,

(ख) न्यायालय उस अधिनियम की धारा ३१ की उपधाराओं (२), (३) और (४) में उल्लिखित प्रक्रिया का अनुपालन करेगा और शक्तियों से युक्त होगा,

(ग) प्राकृतिक संरक्षक को उन कार्यो में से किसी को, जो कि इस धारा की उपधारा (२) में वर्णित है, करने के लिए अनुज्ञा देने से इन्कार करने वाले न्यायालय के आदेश की अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें कि साधारणतः उस न्यायालय के विनिश्चयों की अपील होती है।

(६) इस धारा मे, 'न्यायालय' से वह नगर-व्यवहार न्यायालय या जिला न्यायालय या सरक्षक और प्रतिपालित अधिनियम, १८९० की धारा ४ क के अधीन सशक्त न्यायालय अभिप्रेत है, जिसके क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं में वह स्थावर सम्पत्ति स्थित है, जिसके बारे मे कि आवेदन किया गया है और जहाँ कि स्थावर सम्पत्ति किसी ऐसे एक से अधिक न्यायालय के क्षेत्राधिकार में स्थित है, वहाँ वह न्यायालय अभिप्रेत है, जिसकी स्थानीय सीमाओं के क्षेत्राधिकार मे उस सम्पत्ति का कोई प्रभाग स्थित है।

इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व प्राकृतिक सरक्षक के वही अधिकार होते थे, जो प्रिवी कौंसिल ने "हनुमान प्रसाद ब० मु० बबुई" (६ मूर्स, इं० एपील्स ३९३) में क्रमवद्ध रूप से निर्धारित कर दिये है। वही नियम इस धारा में निगमित कर लिये गये हैं। अन्तर यह है कि पहले प्राकृतिक सरक्षक को नही, केवल अदालती संरक्षक को ही अदालत की अनुमति लेनी पड़ती थी। अब प्राकृतिक सरक्षक के लिए भी अदालत की आज्ञा लेना अनिवार्य कर दिया गया है।

वसीयती संरक्षक और उनकी शक्तियां

९. (१) अपने अवयस्क औरस बालकों के प्राकृतिक सरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए हकदार हिन्दू पिता उनमें से किसी के लिए भी स्वय अवयस्क के शरीर के लिए या अवयस्क की धारा १२ मे निर्दिष्ट अविभक्त हित से भिन्न सम्पत्ति के लिए या दोनों के लिए इच्छापत्र द्वारा सरक्षक नियुक्त कर सकेगा।

(२) यदि माता से पूर्व पिता मर जाता है तो उपधारा (१) के अधीन की गयी नियुक्ति प्रभावी नहीं होती, किन्तु यदि माता इच्छापत्र द्वारा किसी व्यक्ति को संरक्षक नियुक्त किये बिना मर जाती है तो वह पुनः नवीभूत हो जायेगी।

(३) अपने अवयस्क औरस बालकों के प्राकृतिक संरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए हकदार हिन्दू विधवा और वह हिन्दू माता जो कि अपनी अवयस्क औरस सन्तान के प्राकृतिक संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए इस तथ्य के कारण हकदार है कि पिता प्राकृतिक सरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए गैर हकदार हो गया है, स्वय अवयस्क के शरीर के लिए या अवयस्क की (धारा १२ में निर्दिष्ट अविभक्त हित से भिन्न) सम्पत्ति के लिए या दोनों के लिए उन बालकों में से किसी के लिए इच्छापत्र द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकेगी।

(४) अपने अवयस्क जारज बालकों के प्राकृतिक संरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए हकदार हिन्दू माता स्वयं अवयस्क के शरीर के या अवयस्क की सम्पत्ति के लिए या दोनों के लिए उनमें से किसी के लिए इच्छापत्र द्वारा संरक्षक नियुक्त कर सकेगी।

(५) इच्छापत्र द्वारा ऐसे नियुक्त किया गया संरक्षक यथास्थिति अवयस्क के पिता या माता की मृत्यु के पश्चात् अवयस्क के सरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए और इस अधिनियम के अधीन प्राकृतिक संरक्षक के समस्त अधिकारों को, ऐसे विस्तार तक और ऐसे निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए यदि कोई हो, जैसे कि इस अधिनियम और इच्छापत्र में उल्लिखित हैं, प्रयोग करने के लिए अधिकारवान् होगा।

(६) इच्छापत्र द्वारा ऐसे नियुक्त किये गये संरक्षक के अधिकार उस सूरत में, जिसमें कि अवयस्क बालिका है, उसके विवाह होने पर खत्म हो जायेंगे।

ज्ञातव्य है कि इस अधिनियम के क्रियाशील हो जाने के अनन्तर पिता को इच्छा-पत्र में संरक्षक नियुक्त करने के मिस अवयस्क की माता को संरक्षकता के हक से वंचित कर देने का अधिकार नहीं रह गया है। क्योंकि यद्यपि पिता को वसीयती संरक्षक नियुक्त करने का अखण्ड अधिकार इस धारा की (१) उपधारा ने दे दिया है, तथापि इस धारा की उपधारा (४) में तथा धारा (६) में यह स्पष्ट रूप से विहित कर दिया गया है कि पिता के उपरान्त माता को सरक्षकता का हक होता है, एव माता को भी वसीयती सरक्षक नियुक्त करने का अधिकार है। कानून यह है कि कोई व्यक्ति अपने परिनियत हक से वंचित नहीं किया जा सकता है। इस धारा में माता के वसी-यती अभिभावक नियुक्त करने के अधिकार पर बल दिया गया है। इसकी उपधारा (५) महत्वपूर्ण है। जैसे प्राकृतिक संरक्षक के ऊपर नियत्रण रखने के निमित्त संक्रमण के विषय में धारा ८(२) द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं, वैसे ही इस उपधारा ने

वसीयती संरक्षक के अधिकार परिसीमित करके यह विहित कर दिया है—"ऐसे विस्तार तक और ऐसे निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए यदि कोई हो, जैसे कि इस अधिनियम और इच्छापत्र मे उल्लिखित है, प्रयोग करने के लिए अधिकारवान् होगा"। अर्थात् वसीयती अभिभावक के लिए भी अदालत की पूर्वतन अनुज्ञा प्राप्त कर लेना अनिवार्य होता है।

संपत्ति के संरक्षक के रूप में अवयस्क की असमर्थता

१०. अवयस्क किसी अवयस्क की सम्पत्ति के संरक्षक के तौर पर कार्य करने के लिए अक्षम होगा।

ज्ञातव्य है कि अवयस्क की अक्षमता दूसरे अवयस्क की सम्पत्ति की संरक्षकता तक परिसीमित की गयी है। अर्थात् एक अवयस्क दूसरे अवयस्क के तन का अभिरक्षण करने के लिए अक्षम नहीं होता है। वह अपनी सन्तान तथा पत्नी के तन का अभिरक्षक वन सकता है। वह, जैसा कि कहा जा चुका है, संयुक्त कुटुम्ब में प्रभु या मैनेजर के पद पर भी आसीन हो सकता है। सयुक्त कुटुम्ब के मैनेजर की हैसियत से वह अविभक्त सम्पत्ति में अवयस्क समांशी के अश की सरक्षकता भी कर सकता है।

११. इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् कोई व्यक्ति इस आधार पर ही कि वह अवयस्क का वास्तविक संरक्षक है, हिन्दू अवयस्क की सम्पत्ति का व्ययन करने के लिए या उससे संव्यवहार करने के लिए हकदार नहीं होगा।

वास्तविक संरक्षक को अग्रेजी में "डे फैक्टो गार्जियन" कहते हैं। अवयस्क की सम्पत्ति के साथ गोलमाल करने के प्रलोभन का संवरण करना इस श्रेणी के अभिभावक के लिए कष्टसाध्य होता है। अतः यद्यपि प्राचीन कानून में "हनुमान प्रसाद ब० मु० बबुई" वाली नजीर के आधार पर एक वास्तविक संरक्षक के अधिकार उतने ही विस्तृत थे, जितने कि एक प्राकृतिक सरक्षक के, तथापि उन अधिकारों को समाप्त कर देने में ही कल्याण समझा गया। प्राचीन नियम की उपादेयता और जोखिमों का सूक्ष्म विचार फेडरल कोर्ट ने सन् १९४९ में जिस नजीर में किया था उसका नाम है "कोण्डामूडी ब० मैनेनी" ११, फेडरल कोर्ट रिपोर्ट ६५। इस धारा का परिणाम क्या है? इसके दो उत्तर हो सकते है। एक तो, जैसा ऊपर कहा गया है, यह कि "वास्तविक सरक्षक" के अधिकार समाप्त कर दिये गये है। अर्थात्—"वास्तविक संरक्षक" के पद का उत्सादन कर दिया गया है। दूसरे, यह कि यदि विधानमण्डल का मन्तव्य उत्सादन कर देने का था, तो इस धारा मेंशब्द लिखे न मिलते—"इस आधार पर ही कि वह अवयस्क का वास्तविक सरक्षक है।" इन शब्दों से यह आशय ध्वनित होता है कि वह अन्य आधार पर अवयस्क की सम्पत्ति का व्ययन करने के लिए अधिकृत है।

अर्थात् यदि हस्तान्तरग्राही यह प्रमाण दे कि सक्रमण अवयस्क की आवश्यकताओं के निमित्त अथवा उसकी सम्पदा के कल्याणार्थ किया गया था, तो ऐसे सक्रमण को निषिद्ध नही मानना चाहिए। यद्यपि सीमान्त टिप्पणी पहले उत्तर का समर्थन करती है, तथापि ऐसी टिप्पणी धारा के आशय को नियन्त्रित या सीमित नही कर सकती।

१२. जहाँ कि किसी अवयस्क का अविभक्त हित अविभक्त परिवार सम्पत्ति में है और वह सम्पत्ति परिवार के अविभक्त वयस्क सदस्य के प्रबन्धाधीन है, तो ऐसे अविभक्त हित के बारे में अवयस्क के लिए कोई सरक्षक नियुक्त नहीं किया जायगा;

परन्तु इस धारा में की किसी बात से यह न समझा जायगा कि वह ऐसे हित के बारे में संरक्षक नियुक्त करने के लिए उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को प्रभावित करती है।

इस विषय के ऊपर जो नजीरी कानून बन चुका था उसी को इस धारा ने मूर्तिमान कर दिया है। वह कानून प्रकरण (१७) में बताया जा चुका है। समांशिता वाली सम्पत्ति के भीतर, मिताक्षरा के अनुसार, किसी भी सदस्य का हित निश्चित और निर्धारित नहीं रहता है। यही इस धारा वाले नियम का मूल कारण है। यदि सकल समांशीगण अवयस्क हों, तो उस दशा में, मात्र उस काल पर्यन्त के लिए जब तक उनमें सबसे ज्येष्ठ समांशी वयस्कता प्राप्त न करे, अदालत सम्पत्ति का अभिभावक नियुक्त कर सकती है। जब सबसे ज्येष्ठ समांशी वयस्क हो चुके तब, संयुक्त कौटुम्बिक सम्पत्ति उसको सौप देने के लिए अदालत बद्ध हो जाती है। धारा में स्पष्ट रूप से हाई कोर्ट के अन्तर्भूत अधिक्षेत्र (इन्हेरेण्ट ज्यूरिस्डिक्शन) को वैसा ही छोड़ दिया गया है।

१३. (१) किसी न्यायालय द्वारा किसी हिन्दू अवयस्क के सरक्षक के तौर पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति या घोषणा करने में अवयस्क के कल्याण को ही सर्वोपरिता दी जायगी।

(२) यदि न्यायालय की किसी व्यक्ति की बाबत यह राय है कि उसकी संरक्षकता अवयस्क के लिए कल्याणकर नही होगी, तो वह इस अधिनियम या हिन्दुओं में विवाहार्थ सरक्षक सम्बन्धी किसी विधि के उपबन्धों के बल से ही संरक्षकता करने के लिए हकदार न हो जायगा।

"गार्जियन ऐण्ड वार्ड्स ऐक्ट" की धारा (१७) ने जिस सिद्धान्त, यानी "अवयस्क का कल्याण" पर बल दिया था, उसी को इस धारा ने सर्वोपरि महत्व प्रदान किया है।

प्रकरण २

हिन्दू-संहिता (हिन्दू कोड)

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६

(१९५६ का ३०वाँ)

(हिन्दुओं में निर्वसीयती उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि का सशोधन और समेकन करने के लिए अधिनियम)

अध्याय १

संक्षिप्त नाम और विस्तार

१. (१) यह अधिनियम हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६ कहलाया जा सकेगा।

(२) इसका विस्तार जम्मू और कश्मीर राज्य के सिवाय समस्त भारत पर है।

अधिनियम का लागू होना

२. (१) यह अधिनियम—

(क) वीरशैव, लिंगायत, या ब्राह्म, प्रार्थना या आर्य समाज के अनुयायी के सहित ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि हिन्दू धर्म के रूपों या विकासों में से किसी के नाते धर्म से हिन्दू है,

(ख) ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि धर्म से बौद्ध, जैन या सिक्ख है और

(ग) जब तक कि ऐसे किसी अन्य व्यक्ति के बारे में जो कि धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी नहीं है, यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो वह ऐसी किसी बात के बारे में जिसके लिए कि इसमें व्यवस्था की गयी है, हिन्दू विधि द्वारा या उस विधि की भाग रूप किसी रूढि या प्रथा द्वारा शासित न होता ऐसे अन्य व्यक्ति पर भी लागू है।

व्याख्या—निम्न व्यक्ति, अर्थात—

(क) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके दोनों जनक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हों,

(ख) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके जनकों में से एक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है और जिसका लालन-पालन उस

आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के सदस्य के रूप में किया गया है जिसका कि ऐसा जनक है या था, और

(ग) ऐसा कोई व्यक्ति जिसने हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख धर्म ग्रहण किया है या पुनर्ग्रहण किया है,

यथास्थिति धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खण्ड (२५) के अर्थों के अन्दर वाली किसी अनुसूचित आदिम जाति के सदस्यों पर तब तक लागू न होगी, जब तक कि केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निर्दिष्ट न करे।

(३) इस अधिनियम के किसी प्रभाग में "हिन्दू" शब्द का ऐसा अर्थ लगाया जायगा कि मानो इसके अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति है जो कि यद्यपि धर्म से हिन्दू नहीं है तथापि ऐसा व्यक्ति है जिस पर कि यह अधिनियम इस धारा में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के बल से लागू होता है।

इस अधिनियम की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि इसमें मात्र निर्वसीयती उत्तराधिकार के नियमों को क्रमबद्ध किया गया है। किन्तु तीसरे अध्याय में वसीयती उत्तराधिकार की भी चर्चा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिनियम के उद्देश्य को प्रस्तावना नियंत्रित या सीमित नहीं कर सकती। प्रस्तावना से यह भी प्रतीत होता है कि इस अधिनियम ने विषय सम्बन्धी कानून को मात्र संशोधित नहीं किया है, अपितु उसका समेकन या संहिता-करण भी कर दिया है। संहिताकरण या समेकन का परिणाम क्या होता है ? ऐसे अधिनियम से उच्चतम अदालत तक बद्ध होती है। वह इसके बाहर नहीं जा सकती। पूर्ववर्ती विधि का चाहे अधिनियम ने आमूल परिवर्तन या रूपभेद कर दिया हो, अधिनियम ही पक्षों के हकों को विनियमित करेगा। इसके अतिरिक्त धारा (४) ने इस अधिनियम को सर्वोपरि प्रभाव प्रदान कर दिया है। तब भला उन बातों पर, जिनके लिए इस अधिनियम के भीतर उपबन्ध कर दिया गया है, कोई बाहरी विधि या नियम कैसे प्रयोज्य हो सकता है ? साथ ही साथ उन बातों का निर्णय करने के लिए, जिनका उपबन्ध इस अधिनियम के भीतर नहीं दीखता, सिवा पूर्ववर्ती विधि के किस चीज का सहारा लिया जा सकता है ?

अधिनियम की प्रस्तावना और उसके संक्षिप्त नाम में यह अन्तर है कि प्रस्तावना में अधिनियम का क्षेत्र "निर्वसीयती उत्तराधिकार" बताया गया है, और संक्षिप्त नाम

में "उत्तराधिकार"। उत्तराधिकार शब्द दोनों तरह के उत्तराधिकारियों को समाहित करता है—वसीयती व निर्वसीयती। राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति १७ जून सन् १९५६ को दी थी और उसी दिन से यह अधिनियम क्रियाशील हो गया था। हिन्दू शब्द की व्याख्या खण्ड (१) के आरम्भ मे हो चुकी है और "हिन्दू अ० और स० अधिनियम" के भी आरम्भ मे। इस प्रश्न पर कि हिन्दू कौन है, जो कानून बन चुका था, उसी को धारा (२) ने समावेष्टित कर लिया है।

परिभाषाएँ और निर्वचन

३. (१) इस अधिनियम में जब तक कि प्रसग से अन्यथा अपेक्षित न हो—

(क) "गोत्रज"—यदि दो व्यक्ति केवल पुरुषों के माध्यम द्वारा ही रक्त या दत्तक-ग्रहण द्वारा एक दूसरे के नातेदार हों, तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का गोत्रज कहा जाता है।

मद्रास अधिनियम (१९४९ का ९)

(ख) "अलियसन्तान विधि" से विधि की वह पद्धति अभिप्रेत है जो कि ऐसे व्यक्ति पर लागू है जो कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मद्रास अलियसन्तान अधिनियम, १९४९, द्वारा या रूढ़िगत अलियसन्तान विधि द्वारा उन विषयों की बाबत शासित होता जिनके लिए इस अधिनियम में उपबन्ध किया गया है,

(ग) "बन्धु"—यदि दो व्यक्ति एक दूसरे के रक्त या दत्तकग्रहण द्वारा नातेदार है किन्तु ऐसे नातेदार सर्वथा पुरुषों के माध्यम द्वारा ही नही हैं, तो एक व्यक्ति दूसरे का बन्धु कहा जाता है,

(घ) "रूढ़ि" और "प्रथा" पदावलियों से ऐसा कोई नियम संज्ञात है जिसने कि दीर्घ काल तक निरन्तर और एकरूपता से अनुपालित किये जाने के कारण किसी स्थानीय क्षेत्र, आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार मे के हिन्दुओं में विधि का बल अभिप्राप्त कर लिया है—

परन्तु यह तब जब कि नियम असदिग्ध हो और अयुक्तियुक्त या लोक-नीति के विरुद्ध न हो, और

परन्तु यह और भी कि परिवार को ही लागू नियम की अवस्था में यह परिवार द्वारा तोड़ न दिया गया हो,

(ङ) "सगा", "सौतेला" और "सहोदर"—

(अ) कोई दो व्यक्ति एक दूसरे के सगे नातेदार तब कहलाते है जब कि वे

एक ही पूर्वज से उसकी एक ही पत्नी से जन्मे हों और सौतेले नातेदार तब कहलाते हैं जब कि वे एक ही पूर्वज से किन्तु उसकी भिन्न पत्नियों से जन्मे हों,

(आ) दो व्यक्ति एक दूसरे के सहोदर नातेदार तब कहलाते हैं जब कि वे एक ही पूर्वजा से किन्तु उसके भिन्न पतियों से जन्मे हों,

व्याख्या—इस खण्ड में "पूर्वज" शब्द के अन्तर्गत पिता है और "पूर्वजा" के अन्तर्गत माता है,

(च) "दायाद" से ऐसा कोई पुरुष या नारी व्यक्ति अभिप्रेत है जो कि निर्वसीयत की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होने के लिए इस अधिनियम के अधीन हकदार है,

(छ) "निर्वसीयत"—व्यक्ति के बारे मे यह समझा जाता है कि वह उस सम्पत्ति के विषय में निर्वसीयत मरा है जिसके लिए कि उसने ऐसा वसीयती व्ययन नही किया है जो कि प्रभावशील होने के योग्य है,

(ज) "मरुमक्कत्तायम् विधि"—से विधि की वह पद्धति अभिप्रेत है जो कि उन व्यक्तियों पर लागू है—

(क) जो कि यदि यह अधिनियम पारित न हुआ होता तो मद्रास मरुमक्कत्तायम् अधिनियम, १९३२, तिरुवांकुर नायर अधिनियम, तिरुवांकुर ईषवा अधिनियम, तिरुवांकुर नान्जिनाड् अधिनियम, तिरुवांकुर क्षत्रिय अधिनियम, तिरुवांकुर कृष्णवह मरुमक्कत्तायी अधिनियम, कोचीन मरुमक्कत्तायम् अधिनियम या कोचीन नायर अधिनियम द्वारा उन विषयों की बाबत शासित होते जिनके लिए कि इस अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया गया है, या

(ख) जो कि ऐसे समुदाय का है जिसके सदस्य अधिकतर तिरुवाकुर, कोचीन या मद्रास राज्य के अधिवासी है और यदि यह अधिनियम पारित न हुआ होता तो जो कि उन विषयों की बाबत जिनके लिए इस अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया गया है, दाय की ऐसी किसी पद्धति द्वारा शासित होते जिसमे कि नारी परम्परा के माध्यम द्वारा उद्भव गिना जाता है। किन्तु इसके अन्तर्गत अलियसन्तान विधि नहीं है,

(झ) "नंबूदिरी विधि" से विधि की वह पद्धति अभिप्रेत है जो कि उन व्यक्तियों पर लागू है जो कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मद्रास नंबूदिरी अधिनियम, १९३२, कोचीन नबूदिरी अधिनियम या तिरुवांकुर मला-

यल्ल ब्राह्मण अधिनियम द्वारा उन विषयों की बाबत शासित होते जिनके लिए कि इस अधिनियम में उपबन्ध किया गया है,

(ञ) "नातेदारी" से विधिवत् सकुल्यता द्वारा नातेदारी अभिप्रेत है—परन्तु जारज सन्तान की नातेदारी अपनी माता और परस्पर एक दूसरे से समझी जायगी और उनके औरस वंशज उनके और परस्पर एक दूसरे के नातेदार समझे जायेंगे और नातेदारी या नातेदार अभिव्यक्त करने वाली किसी बात का तदनुकूल अर्थ लगाया जायगा।

(२) इस अधिनियम में जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो, पुल्लिंग शब्दों के अन्तर्गत नारियाँ न समझी जायेंगी।

पारिभाषिक शब्दों की उपादेयता यह है कि उनके प्रयोग से वाक्य और वचन कम लिखने और कहने पडते हैं। पारिभाषिक शब्द सगर्भ और सहेतु होते हैं, बोल-चाल वाले शब्दों की अपेक्षा उनका आशय विशिष्ट तथा सीमित होता है। उदाहरणार्थ "रूढि" और "प्रथा" के साधारण अर्थ उन शर्तो व सोपाधिताओं से निर्बन्धित एवं संकुचित नहीं माने जाते जो इस धारा की परिभाषा में लिखी मिलती हैं। उसी तरह नातेदारी शब्द इस अधिनियम के अन्दर विशेष अर्थ रखता है। दोनों शब्दों की परिभाषा में वैधिक सिद्धान्तों को समावेष्टित कर दिया गया है।

अधिनियम का सर्वोपरि प्रभाव

४. (१) इस अधिनियम मे अन्यथा अभिव्यक्त रूपेण उपबन्धित को छोड़कर—

(क) हिन्दू विधि का कोई पाठ, नियम या निर्वचन या उस विधि की भागरूप रूढि या प्रथा, जो कि इस अधिनियम के प्रारम्भ होने से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, ऐसी किसी बात के बारे में प्रभावशून्य हो जायेगी जिसके लिए कि इस अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया गया है;

(ख) कोई अन्य विधि, जो कि इस अधिनियम के प्रारम्भ से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, वहाँ तक हिन्दुओं पर लागू न रहेगी, जहाँ तक कि वह इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट उपबन्धों में से किसी से असगत है।

(२) शंकाओं को दूर करने के लिए एतद द्वारा यह घोपित किया जाता है कि इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के बारे में यह न समझा जायगा कि वह कृषक जोतों के खण्डीकरण के निवारण के लिए या जोत के अधिकतम क्षेत्र को नियत करने के लिए या ऐसी जोतों की बाबत आभोग अधिकारों के न्यागमन के लिए उपबन्ध करने वाली किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबन्धों को प्रभावित करती है।

उत्तराधिकार से सम्बद्ध कुछ मामले इस अधिनियम की मक्रिया से अभिव्यक्त-रूपेण अपवर्जित कर दिये गये है। देखिए धारा (५)। कुछ ऐसे भी है जिनके लिए इसमें उपवन्ध नही किया गया है। उनको छोडकर अन्य मामलों का निर्णय केवल इस अधिनियम के आधार पर हुआ करेगा। इस धारा की भाषा को ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित होता है कि जो मामले पहले उठ या तय हो चुके है, उनको यह अधिनियम प्रभावित नही करेगा। अर्थात् यह अधिनियम भूतलक्षी नहीं है।

अध्याय २

निर्वसीयती उत्तराधिकार

साधारण

अधिनियम कुछ सम्पत्तियों पर लागू न होगा

५. यह अधिनियम—

(अ) ऐसी किसी सम्पत्ति पर लागू न होगा जिसके लिए उत्तराधिकार विशेष विवाह अधिनियम, १९५४ (१९५४ के ४३) की धारा २१ में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के कारण भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, १९२५ (१९२५ के ३९) द्वारा विनियमित होता है,

(आ) ऐसी किसी सम्पदा पर लागू न होगा जो कि किसी देशी राज्य के शासक द्वारा भारत सरकार से की गयी किसी प्रसविदा या करार के निवन्धों द्वारा या इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूव पारित किसी अधिनियमिति के निवन्धनों द्वारा केवल एक दायाद पर न्यागत होती है,

(इ) वलियम्म तम्मुशन कोविलकम् पोतुम्वत्तु और कोविलकम् पोतुम्वत्तु पर लागू न होगा जो कि महाराज कोचीन द्वारा २० जून, १९४९ को प्रख्यापित उद्-घोषणा (११२४ की ९) द्वारा प्रदत्त शक्तियों के आधार पर कोविलकम् भरण समिति द्वारा प्रशासित है।

सिवा अभिव्यक्त रूप से अपवजित सम्पत्ति के यह अधिनियम उन सब प्रकार की सम्पदाओं पर प्रयोज्य है जो किसी मृत हिन्दू प्रभु ने छोड़ी हो। कृषि-भूमि अपवर्जित नही है। इसलिए वह भी इसके व्याप्ति क्षेत्र के अन्दर आ जाती है।

समांशी सम्पत्ति के हित का न्यागमन

६. जब कि पुरुष हिन्दू मिताक्षरा समांशी सम्पत्ति में अपनी मृत्यु के समय हित रखते हुए इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् मर जाय, तब उस सम्पत्ति में

उसका हित समांशिता के उत्तरजीवी सदस्यों पर उत्तरजीवित्व के आधार पर, न कि इस अधिनियम के अनुकूल, न्यागत होगा—

परन्तु यदि मृतक अनुसूची (१) में उल्लिखित नातेदारिनी को या उस वर्ग में उल्लिखित ऐसे नातेदार को, जो कि ऐसी नातेदारिनी के माध्यम के द्वारा दावा करता है, अपना उत्तरजीवी छोड़ता है, तो मिताक्षरा समांशी सम्पत्ति में मृतक का हित इस अधिनियम के अधीन, न कि उत्तरजीवित्व द्वारा, यथास्थिति वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा।

व्याख्या १.—हिन्दू मिताक्षरा समांशी के हित के बारे में इस धारा के प्रयोजनों के लिए यह समझा जायगा कि वह हित सम्पत्ति में का वह अंश है जो कि इस बात का विचार किये बिना कि वह समांशी विभाजन के लिए दावा करने का हकदार था या नहीं, यदि उसकी अपनी मृत्यु से अव्यवहित पूर्व सम्पत्ति का विभाजन किया गया होता तो उसे बाँट मे मिलता।

व्याख्या २.—इस धारा के परन्तुक में अन्तर्विष्ट किसी बात का यह अर्थ न लगाया जायगा कि जिस व्यक्ति ने मृतक की मृत्यु से पूर्व समांशिता से अपने को पृथक् कर लिया है, उसे या उसके किन्हीं दायादों को वह निर्वसीयती की अवस्था में उस हित में अंश पाने का दावा करने के लिए योग्य बनाती है जिसके प्रति उस परन्तुक मे निर्देश किया गया है।

ज्ञातव्य है कि सन् १९५६ के पहले "हिन्दू विधि" के भीतर किसी समांशी को अपने अविभक्त अंश का इच्छापत्र लिखना अधिकृत नही था। किन्तु इस अधिनियम की धारा (३०) ने उस प्राचीन नियम को तोड़कर "हिन्दू विधि" में एक आमूल परिवर्तन प्रविष्ट कर दिया है, जिसका प्रभाव संयुक्त कुटुम्ब वाली अवधारणा पर, दत्तकग्रहण के तथा पोषण के नियमों के ऊपर पडता है। मिताक्षरा का जन्म-स्वत्ववाद और दायभाग का उपरम-स्वत्ववाद प्रसिद्ध है। पहले नारीवृन्द पोषणाधिकारी होने पर भी समांशिता की सदस्या नही मानी जाती थीं। मृतक प्रभु की पृथक या स्वार्जित सम्पदा तक में नारी दायादाओं को मात्र आजीवन हक मिलता था।

बदले हुए समय, उन्नतिशील समाज के विचारों, नारियों की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा, साम्य व औचित्य की तृष्णा की अनुहारिता व पूर्ति करने के लिए धर्मशास्त्रीय पाठों का उदार निर्वचन जब समुचित नही लगा, तो आमूल परिवर्तन और सुधार करने का मात्र उपाय विधायकमण्डल के पास विधि-निर्माण ही रह गया है। हर एक उन्नत देश में सम्पत्ति का अबाध व्ययन प्रचलित होना है। संयुक्त कुटुम्ब की प्रणाली के साथ जो सम्पत्ति-हस्तान्तरण तथा दायप्राप्ति और विभाजन के कठोर नियम संलग्न थे वे अबाध

व्ययन मे बाधक थे। इन त्रुटियों को दूर करने तथा देश भर मे वैधिक एकरूपता के प्रचार का सीधा उपाय शायद यह होता कि जन्म-स्वत्ववाद और उत्तरजीविता वाली प्रणाली को उत्सादित कर दिया जाय। किन्तु ऐसे तीव्र एवं उग्र उपाय से विरोधी आन्दोलन तथा जनता के क्षोभ मे दुर्दमनीय तीव्रता और वेग अवश्य आ जाता। इसलिए प्राचीन पद्धति के उत्सादन एव प्रतिधारण के बीच वाले मार्ग का अनुसरण किया गया जो इस धारा में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पूर्वार्ध में समांशिता के भीतर उत्तरजीविता के अधिकार के प्रतिधारणार्थ उपबन्ध किया गया है। उत्तरार्ध मे, अर्थात् परन्तुक मे नारी दायादाओं और दौहित्र को समांशिता के अन्दर प्रविष्ट करके उनको मृत समांशी के अंश मे भागी बना दिया गया है।

प्राचीन और अर्वाचीन विचारों तथा नियमों के बीच जब समझौता कराया जाता है, तब समझौते का अन्वय लगाने में कठिनाइयाँ और उलझनें अवश्य उठ पड़ती हैं। अदालतों के सामने वे आयेंगी। उनका समाधान करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि समांशिता सम्बन्धी प्राचीन कानून का रूपभेद करना विधानमण्डल का सर्वोपरि ध्येय था। अभीप्सित रूपभेद परन्तुक के द्वारा सम्पादित हुआ है। इस धारा के साथ धारा (९) और धारा (१९) (ख) को भी देखना चाहिए। अनुसूची (१) मे बारह दायाद गिनाये गये है जिनमें कुछ पुरुष है, कुछ नारी। उन दायादों की मौजूदगी मे मृत समांशी का अविभक्त अंश उत्तरजीवित्व वाले नियम के अनुसार नहीं अवक्रमित होगा; अपितु उत्तरजीवी समांशियों को पछाड़कर उपरोक्त बारह अधिमान्य दायाद अपने-अपने क्रम से उस अंश के उत्तराधिकारी होंगे। अपरंच उन अधिमान्य दायादों मे जो नारी है वे भी सीमित नही अखण्ड स्वामित्व पायेंगी; क्योंकि इस अधिनियम के उपबन्धों से, न कि प्राचीन "हिन्दू ला" से, उनके हक प्रशासित होंगे और धारा (१४) ने नारियों को भी पूर्ण या अप्रतिबन्ध स्वामित्व प्रदान कर दिया है। ज्ञातव्य है कि अनुसूची (१) मे जहाँ "पुत्र" लिखा है वहाँ दत्तक पुत्र भी लिखा समझना चाहिए और जहाँ पुत्री लिखा हो वहाँ दत्तक पुत्री भी समझनी चाहिए। अर्थात अनुसूचित सम्बन्धी गणों से रक्त द्वारा भी नाता हो सकता है एव दत्तक ग्रहण द्वारा भी। यह भी ज्ञातव्य है कि सन १९५५ वाले "हिन्दू विवाह अधिनियम" की धारा (१६) के अनुसार शून्य व शून्यकरणीय विवाहों की सन्तान औरस मानी जाती है। अत: अनुसूचित नातेदारों में जहाँ पुत्र व पुत्री उल्लिखित हों वहाँ ऐसे विवाहों से उत्पन्न पुत्र व पुत्रियों को भी समझा जायगा।

विभाजन वाले प्रकरण मे बताया गया था कि विभाजन प्रवर्तन करने का अधिकार सब समांशियों को नहीं होता है; यथा अवयस्क पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र, एवं बम्बई प्रान्त

मे ऐसा पुत्र जिसका पिता बटवारे के लिए राजी न हो। व्याख्या (१) मे उसी नियम का निर्देशन है। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि इसमे यह कल्पना तो कर ली गयी है कि मृत समाशी की मृत्यु के अव्यवहित पूर्व समांशिता वाली सम्पत्ति का बटवारा हो चुका था। किन्तु बटवारे के परिणाम—समाशिता का विघटन—को अगीकार नही किया गया है (द्र० धारा ६ का पूर्वार्ध)। बटवारे मे मृतक का मृत्यु के समय कितना अश था, यह निर्धारित करने के नियम इस अधिनियम में नही उल्लिखित होने से मालूम पड़ता है कि इस प्रश्न के अवधारणार्थ प्राचीन "हिन्दू विधि" का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

जितना उग्र रूपभेद इस अधिनियम ने प्राचीन उत्तराधिकार के नियमों मे कर दिया है, उसका अनुमान कतिपय उदाहरणों से किया जाय। धारा के पूर्वार्ध का उदाहरण तो सरल है। **क** को अपने पिता का धन मिलता है। उसके पुत्र **ख** का हक जन्मस्वत्ववाद के आधार पर उसमे पैदा हो जाता है, चाहे **ख** अपने पितामह के सामने पैदा हुआ हो या बाद मे। वह धन **क** व **ख** द्वारा सघटित समाशिता की सम्पत्ति हो जायगा। अतएव एक के मरने पर दूसरे पर, उत्तरजीवित्वानुसार वह सम्पत्ति अवतरित हो जायगी। किन्तु यदि **क** एक पुत्री या विधवा को भी छोड़कर मरता है, तो उनकी विद्यमानता के फलस्वरूप **ख** उत्तरजीवी न रहकर पुत्री या विधवा का सहदायाद बन जायगा। अर्थात् धारा का उत्तरार्ध क्रियाशील हो उठेगा, और दोनों का उस धन मे (८, ९, १० धाराओं के अनुसार) सम भाग होगा। यह परन्तुक का उदाहरण हो जायगा। वह परिणाम याद रखना चाहिए जो एक समांशी के ऐसे उत्तमर्ण के हक पर पड़ता है जिसने अपने अधमर्ण के अविभाजित अश को उसकी (समांशी की) मृत्यु के पहले कुक नही करा लिया था। जब परन्तुक क्रियाशील हो जाता है, अर्थात् जब उत्तरजीवित्व की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तब भी क्या वही परिणाम उत्तमर्ण को भोगना पड़ेगा? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर अधिक तर्कसगत व औचित्यसम्मत प्रतीत होता है।

व्याख्या (२) समांशिता के आंशिक विघटन को निर्देशित करती है। एक पृथक् समांशी धारा के परन्तुक का फायदा उठाकर यह माँग नही कर सकता कि विघटन के बावजूद सयुक्त बने रहने वालों में से किसी समांशी की मृत्यु के पश्चात् चूँकि मृतक की विधवा या पुत्री मौजूद थी, इसलिए उत्तरजीवित्व की सक्रिया को रोककर साधारण उत्तराधिकारी नियमों का प्रवर्तन किया जाय और मृतक के अश में उसे भी भाग दिया जाय। इसका उदाहरण यह है। **क** अपने पुत्रों **ग** व **घ** के साथ समांशिता सघटित करता है। **घ** एक तिहाई लेकर अलग हो जाता है। अब क अपने पुत्र **ग** और अपनी

विधवा को छोड़कर मरता है। धारा का परन्तुक तो क्रियाशील हो जायगा, किन्तु घ उसका अर्थात् उत्तराधिकार के नियमों का लाभ उठाकर समांशिना की सम्पत्ति मे भाग नही पा सकेगा।

तरवाड, तावषि, कुडम्ब, कवरू या इल्लम की सम्पत्ति में हित का न्यागमन

७. (१) जब कि वह हिन्दू, जिस पर कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मरुमक्कत्तायम् या नबूदिरी विधि लागू होती, इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् अपनी मृत्यु के समय यथास्थिति तरवाड, तावषि या इल्लम् की सपत्ति मे हित रखते हुए मरता है, तब सम्पत्ति मे उसका हित इस अधिनियम के अधीन, न कि मरुमक्कत्तायम्, नबूदिरी विधि के अनुकूल या वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा।

व्याख्या—तरवाड्, तावषि या इल्लम् की सम्पत्ति मे हिन्दू के हित के बारे मे इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए यह समझा जायगा कि वह यथास्थिति तरवाड्, तावषि या इल्लम् की सम्पत्ति में वह अंश है जो कि यदि यथास्थिति तरवाड्, तावषि या इल्लम् के उस समय जीवित सब सदस्यों मे उसकी अपनी मृत्यु के अव्यवहित पूर्व उस सम्पत्ति का विभाजन व्यक्तिपरक हुआ होता तो उसे न्यागत होता; भले ही वह अपने पर लागू मरुमक्कत्तायम् या नबूदिरी विधि के अधीन ऐसे विभाजन का दावा करने के लिए हकदार होता या न होता, और ऐसे अंश के बारे मे यह समझा जायगा कि वह उसे बाँट मे अप्रतिबन्ध रूप में दे दिया गया है।

(२) जब कि वह हिन्दू, जिस पर कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो अलियसन्तान विधि लागू होती, इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् यथास्थिति कुटुम्ब या कवरु की सम्पत्ति मे अविभक्त हित अपनी मृत्यु के समय रखते हुए मरता है, तब सम्पत्ति मे उसका अपना हित इस अधिनियम के अधीन, न कि अलियसन्तान विधि के अनुकूल, यथास्थिति वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा।

व्याख्या—कुडब या कवरु की सम्पत्ति मे हिन्दू के हित के बारे में इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए यह समझा जायगा कि वह यथास्थिति कुडब या कवरु की सम्पत्ति मे वह अंश है जो कि यदि यथास्थिति कुडंब या कवरु के उस समय जीवित सब सदस्यों में उनकी अपनी मृत्यु के अव्यवहित पूर्व उस सम्पत्ति का विभाजन व्यक्तिपरक हुआ होता तो उसे न्यागत होता, भले ही वह अलिय-

सन्तान विधि के अधीन ऐसे विभाजन का दावा करने के लिए हकदार हो या न हो, और ऐसे अश के बारे मे यह समझा जायगा कि वह उसे बाँट मे अप्रतिवन्ध रूप मे मिल गया है।

(३) उपधारा (१) मे अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी जब कि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात स्थानमदार मरता है नब उसके द्वारा धारित स्थानम् सम्पत्ति उस परिवार के सदस्यों को, जिसका कि स्थानमदार है, और स्थानमदार के दायादों को ऐसे न्यागत होगी मानो कि स्थानम सम्पत्ति स्थानमदार और उस समय जीवित परिवार के सब सदस्यों के बीच स्थानमदार की मृत्यु के अव्यवहित पूर्व व्यक्तिपरक रूप मे विभाजित कर ली गयी थी और स्थानमदार के परिवार के सदस्यों और स्थानमदार के दायादों को मिलने वाले हित अपनी पृथक सम्पत्ति के रूप मे उन द्वारा धारित किये जायेंगे।

व्याख्या—इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए स्थानमदार के परिवार के अन्तर्गत उस परिवार की, चाहे विभक्त हो चाहे अविभक्त हो, प्रत्येक वह शाखा होगी जिसके पुरुष सदस्य यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो किसी रूढि या प्रथा के आधार पर स्थानमदार के स्थान पर उत्तरवर्ती होने के हकदार होते।

इस धारा तथा धारा (१७) का उद्देश्य यह है कि भारत के दक्षिण खण्ड में भी यही अधिनियम प्रयोज्य हो सके। तरवाड, तावषि और कुडब, कवरु विभिन्न प्रकार के सयुक्त कुटुम्ब होते है जो दक्षिण भारत में पाये जाते है। उन सयुक्त कुटुम्बों के सम्पत्ति सम्बन्धी नियम भी विविध होते है, जिनकी सज्ञा है अलियसन्तान, मरुमक्कत्तायम्, नवूदिरी। इन तीनों विधियों की परिभाषा धारा (३) के खण्ड (ख), (ज), (झ) मे उल्लिखित है। इस अधिनियम ने, यथासम्भव समता लाने के अभिप्राय से, उसमे कुछ काट-छांट कर दी है और उसको उत्सादित करके इस (अधिनियम) को प्रतिष्ठापित कर दिया है।

पुरुषों की अवस्था में उत्तराधिकार के साधारण नियम

८. निर्वसीयत मरने वाले हिन्दू पुरुष की सम्पत्ति इस अध्याय के उपबन्धों के अनुकूल—

(क) प्रथमत: उन दायादों को, जो कि अनुसूची के वर्ग १ मे उल्लिखित नातेदार है;

(ख) द्वितीयत: यदि वर्ग १ में कोई दायाद न हो तो उन दायादों को, जो कि अनुसूची के वर्ग २ मे उल्लिखित नातेदार है;

(ग) तृतीयत: यदि दोनों वर्गों मे से किसी में का कोई दायाद न हो तो मृतक के गोत्रजों को; और

(घ) अन्तत: यदि कोई गोत्रज भी न हो तो मृतक के बन्धुओं को, न्यागत होगी।

यह अधिनियम उत्तराधिकार की एक नूतन एव विनिश्चित योजना प्रस्तुत करता है, जिसकी रूपरेखा इस धारा मे सक्षेपत: उल्लिखित है। इस धारा में जिस अनुसूची का सकेत है, उसे सामने रख लेने से धारा-विहित नियमों को समझना सरलतर हो जाता है। वह विस्तृत नहीं छोटी है। उसके अतिरिक्त धारा ९ से १३ तक इस धारा की अनुपूरक है, क्योंकि उनके उपबन्धों मे वैधिक सिद्धान्त सन्निहित किये गये है। पुरुप के उत्तराधिकारी चार श्रेणियों मे विभक्त है। पहले "बद्धक्रम" दायादों का प्रचलन था। उसमे केवल तीन व्यक्ति; पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र समाहित थे। सन १९३७ वाले "हिन्दू वीमेन्स राइटस टु प्रापर्टी ऐक्ट" ने तीन नारी दायादों को सूची मे बढ़ा दिया। इस अधिनियम ने छ: की जगह बारह दायाद कर दिये, जो प्रथम अनुसूची में उल्लिखित है और जिनको "अधिमान्य दायाद" कहते है। बद्धक्रम वाले दायादों की तरह ये बारहों अधिमान्य दायाद एक साथ ही या युगपत दाय प्राप्त करते हैं।

इस अधिनियम के प्रारम्भिक वाक्य सगर्भ है। पहला वाक्य है "सम्पत्ति न्यागत होगी।" हिन्दू विधि मे अवक्रमणीय सम्पत्ति के भीतर पैतामही सम्पत्ति नही आती थी, क्योंकि उस पर उत्तरजीविता वाला नियम प्रयोज्य होता था। किन्तु यह धारा उसको भी समाहित कर लेती है, क्योंकि हर प्रकार की सम्पत्ति पर यह नियम लागू कर दिया गया है। दूसरा शब्द "होगी" भविष्यत काल की क्रिया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि जो हिन्दू इस अधिनियम के सक्रिय होने के पूर्व मर चुके थे, उनकी सम्पत्ति के अवतरण को यह प्रशासित नही करेगा। तीसरे, "इस अध्याय के उपबन्धों के अनुकूल" इस वाक्य में "अध्याय के उपबन्ध" उल्लिखित है न कि "धारा के उपबन्ध"। अर्थात यह धारा आत्मनिर्भर नही है, अपितु अध्यायांकित अन्य धाराओं का आश्रय लिये विना इसका निर्वचन नही किया जा सकता। वे अन्य धाराएँ है ९ से १३ तक और धारा १८ से २० तक। चौथे, इस धारा में "वर्ग १ मे उल्लिखित नातेदार" यह वाक्य उन सम्बन्धियों को निर्देशित करता है जो अनुसूची में गिनाये गये हैं और अनुसूची के वर्ग १ में जहाँ पुत्र या पुत्री का उल्लेख है वहाँ दत्तक-पुत्र व दत्तक-पुत्री की चर्चा नहीं की गयी है। तो क्या दत्तक ग्रहण के माध्यम से सम्बन्धित नातेदार इस अधिनियम की व्याप्ति में नही आते ? ऐसा निष्कर्ष निकालना ठीक नही है, क्योंकि धारा ३ (क) व (ग) में दत्तक-ग्रहण द्वारा नातेदारी को मान्यता दी गयी है। अपरंच धारा ३ (अ) में नातेदारी का अर्थ "विधिवत सकुल्यता द्वारा नातेदारी" लिखा है और दत्तक ग्रहण

को नातेदारी के सर्जन की "विधि-विहित" क्रिया प्राचीन "हिन्दू विधि" ने भी माना है तथा सन् १९५६ वाले "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" ने भी माना है।

इस धारा मे चार खण्ड (क), (ख), (ग), (घ) है। प्रत्येक खण्ड में उल्लिखित दायादों के ऊपर अलग-अलग संक्षेपतः विचार किया जायगा। अनुसूची के वर्ग १ मे १२ दायाद है। धारा ८ (क) के अनुसार इन बारहों को प्राथमिकता या अधिमान साथ-साथ मिलता है। वे है—(१) पुत्र, (२) पुत्री, (३) विधवा, (४) माता, (५) पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र, (६) पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री, (७) पूर्व-मृत पुत्री का पुत्र, (८) पूर्व-मृत पुत्री की पुत्री, (९) पूव-मृत पुत्र की विधिवा, (१०) पूव-मृत पुत्र के पूव-मृत पुत्र का पुत्र, (११) पूव-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री, (१२) पूर्व-मृत पुत्र के पूव-मृत पुत्र की विधवा।

(१) पुत्र दायाद नं० १—इस नाम की परिभाषा तो नही दी गयी है किन्तु हजारों वर्षो से इसकी व्याप्ति के भीतर जिन लोगों को कानून मानता चला आया है उनका अपवजन भी नहीं किया गया है। निष्कष यह निकलता है कि यह शब्द दत्तक पुत्र व मृत्यूत्तर जात पुत्र को भी समाहित करता है। यदि दत्तक ग्रहण के बाद औरस पुत्र पैदा हो जाय तो प्राचीन हिन्दू ला के अनुसार दत्तक पुत्र का अश औरस के अश की अपेक्षा घट जाता था, जैसा प्रकरण १५ मे बताया गया है। किन्तु अब दोनों के अश समान होंगे, क्योंकि वे एक ही श्रेणी व एक ही वर्ग के दायाद हैं। मरणोत्तर जात पुत्र को तो पहले भी सम अश मिलता था और अब भी मिलेगा। (द्र० धारा २०)।

इसी प्रसग मे अन्य अवस्थिति वाले पुत्रों के हकों को जान लेना चाहिए। **सौतेला पुत्र** इस वग के अन्दर नहीं आ सकता, क्योंकि उसकी अपने सौतेले बाप के साथ "विधिवत् सकुल्यता" नहीं होती है (द्र० धारा ३—ञ)। **शून्य तथा शून्यकरणीय विवाह से उत्पन्न पुत्र-पुत्री** सन् १९५५ वाले "हिन्दू विवाह अधिनियम" की धारा १६ के प्रभाव से अपने माता-पिता के साथ विधिवत् सकुल्यता द्वारा सम्बन्धित माने जायेंगे। अतः ऐसी सन्तान दायादों के इसी वग के भीतर समझी जायगी। **जारज पुत्र-पुत्री** अपने माता-पिता के साथ "विधिवत् सकुल्यता" नही रखते, अतः सौतेले पुत्र की तरह वे भी इस वर्ग के दायाद नही माने जा सकते। **विभक्त पुत्र** अपने पिता का दायाद प्राचीन हिन्दू ला मे नही बन सकता था; यदि पिता अपने बाकी पुत्र या पुत्रों के साथ सम्मिलित बना रहा हो। किन्तु इस अधिनियम ने इस भेद को तोड़ दिया है। अब दायप्राप्ति के निमित्त विभक्त व अविभक्त दोनों प्रकार के पुत्र इस वर्ग में समान रूप से दायाद समझे जायेंगे। **विभाजनानन्तर उत्पन्न या गर्भ में आनेवाले पुत्र तथा ऐसे पुत्र के** उत्तराधिकारी हकों

के विषय में, जो विभाजन के समय गर्भ ने स्थित था, प्रकरण ११ में यह बताया जा चुका है कि प्राचीन हिन्दू विधि के अनुसार यदि पिता ने अपने अंश को सुरक्षित कर लिया था, तो ऐसा पुत्र उस अश को एवं अपने पिना की सारी पृथक सम्पत्ति को भी उत्तराधिकार मे पायेगा। किन्तु यदि पिता ने अपने लिए अपना अंश सुरक्षित नही किया था तो ऐसे पुत्र को अधिकार होता है कि वह फिर से विभाजन कराये। इन प्राचीन नियमों की जगह पर इस अधिनियम ने यह विहित कर दिया है कि विभाजन मे प्राप्त पिता के अश का अवक्रमण धारा (६) से, तथा पिता की स्वार्जित सम्पत्ति का अवतरण धारा (८) से प्रशासित होगा।

(२), (३) **दायाद नं० ५ व १०**––अर्थात ऐसा पौत्र जिसका पिता उसके पितामह के पहले मर चुका था, तथा ऐसा प्रपौत्र जिसके पिता एवं पितामह दोनों उसके प्रपितामह के पहले मर चुके थे। ये दोनों अन्य दसों दायादों के साथ-साथ दायप्राप्त करते है।

(४) **दायाद नं० ३, विधवा**—पहले जो सतीत्व की शर्त थी और प्रतिबन्धित स्वामित्व का नियम था वे उत्सादित हो गये है। पुनर्विवाह भी अब पहले की तरह उसके अखण्ड स्वामित्व को वियुक्त नहीं कर सकता। (द्र० धारा (१४) व (२८)। हिन्दू धर्म के परित्याग का क्या प्रभाव है ? सन १८५० वाले "कास्ट डिसएबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट" ने इसका जो नकारात्मक उत्तर दे रखा था उसी का अनुमोदन होना इस अधिनियम की धारा (२६) से प्रतीत होता है।

(५) **दायाद नं० ९, पूर्वमृत पुत्र की विधवा**—इसके और दायद नं० ३ के उत्तराधिकारी नियमों मे केवल यह भेद है कि धारा (२४) के अनुसार यह विधवा दायप्राप्ति से वचित हो जाती है यदि उत्तराधिकार खुलते समय वह पुनर्विवाह कर चुकी हो।

(६) **दायाद नं० १२, पूर्त-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की विधिवा**––इसके तथा दायाद न० ३ के उत्तराधिकारी नियमों मे भी केवल इतना ही भेद है कि पुनर्विवाह कर लेने से वह भी दायाद नं० ९ की भाँति दायप्राप्ति से वंचित हो जाती है।

(७) **दायाद नं० २, पुत्री**—प्राचीन हिन्दू विधि में विवाहित व अविवाहित तथा सम्पन्न व दरिद्र पुत्रियों के बीच जो भेद किया जाता था, उसको तथा पुत्रियों के बीच उत्तरजीवित्व के नियम को, एवं उनके विषय में परिसीमित स्वामित्व को इस अधिनियम ने मिटाकर यह विहित कर दिया है कि प्रत्येक पुत्री का अंश पुत्र के बराबर होता है, वह अखण्ड स्वामित्व प्राप्त करती है और उत्तरजीवित्व उस पर लागू नहीं होता। अब पुत्री भी गोद बैठ सकती है। अतः दत्तक पुत्री के वही अधिकार होते हैं

जो औरस पुत्री के। पहले की तरह अब भी असतीत्व के कारण पुत्री उत्तराधिकार से वंचित नहीं होती है। जारज पुत्र की तरह जारज पुत्री भी उत्तराधिकार नहीं पाती। एक शंका यह उठती है कि चूँकि पुत्र व पुत्री अब समकक्ष दायाद हो गये हैं, तो क्या पुत्र की तरह वह भी विभाजन को खुलवा कर पुनर्विभाजन करा सकती है ? इसका तर्कसंगत उत्तर यह लगता है कि उन्हीं परिस्थितियों में वह भी पुनर्विभाजन की माँग कर सकती है।

(८) दायाद नं० ४, माता—वर्ग (१) के अन्य दायादों के साथ-साथ इसको उत्तराधिकार मिलता है। पहले यह परिसीमित स्वामित्व पाती थी और अब अखण्ड। पहले की तरह एक विमाता दायाद नहीं मानी जा सकती और इसलिए वह वर्ग (१) में नहीं आ सकती। अवश्य ही पिता की विधवा की हैसियत से उसकी गणना वर्ग (२), (६) में हो सकती है। पहले की तरह असतीत्व और पुनर्विवाह इस दायादा को उत्तराधिकार से वंचित नहीं करते। जैसा कि ऊपर कहा चा चुका है, पुत्रीकरण के माध्यम से संस्थापित नातेदारी "विधिवत् सकुल्यता" है। अतः पालक-माता को "माता" के अन्तर्गत मानकर उसको अपने दत्तक पुत्र (या पुत्री) की दायादा मान लेना चाहिए। क्या स्वाभाविक या जनक-माता भी इस गणना में आती है ? नहीं, क्योंकि पुरानी "हिन्दू विधि" एवं नूतन "एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" की धारा (१२) दोनों के अनुसार स्वाभाविक माता-पिता से दत्तक की सारी ग्रन्थियों का विच्छेद हो जाता है। किन्तु ज्ञातव्य है कि "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा (१६) के अनुसार चूँकि शून्य व शून्यकरणीय विवाहों की सन्तान "विधिवत् सन्तान" यानी "औरस सन्तति" है, इसलिए ऐसी सन्तान की माता वर्ग (१) के अन्तर्गत आ जायगी।

(९) दायाद नं० ७, पूर्व-मृत पुत्री का पुत्र—इस वर्ग के अन्य दायादों के साथ-साथ यह दौहित्र भी उत्तराधिकारी माना गया है। यदि मृत पुत्री ने दत्तक ग्रहण किया था तो उसके दत्तक पुत्र को भी वही अधिकार मिलेंगे।

(१०) दायाद नं० ६, पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री—चूँकि अब कन्या भी गोद बैठ सकती है इसलिए उपरोक्त दायाद दत्तक पुत्री को भी समाहित करेगी। अर्थात् औरस पुत्री की तरह मृत पुत्र की दत्तक पुत्री भी उत्तराधिकारी बनेगी।

(११), (१२) दायाद नं० ८, पूर्व-मृत पुत्री की पुत्री, व नं० (११) पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री—इस वर्ग के अन्य दायाधिकारी के समान ही दो ये दायादाएँ भी सबके साथ-साथ दाय प्राप्त करने लगी है। ये भी अखण्ड स्वामिनी बना दी गयी हैं। पुत्री के ऊपर लिखी गयी टिप्पणी इन पर भी लागू होगी।

धारा ८ (क) के अनन्तर ८ (ख) विहित करती है—"द्वितीयतः यदि वर्ग (१)

में कोई दायाद न हो तो उन दायादों को, जो कि अनुसूची के वर्ग (२) मे उल्लिखित नातेदार है।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वर्ग (१) वाले दायाद जब तक निःशेष नही हो जाते तब तक वर्ग (२) वालों की बारी नही आ सकती। वर्ग (२) मे निम्नांकित नौ प्रविष्टियाँ है। उनमे से प्रत्येक प्रविष्टि के दायादों को बाद वाली प्रविष्टि के दायादों की अपेक्षा धारा ९ के अनुसार वरीयता मिलनी चाहिए।

प्रविष्टि (i) पिता

" (ii) (१) पुत्र की पुत्री का पुत्र, (२) पुत्र की पुत्री की पुत्री, (३) भाई, (४) बहन।

" (iii) (१) पुत्री के पुत्र का पुत्र, (२) पुत्री के पुत्र की पुत्री, (३) पुत्री की पुत्री का पुत्र, (४) पुत्री की पुत्री की पुत्री।

" (iv) (१) भाई का पुत्र, (२) बहन का पुत्र, (३) भाई की पुत्री, (४) बहन की पुत्री।

" (v) पिता का पिता, पिता की माता।

" (vi) पिता की विधवा, भाई की विधवा।

" (vii) पिता का भाई, पिता की बहन।

" (viii) माता का पिता, माता की माता।

" (ix) माता का भाई, माता की बहन।

व्याख्या—इस अनुसूची मे भाई या बहन के प्रति निर्देशों के अन्तर्गत सहोदर भाई या बहन के प्रति निर्देश नही है।" प्रत्येक प्रविष्टि के दायादों के ऊपर क्रमशः पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

प्रविष्टि नं० १ में एकल पिता ही दायाद है। माता वर्ग (१) की दायादा है। अर्थात् पूर्ववत् माता को पिता की अपेक्षा अब भी अधिमान मिलता है। "पिता" समाहित करता है "पालक पिता" को, यदि मृतक दत्तक पुत्र था। धारा (३) (ञ) से निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि मृतक जारज पुत्र था तो उसका जनक पिता उसका उत्तराधिकारी नही बन सकता, क्योंकि उस उपधारा के परन्तुक में माता को ही जारज की नातेदारिन माना गया है, पिता को नही। "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा १६ का उल्लेख ऊपर आ चुका है। उसके प्रभाव से शून्य एवं शून्यकरणीय विवाह की सन्तान माता-पिता दोनों की औरस सन्तान मानी जाती है। अतः ऐसी सन्तान का पिताप्रविष्टि (१) के अन्तर्गत आ जायगा; एव उसकी माता अनुसूची के वर्ग (१) मे स्थान पा जायगी।

प्रविष्टि नं० २ मे चार दायाद है। धारा (११) के अनुसार ये चारों दायाद

सम भाग पायेंगे। प्रथम दो दायादों में जो "पुत्र" व "पुत्री" उल्लिखित है, उनके अन्तर्गत दत्तक पुत्र-पुत्री भी समझने चाहिए। इसके कारण ऊपर लिखे जा चुके है। तीसरा दायाद है भ्राता। जब एक भाई मृतक का सगा भाई और एक मृतक का सौतेला हो, तो धारा १८ के अनुसार सगे को सौतेले की अपेक्षा वरीयता दिलायी जाती है। सहोदर या एकमातृक भाई (अर्थात् एक ही माता से किन्तु विभिन्न जनकों से उत्पन्न पुत्र) इस प्रवर्ग मे नहीं आते, क्योंकि अनुसूची से सलग्न व्याख्या ऐसे सौतेले भाइयों को स्पष्टतः अपवर्जित करती है। धारा ३ (ञ) मे विहित है कि जारज सन्तानें परस्पर नातेदार मानी जायेंगी। इससे यह प्रतीत होता है कि जारज एकमातृक भाई इस प्रवर्ग में आ जाते है। दत्तक तथा औरस (उस दशा में जब दत्तक-ग्रहण के पश्चात् औरस उत्पन्न हो जाय) भी इस प्रवर्ग में आ जायँगे, क्योंकि उनकी नातेदारी "विधिवत् सकुल्यता" से पैदा होती है, एव पुत्रीकरणोपरान्त दत्तक का अपने पालक-पिता के साथ विलयन हो जाता है।

चौथी दायादा है "बहन", जिसके अन्तर्गत सगी व सौतेली दोनों बहनें आती हैं, किन्तु सगी बहन को सौतेली से वरीयता मिलती है। एकमातृक या सहोदर बहन इस प्रवर्ग में नही आती, जिसका हेतु ऊपर बताया जा चुका है। किन्तु जारज भाई की जारज बहन इस प्रवर्ग में उपरोक्त कारणवश (धारा ३—ञ) आ जाती है। दत्तक पुत्री भी इस प्रवर्ग मे उपरोक्त कारणों से आ जायगी। याद रहे कि बहन भी पूर्ण स्वामित्व पाती है।

प्रविष्टि नं० ३ मे भी चार दायाद है। धारा ११ के अनुसार वे बराबर-बराबर के भागीदार होते है। इस प्रवर्ग में दो पुत्र व दो पुत्रियों (चार दायादों) का उल्लेख है, उनके अन्तर्गत वे दत्तक पुत्र व पुत्री भी आ जायेंगे जिनके पिता या माता ने वैध पुत्रीकरण कर लिया हो।

प्रविष्टि नं० ४ में भी चार दायाद गिनाये गये हैं। वे बराबर-बराबर भाग पाते हैं। ज्ञातव्य है कि इस प्रविष्टि मे उल्लिखित भाई-बहन से पूर्व-मृत भाई एवं पूर्व-मृत बहन को समझना चाहिए। भाई के अन्तर्गत सगा व सौतेला भाई आते है। उसी प्रकार बहन के अन्तर्गत सगी व सौतेली बहन आती हैं; इस उपाधि के साथ कि सगे को सौतेले की अपेक्षा सदैव अधिमान मिलता है। किन्तु सौतेले का मतलब है एक ही पिता की भिन्न माताओं से उपजी सन्तान, न कि एक ही माता की भिन्न पिताओं से उत्पन्न सन्तान। यह भी ज्ञातव्य है कि धारा ३ (ञ) के अनुसार जारज पुत्र व पुत्री परस्पर वैध भाई-बहन माने जायेंगे और उनके पुत्र तथा पुत्री इस प्रवर्ग के भीतर माने जायेंगे।

प्रविष्टि नं० ५ में दो दायाद हैं; पिता का पिता व पिता की माता। ये दोनों दायाद बराबर भाग पाते हैं। अतः पितामह का नाम पितामही से पहले लिख देने का कोई प्रभाव नहीं है। अन्यथा, प्राचीन हिन्दू ला की दायादावली में माता का स्थान पिता से पूर्व एवं पितामही का पितामह से पूर्व पड़ता था। जो टिप्पणी माता के शीर्षक में और पिता के शीर्षक में ऊपर (धारा ८ के प्रसंग में) लिखी गयी है वह इस प्रविष्टि के दायादों पर भी प्रयोज्य है। ज्ञातव्य है कि जैसे सोतेली माँ वर्ग १ में नहीं आती, वैसे ही पिता की विमाता भी इस प्रविष्टि में नहीं आती है।

प्रविष्टि नं० ६ में दो दायाद हैं; पिता की विधवा, भाई की विधवा। ये दोनों भी बराबर-बराबर भाग पाती हैं। विमाता इस जगह आकर मृतक प्रभु के दायादों में स्थान पाती है। पिता में पालक पिता भी सन्निहित है। धारा २४ को पढ़ने से विदित होता है कि विधवा विमाता का पुनर्विवाह उसको उत्तराधिकार से वंचित नहीं करता है, किन्तु भाई की विधवा पुनर्विवाह के प्रभाव से अपने उत्तराधिकार को खो बैठती है। इस प्रविष्टि में जो दो शब्द "पिता" एवं "भाई" आये हैं उनके प्रसंग में ऊपर लिखी हुई टिप्पणियाँ पठनीय हैं।

प्रविष्टि नं० ७ में दो दायाद हैं, पिता का भाई व पिता की बहन। ये दोनों भी समभागी होते है। पिता का भाई चाहे सगा हो या सौतेला, दोनों दशाओं में वह दायप्राप्ति का अधिकारी बनेगा; केवल इस सोपाधिता के साथ कि सौतेले की अपेक्षा सगा वरीयता पायेगा। किन्तु पिता का एकमातृक सौतेला भाई दायाद नहीं गिना जायगा। इसके हेतु ऊपर लिखे जा चुके हैं। यही टिप्पणी दूसरी दायादा (पिता की बहन) पर लागू होगी। पुत्रीकरण द्वारा स्थापित सम्बन्ध के विषय में जो टिप्पणी ऊपर लिखी गयी हैं, उनको इस प्रसंग में भी पढ़ लेना चाहिए।

प्रविष्टि नं० ८ में दो दायाद हैं; माता का पिता, माता की माता। ये भी बराबर भाग पाते हैं। पुत्रीकरण द्वारा स्थापित सम्बन्ध के विषय में ऊपर लिखी टिप्पणी इस प्रसंग में भी पढ़ लेनी चाहिए और प्रविष्टि नं० ५ की टिप्पणी भी।

प्रविष्टि नं० ९ में भी दो दायाद है; माता का भाई, माता की बहन। ये बराबर भाग पाते हैं। प्रविष्टि नं० ७ की टिप्पणी इस प्रसंग में भी सुसंगत है। प्रविष्टि नं० २ में "भाई" व "बहन" पर लिखी टिप्पणियों को भी पढ़ लेना चाहिए।

अब **धारा ८ (ग)** को देखें—यह विहित करती है कि "तृतीयतः यदि दोनों वर्गों में से किसी में कोई दायाद न हो तो मृतक के गोत्रजों को और।" गोत्रज की परिभाषा धारा ३ (१) (क) में यह दी हुई है—"यदि दो व्यक्ति केवल पुरुषों के माध्यम द्वारा ही रक्त या दत्तकग्रहण द्वारा एक दूसरे के नातेदार हों तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति

दूसरे का गोत्रज कहा जाता है।" ज्ञातव्य है कि इस परिभाषा में व्यक्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है जो पुरुष व नारी दोनों को समाहित करता है। दूसरे, 'पुरुषों के माध्यम' इस वाक्य के ऊपर बल दिया गया, क्योंकि उसके पूर्व 'केवल' शब्द सलग्न है। तीसरे, रक्त या दत्तक रचित सम्वन्ध को अभिज्ञान (पहचान) नियत किया गया है, अर्थात् विवाह-रचित सम्बन्ध अपर्याप्त समझा गया है एव रक्त-रचित सम्बन्ध के अन्तर्गत सगा, सौतेला व एकमातृक तीनों तरह के सम्बन्ध आ जाते है। गोत्रज, सपिण्ड और समानोदक की परिभाषाएँ पहले कही जा चुकी है। उनमे पीढ़ियों और संख्या की अवधि या सीमा पायी जाती है। किन्तु धारा ३ (१) (क) मे कोई सीमा नही है।

धारा ३ (१) (क) मे "नातेदार" शब्द आया है, जिसके विषय में ३ (१) (ञ) में कहा गया है—"नातेदारी से विधिवत् सकुल्यता द्वारा नातेदारी अभिप्रेत है।" इन सब बातों को ध्यान मे रखकर विचार करने से धारा ८ (ग) से ये निम्नोक्त निष्कर्ष निकलते हैं, जिनको माननीय मुल्ला के हिन्दू ला, पृष्ठ ९५६–५७ में समाकलित किया गया है। (१) मृतक के गोत्रज पुरुष भी हो सकते है और नारी भी, बशर्ते कि वे केवल पुरुषों के माध्यम से मृतक के साथ रक्त या दत्तक-ग्रहण द्वारा विधिवत् सकुल्यता रखते हों—(२) ऐसे गोत्रज मृतक से चाहे जितनी पीढ़ियों की दूरी पर हों वे सब दायाद बन सकते है। (३) अनुसूची के वग (१) तथा वर्ग (२) में लिखे हुए दायादों की गणना गोत्रज मे नहीं हो सकती, क्योंकि उनके उत्तराधिकार विशिष्ट विधान (धारा ८ (क) व (ख)) द्वारा सुरक्षित तथा उपबन्धित हो चुके हैं। याद रहे कि यद्यपि दोनों वर्गो वाले दायाद "गोत्रज" की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं, तथापि धारा (३) के आरम्भिक वाक्य "जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो" के प्रभाव से दोनों वर्गों को उस परिभाषा के बाहर ही रखना तर्कसंगत होता है। (४) "रक्त के द्वारा नातेदारी" के अन्तर्गत तीनों प्रकार के सम्बन्धी आ जाते हैं—सगे, सोतेले, एकमातृक; अर्थात् एक ही माता-पिता की सन्तान, एक ही पिता किन्तु भिन्न माता की सन्तान और एक ही माता किन्तु भिन्न पिता की सन्तान। किन्तु एकमातृक नातेदारी में से गोत्रज-नातेदारी नहीं सर्जित हो सकती; क्योंकि मृत पुरुष के साथ किसी एकमातृक नातेदार का सम्बन्ध केवल पुरुषों के माध्यम से होना असम्भव है।

उपरोक्त निष्कर्ष नं० (२) व (३) पर गौर करने से ये निष्कर्ष फिर निकलते है। मृतक की सब नारी वंशजाएँ (वे चाहे जितनी पीढ़ियों दूर हों) उसकी गोत्रजा मानी जायेंगी, बशर्ते कि वे केवल पुरुषों के माध्यम से उसके साथ सम्बन्धित हों। उसी प्रकार से मृतक के सारे वश-क्रमागत पुरुष वशज उसके गोत्रज कहे जायेंगे, वे उससे चाहे जितनी पीढ़ियों की दूरी पर हों। उसी प्रकार से उसके सारे वंशक्रमागत पुरुष

पूवज तथा उन पूर्वजों के वशक्रमागत पुरुष व नारी वशज (वे चाहे जितनी पीढ़ियाँ दूर हों) उसके गोत्रज समझे जायेंगे, बशर्ते कि उपरोक्त नारी वशज केवल पुरुषों के माध्यम से उसके साथ सम्बन्धित हों। उदाहरणार्थ, मृतक के प्रपितामह के पौत्र की पुत्री तो उसकी गोत्रजा गिनी जायगी, यद्यपि वह नारी है एव उससे पाँच पीढ़ियों की दूरी पर है। किन्तु उसकी बुआ का पुत्र उसका गोत्रज नही माना जायगा, क्योंकि एक नारी दोनों क बीच म अन्तरित होती है, यद्यपि वह पुरुष है एव अधिक सन्निकट है।

उपरोक्त निष्कर्ष न० (१) पर विचार करने पर यह भासित होगा कि मृतक के चाचा (पिता के भाई) की पुत्री तो उसकी गोत्रजा है, किन्तु मृतक की बुआ (पिता की बहन) की पुत्री उसकी गोत्रजा नहीं है और न बुआ का पुत्र उसका गोत्रज है। गोत्रज के अन्तगत न तो मृतक के वशक्रमागत वशजों की विधवाएँ, न उन वशजों के वशक्रमागत वशजों की विधवाएँ आती है। कारण स्पष्ट है, अर्थात् वे नारियाँ मृतक के साथ "रक्त या दत्तकग्रहण" के द्वारा सम्बन्धित न होकर विवाह के द्वारा सम्बन्धित है। यहाँ पर यह शका उठती है कि अनुसूची वाली विधवाएँ भी तो पूर्वजों या वंशजों की विधवाएँ है। इसका पर्याप्त समाधान मात्र यह कहने से हो जाता है कि उनको विधानमण्डल ने विशेष रूप से उत्तराधिकार प्रदान कर दिया है, अर्थात् उनका अधिकार साधारण नियम का अपवाद है।

धारा ८ में गोत्रजों की पंजी नहीं लिखी है और न उनके उत्तराधिकार का क्रम। इन बातों का निर्णय अधिनियम के अन्य उपबन्धों के आधार पर होना चाहिए, जैसे धारा १२, १३ और १८। अब **धारा ८ (घ)** के ऊपर विचार करना है, जो यह है—"अन्ततः यदि कोई गोत्रज भी न हो तो मृतक के बन्धुओं को (सम्पत्ति) न्यागत होगी।" धारा ३ (ग) मे बन्धु की परिभाषा यह लिखी है—"यदि दो व्यक्ति एक दूसरे के रक्त या दत्तक ग्रहण द्वारा नातेदार है किन्तु ऐसे नातेदार सर्वथा पुरुषों के माध्यम द्वारा ही नहीं है, तो एक व्यक्ति दूसरे का बन्धु कहा जाता है।" इसको तथा नातेदारी की इस परिभाषा को ध्यान म रखकर विचार करें कि "नातेदारी से विधिवत् सकुल्यता द्वारा नातेदारी अभिप्रेत है।" विचार करने से यहाँ निम्नोक्त तीन बातें मालूम पड़ेंगी। एक तो पीढ़ियों की सख्या की कोई सीमा नियमित नहीं है। अतएव अन्य शर्तों को पूरा करने पर दूर से दूर वाला नातेदार भी बन्धु की हैसियत से उत्तराधिकारी बन सकता है। दूसरे, रक्त द्वारा नातेदारी के अन्तर्गत सगा, सौतेला, एकमातृक तीनों नातेदार आ जाते है, जैसा कि ऊपर धारा ८ (ग) मे बताया जा चुका है। वहाँ बताया गया था कि एकमातृक नातेदार गोत्रज नही हो सकता, क्योंकि उसके तथा मृतक के

बीच में कम से कम एक नारी अवश्य अन्तरित हो जाती है। बन्धु के विषय में नारी का अन्तरित होना दोष होने के बजाय अर्हता है। इसलिए एकमातृक नातेदार भी सगे व सौतेले नातेदार के सदृश बन्धु माना जाता है। ज्ञातव्य है कि सगे को सौतेले से व एकमातृक से वरीयता तो मिलती है, किन्तु मृतक का एकमातृक भाई, बहन या अन्य नातेदार भी सगे की तरह बन्धु की हैसियत से उत्तराधिकार इस उपधारा में पा सकता है। दत्तकग्रहण द्वारा नाता तो इस उपधारा में सन्निहित है ही। तीसरे, बन्धु की गणना में नातेदारों की विधवाएँ नहीं आती हैं, क्योंकि वे न तो "रक्त" न "दत्तकग्रहण" द्वारा मृतक के साथ सम्बन्धित होती हैं। उसका उनसे सम्बन्ध विवाह के द्वारा होता है, किन्तु विवाह द्वारा सम्बन्ध का उल्लेख धारा ३ (ग) वाली परिभाषा में नहीं पाया जाता है। अनुसूची के वर्ग १ व वर्ग २ वाली दायादाओं की बात दूसरी है, क्योंकि उनके निमित्त विशेष उपबन्ध किया गया है।

धारा ८ (घ) में भी न तो बन्धुओं की पंजी प्रवेष्टित है और न वह क्रम, जिसके अनुसार वे लोग दाय प्राप्त करेंगे। इन बातों को जानने के लिए अधिनियम के अन्य अंगों का आश्रय लेना पड़ेगा, जैसे धारा १२, १३, व १८। प्राचीन हिन्दू ला में बन्धुओं का वर्गीकरण पहले बतलाया गया था—आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु। इस वर्गीकरण की तथा माननीय मुल्ला कृत "हिन्दू ला" (१२वाँ सं०) के पृष्ठ १४७–१५७ में दी गयी विस्तृत पंजी की आवश्यकता अधिनियम में नहीं समझी गयी है। उन सब के निचोड़ को अधिनियम के भीतर एकत्रित करके सूत्ररूपी धाराओं से मन्तव्य निष्पन्न करने का प्रयास किया गया है। ज्ञातव्य है कि इस धारा के आरम्भ में जो "मरने वाले हिन्दू" ये शब्द आये हैं उनका तात्पर्य प्राकृतिक या लौकिक मृत्यु से तो है ही, व्यावहारिक मृत्यु (यथा संन्यास ग्रहण एवं सात वर्ष पर्यन्त समाचार न मिलने से मृत्यु को पूर्व-धारणा) भी है। अपरंच हिन्दू शब्द का तात्पर्य संसारी मनुष्य से है। इस अधिनियम के अधीन संन्यासी, बैरागी एवं आबाल ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का उत्तराधिकार नहीं आ सकता। इन आश्रमियों की दायप्राप्ति वाले प्रश्नों का समाधान आज भी प्राचीन नियमों के आधार पर किया जायगा। किन्तु सेवाइती एवं महन्ती की संसारी सम्पत्ति में ही गणना होती है। अतः उसका अवक्रमण इसी धारा के अनुसार होगा।

अनुसूची में कुल १२+२३ दायाद गिनाये गये हैं। अधिमान्य बारहों दायादों का पुंज साथ-साथ उत्तराधिकार पाता है, अतः उस दशा में सम्पत्ति के द्वादश भाग हो जाते हैं। किन्तु प्रत्येक भागीदार का अंश समान नहीं होता (धारा १०)। वर्ग २ में नौ प्रवर्ग या प्रविष्टियाँ हैं। केवल प्रथम प्रविष्टि में एक दायाद है, तीन में चार-चार, एवं बाकी पाँच प्रविष्टियों में दो-दो दायाद हैं। अर्थात् पिता को छोड़कर अन्य

दायादों के पास पहुँचने पर सम्पत्ति के खण्डकरण का उपबन्ध किया गया है। उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि सम्पत्ति एक—दो ही हाथों मे सकेन्द्रित होकर न रह जाय। सम्पत्ति का सकेन्द्रण समाज के लिए अहितकर एव उसका वितरण तथा संचलन कल्याणप्रद होता है। विधानमण्डल का यह प्रयास श्लाघ्य है। एक बात फिर भी खटकती है। धारा २९ के अनुसार "यदि निवसीयत व्यक्ति अपने बाद ऐसा कोई दायाद नही छोड़ता जो कि उसकी सम्पत्ति को इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुकूल उत्तराधिकार मे प्राप्त करने के लिए अर्ह हो, तो ऐसी सम्पत्ति सरकार को न्यागत होगी .....।" सरकार को न्यागत अर्थात् जनसमूह को न्यागत होना उस सस्था को न्यागत होने के बराबर है, जिसके अवलम्बन के बिना सम्पत्ति का निर्माण ही असम्भव होता है। धारा ८ वाला नियम इस औचित्यसम्मत न्यागमन को शायद आवश्यक से अधिक विलम्बित करता है।

यह मानना पड़ेगा कि लोकसभा ने उत्तराधिकार वाले कानून में व्यापक तथा अभीप्सित सुधार कर दिये है। उसने ऐसे नियमों को गढ़ने का प्रयास—सच्चा प्रयास किया है जिसमें कि अपने प्रिय एवं समीपी नातेदारों के भरण-पोषण और सुखमय जीवन के निमित्त उचित उपबन्ध कर देने के विषय में एक सामान्य निर्वसीयत की नैसर्गिक अभिलाषा की उचित पूर्ति हो सके। मालूम होता है कि भारतीय लोकसभा ने एक लोकप्रिय इच्छापत्र निर्मित कर दिया है, जिसमें किसी निर्वसीयत को प्राण प्रयाण के अवसर पर यह आशका न रहे कि जो लोग उसको स्वभावतः प्रिय हैं या जो उसके आश्रित है, वे उसके न रहने पर निरालम्ब होकर दाने-दाने को तरसने लगेंगे। उत्तराधिकारी कानून का आधार यह सिद्धान्त है कि जीवित व्यक्तियों में से मृतक की सम्पदा उन लोगों के हाथ लगनी चाहिए जो अपनी अकिंचनता या पात्रता के कारण उसके अधिकारी प्रतीत हों।

धारा ८ से विदित होता है कि प्राथमिकता का क्रम इस विचार को लेकर निर्धारित किया गया है कि कौन से आत्मीयगण साधारणतया अधिक और कौन से कम प्रिय होते है। सामान्यतः गोत्रज, अर्थात् पैत्रिक वशज व पूर्वज, बन्धुओं अर्थात् मातृक नातेदारों की अपेक्षा प्रियतर होते हैं। किन्तु बन्धुओं में से कुछ नातेदार गोत्रजों से भी अधिक प्रिय और समीपी होते है। धारा ८ में दोनों बातों का ध्यान रखा गया है। जिन नातेदारों को उत्तराधिकारी योजना के भीतर प्रवेश नही मिल सकता है, उनके पालन का उपबन्ध "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" में किया गया है। यथासम्भव किसी के भरोसे व प्रत्याशा को टूटने नहीं दिया गया है। धारा ८ (ग) व

(घ) को समझने एवं हृदयंगम करने के लिए माननीय मुल्ला कृत "हिन्दू ला" के पृष्ठ १००१–२ में लिखे उदाहरण पठनीय हैं।

अनुसूची में के दायादों के बीच उत्तराधिकार-क्रम

९. वर्ग १ में के दायाद एक साथ और अन्य सब दायादों का परिवर्जन करके अंशभागी होंगे, वर्ग २ में की पहली प्रविष्टि में के दायादों को दूसरी प्रविष्टि में के दायादों की अपेक्षा अधिमान प्राप्त होगा, दूसरी प्रविष्टि में के दायादों को तीसरी प्रविष्टि में के दायादों की अपेक्षा अधिमान प्राप्त होगा और इसी प्रकार क्रमवर्ती रूप में अधिमान होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह धारा अनुसूची के वर्ग २ की प्रविष्टियों की दाय प्राप्ति के क्रम को निर्धारित करती है और यह भी विहित करती है कि वर्ग १ के बारहों दायाद, जिस मण्डली को अधिमान्य-दायाद कह सकते हैं, एक साथ अंश-भागी होंगे। इस धारा का नियम सरल, स्पष्ट व स्वतः बोधगम्य है। यदि निर्वसीयत के बाद वर्ग १ का एक ही दायाद विद्यमान हो, और वर्ग २ में प्रविष्टि २ के चारों दायाद, तो पूर्वोक्त अकेला दायाद शेषोक्त चारों दायादों को परिवर्जित करके अकेला ही सारी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेगा। और यदि दैवात वर्ग १ में के बारहों अधिमान्य दायाद विद्यमान हों तो वे सबके सब एक साथ अंशभागी बन जायेंगे। यदि निर्वसीयत अपनी एक बहन और दूसरी बहन की एक पुत्री व अपने पितामह को छोड़कर मरे, तो प्रविष्टि २ की दायाद होने के बल पर बहन, उन दोनों को परिवर्जित करके, समस्त सम्पत्ति को पा जायगी। यदि वह विधवा हो और पुनर्विवाह कर चुकी हो, तो भी वह सम्पूर्ण सम्पत्ति को पा जायगी, क्योंकि धारा २४ में एक विधवा बहन अपने पुन-र्विवाह के कारण दायप्राप्ति से वंचित नहीं की जा सकती है।

अनुसूची के वर्ग १ के दायादों में सम्पत्ति का वितरण

१०. निर्वसीयत की सम्पत्ति वर्ग १ के दायादों में निम्नवर्त्ती नियमों के अनुकूल विभाजित की जायेगी—

नियम १—निर्वसीयत की विधवा या यदि एक से अधिक विधवा हों तो सब विधवाएँ मिलकर एक अंश लेंगी।

नियम २—निर्वसीयत के उत्तरजीवी पुत्र और पुत्रियाँ और माता प्रत्येक एक-एक अंश लेंगे।

नियम ३—निर्वसीयत के पूर्व-मृत पुत्र या पूर्व-मृत पुत्रियों से प्रत्येक में की शाखा में के दायाद मिलकर एक अंश लेंगे।

नियम ४—नियम ३ के निर्दिष्ट अंश का वितरण—

(i) पूर्व-मृत पुत्र की शाखा में के दायादों के बीच ऐसे किया जायगा कि उसकी अपनी विधवा (या मिलकर विधवाएँ) और उत्तरजीवी पुत्र और पुत्रियों को बराबर प्रभाग प्राप्त हो, और उसके पूर्व-मृत पुत्रों की शाखा को वैसा ही प्रभाग प्राप्त हो।

(ii) पूर्व-मृत पुत्री की शाखा में के दायादों में ऐसे किया जायगा कि उत्तरजीवी पुत्र और पुत्रियों को बराबर प्रभाग प्राप्त हों।

धारा ९ में कहा गया है कि वर्ग १ वाले बारहों अधिमान्य दायाद साथ-साथ दाय प्राप्त करेंगे, जिसका अर्थ यह है कि उन दायादों के बीच आपस में पूर्वता या पूर्व-परता नहीं होती। यह अर्थ नहीं है कि बारहों दायादों में प्रत्येक का बराबर-बराबर अर्थात् १/१२ अश होगा। उनके अंश धारा ९ के नहीं, धारा १० के अनुसार निर्धारित किये जाते है। धारा ९ अंश-निर्णायक नहीं क्रम-निर्धारक है। वर्ग १ के दायादों के बीच सम्पत्ति के वितरण के नियम धारा १० में लिखे गये हैं। इसमें तीन नियम सन्निहित हैं, क्योंकि नियम ३ को नियम ४ के साथ ही पढ़ना चाहिए। पहले नियम के अनुसार निर्वसीयत की विधवा (या उनका समूह) एक अंश लेगी, जो अंश एक पुत्र या पुत्री या माता के अंश के बराबर होगा। दूसरा नियम कहता है कि पुत्र या पुत्रों का समूह और पुत्री या पुत्रियों का समूह और माता बराबर-बराबर अंश पायेंगे। तीसरे नियम के अनुसार पूर्व-मृत पुत्र के सब दायाद मिलकर उसका अंश पायेंगे। तथैव पूर्व-मृत पुत्री के सब दायाद मिलकर उसका अंश लेंगे। पूर्व-मृत पुत्र के अपने दायादों में (यथा उसकी विधवा, पुत्र, पुत्री), तथैव पूर्व-मृत पुत्री के अपने दायादों में (पुत्र-पुत्री) पितृपरक नियम के अनुसार वितरण किया जाता है, न कि व्यक्तिपरक नियम के अनुसार। नियम ३, ४ को साथ-साथ पढ़ने के बाद ध्यान इन वाक्यों पर अटक जाता है—"पूर्व-मृत पुत्र की शाखा के दायादों के बीच" और "पूर्व-मृत पुत्री की शाखा के दायादों में" जिनका आशय है निर्वसीयत के वर्ग १ में गिनाये हुए दायादों के ही वे लोग जो पूर्व-मृत पुत्र और पूर्व-मृत पुत्री की शाखाओं को संघटित करते हैं।

पूर्व-मृत पुत्री की शाखा को तथा पूर्व-मृत पुत्र की शाखा को संघटित करने वाले निर्वसीयत के दायाद कौन लोग हैं? पूर्व-मृत पुत्र की शाखा में आनेवाले ये लोग हैं—(१) (निर्वसीयत के) पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र, (२) पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र, (३) पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री, (४) पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री, (५) पूर्व-मृत पुत्र की विधवा, (६) पूर्व-मृत पूत्र के पूर्व-मृत पुत्र की विधवा। उसी प्रकार से पूर्व-मृत पुत्री की शाखा के अन्तर्गत आनेवाले ये लोग हैं—(१) पूर्व-मृत पुत्री का पुत्र, (२)

पूर्व-मृत पुत्री की पुत्री। ये आठों लोग उन बारहों के वृन्द में से हैं जिनकी "अधिमान्य दायाद" की संज्ञा है। इन बारह दायादों के अंश निम्नोक्त उदाहरण से समझने चाहिए।

राम के दो पुत्र **क** व **ख** और दो पुत्री **ग** व **घ** थीं। वह जब निर्वसीयत मरा तब उनमें से एक पुत्र **ख** व एक पुत्री **घ** मर चुके थे। एक पुत्र **क** व एक पुत्री **ग** जीवित थे। पुत्र **ख** ने एक विधवा **च**, एक पुत्र **छ** को व एक पुत्री **छ**$_{१}$ छोड़ा और एक मृत पुत्र **छ**$_{२}$ की विधवा **ज** को तथा उस मृत पुत्र के एक पुत्र **झ** व एक पुत्री **ट** को छोड़ा था। पुत्री **घ** ने एक पुत्र **ठ** व एक पुत्री **ड** को छोड़ा था। राम के मरने पर उसकी विधवा **ढ** व माता **त** के अतिरिक्त उसके वंशजों में **क, ग, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, छ**$_{१}$ मौजूद थे। यथा—

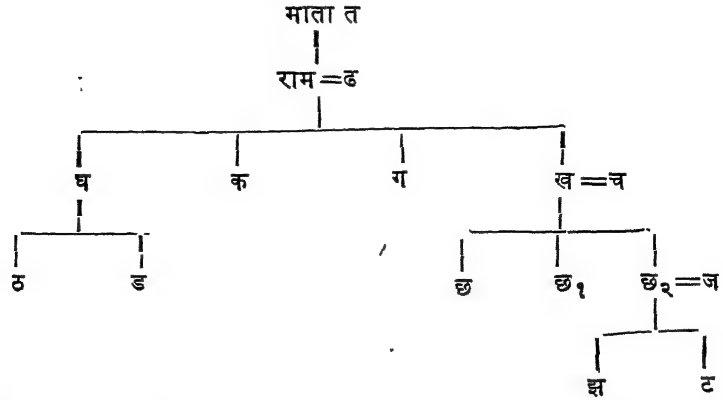

ये बारहों उत्तरजीवी राम के अधिमान्य दायाद हैं जो वर्ग (१) के है। धारा ९ के अनुसार ये सब साथ-साथ राम के उत्तराधिकारी बनेंगे। इनमें से न कोई आगे दाय को प्राप्त करेगा न पीछे। किन्तु इन सबका अंश समान नहीं होगा। प्रत्येक का अश जानने के लिए धारा १०± का विनियोग करना होगा। धारा १० के प्रथम व द्वितीय नियमों का प्रयोग करने से राम की सम्पत्ति के **ढ**, **त**, **क**, **ख**, **ग**, **छ**, छः भागीदार हुए। अतः प्रत्येक का अश १/६ निकला। **ख** का अंश उसकी शाखा वाले राम के दायाद, एव **छ** का अंश उसकी शाखा वाले राम के दायाद पायेंगे। अब इनका अंश तीसरे व चौथे नियम के आधार पर निकालना होगा। **ख** की विधवा **च**, व पुत्र **छ**, व एक पुत्री **छ**$_{१}$, व मृत पुत्र **छ**$_{२}$ की शाखा ये चार भागीदार **ख** के १/६ अंश में हुए। प्रत्येक को १/२४ अश मिला। अब **छ**$_{२}$ की शाखा में राम के तीन दायाद हैं—उसकी विधवा **ज** व उसके पुत्र-पुत्री **झ**, **ट**। फिर तीसरे व चौथे नियम का प्रयोग होगा। इन तीनों का १/२४ में बराबर-बराबर अंश होने से प्रत्येक भागीदार को १/७२ अंश मिलता

है। घ की शाखा में राम के दो ही दायाद विद्यमान हैं; एक पुत्र ठ, व एक पुत्री ड। इनका अंश भी नियम ३ व नियम ४ (ii) के आधार पर निकलेगा और प्रत्येक को १/१२ अंश मिलेगा। अब बारहों दायादो के अंशों की सारणी तैयार हुई। यदि उपरोक्त वंशावली में ही प्रत्येक जीवित दायाद का अंश प्रविष्ट कर दिया जाय तो समझने में सुविधा होगी। अस्तु,

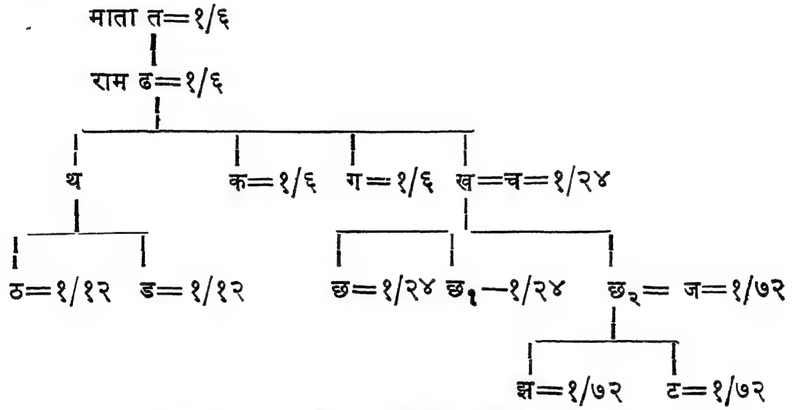

अनुसूची के वर्ग २ के दायादों में सम्पत्ति का वितरण

११. निर्वसीयत की सम्पत्ति अनुसूची के वर्ग २ में की किसी एक प्रविष्टि में उल्लिखित दायादों के बीच ऐसे विभाजित की जायगी कि उन्हें बराबर अंश प्राप्त हो।

इस धारा के साथ धारा १९ को भी ध्यान मे रखना चाहिए, जिसमें उपबन्धित है कि "यदि दो या अधिक दायाद निर्वसीयत की सम्पत्ति के एक साथ उत्तराधिकारी होते हैं, तो वे सम्पत्ति को—(क) इस अधिनियम में अभिव्यक्त रूप से अन्यथा उपबन्धित को छोड़कर व्यक्तिपरक आधार पर लेंगे; और (ख) सामान्य आभोगियों के रूप में, न कि संयुक्त आभोगियों के रूप में, लेंगे।" धारा ११ विहित करती है कि अनुसूची के वर्ग (२) की प्रत्येक प्रविष्टि के दो या अधिक दायाद सम अंश के भागी होंगे। धारा १९ यह विहित करती है कि ऐसे दायाद पितृपरक रूप से नहीं, व्यक्तिपरक रूप से एवं संयुक्त आभोगी की हैसियत से नहीं, अपितु सह-आभोगी की हैसियत से उत्तराधिकार पायेंगे। दोनों धाराओं का संयुक्त निष्कर्ष यह निकला कि उदाहरणार्थ, यदि राम एक भाई का पुत्र तथा बहन के दो पुत्र (जो उसके प्रविष्टि ४ वाले दायाद होते है) छोड़कर मरता है, तो राम के ये तीन दायाद एक-एक तिहाई अंश उसकी सम्पत्ति का पायेंगे और उन पर उत्तरजीवित्व का नियम नहीं लागू होगा। अर्थात् उनमें

से जो-जो मरता जायगा उसका भाग उसी के दायादों पर अवतरित होता जायगा। यद्यपि इस उदाहरण के तीन दायाद दो शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं—एक बहन की शाखा व एक भाई की शाखा—तथापि राम की सम्पत्ति दो भागों में नहीं बाँटी जायगी, अपितु तीन सम भागों में।

गोत्रजों और बन्धुओं में उत्तराधिकार का क्रम

१२. यथास्थिति गोत्रजों या बन्धुओं में उत्तराधिकार का क्रम यहाँ नीचे दिये हुए अधिमान नियमों के अनुसार अवधारित किया जायगा—

नियम १—दो दायादों में परस्पर उसे अधिमान प्राप्त होगा जिसकी ऊपरली ओर की डिग्रियाँ अपेक्षाकृत कम हैं, या हैं ही नहीं।

नियम २—जहाँ कि ऊपरली ओर की डिग्रियों की संख्या एक समान है या है ही नहीं वहाँ उस दायाद को अधिमान प्राप्त होगा जिसकी निचली ओर की डिग्रियाँ अपेक्षाकृत कम हैं या हैं ही नहीं।

नियम ३—जहाँ कि नियम १ या नियम २ के अधीन एक दायाद दूसरे की तुलना में अधिमान पाने का हकदार नहीं है वहाँ साथ-साथ अंशभागी होंगे।

डिग्रियों की गणना

१३. (१) गोत्रजों या बन्धुओं में उत्तराधिकार क्रम के अवधारण के प्रयोजन के लिए निर्वसीयत से दायाद की नातेदारी की गणना यथास्थिति ऊपरली डिग्री या निचली डिग्री या दोनों के अनुसार की जायगी।

(२) ऊपरली डिग्री और निचली डिग्री की गणना निर्वसीयत को सम्मिलित करके की जायगी।

(३) प्रत्येक पीढ़ी की या तो एक ऊपरली या एक निचली डिग्री होगी।

ये दो धाराएँ धारा ८ (ग) व ८ (घ) की अनुपूरक हैं। धारा ८ की दोनों उपधाराएँ गोत्रजों की व बन्धुओं की न तो सारणी को अन्तर्धारित करती हैं और न उनके उत्तराधिकारी क्रम को। सारणी के कार्य को गोत्रज व बन्धु की धारा ३ में दी गयी परिभाषाएँ पूरा कर देती है। उत्तराधिकारी क्रम को धारा १२ में विहित तीन नियम अवधारित करते हैं। इन तीनों नियमों को पढ़ने के बाद यह प्रतीत होता है कि वे दायाद गण, जो ८ (क) व (ख) के प्रसार से बाहर हैं, या तो निम्नोक्त तीन श्रेणियों के गोत्रज होते हैं या तीन श्रेणियों के बान्धव। इन छः श्रेणियों का वर्णन यह है—

(१) निचली डिग्री वाले गोत्रज या अवरोही वंशज, अर्थात् वे गोत्रज जो निर्व-

सीयत के साथ ऊपरली डिग्री या आरोही वंशक्रम के द्वारा सम्बन्धित न हों। यथा मृतक के प्रपौत्र का पुत्र या उसकी पुत्री। ये दोनों लोग गोत्रज की परिभाषा के अन्तर्गत हैं और साथही साथ उसके और इनके बीच कोई ऊपरली डिग्री अन्तरित नहीं होती है।

(२) ऊपरली डिग्री वाले गोत्रज या आरोही पूर्वज, अर्थात वे गोत्रज जो निर्वसीयत के साथ केवल ऊपरली डिग्री या आरोही वंशक्रम के द्वारा सम्बन्धित हों, और अवरोही डिग्री के द्वारा किसी भी पीढ़ी से सम्बन्धित न हों। यथा मृतक का प्रपितामह और मृतक की प्रपितामही। ये दोनों नातेदार गोत्रज की परिभाषा के अन्दर आ जाते है और इसके साथ-साथ उसके व इनके बीच में कोई अवरोही डिग्री अन्तरित नहीं होती है।

(३) साम्पार्श्विक गोत्रज, अर्थात वे गोत्रज जो मृत निर्वसीयत के साथ आरोही एवं अवरोही दोनों प्रकार की पीढ़ियों द्वारा सम्बन्धित हों, यथा पितृव्य का पुत्र और पितृव्य की पुत्री। इस वंशवृक्ष से विदित होगा कि मृत-निर्वसीयत से चलकर ख के पुत्र व पुत्री तक पहुँचने के निमित्त पहले आरोहण और फिर अवरोहण क्रिया में रत होना पडेगा। सांपार्श्विक गोत्रज वे लोग होते हैं जो किसी सम-पूर्वज की सन्तान होते हुए भी भिन्न रेखाओं के माध्यम से परस्पर संग्रथित हों।

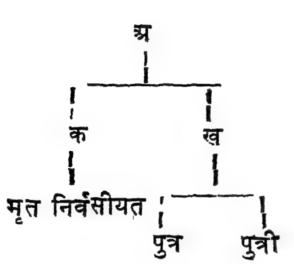

(४) निचली डिग्री वाले बन्धु, या वे बन्धु जो निर्वसीयत के साथ केवल निचली डिग्री या अवरोही वंशक्रम द्वारा संग्रथित हों और जिनके व उसके बीच में कोई ऊपरली डिग्री अन्तरित न होती हो। यथा मृतक के पुत्र की पुत्री का पौत्र और मृतक की पुत्री का प्रपौत्र।

(५) ऊपरली डिग्री वाले वन्धु या वह बन्धु जो निर्वसीयत के साथ केवल आरोही वंशक्रम के माध्यम से सम्बन्धित हो, और अवरोही वंशक्रम के माध्यम से किसी भी पीढ़ी से सम्बन्धित न हो। यथा पिता का मातामह और माता का पितामह। ये दोनों नातेदार बन्धु तो हैं ही, क्योंकि मृतक के साथ उनके सम्वन्ध का माध्यम अन्तरित एक नारी थी। इसके अतिरिक्त उसके व उनके बीच में कोई अवरोही क्रम का नातेदार नहीं है।

(६) साम्पार्श्विक बन्धु, अर्थात वे बन्धु जिनके साथ निर्वसीयत का नाता आरोही एवं अवरोही दोनों प्रकार के वंशक्रम के द्वारा जुटा हो। यथा निर्वसीयत की बूआ का

पुत्र, एवं निर्वसीयत के मामा का पुत्र। निर्वसीयत से चलकर इन दोनों बन्धुओं तक पहुँचने के लिए वंशवृक्ष पर पहले चढ़कर फिर उतरना पड़ता है।[1]

इन छः श्रेणी के नातेदारों में वरीयता का निर्धारण धारा १२ के तीन नियमों के आधार पर किया जायगा। पहली श्रेणी वाले गोत्रजों को दूसरी श्रेणी वालों की अपेक्षा एव दूसरी श्रेणी वाले गोत्रजों को तीसरी श्रेणी वालों की अपेक्षा वरीयता मिलेगी। तथैव पहली श्रेणी वाले बन्धुओं को दूसरी श्रेणी वालों की अपेक्षा और दूसरी श्रेणी वाले बन्धुओं को तीसरी श्रेणी वाले बन्धुओं की अपेक्षा वरीयता मिलेगी। पहली व दूसरी श्रेणी वाले गोत्रज तीसरी श्रेणी वाले गोत्रजों से संख्या मे कम होते हैं। उसी प्रकार से चौथी व पाँचवी श्रेणी वाले बन्धु छठी श्रेणी वाले बन्धुओं से संख्या मे कम होते है। अधिकांश गोत्रजों एव बन्धुओं के साथ निर्वसीयत का नाता आरोही तथा अवरोही दोनों प्रकार के वंशक्रमों के माध्यम से जुड़ा पाया जाता है।

धारा १२ वाले नियमों में वंशक्रम या पीढ़ियों या डिग्री की संख्या का जो उल्लेख हुआ है उसका अवधारण धारा १३ के उपबन्धों के अनुसार करना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों लिंग के व्यक्ति दायप्राप्ति के अधिकारी बन सकते है। दायाद पुरुष हो अथवा नारी, उनकी वरीयता अवधारित करने के लिए सीढ़ियों की संख्या गिने बिना काम नही चलता। संख्या गिनने में अन्तरित पीढ़ियाँ पुरुष की हो सकती है और नारी का भी। भेद यह है कि एक भी नारी के अन्तरित हो जाने से दायाद की संज्ञा बन्धु और न होने से गोत्रज पड़ जाती है। खालिस (शुद्ध) पूर्वज तथा खालिस वंशज का दूरा खोजना तो सरल होता है। निर्वसीयत मृतक को पहली डिग्री मानकर पूर्वज या वंशज तक की डिग्रियाँ या पीढ़ियाँ गिन लेनी चाहिए। किन्तु सांपार्श्विक दायाद तक पीढ़ियाँ गिनना जरा कठिन काम होता है। उस दशा में आरोही तथा अवरोही दोनों प्रकार के वंशक्रम की संख्या गिनी जाती है। सम-पूर्वज तक गिनते वक्त मृतक को पहली पीढ़ी मान लेते है। फिर पूर्वज से दायाद तक अवरोही वंशक्रम गिनते वक्त उस पूर्वज को छोड़कर पीढ़ियाँ गिनी जाती है। यथा, सामने लिखित वंशवृक्षों को देखिए; वृक्ष (१) में मृतक से राम तक ऊपरली तीन पीढ़ियाँ हुई तथा राम से **ग** तक निचला भी तीन पीढ़ियाँ हुई। वृक्ष (२) में भी मृतक से राम की पत्नी **क** तक तीन आरोही, एवं राम की पत्नी **क** से पुत्री **ग** तक तीन ही अवरोही पीढ़ियाँ हुई। पहले वंशवृक्ष में दायादा **ग** मृतक की गोत्रजा है। दूसरे वंशवृक्ष मे दायादा **ग** मृतक की बन्धु है। एक में राम स्वतः सम-पूर्वज है, दूसरे मे उसकी विधवा **क**।

१. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृ० ९६५।

(१)

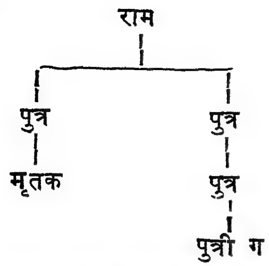

(२)

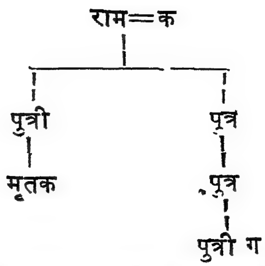

ऊपर कहा जा चुका है कि उपरोक्त छः श्रेणियों वाले दायादों में आपसी अधिमान के निर्णयार्थ धारा १२ के तीन नियमों का विनियोग करना चाहिए। इन तीन नियमों का नाम है अधिमान-सम्बन्धी नियम। इन तीनों में पहला सबसे महत्वपूर्ण है। उन पर अलग-अलग विचार कर्तव्य है। पहला नियम विहित करता है—"दो दायादों में परस्पर उसे अधिमान प्राप्त होगा जिसकी ऊपरली ओर की डिग्रियाँ अपेक्षाकृत कम हैं या है ही नहीं।" इसका आशय सरल है और यह गोत्रज व बन्धु दोनों प्रकार के दायादों पर लागू है। दो प्रतिद्वन्द्वी दायादों में यदि एक आरोही क्रम का हो और दूसरा अवरोही क्रम का, तो अवरोही को अधिमान मिलेगा, क्योंकि उसकी "ऊपरली ओर की डिग्रियाँ हैं ही नहीं।" और यदि दोनों अवरोही क्रम वाले दायाद हों, जिनमें एक की निचली पीढ़ियाँ दूसरे की निचली पीढ़ियों से कम हैं, तो कम निचली पीढ़ियों वाला दायाद अधिमान्य माना जायगा। उदाहरणार्थ, यदि निर्वसीयत के पुत्र के पुत्र के पुत्र की पुत्री का पुत्र **राम** एक दायाद हो, तथा उसका प्रतिद्वन्द्वी **श्याम** पुत्र की पुत्री की पुत्री का पुत्र हो, तो इन दो बन्धुओं, राम व श्याम में, प्रथम से द्वितीय वरीयता पायेगा। क्योंकि राम की पीढ़ियाँ छः और श्याम की पाँच ही हैं। उसी तरह यदि दोनों दायाद आरोही क्रम वाले हों, तो कम ऊपरली पीढ़ियों वाले को अधिक ऊपरली पीढ़ियों वाले से वरीयता मिलेगी। उदाहरणार्थ, निर्वसीयत के पिता के पिता की माता **श्यामा** को, निर्वसीयत के पिता के पिता के पिता के पिता **राम** से वरीयता मिलेगी। कारण यह है कि यद्यपि दोनों मृतक के गोत्रज और पूर्वज हैं, तथापि श्यामा की पीढ़ियाँ चार एवं राम की पाँच हैं। यदि श्यामा और राम गोत्रज न होकर बन्धु होते, तो भी प्रथम को वरीयता मिलती।

जब दो प्रतिद्वन्द्वी दायाद (गोत्रज या बन्धु) न अवरोही क्रम के होते हैं न आरोही क्रम के, किन्तु निर्वसीयत के सांपार्श्विक होते हैं, तो ऐसे दायादों का नाता निर्वसीयत के साथ आरोही क्रम का भी होता है और अवरोही क्रम का भी। ऐसी दशा में वह दायाद अधिमान पाता है जिसकी आरोही पीढ़ियाँ दूसरे दायाद की आरोही पीढ़ियों से कम निकलें। ध्यान रहे कि ऐसी दशा में न अवरोही पीढ़ियाँ गिनी जाती हैं और

न प्रतिद्वन्द्वियों की दोनों तरह की पीढ़ियों के जोड़ों की तुलना की जाती है। केवल आरोही या ऊपरली पीढ़ियों की संख्या गिनकर अधिमान का निर्णय कर दिया जाता है। यह पहले नियम के शब्दों का एक आवश्यक फल या निष्कर्ष है। आरोही डिग्रियाँ जितनी कम हों दायाद उतना ही निकटतम होगा, यहाँ तक कि यदि आरोही डिग्री एक भी न हो अर्थात् सांपार्श्विक एक अवरोही वश का वशज हो, तो ऐसा दायाद उस दूसरे से अधिमान्य समझा जायगा जो आरोही वंशक्रम का वंशज हो। निम्नलिखित उदाहरण ध्यान देने योग्य है

(१)

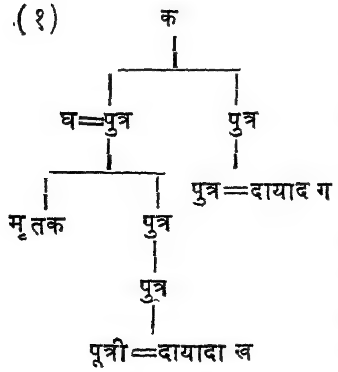

(२)

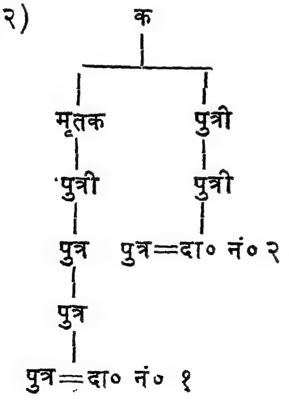

दो प्रतिद्वन्द्वी दायाद **ख** और **ग** हैं। दोनों साम्पार्श्विक गोत्रज है। दोनों की आरोही और अवरोही पीढ़ियों का जोड़ पाँच है—**ख** से मृतक तक पाँच और **ग** से मृतक तक भी पाँच। तो इनमें से वरीयता किसको दी जाय? **ख** को, क्योंकि **ख** अधिक समीप वाले सम-पूर्वज **घ** की सन्तान है, और **ग** अधिक दूर वाले सम-पूर्वज **क** का। अन्य शब्दों में, मृतक से **ख** का दो ही अवरोही पीढ़ियों का, किन्तु **ग** का तीन पीढ़ियों का अन्तर है। इस उदाहरण में दोनों दायाद बन्धु है। दायाद नं० १ मृतक का नितान्त या सीधा वशज यानी अवरोही वंशक्रम का सदस्य है। दायाद नं० २ मृतक का साम्पार्श्विक बन्धु है। यद्यपि नं० १ की मृतक से दूरी पाँच पीढ़ियों की है और नं० २ की भी उतनी ही दूरी है, तथापि वशज होने के नाते दायाद नं० १ को नं० २ सेपुवरीयता मिलेगी, क्योंकि नं० २ एक साम्पार्श्विक है।

उदाहरण नं० ३ में (आगे) दोनों दायाद बन्धु हैं और साम्पार्श्विक भी है। किन्तु मौसी के पुत्र वाले वंशवृक्ष में तीन आरोही पीढ़ियाँ है और भाई की दौहित्री में केवल दो। इसलिए द्वितीय को नारी होने पर भी प्रथम दायाद (जो नर है) की अपेक्षा अधि• मान मिलेगा।

उदाहरण न० ४ में दोनों दायाद बन्धु और साम्पार्श्विक हैं। किन्तु बहन के

दौहित्र की पुत्री वाले वशवृक्ष में केवल दो आरोही पीढ़ियाँ है, और मामा के पुत्र वाले वंशवृक्ष में आरोही पीढ़ियाँ तीन है। इसलिए बहन के दौहित्र की पुत्री को मामा के पुत्र से वरीयता मिलेगी। यद्यपि अवरोही पीढ़ियाँ मामा के पुत्र की ही कम है।

(३)

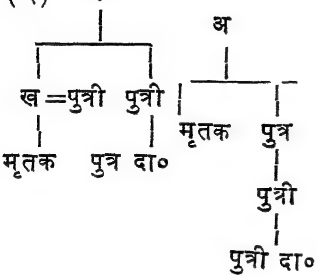

नीचे उदाहरण नं० ५ में दोनों दायाद साम्पार्श्विक बन्धु है। दायाद नं० २ पितृबन्धु, अतः प्राचीन हिन्दू ला के अनुसार न० १ से वरीयता पाने का अधिकारी है, क्योंकि न० १ मातृबन्धु है। इस विचार के विरोध में यह विचार है कि नं० १ की अवरोही पीढ़ियाँ न० २ से अधिक हैं। किन्तु इन दोनों विचारों का परित्याग करके धारा १२ के नियम (१) ने यह विहित किया है कि मात्र आरोही वशक्रम अधिमान का निर्णायक होगा। अतः इसी परख का प्रयोग करना चाहिए। दायाद न० १ की आरोही पीढ़ियाँ

(४)

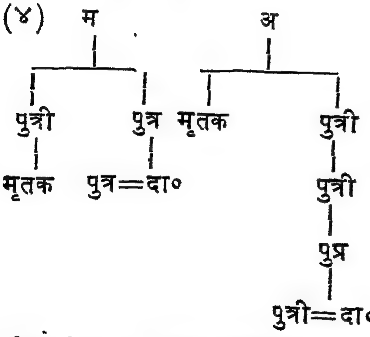

(५)

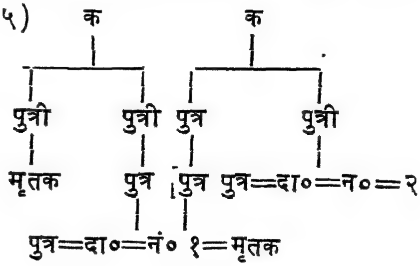

तीन और नं० २ की आरोही पीढ़ियाँ चार है। मात्र इस विचार को आधार मानने से दायाद नं० १ श्रेष्ठतर माना जायगा।

अब धारा १२ के नियम नं० २ पर विचार करेंगे, जो विहित करता है—"जहाँ पर ऊपरली ओर की डिग्रियों की संख्या एक समान है या है ही नहीं, वहाँ उस दायाद को अधिमान प्राप्त होगा जिसकी निचली ओर की डिग्रियाँ अपेक्षाकृत कम हैं या हैं ही नही।" यह नियम गोत्रज व बन्धु दोनों श्रेणी वाले दायादों पर प्रयोज्य है। इसका आशय यह है कि जब या तो दोनों प्रतिद्वन्द्वी दायाद निर्वसीयत मृतक के वशज हों, अथवा ऐसे पूर्वज हों जिनकी आरोही डिग्रियाँ बराबर हैं, तो कम अवरोही डिग्रियों वाले दायाद को वरीयता मिलेगी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पहले व दूसरे नियमों को साथ पढ़ना और लागू करना चाहिए। ये दोनों नियम मिलकर साम्पार्श्विक गोत्रजों

की पारस्परिक अग्रता व प्राथमिकता एवं साम्पार्श्विक बन्धुओं की पारस्परिक अग्रता व प्राथमिकता अवधारित करते हैं। इन बातों को निम्नलिखित उदाहरणों से समझना होगा।[१]

उदा० नं० १ में दोनों दायाद साम्पार्श्विक गोत्रज हैं। दोनों की आरोही डिग्रियाँ दो अर्थात् समान हैं। अब नियम (२) का प्रयोग होगा। दायाद नं० १ की निचली ओर की, यानी अवरोही डिग्रियाँ तीन हैं, किन्तु दायाद नं० २ की निचली ओर की यानी अवरोही डिग्रियाँ चार है। अतः दायाद नं० १ को दायाद नं० २ से वरीयता मिलेगी। इस उदाहरण में दोनों प्रतिद्वन्द्वी दायाद मृतक के एक ही भाई के वंशज हैं। यदि दायादा नं० १ मृतक के एक भाई की शाखा में पैदा होती और दायाद नं० २ मृतक के दूसरे भाई की शाखा में, तो न सिद्धान्त में, न उसके प्रयोग—फल में ही कोई अन्तर पड़ता। इसके अतिरिक्त यदि दा० नं० १ पुत्री न होकर पुत्र होता, तो भी कोई अन्तर न पड़ता।

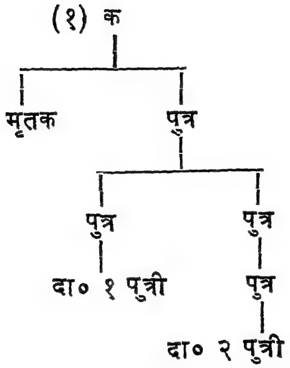

उदा० नं० २में दोनों दायाद साम्पार्श्विक बन्धु हैं। दोनों की आरोही डिग्रियाँ समान हैं यानी दो। अब दूसरे नियम के प्रयोग का अवसर आया। अवरोही डिग्रियों की गणना करने पर दायादा नं० १ की संख्या तीन एवं दायाद नं० २ की संख्या चार निकलती है। इसलिए दायादा नं० १ को अधिमान, मिलेगा, यद्यपि वह नारी है और दायाद नं० २ पुरुष है। किन्तु नर-नारी का भेद सभी क्षेत्रों मे मिटा दिया गया है।

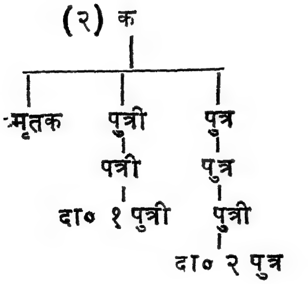

उदाहरण नं० ३ में दोनों दायाद बन्धु हैं। किन्तु दायादा नं० १ मातृबन्धु है, और दायाद नं० २ पितृबन्धु है। इस अन्तर का यदि कोई प्रभाव होता तो दायाद नं० २ बाजी जीत लेता।

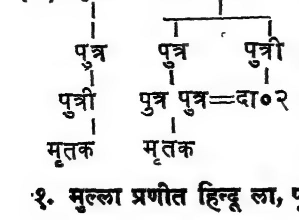

१. मुल्ला प्रणीत हिन्दू ला, पृष्ठ ९६८–७०।

किन्तु अब इसका कोई असर नहीं माना जाता है। आरोही डिग्रियाँ भी इस उदाहरण में निर्णायक नही हो सकतीं, क्योंकि उनकी संख्या दोनों वशवृक्षों मे चार-चार यानी बराबर है। अतः अवरोही डिग्रियों कीसख्या को अवधारक कारक वनाना चाहिए। दायादा नं० १ के वंशवृक्ष मे एक भी अवरोही डिग्री नहीं पायी जाती, और दूसरे में दो मौजूद हैं। अतः निर्णय दायादा न० १ के अनुकूल दिया जायगा, यद्यपि वह एक मातृवन्धु है। इस उदाहरण मे यह भी ज्ञातव्य है कि दा० नं० १ पूर्वज बन्धु और नं० २ साम्पार्श्विक बन्धु है। फिर भी नं० १ को अधिमान मिला है।

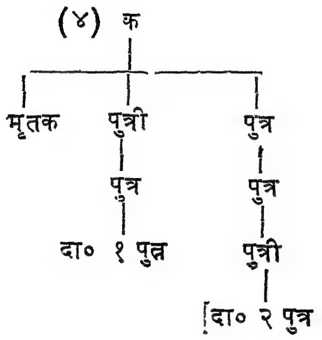

इस उदाहरण मे दोनों प्रतिद्वन्दी साम्पार्श्विक बन्धु हैं। दोनों मे आरोही पीढ़ियों की सख्या दो यानी समान है। किन्तु नं० १ की अवरोही पीढ़ियाँ तीन और नं० २ की चार है, इस परख का प्रयोग करके दायाद नं० १ को अधिमान मिलेगा, यद्यपि वह बहन की सन्तति है और दायाद नं० २ भाई की। इस बात का कोई असर नहीं लिया गया कि बहन विवाहोपरान्त दूसरे कुटुम्ब की सदस्य हो जाती है और दा० नं० १ को वरीयता देने से सम्पत्ति दूसरे कुल में पहुँच जायगी।

अब धारा १२ के **तीसरें नियम** को देखना चाहिए, जो विहित करता है—"जहाँ कि नियम १ या नियम २ के अधीन एक दायाद दूसरे की तुलना में अधिमान पाने का हकदार नहीं है, वहाँ वे साथ-साथ अंशभागी होंगे।" यह नियम गोत्रजों एवं बन्धुओं दोनों पर लागू होता है, चाहे वे पूर्वज या आरोही वंशक्रम के दायाद हों अथवा वशज या अवरोही वंशक्रम के दायाद हों। इस नियम का चमत्कार तब देखने में आता है, जब प्रतिद्वन्द्वी दायादों की हैसियत या तो साम्पार्श्विक गोत्रजों की हो या साम्पार्श्विक बन्धुओं की। जब दोनों दायाद मृतक के साम्पार्श्विक गोत्रज होते है और निर्वसीयत के उसी पुरुष पूर्वज से दोनों ही बराबर पीढ़ियों की दूरी पर होते है, तो दोनों साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं। उसी तरह जब दोनों दायाद मृतक के साम्पार्श्विक बन्धु होते हैं और निर्वसीयत के उसी पुरुष पूर्वज या नारी-पूर्वज से दोनों ही बराबर पीढ़ियों की दूरी पर होते हैं, अथवा निर्वसीयत के विभिन्न परन्तु समान दूरी वाले पूर्वजों से दोनों ही दायाद बरावर पीढ़ियों की दूरी पर होते हैं,

तो उभय दशाओं में दोनों दायाद साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं। इस नियम के निम्नलिखित उदाहरण है।[1]

उदाहरण (१) व (२) में प्रतिद्वन्द्वी दायादों के जोड़े वशज श्रेणी के हैं। प्रथम उदाहरण के जोड़े गोत्रज और दूसरे के बन्धु है। उनमे आरोही क्रम का नितान्त

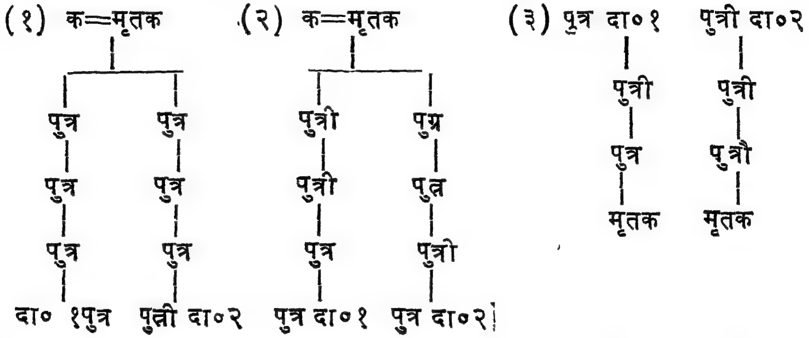

अभाव है। अवरोही क्रम में निचली पीढ़ियों की सख्या दोनों जोड़ों में पाँच-पाँच अर्थात् बराबर है। इसलिए नियम १ व नियम २ अप्रयोज्य हैं और किसी जोड़े के किसी भी दायाद को अधिमान नही उपलब्ध हो सकता। फलतः नियम ३ के अधीन दोनों जोड़ों के उभय दायाद साथ-साथ उत्तराधिकार पायेंगे। तीसरे उदाहरण के प्रतिद्वन्द्वी दायाद पूर्वज बन्धु है। दोनों के वंशवृक्ष अवरोही क्रम से रहित हैं। दोनों दायादों की आरोही डिग्रियाँ चार-चार यानी समान हैं। अतः नियम १ व २ का प्रयोग नहीं हो सकता है। फलतः नियम ३ के अधीन दोनों दायाद साथ-साथ उत्तराधिकार पायेंगे। तीनों उदाहरणों में दायादों के बीच लिंग का भेद-भाव नहीं किया गया है और तीसरे उदाहरण में मातृबन्धु से पितृबन्धु की श्रेष्ठता को भी स्थान नहीं मिला है।

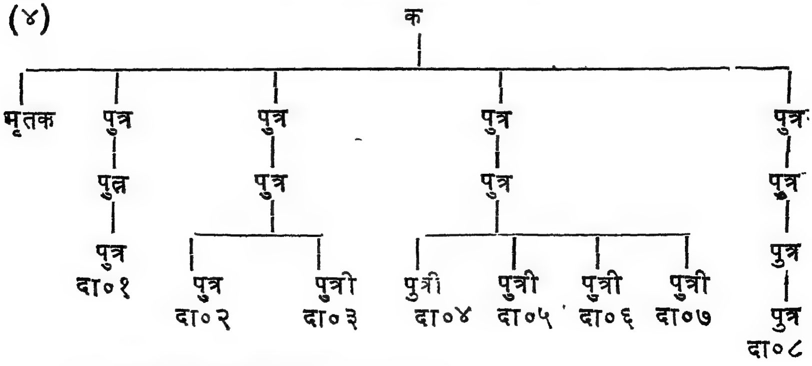

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला, पृष्ठ ९७०–७२।

इस उदाहरण (सं० ४) में जब मृतक निर्वसीयत मरा तो उसके साम्पाश्विक गोत्रजों में सात तीसरी पीढ़ी वाले और एक चौथी पीढ़ी वाला व्यक्ति जीवित थे। ये आठों उसके प्रतिद्वन्द्वी दायाद बने। आठवें प्रतिद्वन्द्वी का पिता पहले ही मर चुका था। तीसरी पीढ़ी वाले सात दायादों मे तीन पुरुष व चार नारी हैं। नर-नारी का भेद किया ही नही जाता। प्रत्यक्ष है कि सब दायादों की आरोही पीढ़ियाँ दो अर्थात् बराबर होने के कारण अधिमान की निर्णायक नहीं हो सकती है। उसी तरह अवरोही वंशक्रम भी दायाद न० १ से दायाद नं० ७ तक का तीन-तीन अर्थात् बराबर होने से उन लोगों की पारस्परिक वरीयता अवधारित नहीं कर सकता। अवश्य ही ये सात दायाद अपनी तीन अवरोही पीढ़ियों के बल पर दायाद नं० ८ को उत्तराधिकार से वंचित कर सकते हैं, क्योंकि उसकी अवरोही पीढ़ियाँ चार अर्थात् अधिक पड़ती है। अतएव इन सात दायदों पर नियम ३ का प्रयोग करना पड़ेगा और ये लोग साथ ही साथ उत्तराधिकार प्राप्त करेंगे। दायाद नं० ८ कोई अश नही पायेगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि नियम ३ गोत्रज व बन्धु दोनों श्रेणी वाले दायादों पर प्रयोज्य होता है। अतः **क** की बाकी चार सन्तानों में से सब या कुछ यदि पुत्री होती तो भी उत्तराधिकार का परिणाम वही होता जो ऊपर कहा जा चुका है। अन्तर मात्र यह पड़ता है कि उपरोक्त दायाद या उनमें से कुछ (अर्थात् वे तीसरी पीढ़ी वाली सन्तान जो नारी के माध्यम से नातेदार बनी है) बजाय गोत्रज के बन्धु की संज्ञा धारण करने लगते।

हिन्दू नारी की सम्पत्ति उसकी अपनी अप्रतिबन्ध सम्पत्ति होगी

१४. (१) हिन्दू नारी द्वारा कब्जाकृत कोई सम्पत्ति, भले ही वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूव या पश्चात् अर्जित की गयी हो, पूर्ण स्वामी के रूप में, न कि मर्यादित स्वामी के रूप में, धारित की जायगी।

व्याख्या—इस उपधारा में "सम्पत्ति" के अन्तर्गत वह जंगम और स्थावर सम्पत्ति है जो कि हिन्दू नारी ने दाय द्वारा या विभाजन में या भरण-पोषण या भरण-पोषण के बकाया के बदले मे या दान द्वारा किसी व्यक्ति से, चाहे वह नातेदार हो या न हो, अपने विवाह के पूर्व या समय या पश्चात् या अपने कौशल या परिश्रम द्वारा या क्रय द्वारा या चिरयोग द्वारा या किसी अन्य रीति से, चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, अर्जित की है और कोई ऐसी सम्पत्ति भी है जो कि इस अधिनियम के प्रारम्भ से अव्यवहित पूर्व स्त्रीधन के रूप मे स्वयं उस द्वारा धारित थी।

(२) उपधारा (१) मे अन्तर्विष्ट कोई बात दान के जरिये या इच्छापत्र या अन्य

किसी लिखित के अधीन या व्यवहार न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश के अधीन या पंचाट के अधीन अर्जित किसी सम्पत्ति पर उस सूरत में लागू न होगी, जिसमे कि दान, इच्छापत्र या अन्य लिखित या आज्ञप्ति, आदेश या पचाट के निबन्धन ऐसी सम्पत्ति में निर्बन्धित स्वत्व ही विहित करते हैं।

नारी-सम्पत्ति के लक्षण, प्रकार, गुण, परिणाम इत्यादि खण्ड १ के प्रकरण १२, १३ में बतलाये गये है। जीमूतवाहन ने जिसको एक दुरूह और जटिल विषय कहा था, वास्तव मे वह कितना क्लिष्ट और विशाल विषय बनकर रह गया था; कुछ तो इसलिए कि धर्मशास्त्रों ने स्त्रीधन के सूक्ष्म विभाग करने के बावजूद उनकी परिपूर्ण सूची प्रस्तुत करना असम्भव समझा था; कुछ पारस्परिक मतभेद के कारण और कुछ उच्च अदालतों की नजीरों में विषमता होने के कारण—किन्तु मुख्यतः इस पुरातन आग्रह-शील धारणा के कारण कि नारीसमूह को पूर्ण स्वामित्व प्रदान करना अनर्थकारी होता है। नारियों के स्वत्वाधिकार पर आरोपित प्रतिबन्ध अनेक विचारों को लेकर विहित किये जाते थे, यथा नारी कुमारी या विवाहिता या विधवा है, और सम्पत्ति उसको किस उद्गम से मिली थी। स्त्रीधन के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम भी इसी तरह के अनेक विचारों को लेकर निर्धारित होते थे। इस जटिल विषय को ऋजु और यथा-संभव बोधगम्य बनाके के उद्देश्य से यह धारा इस अधिनियम में प्रविष्ट की गयी है। उलझनों से भरे हुए प्राचीन हिन्दू ला के नियमों को मिटाकर यह एक सूक्ष्म व सरल देशव्यापी नियम स्थापित कर दिया गया है कि इस अधिनियम से पूर्व या पश्चात् प्राप्त सब प्रकार की सम्पत्ति की नारी भी अप्रतिबन्ध स्वामिनी समझी जायगी।

इस धारा के आरम्भ में यह वाक्य आया है—"भले ही वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व या पश्चात् अर्जित की गयी हो।" इस वाक्य का आशय प्रत्यक्ष है और हमारे सुप्रीम कोर्ट ने नजीर भी दे दी है कि यह नियम भूतलक्षी (अतीतव्यापी) है।[१] धारा में "कब्जा" शब्द का प्रयोग हुआ है। विधिविज्ञान में कब्जा या भुक्ति दो भाँति की मानी गयी है—मध्यस्थ रहित या अव्यवहित और मध्यस्थ सहित या व्यवहित। अतः मानना पड़ेगा कि इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में किया गया है।[२] किन्तु उस नारी का व्यवहित कब्जा इस शब्द के अन्तर्गत नहीं माना जायगा जिसने अपना पुनर्विवाह करके अपना स्वत्व खो दिया हो।[३] किन्तु जिस नारी का रेहन वा

१. **"हरिश्चन्द्र ब० त्रिलोकीसिंह", ए० आई० आर० ५७, सु० कोर्ट ४३४।**
२. **"कोटट्रु स्वामी ब० सेत्रा", ए० आई० आर० १९४९, सु० कोर्ट ५७७।**
३. **"विसर्तो ब० सुकर्ती", ए० आई० आर० १९६०, मध्य प्रदेश १५६।**

कब्जे के बावजूद मोचनाधिकार मौजूद हो उसको इस धारा से लाभान्वित होने का हक है। अर्थात् ऋण-मोचनानन्तर वह अखण्ड स्वामिनी गिनी जायगी।[1] उसी प्रकार जिस नारी की सम्पत्ति आदाता (सरकारी रिसीवर) में निहित हो चुकी है वह भी काविज मानी जायगी।[2] पट्टा-दवामी लिख चुकने के बाद भी वह काविज समझी जाकर इस धारा से लाभान्वित हो सकती है।[3]

इस धारा ने प्राचीन हिन्दू ला वाले परिसीमित स्वामित्व की समाप्ति कर डाली है। अवश्य ही उपधारा (२) के अनुसार परिसीमित स्वामित्व की रचना धारा में निर्दिष्ट रीतियों से करना आज भी सम्भव है। अर्थात् दान, इच्छापत्र, लिखित पत्र या दीवानी अदालत द्वारा पारित आदेश या आज्ञप्ति, या पचाट (पचायती निर्णय) के माध्यम से परिसीमित स्वामित्व का सजन आज भी हो सकता है। ज्ञातव्य है कि उपरोक्त रीतियों से परिसीमित स्वामित्व रचा जा सकता है। किन्तु परिसीमित स्वामित्व के अतिरिक्त एव उसी से मिलती-जुलती या भिन्न प्रकार की सम्पदाओं (इस्टेट्स) की रचना आजकल की जाने लगी है जिस पर उपधारा (२) लागू नही होती। यह सम्भव है कि पुरातन पूर्वाग्रहों के कारण लोग उन उपायों का विनियोग करके परिसीमित सम्पदा को जीवित रखने का प्रयास करते रहेंगे।

ऊपर कहा गया है कि इस धारा ने परिसीमित सम्पदा को आम तौर से समाप्त कर दिया है। लेकिन इस कथन के अपवाद वे मामले है जहाँ पर परिसीमित स्वामिनी ने इस अधिनियम के क्रियाशील होने (१७ जून १९५६) के पूर्व असमथनीय हेतुओं के निमित्त सम्पदा को पूर्णतः या अंशतः हस्तान्तरित कर दिया हो। सक्रान्तग्राही इस धारा की आड़ मे सम्पदा हड़प कर नही ले जा सकता। यद्यपि इस धारा से प्रतीत होता है कि प्रत्यावर्ती वाली संस्था का उन्मूलन हो चुका है, किन्तु याद रहे कि प्राचीन हिन्दू ला मे सम्पदा के मनमाने सक्रमण का निषेध प्रत्यावर्तियों के रक्षाथ नही अपितु सम्पदा के परिरक्षण के लिए विहित किया गया था और उस उद्देश्य का निर्मूलन इस अधिनियम ने नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उक्त धारा उत्तमर्णो या संक्रान्तग्राहियों का नहीं, हिन्दू नारियों का कल्याण करने के अभिप्राय से पारित की गयी है। अतः उस का उपयोग उत्तमर्ण अपनी अनुपयुक्त सौदेवाजी की प्रतिरक्षा करके के लिए कदापि नहीं कर सकते। भारतीय हाई कोर्टों ने इस प्रश्न पर पारस्परिक असहमति प्रकट की है। यथा पजाव, पटना, मद्रास, वम्बई, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, केरल का मत है कि असमर्थ-

१. "अरूमुग ब० नचीमुठू", ए० आई० आर० १९५८, मद्रास ४५९।

३. "कृष्णा ब० अखिल", ए० आई० आर० १९५८, कलकत्ता ६७१।

२. "राम ब० जग", ए० आई० आर० १९६२, पटना १३१।

नीय हस्तान्तरण की प्रतिरक्षा यह धारा नही कर सकती।[1] इलाहाबाद और पटना का मत इसके विपरीत है।[2]

वह सम्पदा भी, जो एक नारी अध्यर्पण के द्वारा दूसरी सीमित स्वामिनी से पाती थी, उसकी सीमित सम्पदा मानी जाती थी। किन्तु धारा १४ के प्रभाव से अब वह ग्रहीता की अखण्ड सम्पदा मानी जानी चाहिए, क्योंकि अध्यर्पण द्वारा प्राप्त सम्पदा भी इस धारा के अन्तर्गत आती है। अध्यर्पण के अतिरिक्त सम्पदा प्राप्त करने का एक अन्य माध्यम भी महत्व रखता है। जब समांशिता की सम्पत्ति का विभाजन हो रहा हो, और नाप-जोख के पहले कोई नारी अंशभागी दैवात मर गयी हो, तो उसका क्या अधिकार होगा ? प्राचीन हिन्दू विधि के अनुसार नाप-जोख के बाद ही उसका हक पैदा होता था। किन्तु धारा १४ में "कब्जाकृत" शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः ऐसी मृत नारी उस अंश की अखण्ड स्वामिनी मानी जायगी।[3] क्योंकि सम्पदा के ऊपर अन्य समांशियों के माध्यम से उसका व्यवहित कब्जा मान लिया जायगा।

नारियों की अवस्था में उत्तराधिकार के साधारण नियम

१५. (१) निर्वसीयत मरने वाली नारी की सम्पत्ति धारा १६ में उपवर्णित नियमों के अनुकूल—

(क) प्रथमतः (किसी पूर्व-मृत पुत्र या पुत्री की सन्तान के सहित) पुत्रों और पुत्रियों और पति को;

(ख) द्वितीयतः पति के दायादों को;

१. अमर ब० सेवा", ए० आई० आर० १९६०, पंजाब ५३०।
"हरख ब० कैलास", ए० आई० आर० १९५८, पटना ५८१।
"बापूराव ब० नौरोजी", (१९६०) ६३, बाम्बे ला० रि० ५७६।
"वेंकायम्मा ब० वीरैय्या (१९५७), आंध्र प्रदेश २८०।
"गोष्ठ विहारी ब० हरिदास", ए० आई० आर० १९५७, कलकत्ता ५५७।
"रामचन्द्र ब० सुखराम" ए० अई० आर० १९५८, बम्बई २४४।
"चन्द्रशेखर ब० शि० रा० कृष्ण", ए० आई० आर० १९५८, केरल १४२।
"एस० पटेलिन ब० एस० नैकारी", ए० आई० आर० १९५८, कल० ७५।
"मु० लुकै ब० निरंजन", (१९५८) मध्य प्रदेश १६०।

२. "हनुमान ब० इंद्रावती", ए० आई० आर० १९५८, इलाहाबाद ३०४।
"लाटेश्वर ब० उमा", ए० आई० आर० १९५८, पटना ५०२।

३. "मुन्नालाल ब० राज कु०", ए० आई० आर० १९६२, सु० कोर्ट १४९३।

(ग) तृतीयतः माता और पिता को;

(घ) चतुर्थतः पिता के दायादों को;

(ङ) अन्ततः माता के दायादों को;

न्यागत होगी।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—

(क) अपनी माता या पिता से नारी द्वारा दाय में प्राप्त कोई सम्पत्ति मृतक के (किसी पूर्व-मृत पुत्र या पुत्री की सन्तान के सहित) किसी पुत्र या पुत्री के अभाव में उपधारा (१) में निर्दिष्ट अन्य दायादों को उसमें उल्लिखित क्रम में न्यागत न होकर पिता के दायादों को न्यागत होगी; और

(ख) अपने पति या अपने श्वशुर से नारी द्वारा दाय में प्राप्त कोई सम्पत्ति मृतक के (पूर्व-मृत पुत्र या पुत्री की सन्तान के सहित) किसी पुत्र या पुत्री के अभाव में उपधारा (१) में निर्दिष्ट अन्य दायादों को उसमें उल्लिखित क्रम से न्यागत न होकर पति के दायादों को न्यागत होगी।

नारी के दायादों में उत्तराधिकार का क्रम और वितरण रीति

१६. धारा १५ में निर्दिष्ट दायादों में उत्तराधिकार का क्रम और उन दायादों में निर्वसीयत की सम्पत्ति का वितरण निम्नवर्ती नियमों के अनुसार होगा, अर्थात्—

नियम १—धारा १५ की उपधारा (१) में उल्लिखित दायादों में से पहली प्रविष्टि में के दायादों को किसी अनुवर्ती प्रविष्टि में के दायादों की तुलना में अधिमान प्राप्त होगा और एक ही प्रविष्टि वाले दायाद साथ-साथ अंशभागी होंगे।

नियम २—यदि निर्वसीयत का कोई पुत्र या पुत्री अपनी ही कोई सन्तान निर्वसीयत की मृत्यु के समय जीवित छोड़कर निर्वसीयत से पूर्व मर जाता या जाती है, तो ऐसे पुत्र या पुत्री की सन्तान परस्पर वह अंश लेगी जिसे कि यदि निर्वसीयत की मृत्यु के समय ऐसा पुत्र या पुत्री जीवित होता या होती तो वह लेता या लेती।

नियम ३—धारा १५ की उपधारा (१) के खण्ड (ख), (घ) और (ङ) में और उपधारा (२) में निर्दिष्ट दायादों को निर्वसीयत की सम्पत्ति उसी

क्रम में और उन्हीं नियमों के अनुसार न्यागत होगी जो कि यदि सम्पत्ति यथास्थिति पिता की या माता की या पति की होती और निर्वसीयत की मृत्यु के अव्यवहित पश्चात् उस सम्पत्ति की बाबत निर्वसीयत रहकर ऐसा व्यक्ति मर गया होता तो लागू होते।

प्राचीन कानून मे कई बातों को लेकर नारी-सम्पदा का वर्गीकरण किया जाता था, यथा नारी की (कौमार, विवाहित, वैधव्य) अवस्था, सम्पदा का आगम और विवाह का प्रकार। धर्मशास्त्र की शाखा-प्रशाखाओं में उस सम्पदा के उत्तराधिकार वाले नियम भी अपने-अपने थे। इन नाना प्रकार के भेदों को मिटाकर कानून के इस विभाग में एकरूपता और सरलता लाने के उद्देश्य से अधिनियम के इस खण्ड का सर्जन हुआ। इन दो धाराओं ने नारी-सम्पदा के उत्तराधिकार का एक नूतन और एकरूप क्रम निर्धारित कर दिया है और उसके वितरण के नये नियम रच दिये हैं। निर्वसीयत नारी की सम्पदा उसके उन दायादों को न्यागत होगी जो धारा १५ की पाँच प्रविष्टियों (क–ङ) में गिनाये गये है। अवक्रमण का क्रम यह है कि प्राग्वर्ती प्रविष्टि को अनुवर्ती प्रविष्टि से वरीयता मिलेगी। जब तक पूर्व प्रविष्टि के दायाद समाप्त नही होते तब तक बाद वाली के दायादों की बारी नही आ सकती। इसके अतिरिक्त यदि उसी प्रविष्टि मे के कई दायाद मौजूद हों तो वे सब साथ-साथ उत्तराधिकार पायेंगे।

सम्पत्ति शब्द जो इन धाराओं मे आया है, दोनों प्रकार की (स्थावर व जंगम) सम्पत्ति को और सर्व प्रकारेण प्राप्त सम्पत्ति को समाविष्ट करता है। वह उस सम्पत्ति को भी समाविष्ट करता है जो इस अधिनियम के क्रियाशील होने के समय किसी हिन्दू नारी के कब्जे या भुक्ति में थी और जिसकी अखण्ड स्वामिनी धारा १४ ने उसे बना दिया हो। कृषिभूमि या जोत की जमीन भी इस शब्द के अन्तर्गत होंगी। ज्ञातव्य है कि धारा १४ (२) का उपबन्ध इस धारा की "सम्पत्ति" को भी प्रशासित करेगा। धारा १५ मे उल्लिखित वाक्य "न्यागत होगी" व्यक्त करता है कि यह धारा उस उत्तराधिकार पर लागू नही हो सकती जो अधिनियम लागू होने के पहले प्रदत्त हो चुका हो, अर्थात् यदि निर्वसीयत नारी की मृत्यु पहले ही घटित हो चुकी हो।

धारा १५ (१) में पाँच प्रविष्टियाँ है। उन पर संक्षेपतः अलग-अलग विचार किया जाता है।

प्रविष्टि (क) में हैं पुत्र, पुत्री, पति। पुत्र समाहित करता है पूर्व-मृत पुत्र के पुत्र व पुत्री को। उसी तरह पुत्री समाहित करती है पूर्व-मृत पुत्री के पुत्र व पुत्री को। पुत्र, पुत्री की व्याख्या धारा ८ के अधीन की जा चुकी है। निर्वसीयत नारी के जारज पुत्र-पुत्री उसके उत्तराधिकारी धारा (३) (ञ) के बल पर बन सकते है, यद्यपि

वे पिता के उत्तराधिकार से अपवर्जित हो जाते है। दत्तक पुत्र, पुत्री भी इस प्रविष्टि के अन्तर्गत आते है, क्योंकि "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टिनेन्स ऐक्ट" के प्रभाव से कन्याओं का भी पुत्रीकरण हो सकता है, अपरंच हिन्दू नारी भी पुत्रीकरण के लिए अब अधिकृत हो गयी है। शून्य एव शून्यकरणीय विवाह की सन्तान भी इस प्रविष्टि के अन्तगत आ जायगी। इस प्रविष्टि मे पुत्र के अन्तर्गत है पूर्व-मृत पुत्र के पुत्र व पुत्री एव पुत्री के अन्तर्गत है पूर्व-मृत पुत्री की नर व नारी सन्तान। उपरोक्त टिप्पणियाँ इन सन्तानों के विषय मे भी प्रयोज्य है (अर्थात् निर्वसीयत नारी के पौत्र-पौत्रियों एवं दौहित्र-दौहित्रियों के विषय में भी)। पति का अर्थ है विधिवत् विवाहित वह पुरुष जो निवसीयत नारी से तलाक या विघटन की आज्ञप्ति द्वारा अलग न हो गया हो। ज्ञातव्य है कि न्यायिक पृथग्भवन की आज्ञप्ति से पृथक्ता नहीं सम्पादित होती है।

प्रविष्टि (ख) में है पति के दायाद। अर्थात् यदि प्रविष्टि (क) वाले दायाद जीवित न हों, तो उत्तराधिकार का क्रम वही होगा मानो सम्पदा का स्वामी नारी का पति रहा हो। वह क्रम अनुसूची के वर्ग (१) व (२) में लिखा है। "पति" उस व्यक्ति को लक्षित करता है जो पति की हैसियत से प्रविष्टि (क) मे मृत नारी का दायाद बनने का हकदार होता। यह क्रम धारा १५ (ख) में लिखे हुए उत्तराधिकार के साधारण नियम के अनुसार है। याद रहे कि धारा १५ (२) (ख) में इस साधारण नियम से पृथक् उत्तराधिकार का एक खास नियम लिखा हुआ है जो सम्पत्ति के आगम से सम्बन्धित या उस (आगम) पर आधारित है। उपधारा (१) वाला सामान्य नियम सब प्रकारेण प्राप्त सम्पत्ति से सम्बन्धित है। उपधारा (२) (ख) वाला विशेष नियम उस सम्पत्ति से सम्बन्धित है जो निर्वसीयत नारी ने अपने पति या श्वशुर की दायादा के नाते पायी हो। सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि उपधारा (२) वाला विशेष नियम उस सम्पत्ति से सम्बन्धित है जो नारी ने या तो अपने प्रथम पति या उस (प्रथम पति) के पिता (अर्थात् पहले विवाह वाले श्वशुर) से उत्तराधिकार में पायी थी। उपधारा २ (ख) के अनुसार पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री, दौहित्र-दौहित्री के अभाव में वह सम्पत्ति उस पहले वाले पति के दायादों पर अवतरित होगी। इस प्रविष्टि के उदाहरणों के लिए देखिए माननीय मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वाँ स०), पृष्ठ ९८७।

प्रविष्टि (ग) के दायाद है माता व पिता। इन दोनों नातेदारों की व्याख्या धारा ८ के अन्तर्गत हो चुकी है। माता शब्द के अन्तर्गत मृतक यदि दत्तक हो तो उसकी जननी-माता एव पालक-माता दोनों आ जाती है। किन्तु पुत्रीकरण के उपरान्त जनक माता-पिता का हक समाप्त हो जाता है। अतः यदि मृतक निर्वसीयत नारी दत्तक हो चुकी थी, तो उसके पालक-माता-पिता, न कि उसके जनक-माता-पिता, इस प्रविष्टि में

आयेंगे। किन्तु विमाता इस प्रविष्टि की दायाद नहीं गिनी जाती है। धारा ३ (ञ) के अनुसार जारज पुत्री की माता तो इस प्रविष्टि की दायादा मान ली जायगी किन्तु पिता उसका दायाद नहीं गिना जायगा।

प्रविष्टि (घ) के दायाद हैं "पिता के दायाद"। यदि (क) से (ग) तक के दायाद भी न हों, तो यह कल्पित करके कि सम्पदा मृतक नारी के पिता की थी, उत्तराधिकार उस (पिता) के दायादों को मिलेगा, क्योंकि धारा (१६) वाले नियम (३) ने ऐसा ही विहित कर दिया है। पिता के दायाद धारा (८), (९) व (१०) के अनुसार निर्धारित किये जायेंगे।

प्रविष्टि (ङ) में "माता के दायाद" हैं। धारा (१६) वाले नियम (३) के अनुसार यह कल्पना कर ली जायगी कि सम्पदा मृतक नारी की माता की थी। अतः मृतक के दायाद भी वही होंगे जो उसकी माता की सम्पदा पाते। माता के दायाद को धारा १५ (१) की प्रविष्टियाँ (क) से (घ) तक विनिश्चित करेंगी। ज्ञातव्य है कि धारा ३ (१) (ङ) (ii) व ३ (१) (ञ) के अनुसार एकमातृक (विभिन्न पिताओं से उसी माता की सन्तान) सन्तान विधिवत् सकुल्यता रखती हैं। इसलिए मृतक नारी के एकमातृक भाई-बहन भी उसकी माता के दायादों की हैसियत से उसके उत्तरा-धिकारी बन सकते हैं। उसी प्रकार से धारा ३ (१) (ञ) के परन्तुक के बल पर निर्वसीयत नारी के जारज भाई-बहन भी माता के दायाद (धारा १५–१–क के अधीन) के रूप से उस (मृतक नारी) के उत्तराधिकारी बन सकते हैं।

धारा १५ (१) में उत्तराधिकार का एक साधारण या आम नियम निगमित है। विधानमण्डल ने इसके दो अपवाद विहित कर दिये हैं जो उपधारा (२) में निगमित है। इन अपवादों का हेतु क्या है ? वे देशवासियों की इस परम्परागत इच्छा का आदर करना चाहते थे कि किसी नारी की निर्वसीयत मृत्यु मात्र से सम्पदा को एक कुटुम्ब से दूसरे में मारी-मारी न फिरना पड़े। ये दोनों अपवाद सम्पदा का ऐसे लोगों के हाथ लग जाने से निवारण करते हैं, जिनके पास उसका पहुँचना न तो मृतक को अभीप्सित होता न न्यायसम्मत। पहला अपवाद यह है कि यदि एक निर्वसीयत नारी सन्तान या पूर्वमृत सन्तान की सन्तान (पहली व दूसरी पीढ़ी वाले आत्मज) छोड़े बिना मर गयी हो, तो उसका पति अथवा पति के दायाद उस सम्पदा को नहीं पा सकते, जो नारी को अपने माता-पिता से दायप्राप्ति के द्वारा मिली थी। यदि मृतक ने उपरोक्त सन्तान छोड़ी है, तब तो धारा १५ (१) (क) के अनुसार सम्पत्ति में उन लोगों के संग उसको (पति को) भी अंश मिल सकता है। किन्तु उनके अभाव

के फलस्वरूप वह वंचित कर दिया जायगा और उसके दायाद भी वंचित रह जायँगे और सम्पत्ति "पिता के दायादों को न्यागत होगी।" यह वाक्य सगर्भ है।

सगर्भ इसलिए है कि उस पर यह शंका उठती है—यदि मृतक ने अपनी माता के माध्यम से सम्पदा उत्तराधिकार में पायी थी और वह (मृतक) अपने पिता को छोड़ कर मरी है तो क्या होगा ? अर्थात जब पिता स्वतः जीवित है, तो क्या उसका अतिक्रमण करके उसके दायादों को सम्पदा मिल जायगी ? जो व्यक्ति स्वतः जीता-जागता है उसके दायाद कौन हो सकते हैं ? तो क्या इस वाक्य का आशय यह समझना चाहिए कि "पिता को और उसके अभाव में पिता के दायादों को न्यागत होगी ?" इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देना ही उचित प्रतीत होता है। दूसरी शंका यह है कि यदि "पिता के दायाद" मौजूद न हों तब भी क्या उपधारा (१) वाले अन्य दायाद वंचित हो जायेंगे ? क्या उन नातेदारों के रहते भी सम्पदा धारा २९ के प्रभाव से सरकार को न्यागत हो जायगी ? धारा २९ के पाठ से, और इस विचार से भी कि दूरस्थ नातेदार भी सरकार की अपेक्षा प्रियतर होता है, इस प्रश्न का उचित उत्तर यह प्रतीत होता है कि "पिता के दायादों" के अभाव में उपधारा (१) वाले अन्य नातेदार दायप्राप्ति के हकदार माने जायँगे।

दूसरा अपवाद यह है कि यदि कोई निर्वसीयत नारी सन्तान बिना या पूर्व-मृत सन्तान की सन्तान (पहली व दूसरी पीढ़ी वाले आत्मज) छोड़े बिना मर गयी हो, तो उसके अन्य दायादों को वह सम्पत्ति नहीं मिलेगी, जो उसने अपने पति या श्वशुर की उत्तराधिकारी के रूप में पायी थी, अपितु वह सम्पदा "पति के दायादों को न्यागत होगी।" उपधारा के इस खण्ड में भी उसी तरह का वाक्य "पति के दायादों को न्यागत होगी" पाया जाता है। पति यदि स्वतः जीवित है, तो उसका कोई दायाद कैसे हो सकता है ? क्या उसका अतिक्रमण अभीप्सित है ? उचित उत्तर यह लगता है कि उपरोक्त अवस्थिति में पति उत्तराधिकार पायेगा और पति के अभाव में पति के दायाद। इस वाक्य का यही निर्वचन न्याय एवं युक्ति के अनुकूल प्रतीत होता है। एक और बात ज्ञातव्य है। इस अपवाद में "पति के दायाद" का अर्थ करने में एक कठिनाई मालूम देती है। एक नारी विधवा होने के अनन्तर पुनर्विवाह कर सकती है। तो कौन से पति का संकेत इस वाक्य में किया गया है ? सन्दर्भ से पता चलता है कि निदेश उसी पति का है जिसकी सम्पत्ति मृतक निर्वसीयत ने उत्तराधिकार में पायी थी। उसी तरह "श्वशुर" से उस व्यक्ति का संकेत है जो उस पति का पिता था। सन्दर्भ से ध्वनित होता है कि "पति के दायाद" शब्द किसी अन्य पति के दायादों को इंगित नहीं कर सकते हैं।

इस प्रसंग में एक अन्य शका भी उठती है। उपधारा (२) के दोनों खण्डों (क) व (ख) मे "दाय मे प्राप्त" वाक्य प्रयुक्त हुआ है। दाय के अतिरिक्त सम्पत्ति के अन्य आगम भी होते है। यथा—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ।। (मनु)

यदि निर्वसीयत नारी ने दाय को छोड़कर अन्य रीति से अपने माता-पिता या पति के द्वारा सम्पत्ति को प्राप्त किया था, तो उत्तराधिकार के साधारण नियम, अर्थात् उपधारा (१) वाले नियम प्रयाज्य होंगे, अथवा उपधारा (२) वाले अपवाद ? इस प्रश्न का सकारात्मक ही उत्तर देना उचित मालूम पड़ता है।

धारा १६ ने तीन नियम निर्धारित कर दिये है जो निर्वसीयत नारी के दायादों के क्रम एव वितरण की रीति को विनियमित करेंगे। प्रथम व द्वितय नियमों का आशय स्वतः सिद्ध हैं। पहली प्रविष्टि वाले दायादों को प्राथमिकता मिलेगी। फिर दूसरी प्रविष्टि वाले दायादो का नम्बर आयेगा और उनके अभाव मे तीसरी प्रविष्टि वालों का। उन तीनों की समाप्ति के पश्चात् या उनके अभाव म चौथी प्रविष्टि वाले दायादों का हक पैदा होगा। चारों प्रविष्टियों के दायाद जब अनेक हों तो वे साथ-साथ उत्तराधिकार पायेंगे। जैसे १५ (१) (ग) मे दो दायाद है माता-पिता। यदि ऊपर वाली दोनों प्रविष्टियाँ रिक्त हों और उभय माता-पिता जीवित हों तो वे साथ ही साथ दाय-प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरी पीढ़ी वाले दायादों (प्रविष्टि क) में वितरण व्यक्तिपरक नही पितृपरक होगा। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वंशवृक्ष को लें।

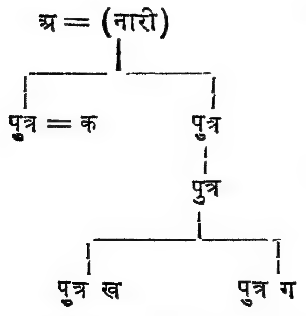

अ जब निवसीयत मरी तो उसकी विधवा बहू क और प्रपौत्र व प्रपौत्री ख व ग मौजूद थे। ये तीनों प्रविष्टि (ख) के अर्थात् अ के पति के दायाद है। तीनों जने साथ ही साथ सम्पत्ति को प्राप्त करेंगे, किन्तु सम्पत्ति का वितरण तीनों म सम नही होगा। वितरण पितृ-परक होकर क को अर्धांश एव ख व ग को चतुर्थांश-चतुर्थांश मिलेगा। उन मामलों में, जहाँ उपधारा (१) के खण्ड (ख) (घ) (ङ) तथा उपधारा (२) वाले अपवाद प्रयोज्य न होते हों वहाँ तीसरा नियम उत्तराधिकारी क्रम को विनियमित करेगा। अर्थात् यह मानकर दायादों को विनिश्चित किया जायगा कि सम्पत्ति की प्रभु मृत नारी नही अपितु उसके पिता या माता या पति थे। एक अन्य उदाहरण के

लिए निम्नोक्त वंशवृक्ष द्रष्टव्य है। सम्पत्ति थी आ की कुमारी कन्या अ की। जब अ निर्वसीयत मरी, तब उसकी विधवा विमाता छ के समेत क, ख, ग, घ, ङ, च जीवित थे। प्रविष्टि (क) (ख) (ग) के अन्तर्गत इनमें से कोई नहीं आता है। अतः प्रविष्टि (घ) के अनुसार आ के दायाद (पिता) सम्पत्ति पायेंगे। उपरोक्त सातों लोग आ के दायाद हैं। सम्पत्ति का वितरण पहले चार भागीदारों में होगा, क्योंकि आ के चार मुख्य दायाद माने जायेंगे, यथा उसका जीवित पुत्र

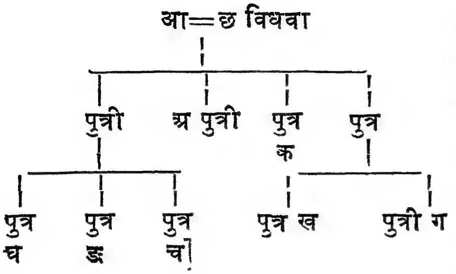

क, उसका मृत पुत्र (ख, ग का पिता), उसकी मृत पुत्री (घ ङ च की माता), उसकी विधवा छ। एक चतुर्थांश छ, एक चतुर्थांश क लेकर बैठ जायेंगे। एक चतुर्थांश में ख को आठवाँ अंश, तथैव ग को आठवाँ अंश मिलेगा। एक चतुर्थांश में च घ ङ में से प्रत्येक बारहवाँ-बारहवाँ अंश पायेगा।[1]

मरुमक्कत्तायम और अलियसन्तान विधियों द्वारा शासित व्यक्तियों के विषय में विशेष उपबन्ध

१७. धारा ८, १०, १५ और २३ के उपबन्ध उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में, जो कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता तो मरुमक्कत्तायम विधि या अलियसन्तान विधि द्वारा शासित होते, ऐसे प्रभावशील होंगे मानो कि—

(i) धारा ८ की उपधारा (ग) और (घ) के बदले में निम्नवर्ती रख दिया गया हो, अर्थात्—

(ग) तृतीयतः यदि दोनों वर्गों में से किसी में का कोई दायाद न हो तो उसके नातेदारों को, चाहे वे गोत्रज हों या बन्धु हों,"

(ii) धारा १५ की उपधारा (१) के खण्ड (क) से लेकर (ङ) तक के बदले में निम्नवर्ती रख दिया गया हो, अर्थात—

"(क) प्रथमतः (पूर्व-मृत पुत्र या पुत्री की सन्तान के सहित) पुत्रों और पुत्रियों को और माता को,

१. मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वां सं०), पृष्ठ ९९५।

(ख) द्वितीयतः पिता और पति को,
(ग) तृतीयतः माता के दायादों को,
(घ) चतुर्थतः पिता के दायादों को, और
(ङ) अन्ततः पति के दायादों को,"

(iii) धारा १५ की उपधारा (२) का खण्ड (क) लुप्त कर दिया गया हो,
(iv) धारा २३ लुप्त कर दी गयी हो।

यह अधिनियम उन दक्षिण भारतीयों पर भी लागू है जो इसके पहले अपने प्रदेश में प्रचलित मरुमक्कत्तायम् या नबूदिरी विधि से अथवा अलियसन्तान विधि से प्रशासित होते आये थे। धारा ७ म तरवाड, तावषि, कुडब, कवरू, इल्लम संज्ञक विशेष प्रकार की सम्पत्तियों के उत्तराधिकार सम्बन्धी विशेष उपबन्ध उल्लिखित हैं। पुरुष या नारी की पृथक् या स्वार्जित सम्पदा के उत्तराधिकार सम्बन्धी विशेष नियमों का उपबन्ध धारा १७ म कर दिया गया है। भारत के इस (उत्तर) खण्ड के लिए धारा ७ व धारा १७ की उपादेयता नगण्य है। जिन्हें इन मामलों मे रुचि हो उन्हें माननीय मुल्ला कृत हिन्दू ला (१२वाँ सस्करण) के पृष्ठ ९३८—३९ एवं ९८६—१००१ को पढ़कर समाधान कर लेना चाहिए।

उत्तराधिकार सम्बन्धी साधारण उपबन्ध

१८. यदि निवसीयत से नाता रखने वाले दायादों की नातेदारी का स्वरूप अन्य हर बात के सम्बन्ध मे एक समान हो तो निर्वसीयत से सगा नाता रखने वाले दायादों को सौतेला नाता रखने वाले दायादों की तुलना में अधिमान प्राप्त होगा।

इस धारा में प्राचीन हिन्दू ला का यह नियम निगमित है कि सगा नातेदार सौतेले से अधिमान्य होता है। इसमें यह वाक्य सारगर्भित है—"नातेदारी का स्वरूप अन्य हर बात के सम्बन्ध में एक समान हो।" जब तक इस वाक्य वाली शर्त पूरी न हो, तब तक यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, सगा व सौतेला भाई दोनों ही अनुसूची के वर्ग (२) की प्रविष्टि (२) के दायाद है। अर्थात् दोनों की नातेदारी अन्य हर बात के सम्बन्ध में एक समान रूप की है। इन प्रतिद्वन्द्वियों में सगा भाई सौतेले से अधिमान्य होगा। किन्तु सगे भाई का पुत्र (अनुसूची वर्ग २—प्र०४) सगे के बल पर सौतेले भाई (अ—वर्ग २—प्र०२) से अधिमान्य नही होगा। कारण यह है कि उनकी नातेदारी का स्वरूप अन्य हर बात के सम्बन्ध मे एक समान नही है। अतः धारा १८ नहीं, धारा ९ लागू की जायगी। उसी तरह यदि एक दायाद पिता के सौतेले भाई का पुत्र हो और उसकी प्रतिद्वन्द्वी हो पिता के सगे भाई की पुत्री, तो दोनों ही दायाद समान

रूप से मृतक के गोत्रज भी है और दोनों ही बराबर पीढ़ियों की दूरी पर है। अतः धारा १८ प्रयोज्य है और पिता के सगे भाई की पुत्री, नारी होने पर भी, पिता के सौतेले भाई के पुत्र से (जो पुरुष दायाद है) अधिमान्य होगी।

दो या अधिक दायादों के उत्तराधिकार का ढंग

१९. यदि दो या अधिक दायाद निर्वसीयत की सम्पत्ति के एक साथ उत्तराधिकारी होते है तो वे सम्पत्ति को——

(क) इस अधिनियम मे अभिव्यक्त रूपेण अन्यथा उपबन्धित को छोड़कर व्यक्तिपरक, न कि पितृपरक, आधार पर लेंगे; और

(ख) सामान्य आभोगियों के रूप में, न कि संयुक्त आभोगियों के रूप मे, लेंगे।

प्राचीन हिन्दू विधि का यह एक साधारण नियम था, जैसा प्रथम खण्ड के प्रकरण ४ व ५ में बताया जा चुका है कि इने-गिने अपवादों को छोड़कर एक ही श्रेणी वाले नातेदारों में मृतक की सम्पदा का विभाजन पितृपरक नही, व्यक्तिपरक प्रणाली से होता है। उसी साधारण नियम को इस धारा में निगमित करके अपवादों का निर्देश इस वाक्य से कर दिया गया है——"इस अधिनियम में अभिव्यक्त रूपेण अन्यथा उपबन्धित को छोड़कर।" यह तो ज्ञात ही है कि दोनों प्रणालियों में क्या भेद है। यथा अनुसूची के वर्ग २ की तीसरी प्रविष्टि के चारों दायाद धारा ११ के बल पर समान अंश (चौथाई-चौथाई) पायेंगे। इसे व्यक्तिपरक वितरण कहेंगे। पितृपरक वितरण में प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त सन्निहित रहता है। यथा वर्ग (१) में दूसरी पीढ़ी वाले दायादों के बीच पितृपरक विभाजन धारा १० के तीसरे नियम के अनुसार किया जायगा। अधिनियम ने निर्देशित अपवाद अभिव्यक्त रूप से धारा १० के (१), (३), (४) नियमों में और धारा १६ के दूसरे नियम में एवं धारा ६ के परन्तुक में उपबन्धित कर दिये है। इसी प्रसंग में यदि धारा १५ की उपधारा (२) को पढ़ लें तो उपरोक्त अपवाद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जायेंगे। इस धारा के खण्ड (ख) मे संयुक्त आभोगी और सामान्य आभोगी का उल्लेख हुआ है। दोनों तरह की भुक्ति का अन्तर ज्ञात ही है। सामान्य आभोगियों में से एक के मर जाने पर उसका अंश उसी के दायाद पर अवक्रमित होता है। संयुक्त आभोगियों में से एक के मर जाने पर उसके अंश को उत्तरजीवी भागीदार पा जाता है।

गर्भस्थित बालक का अधिकार

२०. जो बालक निर्वसीयत की मृत्यु के समय गर्भ में स्थित था और जो कि तत्पश्चात् जीवित पैदा हुआ है, निर्वसीयत के दाय-भाग के विषय में उसके वही

अधिकार होंगे जो कि यदि वह निर्वसीयत की मृत्यु के पूर्व पैदा हुआ होता तो उसके होते, और ऐसी अवस्था में दाय निर्वसीयत की मृत्यु की तारीख़ से प्रभावशील होकर उसमें निहित समझा जायगा।

सम-सामयिक मृत्युओं के विषय में उपधारणा

२१. जहाँ कि दो व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में मरे हैं जिनमें कि यह सन्दिग्ध है कि क्या उनमें से कोई, और यदि कोई रहा तो कौन सा, दूसरे की अपेक्षा उत्तरजीवी रहा, वहाँ जब तक कि प्रतिकूल सिद्ध न किया जाय, सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी सब प्रयोजनों के लिए यह उपधारणा की जायगी कि कनिष्ठ ज्येष्ठ का उत्तरजीवी रहा हैं।

धारा २० ने एक वैधिक कल्पना को निगमित किया है और धारा २१ ने एक वैधिक पूर्व-धारणा को। कोई हकदार पुरुष या नारी यदि जीवित अवस्था में प्रजनित हो जाता है तो कानून यह कल्पना करके कि उसका अस्तित्व उसी क्षण से प्रारम्भ हो गया था जब वह गर्भस्थ हुआ हो, उसके हकों का उसमें उसी क्षण से आरोपण कर देता है। फलतः उसके गर्भस्थिति-काल के बीच में जो हक अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों में निहित हो चुकते हैं, वे उसके (जीवित) पैदा होने पर उनसे वियुक्त होकर उसमें पूर्वोक्त क्षण से ही निहित मान लिये जाते हैं। यदि माता के जठर से बाहर आने के अव्यवहित पश्चात् ही वह मर जाय, तो भी यह फल घटित होकर रहेगा एवं इस कल्पना के बल पर जो सम्पदा शिशु में निहित हो चुकी हो, उसके विषय में उस अन्य व्यक्ति के दायाद नहीं, उसी शिशु (जो प्रभु बनने के बाद मर चुका है) के व्यक्तिगत दायाद उत्तराधिकारी समझे जायेंगे। धारा में 'बालक' शब्द की जगह 'शिशु' प्रयुक्त होता तो अच्छा होता, क्योंकि निगमित नियम पुल्लिंग व स्त्रीलिंग दोनों पर प्रयोज्य है। वास्तव में अंग्रेजी अधिनियम में "चाइल्ड" शब्द प्रयुक्त हुआ है। धारा को आद्योपान्त पढ़ने से प्रतीत होता है कि उसके उपबन्ध से वह जारज सन्तान भी लाभान्वित हो सकती है, जिसका धारा ३ (१) (ज) के परन्तुक में उल्लेख है, और वह सन्तान भी जो शून्य या शून्यकरणीय विवाह की कालावधि में उत्पन्न हुई हो (हिन्दू मैरेज ऐक्ट धारा १६)।

धारा २१ का प्रयोग उस दशा में करना पड़ता है जब किसी दैवी प्रकोप में फँसकर दो या अधिक दायादों की ऐसी अवस्थिति में मृत्यु हो जाय कि यह विनिश्चित करना असम्भव हो कि कौन पहले और कौन बाद में मरा था। इस पूर्व-धारणा का उद्गम धर्मशास्त्र नहीं है। असल में यह नियम व्यवहार-विधि से नहीं, व्यवहार-मातृका

से सम्बद्ध है और पाश्चात्य विधिविज्ञों की देन है। इस पूर्व-धारणा ने बनावटी साक्ष्य का अवरोध कर दिया है। याद रहे कि वह खण्डनीय होता है।

कुछ अवस्थाओं में सम्पत्ति अर्जित करने का अधिमानाधिकार

२२. (१) जहाँ कि निर्वसीयत की किसी स्थावर सम्पत्ति में या उसके द्वारा या तो अकेले और या दूसरों के साथ किये जाने वाले किसी कारबार में अनुसूची के वर्ग १ में उल्लिखित दो या अधिक दायादों को इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् हित न्यागत होता है और ऐसे दायादों में से कोई उस सम्पत्ति या कारबार में अपने हित के हस्तान्तरण की प्रस्थापना करता है, वहाँ ऐसे हस्तान्तरित किये जाने के लिए प्रस्थापित हित को अर्जित करने का अधि-मानपूर्ण अधिकार दूसरे दायादों को प्राप्त होगा।

(२) मृतक की सम्पत्ति में कोई हित जिस प्रतिफल के लिए इस धारा के अधीन हस्तान्तरित किया जा सकेगा, वह पक्षकारों के बीच किसी करार के अभाव में इस निमित्त अपने से किये गये आवेदन पर न्यायालय द्वारा अवधारित किया जायगा और यदि हित को अर्जित करने की प्रस्थापना करने वाला कोई व्यक्ति ऐसे अवधारित प्रतिफल के लिए उसे अर्जित करने के लिए राजी न हो तो ऐसा व्यक्ति आवेदन के, या उससे प्रासंगिक सब खर्चों को देने के लिए दायित्वाधीन होगा।

(३) यदि इस धारा के अधीन किसी हित के अर्जित करने की प्रस्थापना करने वाले अनुसूची के वर्ग (१) में उल्लिखित दो या अधिक दायाद हों तो उस दायाद को अधिमान दिया जायगा जो कि हस्तान्तरण के लिए सर्वाधिक प्रतिफल देने की पेशकश करता है।

व्याख्या—इस धारा में न्यायालय से वह न्यायालय अभिप्रेत है जिसके क्षेत्राधिकार की सीमाओं के अन्दर वह स्थावर सम्पत्ति आस्थित है या कारबार किया जाता है और इसके अन्तर्गत ऐसा कोई अन्य न्यायालय है जिसे कि राज्य सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा इस निमित्त उल्लिखित करे।

यद्यपि हक़े-शफा के मामले अब बहुत कम दायर होते हैं, तथापि उसके नाम व स्वभाव से सभी परिचित होंगे। उसी हकशफा से सम्बन्धित वे नियम है जो इस धारा में निगमित किये गये है। विषय सरल है और धारा का तात्पर्य स्वतः स्पष्ट है। एक तो यह हक सब दायादों को नहीं, केवल उन दायादों को दिया गया है जो अनुसूची के वर्ग (१) के अन्तर्गत हों। दूसरे, यह धारा स्थावर सम्पत्ति एवं कारोबार पर ही

लागू हो सकती है, अन्य चीजों पर नहीं। तीसरे, "हस्तान्तरण" शब्द व्यापक होते हुए भी केवल विक्रय को इंगित करता है, क्योंकि दूसरी व तीसरी उपधाराओं की भाषा से यही संकुचित अर्थ ध्वनित होता है। चौथे, हकशफा की तरह यह हक भी मुक्त संक्रमण में बाधा डालने से औचित्य एव नेकनीयती के प्रतिकूल माना जाता है। इसलिए इस धारा का कठोर निर्वचन करना उचित है।

निवास-गृह की बाबत विशेष उपबन्ध

२३. जहाँ कि निर्वसीयत हिन्दू, अनुसूची के वर्ग (१) में उल्लिखित पुरुष और स्त्री दायाद, दोनों को अपने पीछे उत्तरजीवी छोड़ता है और उसकी सम्पत्ति के अन्तर्गत उसके अपने परिवार के सदस्यों के पूर्णतः दखल मे कोई निवास-गृह है, वहाँ इस अधिनियम मे किसी बात के अन्तर्विष्ट होते हुए भी किसी ऐसी नारी दायाद का निवास-गृह के विभाजन करने के दावे का अधिकार तब तक उद्भूत न होगा जब तक कि पुरुष दायाद उसमे अपने क्रमागत अंशों का विभाजन करना पसन्द न करें, किन्तु नारी दायाद उसमें निवास करने के अधिकार के लिए हकदार होगी,

परन्तु जहाँ कि ऐसी नारी दायाद पुत्री है वहाँ वह निवास-गृह में निवास करने के अधिकार के लिए उस ही सूरत में हकदार होगी जिसमें अविवाहित है या अपने पति द्वारा अभित्यक्त कर दी गयी या उससे पृथक् हो गयी है या विधवा है।

इस धारा का साधारण अभिप्राय जान लेना सरल है, किन्तु उसकी भाषा से उठने वाली शंकाओं का समाधान करना टेढ़ी खीर है। साधारण अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि निर्वसीयत के निवास-गृह की नाप-जोख वाला बटवारा करा लेने का स्वतंत्र अधिकार अनुसूची के वर्ग (२) वाली किसी नारी दायाद को नहीं होता, यदि उस वर्ग वाले पुरुष दायाद भी जीवित हों और बटवारे के लिए उनका भी आग्रह न हो, बशर्ते कि निर्वसीयत का कुटुम्ब उस सारे मकान में रह रहा हो। शंकाएँ अनेक उठती हैं। यथा पुरुष दायाद के अभाव में क्या नारी दायादाओं को बटवारे का अबाध हक है? यदि सारा मकान नहीं, उसका अधिकांश या अल्पांश ही निवासार्थ काम आता हो, तब क्या यह निषेध नहीं प्रयुक्त होगा? यदि मकान में मृतक के वर्ग (१) वाले दायादों को छोड़कर उसके अन्य कुटुम्बीजन न रहते हों, तब भी क्या यह निषेध क्रियाशील होगा? यदि पुरुष दायाद एक ही हो, अनेक न हों, तो क्या उस एक की भी सहमति अनिवार्य होगी?

दाय के अनर्ह व्यक्ति

२४ जो कोई दायाद पूर्व-मृत पुत्र की विधवा, पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की विधवा या भाई की विधवा के रूप में निर्वसीयत से नातेदारी रखती है, यदि वह उत्तराधिकार का सूत्रपात होने की तारीख में पुनः विवाहित है तो वह निर्वसीयत की सम्पत्ति में भी ऐसी विधवा के रूप में उत्तराधिकार पाने के लिए हकदार न होगी।

२५. जो व्यक्ति हत्या करता है या हत्या करने मे अभिप्रेरण करता है वह हत व्यक्ति की सम्पत्ति या ऐसी किसी अन्य सम्पत्ति को, जिसके उत्तराधिकार को अग्रसर करने के लिए उसने हत्या की थी या हत्या करने में अभिप्रेरण किया था, दाय में हित पाने के लिए अनर्ह होगा।

२६. जहाँ कि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात् हिन्दू दूसरा धर्म ग्रहण करने के कारण हिन्दू नहीं रहा था या नही रह जाता है, वहाँ ऐसे धर्म परिवर्तन के पश्चात् पैदा हुई उसकी सन्तति और उस सन्तति के वंशज अपने हिन्दू नातेदारों में से किसी की सम्पत्ति को दाय में प्राप्त करने के लिए उस सूरत के सिवाय अनर्ह होंगे जिसमें कि ऐसी सन्तति या उस सन्तति के वंशज उस समय हिन्दू है जबकि उत्तराधिकार का सूत्रपात होता है।

दायाद अनर्ह हों तब उत्तराधिकार

२७. यदि कोई व्यक्ति किसी सम्पत्ति को दाय में प्राप्त करने से इस अधिनियम के अधीन अनर्ह कर दिया गया है तो वह सम्पत्ति ऐसे न्यागत होगी मानो कि ऐसा व्यक्ति निर्वसीयत के पूव मर गया हो।

रोग, अंगहीनता इत्यादि से अनर्हता नहीं

२८. कोई व्यक्ति किसी सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने से किसी रोग, अंगहीनता या अंग-वक्रता के आधार पर या इस नियम में उपबन्धित को छोड़कर किसी अन्य आधार पर, चाहे वह कोई क्यों न हो, अनर्ह न होगा।

धारा २४ से धारा २८ तक अनर्हता के नियम है। पुनर्विवाह केवल उन तीन प्रकार की विधवाओं को उत्तराधिकार से वंचित करता है जो धारा २४ मे गिनायी गयी है। धारा १५ (ख) व (घ) मे मृत नारी के "पति के दायादों" का और "पिता के दायादों" का उल्लेख हुआ है। इन दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत उपरोक्त तीनों विधवाएँ आ सकती है। उस दशा म भी धारा २४ वाली अनर्हता प्रयोज्य हो जायगी। किन्तु यदि यही तीन विधवाएँ उपरोक्त तीन पुरुषों के माध्यम से नही, अपितु निर्वसीयत के

साथ किसी अन्य नातेदारी के बल पर उत्तराधिकार माँगती हों, तो पुनर्विवाह उनको दायप्राप्ति से वंचित नहीं करेगा। अपरंच यह निषेध उसी दशा में लागू होगा जब ये विधवाएँ अपना पुनर्विवाह उत्तराधिकार का सूत्रपात होने या खुलने, अर्थात् निर्वसीयत की मृत्यु के पूर्व कर चुकी हों। एक बार उत्तराधिकार प्राप्त करने के अनन्तर सम्पत्ति पुनर्विवाह के कारण उनसे वियुक्त नहीं हो सकती।

धारा २५ इस विश्वव्यापी नियम को विहित करती है कि अपनी दुष्कृति का लाभ कोई व्यक्ति नहीं उठा सकता। इस प्रश्न पर प्रिवी कौंसिल[1] की सूचक नजीर ने दो सिद्धान्तों का कथन किया था—(१) हत व्यक्ति की सम्पत्ति में किसी प्रकार का हित उसके हत्यारे को नहीं मिल सकता, (२) हत्यारे को अजात मान लिया जायगा और वह वंशक्रम का प्रारम्भिक बिन्दु नहीं समझा जायगा। धार २५ व धारा २७ ने इन्हीं दोनों सिद्धान्तों को मूर्तिमान कर दिया है। धर्मशास्त्रों ने ऐसे अनर्ह दायाद को "उपपातकी" की एवं "महापतित" की संज्ञा दी है। धारा २५ में यह वाक्य आया है—"या ऐसी किसी अन्य सम्पत्ति को, जिसके उत्तराधिकार को अग्रसर करने के लिए।" इसका आशय निम्नोक्त दृष्टान्त से समझना होगा। सम्पत्ति के वृद्ध प्रभु **अ** की एक बहन **क** (वर्ग २–२–४) एवं एक मृत बहन का पुत्र **ख** (२–४–२) मौजूद हैं। **ख** जानता है कि **अ** के मरने पर, उसके उत्तराधिकार को **क** की विद्यमानता विलम्बित कर देगी। वह **अ** की तो हत्या नहीं किन्तु **क** की हत्या अभिप्रेरित करता है। यहाँ उपरोक्त वाक्य क्रियाशील होकर **ख** को **अ** की सम्पदा से वंचित कर देगा।

हत्यारे के माध्यम से जिनको उत्तराधिकार मिल सकता था, यथा उसके पुत्र, पुत्री, वे भी दाय से वंचित रह जायेंगे। किन्तु यदि वे लोग उस (हत्यारे) से स्वतंत्र अपने व्यक्तिगत हक के बल पर दाय प्राप्ति के अधिकारी हों, तो वे दाय से वंचित यह कह कर नहीं किये जा सकते कि तुम्हारे पूर्वज (पिता) ने हत्या की थी। यह नियम भी निम्नोक्त दृष्टान्त से सुगम होगा। सम्पत्ति के रोगग्रस्त प्रभु **अ** के एक वृद्ध पिता **क** (वर्ग २–१) और एक भाई **ख** (२–२–३) व उस भाई का पुत्र **ग** (२–४–१) है। लोभग्रस्त **ख** वृद्ध पिता **क** की हत्या करा देता है, जिसमें रोगग्रस्त **अ** के मरने के अव्यवहित बाद वह (ख) सम्पत्ति पा जाय। **अ** के मरने पर **ख** तो वंचित हो जायगा और धारा २७ के परार्ध के अनुसार यह कल्पना कर ली जायगी "मानो कि ऐसा व्यक्ति निर्वसीयत के पूर्व मर गया हो।" किन्तु क्या उसका पुत्र **ग** भी अनर्ह

१. "कंचवा ब० गिरिमलप्पा" (१९२४) '५१, प्रिवी कौंसिल ३६८।

हो जायग। ? नही, क्योंकि ग अनुसूची मे वर्ग (२) की प्रविष्टि (४) में का नम्बर (१) वाला एक स्वतंत्र या व्यक्तिगत हक से अ का दायाद होता है।

धारा २६ में तीन बातें ध्यान देने योग्य है। एक तो "हिन्दू" शब्द सम्पूर्ण रूपेण विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। उसका धारा (२) में देखना चाहिए। दूसरे, यह धारा विधर्म की उन सन्तानों पर लागू नही है जो हिन्दू धर्म त्यागने के पूर्व पैदा हो चुके थे। तीसरे, यदि विधर्म के वंशज उस समय हिन्दू धर्मानुयायी बन चुके हों, जब उत्तराधिकार खुला था, तो भी इस धारा वाली अनर्हता उन पर लागू नही की जायगी। धारा २७ एक साधारण या व्यापक नियम को विहित करती है, जो अनर्हता वाली अन्य सभी धाराओं से सलग्न समझा जाना चाहिए। आशय यह है कि अनर्ह व्यक्ति के वे वंशज या नातेदार दाय से वंचित नही किये जायेंगे, जो स्वतंत्र हक रखते हों, यानी जो निर्वसीयत की सम्पत्ति पर अपने हक का अनुरेखण अनर्ह के माध्यम से न करते हों। धारा २८ को सन् १९२८ वाले "हिन्दू इन्हेरिटेन्स (रिमूवल आव डिस् एबिलिटीज) ऐक्ट" का अनुपूरक समझिए। खण्ड (१) के प्रकरण (६) में अनंशता का वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है कि समाज का एक विशाल वर्ग उत्तराधिकार एव विभाजन कराने के अधिकार से अनर्ह, अर्थात् मानसिक और शारीरिक दोषों, विकलांगताओं व रोगों के कारण अपवर्जित हो सकता था। सन् १९२८ वाले अधिनियम ने अनंशता के प्रसार को बहुत ही सकुचित करके आजन्म उन्माद और आजन्म मूढता तक सीमित कर दिया था। अब धारा २८ ने उन दोनों कारणों को भी समाप्त करके धारा २४ से धारा २६ तक वाले कारणों को ही मान्यता दी है।

दायदों के अभाव में राजगामी सम्पत्ति

२९. यदि निर्वसीयत ऐसा कोई दायाद अपने पीछे नही छोड़ता जो कि उसकी सम्पत्ति को इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुकूल उत्तराधिकार में प्राप्त करने के लिए अर्ह हो, तो ऐसी सम्पत्ति सरकार को न्यागत होगी और सरकार ऐसी सम्पत्ति को उन सब भारों और दायित्वों के अधीन रहकर लेगी जिनके अधीन कि दायाद होता। (जैसे कि—)

येऽपुत्राः क्षत्रविटशूद्राः पत्नीभ्रातृविवर्जिताः।
तेषां धनहरो राजा सर्वस्याधिपतिर्हि सः॥ (बृहस्पति)
अदायकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्।
अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत्॥ (कात्यायन)
अदायादकं राजा हरेत् स्त्रीवृत्तिप्रेतकदर्यवर्जमन्यत्र श्रोत्रियद्रव्यात्। (कौटल्य)

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम द्वारा निर्देशित दायादों के अभाव में निर्वसीयत की सम्पत्ति न गुरु को मिलती है न चेला को न गुरु-भाई को। वह सीधे राज्य को चली जाती है। राजगमन में यह परन्तुक संलग्न रहता है—"सरकार ऐसी सम्पत्ति को उन सब भारों और दायित्वों के अधीन रहकर लेगी जिनके अधीन कि दायाद होता।"

अध्याय ३

वसीयती उत्तराधिकार

३०. (१) कोई हिन्दू ऐसी सम्पत्ति को इच्छापत्र द्वारा या अन्य वसीयती व्ययन द्वारा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, १९२५ (१९२५ का ३९) या हिन्दुओं पर लागू और किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबन्धों के अनुकूल व्ययित कर सकेगा, जो कि ऐसे व्ययित किये जा सकने योग्य है।

व्याख्या—मिताक्षरीय समांशिता सम्पत्ति मे पुरुष हिन्दू का हित या तरवाड्, तावषि, इल्लम्, कुडंब या कवरु की सम्पत्ति में तरवाड्, तावषि, इल्लम, कुडव या कवरु के सदस्य का हित इस अधिनियम में या किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि में किसी बात के होते हुए भी इस उपधारा के अर्थों में स्वय द्वारा व्ययन योग्य सम्पत्ति समझी जायगी।

(२) शंकाएँ दूर करने के लिए एतद द्वारा यह घोषित किया जाता है कि उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट कोई बात अनुसूची में उल्लिखित किसी दायाद के भरण-पोषण के अधिकार को केवल इस तथ्य के कारण ही प्रभावित न करेगी कि दायाद सम्पत्ति में अपने उस अंश से, जिसे कि यदि मृतक निर्वसीयत मरा होता, तो वह इस अधिनियम के अधीन हकदार होता या होती, मृतक द्वारा इच्छापत्र या अन्य वसीयती व्ययन के अधीन वंचित कर दिया गया है।

सन् १९५६ वाला "हिन्दू एडाप्शन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" इस अधिनियम के बाद जब पारित हो चुका, तब धारा (३०) की उपधारा (२) की आवश्यकता नहीं रह गयी। अतः उसकी धारा २९ ने उस उपधारा (२) को निरस्त कर दिया और उसकी धारा २२ ने इस उपधारा को व्यवहारतः समावेष्टित कर लिया। 'जन्म-स्वत्व-वाद' और 'उपरम-स्वत्ववाद' के कारण मिताक्षरा व दायभाग का संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों के अधिकारों के विषय में मतभेद है। उस मतभेद के परिणाम में दायभागीय कुटुम्बी तो अपने अंश का इच्छापत्र लिख सकता था, किन्तु मिताक्षरीय कुटुम्बी नहीं। इस अन्तर को मिटाकर धारा २९ ने भारत भर के लिए यह एकरूप नियम रच दिया

है कि मिताक्षरीय संयुक्त-कौटुम्बिक सम्पत्ति समेत सब तरह की सम्पत्ति को कोई भी हिन्दू बिना रोक-टोक के इच्छापत्र द्वारा व्ययित कर सकता है।

अध्याय ४

निरसन

३१. हिन्दू दाय विधि (संशोधन) अधिनियम, १९२९ (१९२९ का २) और सम्पत्ति में हिन्दू स्त्री के अधिकार अधिनियम, १९३७ (१९३७ का १८) एतद् द्वारा निरस्त किये जाते हैं।

सन् १९२९ वाले अधिनियम ने पौत्री, दौहित्री, भगिनी व भागिनेय को उत्तराधिकार का हक देकर उनको दायादों की सारणी के भीतर पितामह एवं पितृव्य के मध्य में स्थान दिया था। सन् १९३७ वाले अधिनियम ने मृत प्रभु की विधवा, उसकी विधवा पुत्र-वधू एवं विधवा पौत्र-वधू को पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र के साथ दायादों की सूची में स्थान देकर उनको क्रमशः पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के समान भागीदार बना दिया था। सन् १९५६ वाले अधिनियम के बाद इन दोनों अधिनियमों की कोई जरूरत नहीं रह गयी। अतः धारा ३१ ने उनको निरस्त कर दिया है।

अनुसूची

(धारा ८ देखिए)

वर्ग १ और वर्ग २ के दायाद

वर्ग १

पुत्र १, पुत्री २, विधवा ३, माता ४, पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र ५, पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री ६, पूर्व-मृत पुत्री का पुत्र ७, पूर्व-मृत पुत्री की पुत्री ८, पूर्व-मृत पुत्र की विधवा ९, पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र १०, पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की पुत्री ११, पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की विधवा १२।

वर्ग २

(i) पिता

(ii) (१) पुत्र की पुत्री का पुत्र, (२) पुत्र की पुत्री की पुत्री, (३) भाई, (४) बहन।

(iii) (१) पुत्री के पुत्र का पुत्र, (२) पुत्री के पुत्र की पुत्री, (३) पुत्री की पुत्री का पुत्र, (४) पुत्री की पुत्री की पुत्री।

(iv) (१) भाई का पुत्र, (२) बहन का पुत्र, (३) भाई की पुत्री, (४) बहन की पुत्री।

(v) पिता का पिता, पिता की माता।

(vi) पिता की विधवा, भाई की विधवा।

(vii) पिता का भाई, पिता की बहन।

(viii) माता का पिता, माता की माता।

(ix) माता का भाई, माता की बहन।

व्याख्या—इस अनुसूची में भाई या बहन के प्रति निर्देशों के अन्तर्गत सहोदर भाई या बहन के प्रति निर्देश नहीं है।

इस अनुसूची का सम्बन्ध धारा ८ से है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धारा ९ से १३ तक धारा ८ की अनुपूरक है। अतः उन सबको इस अनुसूची के साथ ध्यानपूर्वक पढ़ना गुनना चाहिए।

प्रकरण ३

हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५

(सन् १९५५ का २५)

विवाह सम्बन्धी विधि को संशोधित और संहिताबद्ध करने के लिए अधिनियम
(भारत गणराज्य के छठे वर्ष में ससद द्वारा निम्नरूपेण अधिनियमित)

प्रारम्भिक

धारा १, संक्षिप्त नाम और विस्तार—

"(१) यह अधिनियम "हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५" कहलाया जा सकेगा।

(२) इसका विस्तार जम्मू और कश्मीर राज्य के सिवा समस्त भारत में है, और जिन राज्य-क्षेत्रों में इस अधिनियम का विस्तार है उन राज्य-क्षेत्रों के अधिवासी उन हिन्दुओं पर भी यह लागू है जो कि उक्त राज्यक्षेत्र के बाहर है।

यह अधिनियम १८ मई १९५५ को प्रभावशाली हुआ था, क्योंकि उसी दिन राष्ट्रपति ने इसे अनुमति प्रदान की थी। इस अधिनियम के अधिक्षेत्र भर में तो यह लागू है ही; यह उन व्यक्तियों पर भी लागू है जो उस अधिक्षेत्र को अपना देश तो मानते हैं किन्तु जीविका अथवा अन्य प्रयोजन से परदेश में निवास कर रहे हैं।

धारा २, अधिनियम का लागू होना—(१) यह अधिनियम

(क) वीर शैव, लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज या आर्य समाज के अनुयायियों के सहित ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि हिन्दू धर्म के रूपों या विकासों में से किसी के नाते धर्म से हिन्दू है।

(ख) ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि धर्म से बौद्ध, जैन या सिक्ख है,

(ग) जब तक कि उन राज्य-क्षेत्रों में जिनमें कि इस अधिनियम का विस्तार है, अधिवासित ऐसे किसी अन्य व्यक्ति के बारे में, जो कि धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी नही है, यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि यदि यह नियम पारित न किया गया होता तो वह ऐसी किसी बात के बारे मे, जिसके लिए कि इसमे व्याख्या की गयी है, हिन्दू विधि द्वारा या उस

विधि की भाग रूप किसी रूढि या प्रथा द्वारा शासित नहीं होता, ऐसे अन्य व्यक्ति पर भी लागू है।

व्याख्या—निम्न व्यक्ति, अर्थात्

(क) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके दोनों जनक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख हों,

(ख) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके जनकों में से एक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है और जिसका लालन-पालन उस आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के सदस्य के रूप में किया गया है जिसका कि ऐसा जनक (सदस्य) है या था,

(ग) ऐसा कोई व्यक्ति, जिसने हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख धर्म ग्रहण किया है या पुनर्ग्रहण किया है,

यथास्थिति धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खण्ड (२५) के अर्थों के अन्दर वाली किसी अनुसूचित आदिम जाति के सदस्यों पर तब तक लागू न होगी जब तक कि केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निर्दिष्ट न करे।

(३) इस अधिनियम के किसी प्रभाग में हिन्दू शब्द का ऐसा अर्थ लगाया जायगा मानो कि इसके अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति है जो कि यद्यपि धर्म से हिन्दू नहीं है तथापि ऐसा व्यक्ति है जिस पर कि यह अधिनियम इस धारा में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के बल से लागू होता है।

प्रथम खण्ड के प्रकरण १ में "हिन्दू" की व्याख्या करते हुए उसके विशाल एवं विराट रूप पर जो प्रकाश डाला गया है, उसी को ध्यान में रखकर इस धारा को समझने का प्रयास करना चाहिए। इस संज्ञा के अन्तर्गत वे सब लोग आ जाते हैं जो मुसलमान, पारसी, यहूदी, ईसाई न होकर अपने को इस नाम से सम्बोधित करते हों। उपधारा (१) का यही आशय है। व्याख्या (ख) उन औरस व जारज सन्तानों से सम्बद्ध है जिनका दो में से एक जनक "हिन्दू" हो और जिनका लालन-पालन हिन्दू की भाँति हुआ हो। व्याख्या (ग) उन लोगों को लक्षित करती है जिनकी शुद्धि करके हिन्दू बना लिया गया हो, व शुद्धि के पूर्व वे चाहे जो अहिन्दू धर्मावलम्बी रहे हों।

उपधारा (२) अनुसूचित कबीलों से सम्बद्ध है और उनको अधिसूचित करने की विधि को विहित करती है। यह विधि दो आदेशों द्वारा पूरी की जा चुकी है, एक

तो "कान्स्टीच्यूशन (शेडूल्ड कास्ट) आर्डर १९५०," और दूसरा "कान्स्टीच्यूशन (शेडूल्ड कास्ट) आर्डर १९५१," जो राजकीय गजट में छापे गये थे। इन अनुसूचित कबीलों के विवाहों को यह अधिनियम प्रशासित नहीं करता, क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने राजकीय गजट में अभी यह अधिसूचना छापी नहीं है कि उन पर इसके नियम प्रयोज्य होंगे। उपधारा (३) ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि "हिन्दू" संज्ञा का प्रयोग अधिनियम भर में व्यापक और विस्तृत आशय में किया गया है।

धारा ३, परिभाषाएँ—इस अधिनियम में जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो—

(क) 'रूढि' और 'प्रथा' से ऐसा कोई नियम अभिप्रेत है जिसे कि लम्बे समय के लिए लगातार और एकरूपता से अनुपालित किये जाने के कारण किसी स्थानीय क्षेत्र, आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के हिन्दुओं में विधि का बल अभिप्राप्त हो गया है।

परन्तु यह बात जब कि वह नियम निश्चित हो, अयुक्तियुक्त या लोकनीति के विरुद्ध न हो।

परन्तु यह और भी कि ऐसे नियम की अवस्था में जो कि एक ही परिवार पर लागू है, परिवार द्वारा उसका अस्तित्व भंग नहीं कर दिया गया हो।

(ख) 'जिला न्यायालय' से ऐसे किसी क्षेत्र में, जिसके लिए नगर व्यवहार न्यायालय है, वह न्यायालय और किसी क्षेत्र में आरम्भिक क्षेत्राधिकार वाला प्रधान व्यवहार न्यायालय अभिप्रेत है, और इसके अन्तर्गत ऐसा कोई अन्य व्यवहार न्यायालय है जिसे कि इस अधिनियम में जिन बातों के लिए व्यवस्था की गयी है उनके बारे में क्षेत्राधिकार रखने वाले न्यायालय के रूप में राज्य सरकार द्वारा राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा उल्लिखित किया जाय।

(ग) 'सगा' और 'सौतेला'—कोई दो व्यक्ति एक दूसरे के सगे नातेदार तब कहलाते हैं जब कि वे एक ही पूर्वज से व उसकी एक ही पत्नी से जन्मे हों और सौतेले नातेदार तब कहलाते हैं जब कि वे एक ही पूर्वज से किन्तु उसकी भिन्न पत्नियों से जन्मे हों।

(घ) 'सहोदर'—दो व्यक्ति एक दूसरे के सहोदर नातेदार तब कहलाते हैं जब कि वे एक ही पूर्वजा से किन्तु उसके भिन्न पतियों से जन्मे हों।

व्याख्या—खण्ड (ग) और (घ) में 'पूर्वज' शब्द के अन्तर्गत पिता है और 'पूर्वजा' के अन्तर्गत माता है।

(ङ) 'विहित' से इस अधिनियम के अधीन बनाये गये नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है।

(च) (i) 'किसी व्यक्ति के प्रति' निर्देश से 'सपिड नातेदारी' का विस्तार माता से ऊपर वाली परम्परा में तीसरी पीढ़ी तक (जिसके अन्तर्गत तीसरी पीढ़ी भी है) और पिता से ऊपर वाली परम्परा मे पाँचवीं पीढ़ी तक (जिसके अन्तर्गत पाँचवी पीढ़ी भी है) अभिप्रेत है। प्रत्येक अवस्था में परम्परा सम्पृक्त व्यक्ति से ऊपर गिनी जायगी जिसे कि पहली पीढ़ी का गिना जाता है।

(ii) यदि दो व्यक्तियों मे से एक सपिण्ड नातेदारी की सीमाओं के भीतर दूसरे का परम्परागत अग्र पुरुष है या यदि उनका ऐसा एक ही परम्परागत अग्र पुरुष है जो कि एक दूसरे के प्रति सपिण्ड नातेदारी की सीमाओं के भीतर है,

तो ऐसे दो व्यक्तियों के बारे में कहा जाता है कि वे एक दूसरे के सपिण्ड हैं।

(छ) 'प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियाँ'—यदि दो व्यक्तियों मे से सान्निध्य,

(i) एक दूसरे का परम्परागत अग्र पुरुप है, या

(ii) एक दूसरे का परपम्परागत अग्रपुरुप या वशज की पत्नी या पति है, या

(iii) एक दूसरे के भाई की या पिता या माता के भाई की, या पितामह या मातामह या पितामही या मातामही के भाई की पत्नी है, या

(iv) चाचा और भतीजा, चाची या भतीजी, या भाई और बहन की या दो भाइयों या दो बहनों की, सन्तति है,

तो उनके बारे मे कहा जाता है कि वे 'प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों' के अन्दर है।

व्याख्या—खण्ड (च) और (छ) के प्रयोजनों के लिए 'नातेदारी' के अन्तर्गत—

(i) सगी नातेदारी के समान ही सौतेली या सहोदर नातेदारी भी है,

(ii) औरस नातेदारी के समान ही जारज नातेदारी भी है,

(iii) रक्त जन्य नातेदारी के समान ही दत्तक नातेदारी भी है।

उन खण्डों में नातेदारी सम्बन्धी शब्दों का अर्थ तदनुकूल लगाया जायगा।

पारिभाषिक धारा जिन-जिन अधिनियमों में मिलती है वहाँ यह वाक्यांश "जब तक प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो" प्रायः मिलता है। इसका आशय यह है कि

यदि सन्दर्भ के साथ धारा में लिखित परिभाषा का मेल न खाता हो, तो परिभाषा का ऐसा अर्थ लगाना चाहिए कि अधिनियम के उद्देश्य का भंग न हो।

रूढि, प्रथा और रिवाज के आवश्यक कारकों के ऊपर प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में विचार हो चुका है। धारा ३ के खण्ड (क) में उन्हीं कारकों के ऊपर बल दिया गया है। प्राचीनता की यह पहचान नहीं रखी गयी है कि उक्त रीति के विरुद्ध कोई काम मानवीय स्मृति के भीतर नहीं हुआ हो। अपितु यह परख नियत की गयी है कि रीति का अनुसरक्षण "लम्बे समय" तक होता रहा हो। परिभाषा में मान्य, एकरूपता, विनिश्चितता, युक्तियुक्तता, लोकनीति-सम्मतता का विशेष उल्लेख मिलता है। जब कोई रीति इन गुणों से सम्पन्न हो जाती है, तो उसमें कानून की शक्ति अनुप्राणित हो जाती है और वह विधि से भी अधिक अधिमान्य हो उठती है।

धारा ३ (ख) को धारा १९ के प्रसंग में पढ़ने से विदित होता है कि इस अधिनियम वाली दरखास्तें डिस्ट्रिक जज, सिटी सिविल कोर्ट या हाई कोर्ट में दी जानी चाहिए।

धारा ३ (च) का महत्व धारा ५(v) से एवं ३(छ) का धारा ५(iv) से प्रकट होता है। धारा ५(v) कहती है कि वैध विवाह में पक्षकारों का परस्पर नाना **सपिंडता** का नहीं होना चाहिए। धारा ५(iv) कहती है कि वैध विवाह में पक्षकारों के बीच, **प्रतिषिद्ध नातेदारी** नहीं होनी चाहिए।

धारा ३ (च) व (छ) को धारा की संलग्न व्याख्या के समेत पढ़ने पर लगेगा कि खण्ड (च) निम्नलिखित नियम विहित करता है—(१) माता के माध्यम से अनुरेखित तीन पीढ़ी तक के पूर्वज दोनों पक्षों के सपिंड कहलायेंगे। (२) पिता के माध्यम से अनुरेखित पाँच पीढ़ी तक के पूर्वज दोनों पक्षों के सपिंड कहलायेंगे। (३) पक्ष से लेकर सम-पूर्वज या सम-पूर्वजा तक पीढ़ियों की गणना की जाती है। (४) मातृक रेखा में दूसरी पीढ़ी यानी पक्ष के अव्यवहित ऊपर की पीढी में माता होती है। माता के ऊपर वाली पीढ़ी में चाहे पुरुष हो या नारी, जैसे माता की माता या माता का पिता। वैसे ही पैतृक रेखा में पक्ष के अव्यवहित ऊपर की पीढी में पिता होता है। पिता के ऊपर वाली पीढ़ी में चाहे पुरुष हो या नारी, जैसे पिता की माता का पिता या पिता के पिता का पिता। अर्थात मातृक रेखा में तीसरी पीढ़ी वाला पूर्वज पुरुष हो या नारी और पैतृक रेखा में तीसरी, चौथी, पाँचवीं पीढ़ी वाले पूर्वज पुरुष हों या नारियाँ। (५) सपिंड नातेदारी के अन्तर्गत सगी, सौतेली, सहोदर (या एकमातृक), पुत्रीकरणात्मक, औरस और जारज नातेदारियाँ आ जाती हैं। इन नियमों के दृष्टान्तों को वंशवृक्षों की सहायता से समझना चाहिए।

प्रश्न यह है कि ज के साथ क की या ख का "सपिंड नातेदारी" है या नहीं है? क्या ज का विवाह क से अथवा ख से हो सकता है? मातृक रेखा में तीन पीढ़ियों तक के पूर्वज सपिण्ड माने जायेंगे और पैतृक रेखा में पाँच पीढ़ियों तक के पूर्वज सपिण्ड माने जायेंगे। ख की पैतृक और क की मातृक रेखा है। ख से अ (सम पूर्वज) तक चार पीढ़ियाँ हुई, और क से अ तक भी चार। किन्तु मातृक रेखा में तीन ही पीढ़ियों का और पैतृक रेखा में पाँच पीढ़ियों का निषेध है। इसलिए क का विवाह तो ज के साथ हो सकता है किन्तु ख का नही। विवाह के लिए ज और ख सपिण्ड समझे जायेंगे, किन्तु ज और क नहीं।

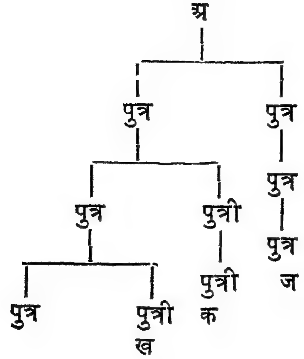

क्या अ के वशज ख और क परस्पर सपिण्ड नातेदार है? इसमें ख की पैतृक रेखा है और ख से अ तक पाँच ही पीढ़ियाँ होती है। इस तरह क की मातृक रेखा है और क से अ तक तीन ही पीढ़ियाँ होती है। इसलिए क और ख आपस में सपिड हैं। उनका विवाह धारा ५(v) मे वर्जित है।

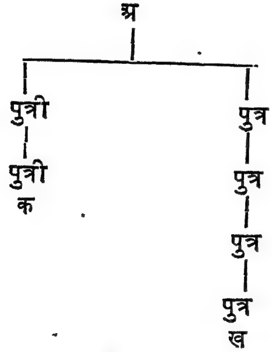

क्या अ के वंशज, ख जो पुरुष है और क जो नारी है, आपस में सपिण्ड नातेदार माने जायेंगे? पिता के माध्यम से अनुरेखण करने वाला ख सम-पूर्वज अ से पाँच पीढ़ी की दूरी पर है। किन्तु माता के माध्यम से सम्बद्ध क की सम-पूर्वज अ से दूरी चार (जो तीन से अधिक है) पीढ़ी है। अतः वे सपिण्ड नहीं है। ज्ञातव्य है कि यदि क पुत्री की पुत्री न होकर पुत्र की पूत्री होती, अर्थात् यदि वह पिता के माध्यम से वंश का अनुरेखण करती, तो अ से पाँच पीढ़ियों से कम दूरी पर होने के कारण वह (क) और ख सपिण्ड हो जाते। ज्ञातव्य है कि उपरोक्त तीन दृष्टान्तों मे ज व ख व जिनके

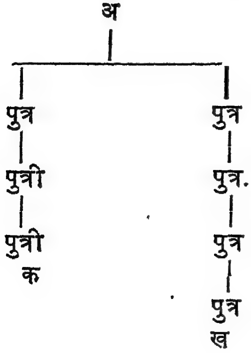

विवाह का प्रश्न विचाराधीन था, सम-पूर्वज के साथ अपने सम्बन्ध का अनुरेखण अपने पिता के माध्यम से करते थे। यदि माता के माध्यम से अनुरेखण करें तो रूप बदल जायगा किन्तु नियम वही लागू होते रहेंगे।

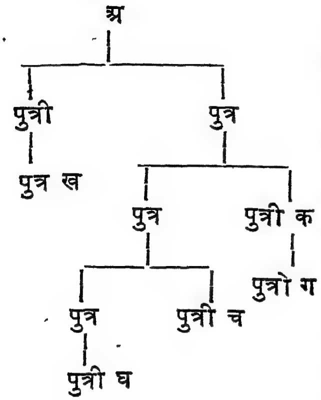

ख की सपिण्ड नातेदारी का प्रश्न है। वह **अ** (सम-पूर्वज) के साथ अपनी माता के माध्यम से सम्बद्ध है, और **अ** से तीन पीढ़ी दूर है। **क** पिता के माध्यम से **अ** के साथ सम्बद्ध है और तीन पीढ़ी दूर है। अतः **क** और **ख** परस्पर सपिण्ड हैं। **ग** का सम-पूर्वज **अ** के साथ माता के माध्यम से सम्बद्ध है और दोनों का चार पीढ़ियों का अन्तर है जो कि तीन से अधिक है। अतएव **क** व **ग** सपिण्ड नहीं हैं। **च** का **अ** के साथ सम्बन्ध पिता के माध्यम से है, जिसमे सपिण्डता की पूर्ति पाँच पीढ़ियों से होती है। **घ** से **अ** पाँच पीढ़ी दूर है और **ख** की **अ** से दूरी तीन पीढ़ी है। अतः **ख** व **घ** सपिण्ड हैं। **च** तो **ख** की सपिण्ड है ही, क्योंकि **च** और **अ** में केवल चार पीढ़ियों का अन्तर है और **च** का सम-पूर्वज से सम्बन्ध पिता के माध्यम से है। वंशवृक्ष से **क, ग, घ, च** की **ख** से नातेदारी ज्ञात हो जाती है। यथा **ख** के मामा की पुत्री है **क**, मामा की दौहित्री है **ग**, मामा की प्रपौत्री है **घ** और मामा की पौत्री है **च**।

सम-पूर्वज **अ** से **ख** का तीन पीढ़ी का अन्तर है। **क** से **अ** की दूरी चार ही पीढ़ी की है और वह अपना सम्बन्ध पिता के माध्यम से जोड़ती है। अतः **क** व **ख** सपिण्ड निकले। **ग** मातृक रेखा द्वारा अ से सम्बद्ध है और उससे तीन पीढ़ी दूर है। अतः वह भी **ख** की सपिण्ड हुई। **घ** माता के माध्यम से नातेदारी का अनुरेखण करती है और **अ** से चार (तीन से अधिक) पीढ़ी दूर है। इसलिए **ख** व **घ** सपिण्ड नहीं हैं। यदि **ग** पुत्री न होकर पुत्र होता, अर्थात् यदि **ग** का नाता **अ** के साथ पिता के माध्यम से हुआ होता, तो केवल चार पीढ़ियों का अन्तर होने से, वह **ख** की सपिण्ड ठहरती।

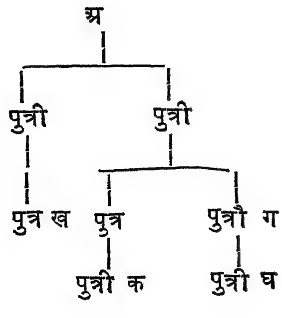

सम-पूर्वज **अ** से **ख** की दूरी चार पीढ़ी है (अर्थात् तीन से अधिक) और उन दोनों का सम्वन्ध **ख** माता के माध्यम से हुआ था। **क** और **ग** भी माता के माध्यम से

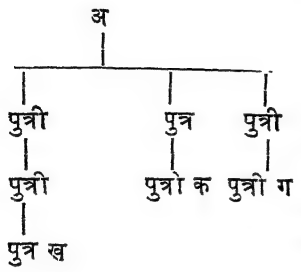

अ से सम्वद्ध है। किन्तु **क** की और **ग** की **अ** से दूरी केवल तीन-तीन पीढ़ी है। इसके बावजूद **क** व **ग** की **ख** के साथ सपिण्ड नातेदारी नहीं है, क्योंकि **ख** का **अ** से चार पीढ़ियों का अन्तर है। यदि **ख** का सम्वन्ध **अ** के साथ माता के नहीं, पिता के माध्यम से हुआ होता, तो वह **क** व **ग** दोनों का सपिण्ड माना जाता, क्योंकि **अ** से उसकी दूरी (पाँच से कम) चार ही पीढ़ी की है।

धारा ३ (छ) में "प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियाँ" की परिभाषा है। प्रतिषिद्ध नातेदारी और सपिण्ड नातेदारी में विवाह का निषेध इस पुरातन सिद्धान्त के ऊपर आधारित है कि कबीले के भीतर लडके-लड़की का वैवाहिक सम्वन्ध हानिप्रद एवं अनुचित होता है। पहले भारत के विभिन्न प्रान्तों ने प्रतिषिद्ध नातेदारी के अपने-अपने नियम रच लिये थे। यह आवश्यक समझा गया कि उन नियमों मे एकरूपता व विनिश्चितता लायी जाय और साथ ही साथ सन्तति-विकास-विज्ञान का भी ध्यान रखा जाय। खण्ड (छ) के उपखण्डों पर निगाह डालने से प्रतीत होगा कि अनुसूचित लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है। ज्ञातव्य है कि उपखण्ड (ii) व (iii) में शब्द "था" (अंग्रेजी में वाज) प्रयुक्त हुआ है। "था" (वाज) भूत काल की क्रिया है। उसका प्रयोग सारगर्भित है। आशय यह है कि यदि किसी समय में कोई स्त्री उल्लिखित नातेदारों की पत्नी रह चुकी हो, तो वह प्रतिषिद्ध नातेदार समझी जायगी, चाहे वर्तमान में वह पति की मृत्यु या तलाक या न्यायिक पृथक्करण के फलस्वरूप पृथक् या अकेले रह रही हो। इन उपखण्डों के हिन्दी अनुवाद में "है" शब्द प्रयुक्त हुआ है जो "रहा है" या "रही है" होना चाहिए।

धारा ४, अधिनियम का सर्वोपरि प्रभाव—इस अधिनियम में अन्यथा अभिव्यक्त रूपेण उपबन्धित को छोड़कर—

(क) हिन्दू विधि का कोई पाठ, नियम या निर्वचन या उस विधि की भागरूप रूढि या प्रथा, जो कि इस अधिनियम के प्रारम्भ होने से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, ऐसी किसी बात के बारे में प्रभावशून्य हो जायगी जिसके लिए इस अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया गया है;

(ख) कोई अन्य विधि, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, वहाँ तक प्रभावशून्य हो जायगी जहाँ तक वह इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट उपबन्धों मे से किसी से असगत है।

इस धारा की भाषा असदिग्ध और उसका प्रयोजन स्पष्ट है। प्रचलित मतों, रूढियों, नियमों तथा विधियों का इस अधिनियम में मात्र एकत्रीकरण नहीं किया गया है, अपितु आवश्यकतावश उसमें सुधार व परिवर्धन, उससे विचलन और उसका रूपभेद भी किया गया है। फलतः व्यावहारिक रूप से उन सारे मामलों के विषय में, जिनके लिए इस अधिनियम में उपबन्ध मौजूद हों, किसी भी बाहरी नियम का विनियोग नहीं किया जा सकता। उनका समाधान केवल इन उपबन्धों के आधार पर ही करना पड़ेगा। अवश्य ही जो मामले इसके अधिक्षेत्र से अभिव्यक्त रूपेण अपवर्जित छोड़ दिये गये है, उन पर प्राचीन विधि, रूढियाँ या नियम प्रयोज्य होते रहेंगे। उदाहरणार्थ, जो स्त्री-पुरुष चाहे वे अपना वैवाहिक सम्बन्ध सन १९५३ वाले "स्पेशल मैरेज ऐक्ट" की प्रणाली से पक्का कर सकते है। ऐसे विवाहों से सम्बद्ध वादों पर यह अधिनियम लागू नहीं होगा। अपरंच "विवाह-भंग" सम्बन्धी प्रथाओं और विशिष्ट परिनियमों को भी यह अधिनियम प्रभावित नहीं करता (धारा २९ (२) व (४))। ज्ञातव्य है कि उपरोक्त (क) व (ख) खण्डों में "प्रभावशून्य हो जायगी" वाक्य सहेतुक है। विधायकों का यह असंदिग्ध मन्तव्य था कि इस अधिनियम के उपबन्ध भूतलक्षी नहीं होंगे, सिवा उन बातों या हकों के विषय में, जिनका उल्लेख इसकी धाराओं में आया हो। ऐसे हक या बातें इस अधिनियम की धारा १० व १२ व १३ में पायी जाती हैं और उनमें यह वाक्य अन्तर्विष्ट मिलेगा—"इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठित हुआ हो।" ज्ञातव्य है कि अधिनियमों के निर्वचन का एक व्यापक या साधारण नियम यह होता है कि जब विधि का परिवर्तन करने के निमित्त कोई परिनियम पारित किया जाय, तो ऐसी पूर्व-धारणा कर लेनी चाहिए कि वह उसके पश्चात् पैदा होने वाले तथ्यों या घटनाओं या हकों पर प्रयोज्य होगा।

हिन्दू विवाह

धारा ५, हिन्दू विवाह के लिए शर्तें—दो हिन्दुओं के बीच विवाह उस सूरत में अनुष्ठित किया जा सकेगा जिसमें कि निम्नवर्ती शर्तें पूरी हो जाती हों, अर्थात्—

(i) दोनों पक्षकारों में से किसी का पति या पत्नी जीवित नहीं है,

(ii) दोनों पक्षकारों में से कोई विवाह के समय मूढ या पागल नहीं है,

(iii) वर ने १८ वर्ष की आयु और वधू ने १५ वर्ष की आयु विवाह के समय पूरी कर ली है,

(iv) जब तक कि उन दोनों में से प्रत्येक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के बीच विवाह अनुज्ञात न हो, पक्षकार प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर नहीं हैं,

(v) जब तक कि उनमें से प्रत्येक को शासित करने वाली रूढ़ि या प्रथा से उन दोनों के बीच विवाह अनुज्ञात न हो, पक्षकार एक दूसरे के सपिण्ड नहीं हैं,

(vi) जहाँ कि पत्नी ने १८ वर्ष की आयु पूरी नहीं की है, वहाँ उसके विवाहार्थ संरक्षक की, यदि कोई हो, सम्मति विवाहार्थ प्राप्त कर ली गयी है।

इस धारा में "सकेगा" शब्द भविष्यत् कालीन क्रिया है। जो विवाह इस अधिनियम के पूर्व अनुष्ठित हो चुके हैं उनको इसके उपबन्धों का समनुरूपण करना अनावश्यक है। खण्ड (i) विहित करता है कि इस अधिनियम के क्रियाशील होने के पश्चात् जो नर-नारी विवाह करें उनको एक की—विधुर या विधवा, कुमार या कुमारी, तालाक-प्राप्त होना चाहिए। यदि विवाह के समय किसी पक्ष का जोड़ा, भार्या या भर्ता जीवित था तो ऐसा विवाह शून्य मान लिया जायगा। ऐसे विवाह को अदालती डिग्री के द्वारा उत्सादित करने या उसकी घोषणात्मक डिग्री निकलवाने की आवश्यकता नहीं होती है। खण्ड (ii) मे पक्षकारों की मानसिक अर्हता या योग्यता नियत है। इस अर्हता का स्तर ऊँचा नहीं साधारण है। पक्षकारों की यह समझ लेने भर की योग्यता पर्याप्त होती है कि वे अपने को दाम्पत्य बन्धन में डाल रहे हैं। ऐसी अयोग्यता या त्रुटि से विवाह शून्य नहीं शून्यकरणीय माना जाता है। खण्ड (iii) कुछ तो सन्तति-विकास-विज्ञान पर आधारित लगता है, कुछ इस विचार पर कि यदि विवाह एक धार्मिक संस्कार मात्र नहीं, लौकिक व्यापार भी है, तो सम्मति देने के लिए पक्षों की आयु उसका अधि-मूल्यन करने भर को समुचित होनी चाहिए। इस शर्त का भंग विवाह को न तो शून्य बनाता है न शून्यकरणीय। खण्ड (iv) व खण्ड (v) ने शास्त्रीय निषेधों को रूपान्तर करके निगमित किया है। अर्वाचीन एवं प्राचीन विचारधाराओं एवं पूर्वाग्रहों के बीच ये दो खण्ड एक मध्यस्थ का काम करते हैं। दोनों में रूढ़ि एवं प्रथाजनित विपरीत नियमों को अपवाद माना गया है। रूढ़ियों और प्रथाओं के रूप-गुणों पर पहले विचार हो चुका है। इन दोनों खण्डों के भंग का फल यह है कि विवाह शून्य समझ लिया जाता है। खण्ड (vi) में जिस सम्मति का उल्लेख है उसका अभाव विवाह को शून्य नहीं शून्यकरणीय एवं दण्डनीय बनाता है।

धारा ६, विवाहार्थ संरक्षकता—(१) जहाँ कहीं विवाहार्थ संरक्षक की सम्मति वधू के लिए इस अधिनियम के अधीन आवश्यक है, वहाँ ऐसी सम्मति देने के लिए

हकदार व्यक्ति उस क्रम में होंगे जो कि एतत्पश्चात् उल्लिखित है, अर्थात्—

(क) पिता, (ख) माता, (ग) पितामह, (घ) पितामही,

(ङ) सगा भाई, जहाँ तक भाइयों का परस्पर सवाल है, उनमें से ज्येष्ठ को अधिमान प्राप्त होगा।

(च) सौतेला भाई, जहाँ तक भाइयों का परस्पर सवाल है, उनमें से ज्येष्ठ को अधिमान प्राप्त होगा।

परन्तु यह तब जब कि वधू उसके साथ रह रही है और उसका लालन-पालन उस भाई द्वारा किया जा रहा है।

(छ) सगे चाचा, जहाँ तक सगे चाचाओं का सवाल है, उनमें से ज्येष्ठ को अधिमान प्राप्त होगा।

(ज) सौतेले चाचा, जहाँ तक सौतेले चाचाओं का सवाल है, उनमें से ज्येष्ठ को अधिमान प्राप्त होगा।

परन्तु यह तब जब कि वधू उसके साथ रह रही है और उसका लालन-पालन चाचा द्वारा किया जा रहा है,

(झ) नाना, (ञ) नानी,

(ट) सगा मामा, जहाँ तक सगे मामाओं का सवाल है, उनमें से ज्येष्ठ को अधिमान प्राप्त होगा।

परन्तु यह तब जब कि वधू उसके साथ रह रही है और उसका लालन-पालन उस मामा द्वारा किया जा रहा है।

(२) जब तक कि किसी व्यक्ति ने स्वयं अपनी आयु का इक्कीसवाँ वर्ष पूरा न कर लिया हो तब तक वह विवाहार्थ संरक्षक के रूप में इस धारा के उपबन्धों के अधीन कार्य करने के लिए हकदार न होगा या होगी।

(३) जहाँ कि कोई व्यक्ति विवाहार्थ संरक्षक होने के लिए पूर्वगामी उपबन्धों के अधीन हकदार है, ऐसे रूप में कार्य करने से इन्कार कर देता है, या किसी कारण से असमर्थ या अयोग्य है, वहाँ क्रम में से आगामी व्यक्ति संरक्षक होने के लिए हकदार होगा।

(४) ऐसे किसी व्यक्ति के अभाव में, जैसा कि उपधारा (१) में निर्दिष्ट किया गया है, संरक्षक की सम्मति इस अधिनियम के अधीन विवाह के लिए आवश्यक नहीं होगी।

(५) यदि न्यायालय समझता है कि ऐसी किसी वधू के, जिसके विवाह के लिए सम्मति अपेक्षित है, हित रक्षार्थ आवश्यक है कि अभीष्ट विवाह व्यादेश

द्वारा प्रतिषिद्ध कर दिया जाय, तो इस अधिनियम की कोई बात न्यायालय के वैसा करने के क्षेत्राधिकार को प्रभावित न करेगी।

संरक्षक की अथवा एक अधिकृत संरक्षक की सम्मति उस दशा में अनिवार्य हो जाती है, जब विवाह एक सविदा समझ लिया जाता है। उस हालत में सम्मति का अभाव विवाह को शून्य या शून्यकरणीय क्रिया बना देगा। किन्तु अधिनियम में सम्मति के अभाव को इतना घोर दूषण नहीं घोषित किया गया है। इसका निष्कर्ष यह होता है कि अधिनियम ने वैवाहिक संयोग को लौकिक व्यापार के स्तर पर नहीं अपितु उससे श्रेष्ठतर स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, जैसे धार्मिक संस्कार, या कर्मकाण्ड सम्बन्धी कृति, या युगुल आत्माओं का अन्योन्य विलयन। धारा की लम्बी सूची परिपूर्ण है और प्राचीन हिन्दू ला का सारतः समनुरूपण करती है। एक प्रत्यक्ष अन्तर यह है कि माता को पिता के अव्यवहित पश्चात् स्थान दिया गया है, एवं कतिपय मातृक नातेदारों के हक को मान्यता प्रदान हुई है, यथा मामा, नाना, नानी। ज्ञातव्य है कि सौतेले भाई, सौतेले चाचा और सगे मामा के हक में एक सा ही परन्तुक संलग्न किया गया है। यह भी ज्ञातव्य है कि अनुसूचित सरक्षकों की सम्मति होते हुए भी अदालत किसी अभीष्ट विवाह का प्रतिषेध कर सकती है, यदि अवयस्क के हित में ऐसा व्यादेश निकालना वांछनीय प्रतीत होता हो। प्रत्यक्ष है कि अवयस्क के कल्याण को सर्वोपरिता दी गयी है।

धारा ७, हिन्दू विवाह के लिए संस्कार—

(१) हिन्दू विवाह उसमें के पक्षकारों मे से किसी के रूढिगत आचारों और संस्कारों के अनुरूप अनुष्ठित किया जा सकेगा।

(२) जहाँ कि ऐसे आचार और संस्कारों के अन्तर्गत सप्तपदी है (अर्थात् अग्नि के समक्ष वर और वधू द्वारा सयुक्ततः सात कदम चलना) वहाँ विवाह पूरा और बाध्यकर तब हो जाता है जब कि सातवाँ कदम पूरा किया जाता है।

ज्ञातव्य है कि यद्यपि धारा के अंग्रेजी रूप में "सेक्रेड फायर" शब्द यानी "पवित्र अग्नि" का प्रयोग हुआ है, तथापि उसके हिन्दी रूप में केवल अग्नि लिखा है। यहाँ पर साधारण अग्नि नहीं वह होमाग्नि निर्दिष्ट है जिसको मंत्रोच्चारण समेत प्रज्वलित करके परिणय का साक्षी नियुक्त किया जाता है। इस धारा में आचारों व संस्कारों को इसलिए नहीं गिनाया गया है कि देश-देश, समूह-समूह और समाज-समाज में विवाह की पद्धतियाँ अपनी-अपनी होती हैं। संक्षेपतः यह विहित कर दिया गया है कि दो में से एक पक्षकार के रूढिगत आचारों व संस्कारों का अनुरूपण अवश्य किया जाना

चाहिए। विविधता में भी कुछ न कुछ एकरूपता पायी जाती है। प्रायः सभी कर्मकाण्डीय विवाहों में पवित्र अग्नि के समक्ष मंत्रोच्चारण एवं सप्तपदी प्रचलित पाये जाते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी वर्ग हिन्दुओं में मौजूद है जिनमें इन दो आचारों को भी आवश्यक नही माना जाता। ऐसी दशा के लिए ही उपबन्ध करने की समाज्ञापक क्रिया को छोड़ कर इस धारा में विवेकात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है (अंग्रेजी में "मे बी सालेम्नाइण्ड" न कि "शैल बी सालेम्नाइण्ड" और हिन्दी में "अनुष्ठित करना पड़ेगा" की जगह "अनुष्ठित किया जा सकेगा" वाक्यों का प्रयोग किया गया है)। रूढि या प्रथा के कई भेद होते है, जैसे जातीय, स्थानीय, कौटुम्बिक इत्यादि और पाठकों को यह याद होगा कि उनकी वैधता को कौन-कौन से अवयव सगठित करते है। जब विवाह की वैधता वादग्रस्त हो जाती है तब इन्ही उपरोक्त तथ्यों को प्रमाणित करना पड़ता है। याद रहे कि न तो अभिकथित प्रथा का परिवर्धन किया जा सकता है और न अतिदेश की युक्ति का उस पर विनियोग किया जा सकता है। कानून में यह पूव-धारणा कर ली जाती है कि विवाह वैध है और उसका विधिवत् एव विधि-सम्मत सम्पादन किया गया था।

धारा ८, हिन्दू विवाहों का रजिस्ट्रीकरण—

(१) राज्य सरकार हिन्दू विवाहों की सिद्धि सुकर करने के प्रयोजन के लिए यह उपबन्धित करने वाले नियम बना सकेगी कि ऐसे किसी विवाह के पक्षकार अपने विवाह से सम्बद्ध विशिष्टियाँ इस प्रयोजन के लिए रखे जानेवाले हिन्दू विवाह रजिस्टर मे, ऐसी रीति से और ऐसी शर्तो के अधीन रहकर, जैसी कि विहित की जाये, प्रविष्ट कर सकेंगे।

(२) यदि राज्य सरकार की यह राय है कि ऐसा करना आवश्यक है या इष्टकर है, तो वह उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी यह उपबन्ध कर सकेगी कि उपधारा (१) में निर्दिष्ट विशिष्टियों को प्रविष्ट करना उस राज्य मे या उसके किसी भाग में या तो सब अवस्थाओं में या ऐसी अवस्थाओं में जैसी कि उल्लिखित की जायँ, अनिवार्य होगा, और जहाँ कि ऐसा कोई निर्देश निकाला गया है वहाँ इस निमित्त बनाये गये किसी नियम का उल्लंघन करने वाला कोई व्यक्ति जुर्माने से, जो कि २५ रुपये तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा।

(३) इस धारा के अधीन बनाये गये सब नियम अपने बनाये जाने के यथाशीघ्र पश्चात् राज्य विधानमण्डल के समक्ष रखे जायेंगे।

(४) हिन्दू विवाह रजिस्टर सब युक्तियुक्त समयों पर निरीक्षण के लिए खुला रहेगा और उसमें अन्तर्विष्ट कथन साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होंगे और रजिस्ट्रार आवेदन किये जाने पर और अपने को विहित फीस का भुगतान किये जाने पर उसमें से प्रमाणित उद्धरण देगा।

(५) इस धारा में अन्तर्विष्ट किसी बात के होने हुए भी किसी हिन्दू विवाह की मान्यता ऐसी प्रविष्टि करने में कार्यलोप के कारण किसी अनुरीति के बारे में प्रभावित न होगी।

इस अधिनियम के पहले से भी सन् १९५४ के "स्पेशल मैरेज ऐक्ट" के प्रकरण ३ में विवाह की रजिस्ट्री कराने का अनुबन्ध था। उस अनुबन्ध का उपभोग हिन्दू समाज भी कर सकता है। उपरोक्त धारा उसी कार्य का एक अतिरिक्त अनुबन्ध है। याद रहे कि रजिस्ट्री कराना अनिवार्य नहीं वैकल्पिक है। राज्य सरकार उसकी अनिवार्यता जरूर घोषित कर सकती है। किन्तु उसके बाद भी उपधारा (५) के अनुसार प्रविष्टि का अभाव विवाह को निष्प्रभावित नहीं कर सकेगा। ज्ञातव्य है कि इस अधिनियम ने विवाहों की रजिस्ट्री के नियम स्वतः नहीं विहित किये हैं, अपितु नियमरचना का कार्यभार राज्य सरकारों के ऊपर डाल दिया है। किन्तु राज्य-रचित नियमों को इस अधिनियम के अनुबन्धों के विपरीत या विरोधी नहीं होना चाहिए। अधिनियम को अप्रभावित करने वाले नियमों की रचना राज्य सरकार की शक्ति के बाहर है।

दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन और न्यायिक पृथक्करण

धारा ९, दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन—

(१) जब कि पति या पत्नी में से किसी ने युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना दूसरे से अपना साहचर्य प्रत्याहृत कर लिया है, तब परिदेवित पक्षकार दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए याचिका द्वारा जिला न्यायालय में आवेदन कर सकेगा और न्यायालय ऐसी याचिका में किये गये कथनों के सत्य के बारे मे और इस बात के बारे में कि आवेदन को मंजूर करने का कोई वैध आधार नहीं है, अपना समाधान हो जाने पर तदनुसार दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आज्ञप्ति देगा।

(२) दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए याचिका के उत्तर में ऐसा कोई अभिवचन नहीं किया जायगा जो कि न्यायिक पृथक्करण या विवाह की अकृतता या तलाक के लिए आधार नहीं होगा।

दम्पति परस्पर मैथुन करने के लिए और नित्य प्रति के जीवन के व्यापारों में साह-

चर्य करने के लिए बद्ध होते है।[1] सामूहिक प्रथावश या पत्नी पर आश्रित होने के कारण पति अपनी पत्नी के निवास में रहने को विवश होता है, अन्यथा पत्नी अपने पति की रुचि वाले गृह में रहे।[2] इन कर्तव्यों से पत्नी को पति किसी विवाह-पूर्व इकरार के बल पर भी मुक्त नहीं कर सकता है।[3] ये नियम न केवल शास्त्र-विहित हैं अपितु अंग्रेजी शासनकाल से अदालतों द्वारा प्रवर्तित भी होते आये हैं। इस नियम का प्रवर्तन कैसे होता है? अदालती डिग्री पारित करके। डिग्री या आज्ञप्ति का प्रवर्तन कैसे होता है? पहले जमाने में डिग्री का उल्लंघन कारावास या शारीरिक कुर्की द्वारा दण्डित किया जाता था। आजकल दो उपाय बरते जाते हैं; एक तो अदालत की मान-हानि की कार्यवाही, दूसरे, दोषी पक्ष की सम्पत्ति की कुर्की।

उपरोक्त प्राचीन कानून धारा ९ में मूर्तिमान् कर दिया गया है। युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना साहचर्य को प्रत्याहृत करने वाले पक्ष के विरुद्ध पहले दावा दायर किया जाता था और दावे का अधिक्षेत्र उस (दावे) के मूल्यांकन से निर्धारित किया जाता था। अब परिदेवित पक्ष को याचिका जिला न्यायालय में पेश करनी चाहिए। उपधारा (१) में जो "साहचर्य प्रत्याहृत" शब्द आये हैं उनका आशय यह न समझना चाहिए कि प्रतिपक्ष ने घर छोड़ दिया है। आवेदन उस दशा में भी किया जा सकता है जब एक ही घर में निवास करते हुए, प्रतिपक्ष ने मैथुन से मुँह मोड़ लिया हो और ऐसे व्यवहार के लिए कोई युक्तियुक्त प्रतिहेतु न हो। युक्तियुक्त प्रतिहेतु की परिपूर्ण सारणी प्रस्तुत करना असम्भव है, एवं जो प्रतिहेतु एक अवस्थिति में युक्तियुक्त प्रतीत होता है, सम्भवतः दूसरी में अयुक्तियुक्त विदित हो। उदाहरणार्थ, प्रतिपक्षी का विधर्मी हो जाना, घृणित रोगग्रस्त हो जाना, उसका व्यवहार वैध निर्दयता युक्त होना, प्रतिपक्षी के संपर्क से जान का जोखिम होना, दम्पत्ति की आयु में इतना अधिक अन्तर होना कि पत्नी ने विवाहोपभोग अस्वीकार कर दिया है, प्रतिपक्ष का जारता से दूषित होना, एक पक्ष में यौवनागम की त्रुटि होना, प्रार्थी का छल-कपट करके विवाह कर लेना या इसी प्रकार के अन्य औचित्य-सम्मत प्रतिहेतु का विद्यमान होना।[4]

१. "विन्दा ब० कौसिला" (१८९१) १३, इलाहाबाद १२६।
२. "टिकैत ब० बसन्ता" (१९०१) २८, कलकत्ता ७५१।
३. "टिकैत ब० बसन्ता" (१९०१) २८, कलकत्ता ७५१।
४. "पैगा ब० शिवनारायण" ८, इलाहाबाद ७८।
"शिनप्पैया ब० राजम्मा", ए० आई० आर० १९२२, मद्रास ३९१।
"मल्लवा ब० शिदप्पा", ए० आई० आर० १९५०, बम्बई ११२।

दाम्पत्याधिकार वाले मामलों में अदालतें इस धारणा का परित्याग कर रही हैं कि पत्नी अबला होने के कारण पराश्रित बनी रहती है, एवं पति की अपेक्षा उसमें आज्ञाकारिता और सहन-शीलता की मात्रा अधिक होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, इलाहाबाद हाई कोर्ट ने[1] सन् १८९० में यह मत प्रकट किया था कि व्यभिचार और पागलपन प्रत्यास्थापन की आज्ञप्ति का निवारण नहीं कर सकते। किन्तु सन् १९२२ में मद्रास ने विपरीत नजीर दी,[3] और सन् १९४६ मे सरकार ने यह परिनियम बना दिया कि उक्त दोषों के कारण पत्नी को पति से पृथक् रहने पर भी भरणाधिकार प्राप्त रहता है।[2]

उपधारा (२) मे यह कहा जरूर गया है कि प्रत्यास्थापन के बाद में प्रतिरक्षा रूप वे अभिकथन नही किये जा सकते, जो न्यायिक पृथक्करण, विवाह की अकृतता या तलाक के लिए पर्याप्त न हों। इसका आशय यह नही है कि उन अभिकथनों के अतिरिक्त कोई अभिवचन या आपत्ति उठाना वर्जित है। उदाहरणार्थ, यदि प्रतिपक्षी कहे कि विवाह नहीं हुआ था, या विवाह का समापन हो चुका है, या "सिपरेट रेजीडेन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट" के अधीन आज्ञप्ति पारित हो चुकी है, या जाब्ता फौजदारी की धारा (१००) के अधीन एक मजिस्ट्रेट का आदेश हो चुका है, या पक्षकारों के बीच यह इकरार हो चुका था कि प्रत्यास्थापन का दावा नही किया जायगा, या दूसरे पक्षकार का आचरण या व्यवहार उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट वाक्य "युक्तियुक्त प्रतिहेतु" से आवृत होता है, या दूसरे पक्षकार ने व्यभिचार का कलक लगाने के साथ-साथ उपेक्षा भी की थी, तो ये अभिवचन अग्राह्य नही होंगे।

ऊपर पक्षकारों के इस अनुबन्ध की चर्चा आयी है कि वे अन्योन्य के विपरीत प्रत्यास्थापन का दावा नही करेंगे। इसको "इकरारी पृथक्करण" कहते है। यह दो भाँति का होता है। एक विवाह-पूर्व इकरार, कि विवाहोपरान्त पक्षों के बीच दाम्पत्य समागम नहीं होगा, अर्थात् पति-पत्नी अलग-अलग रहा करेंगे। ऐसा इकरार लोकरीति और सदाचार के प्रतिकूल होने से अवैध माना जाता है। दूसरा विवाहोपरान्त इकरार, कि पक्षकार आज से अलग-अलग रहा करेंगे और एक दूसरे को सतप्त या परेशान नहीं

"दूलर ब० द्वारका" (१९०५) ३४ कलकत्ता ९७१।
"गुरमुख ब० हरबंस", ए० आई० आर० १९२८, लाहौर ९०२।
"छीला ब० छेदी", ए० आई० आर० १९२९, अवध १२१।

१. "विन्दा ब० कौसिला" (१८९०) १३, इलाहाबाद १२६।

२. हिन्दू मैरीड वीमेन्स राइट टु सिप्रेट रेजीडेन्स ऐण्ड मेण्टीनेन्स ऐक्ट (१९४६), धारा २।

३. "शिनप्पैय्या ब० राजम्मा", ए० आई० आर० १९२२, मद्रास ३९९।

करेंगे। ऐसा इकरार वैध होता है, बशर्ते कि इकरार का कोई अवैध प्रतिदेय (जैसे तलाक की प्रक्रिया को सुगम करना) न रहा हो। ऐसा इकरार अनुवर्तनीय नो होता है, किन्तु प्रत्यास्थापन के दावे में वह एक अमोघ प्रतिरक्षक अभिवचन नहीं माना जाता।

दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन वाली आज्ञप्ति का व्यावहारिक महत्व यह है कि उसको प्राप्त करने के फलस्वरूप परिदेवित पक्षकार में धारा २४ व धारा २५ के अधीन भरण-पोषण की याचना करने की एव धारा १३(vii) के अधीन दो वर्ष की अवहेलना के बाद तलाक की याचना करने की सामर्थ्य आ जाती है। इस महत्व को देखकर सवाल यह उठता है कि क्या ये परिणाम उन आज्ञप्तियों मे भी सलग्न हो जायेंगे, जो इस अधिनियम के पारित होने के समय विचाराधीन मामलों मे पारित हों, या केवल उन आज्ञप्तियों में सलग्न होंगे जो अधिनियम के बाद दायर होने वाले मामलों में पारित हुई हों ? साधारण नियम के अनुसार उत्तर यह होगा कि बाद में दायर होने वाले मामलों में पारित जो आज्ञप्तियाँ है केवल उन (आज्ञप्तियों) में उपरोक्त परिणाम सलग्न होंगे। इस साधारण नियम मे परिनियम का आशय अपवाद पैदा कर सकता है। उस आशय का पता परिनियम की अन्तर्वस्तु एवं भाषा से लगाना चाहिए। अस्तु, धारा २९ (३) को देखिए जिसमें व्यावृत्तियाँ उल्लिखित है। उन व्यावृत्तियों की गणना मे दाम्पत्य अधिकारो के प्रत्यास्थापन वाले मामले नहीं आते। अतएव प्रत्यास्थापन वाले लम्बित मामलों पर भी इस अधिनियम के सारे उपबन्ध प्रयोज्य है, अर्थात् उपरोक्त परिणाम लम्बित मामलों मे पारित आज्ञप्तियों में भी सलग्न हो जायेंगे।

धारा १०, न्यायिक प्रथक्करण—

(१) विवाह का कोई पक्षकार, भले ही विवाह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पहले या पश्चात् अनुष्ठित हुआ हो, न्यायिक पृथक्करण की आज्ञप्ति के लिए प्रार्थना वाली याचिका जिला न्यायालय मे इस आधार पर उपस्थित कर सकेगा—

(क) दूसरे पक्षकार ने याचिकादाता का अभित्यजन याचिका पेश करने के अव्यवहित पूर्ववर्ती दो वर्षो से अधिक न होने वाली निरन्तर कालावधि के लिए कर रखा है, या

(ख) दूसरे पक्षकार ने याचिकादाता से ऐसी क्रूरता से बरताव किया है जिससे कि याचिकादाता के मन में युक्तियुक्त आशका पैदा हो गयी है कि दूसरे पक्षकार के साथ रहना याचिकादाता के लिए अपहानिकर या क्षतिकर होगा, या

(ग) दूसरा पक्षकार याचिका पेश करने से अव्यवहित पूर्व एक वर्ष से कम न होने वाली कालावधि में उग्र कुष्ठ से पीड़ित रहा है, या

(घ) दूसरा पक्षकार याचिका पेश करने से अव्यवहित पूर्व (उस अवधि तक जो तीन वर्ष से कम न हो) संक्रामक प्रकार के यौन रोग से पीड़ित है जो कि उसे याचिकादाता के संसर्ग से नहीं हुआ है, या

(ङ) दूसरा पक्षकार याचिका पेश करने से अव्यवहित पूर्व दो वर्ष से कम न होने वाली कालावधि में लगातार विकृत चित्त का रहा है, या

(च) दूसरा पक्षकार विवाह के अनुष्ठान के पश्चात् अपने पति या पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ सम्भोग कर चुका है।

व्याख्या—इस धारा में अपने विभिन्न व्याकरण रूपों और सजातीय शब्दों के सहित "अभित्यजन" शब्द से याचिकादाता और विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा युक्तियुक्त हेतु के बिना और ऐसे पक्षकार की सम्मति बिना या खिलाफ अभित्यजन अभिप्रेत है और विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा याचिकादाता की कामतः उपेक्षा इसके अन्तर्गत है।

(२) जहाँ कि न्यायिक पृथक्करण के लिए आज्ञप्ति दे दी गयी है, वहाँ याचिकादाता आगे के लिए इस आभार के अधीन नहीं रहेगा कि वह प्रत्युत्तरदाता के साथ सहवास करे, किन्तु यदि न्यायालय दोनों में से किसी पक्षकार द्वारा याचिका द्वारा आवेदन पर और ऐसी याचिका में किये गये कथनों की सत्यता के बारे में अपना समाधान हो जाने पर वैसा करना न्याय्य और युक्तियुक्त समझे तो वह आज्ञप्ति का विखण्डन कर सकेगा।

जब किसी भी काल में दम्पत्ति मेलजोल करने के अनिच्छुक या अशक्य हों, जिसके कारण या तो पृथक्करण-संविदा करनी पड़ी हो या ऐसी संविदा न की गयी हो; दोनों सूरतों में, और उस सूरत में भी जब पृथक् भरण-पोषण की अदालती डिग्री हो चुकी हो, कोई पक्षकार जिला जज की अदालत में याचिका द्वारा न्यायिक पृथक्करण वाली आज्ञप्ति के निमित्त प्रार्थना कर सकता है। न्यायिक पृथक्करण का फल क्या होता है ? उपधारा (२) कहती है कि ऐसी आज्ञप्ति के बाद दम्पति पारस्परिक मैथुन के कर्तव्य से मुक्त हो जाते हैं। भरण-पोषण (या रोटी-कपडा) की डिग्री का तो पुनः सहवास के कारण स्वतः अवसान हो जाता है, किन्तु न्यायिक पृथक्करण वाली डिग्री की पुनः सहवास के कारण स्वयमेव समाप्ति नहीं हो जाती है। पृथक भरण-पोषण की डिग्री हो चुकने पर भी इस धारा की याचिका दी जा सकती है। पूर्वोक्त डिग्री की विद्यमानता इस दूसरी याचिका के निवेदन को नहीं रोकती है। दोनों प्रक्रियाओं के रूप व लक्षण भिन्न हैं। दूसरी प्रक्रिया में अदालत अभिरक्षा सम्बन्धी एवं सम्पत्ति सम्बन्धी आदेश भी निकाल सकती है, किन्तु पूर्वोक्त प्रक्रिया में वह ऐसा नहीं करती या कर

सकती है। दूसरी प्रक्रिया की द्विवर्षीय विद्यमानता तलाक का हेतु बन जाती है। ऐसा कोई परिणाम पूर्वोक्त से नहीं उपजता (धारा १३)। अपराधी पक्षकार की नेकनीयती के विषय में यदि अदालत का परितोष हो जाय, तो वह अपनी डिग्री (न्यायिक पृथक्-करण की) को विखण्डित कर दे सकती है।

दम्पति के अन्योन्य मेलजोल को प्रोत्साहन देना अदालत का कर्तव्य होता है। डिग्री होने के बाद यदि दम्पति के बीच पृथक्करण विषयक आपसी समझौता हो जाय और उस समझौते की शर्तें अधिक मर्यादासम्मत एवं कल्याणकारी प्रतीत हों तो अदालत उन शर्तों के अनुसार अपनी आज्ञप्ति में हेर-फेर, घट-बढ़ करने में संकोच नहीं करेगी। इस धारा की उपादेयता तलाक के लिए है ही। इसके अतिरिक्त एक तरफ इस देश में तलाक के विपरीत प्रबल पूर्वाग्रह अभी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है। दूसरी तरफ पतिवर्ग के अत्याचारों का उपचार करने की भी तीव्र आकांक्षा जागृत हो चुकी है। दोनों विरोधी प्रवृत्तियों का संतुलन करने के निमित्त इस धारा का सर्जन हुआ है। उपधारा (१) में प्रविष्ट प्रतिहेतुओं की सूची से विदित होता है कि वे सब वैवाहिक अपराधों की संज्ञा से आवृत होते हैं। चूँकि अभ्यर्थी को उनकी विद्यमानता सिद्ध करनी चाहिए, इसलिए उनको स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। अस्तु, प्रत्येक के ऊपर क्रमशः विचार होगा।

(क) अभित्यजन का अर्थ उपधारा (१) की व्याख्या में उल्लिखित है। याचिका पेश करने की तिथि तक वैसे अभित्यजन को जारी रहना चाहिए। यदि दो या अधिक वर्षों पर्यन्त बने रहने के बावजूद वह याचिका देने के एक ही दिन पूर्व भंग हो चुका हो तो याचिका वादमूल-रहित समझी जायगी। किन्तु यदि अभित्यजन की समाप्ति बदनीयती से अर्थात् प्रतिपक्ष की पराजय की नीयत से की गयी थी, तो उसका उपरोक्त कुफल नहीं होगा। अभित्यजन तो एक प्रकार का क्रमबद्ध आचरण होता है जो यौनिक सम्भोग से सदैव विरक्त या उदासीन रहने के संकल्प को सूचित करे। लज्जाजनित अकामुकता, या दूसरे कमरे अथवा घर में सोना, या उमंग की कमी उस संकल्प को इंगित नहीं करते।[1] याद रहे कि अभित्यजन केवल यौनिक-संभोग के त्याग से सिद्ध नहीं होता। उसके साथ कामतः उपेक्षा का भी प्रमाण होना चाहिए। अभित्यजन की दो सूरतें होती हैं—एक पक्षकार स्वतः दूसरे को त्याग दे, या दूसरे पक्षकार को इतना

१. **"मीना ब० लछमन", ए० आई० आर० १९६०, बम्बई ४१८।**
"विपिनचन्द्र ब० प्रभावती", ए० आई० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट १७६।

नाकों दम कर दे कि वह उसको त्यागने के लिए विवश हो जाय।[१] ज्ञातव्य है कि जब अभित्यजन एक बार सिद्ध हो जाय, तो उसके जारी रहने की पूर्व-धारणा कर ली जाती है।[२]

उपरोक्त व्याख्या में "युक्तियुक्त प्रतिहेतु (हेतु)" शब्द आया है। इसका आशय यह होता है कि विद्यमान अवस्थितियों में एक युक्तियुक्त व्यक्ति अभित्यजन का संकल्प न करता। इस शब्द को "वैवाहिक अपराधों" तक परिसीमित नहीं करना चाहिए।[३] उदाहरणार्थ, यदि एक पक्षकार व्यभिचार का इकबाल कर ले और दूसरा उसको सत्य मानकर अभित्यजन कर बैठे, तो दूसरे के लिए एक "युक्तियुक्त प्रतिहेतु" समझा जायगा। तथैव यदि सौत के कारण एक पत्नी अभित्यजन कर देती है तो उसके पास एक "युक्ति-युक्त प्रतिहेतु" मान लिया जायगा।[४]

उसी व्याख्या मे "ऐसे पक्षकार की सम्मति के विना या खिलाफ" वाक्य आया है। इसका आशय यह है कि अभित्यजन में केवल दूसरे पक्षकार का ही हाथ नहीं था। जैसे जाब्ता फौजदारी की धारा ४८८ के अधीन यदि पत्नी के रोटी-कपड़े के दावे में राजीनामा हो जाय और उस राजीनामा के अनुसार पति ने उसको एक पृथक् कमरा दे दिया हो, तो यह पत्नी का अभित्यजन नही कहलायेगा।[५] उसी प्रकार यदि याचिकादाता ने प्रतिपक्षी प्रत्युत्तरदाता को घर से निकल जाने दिया था और यह प्रमाणित नही हुआ कि वह ससुराल वापस आने से इन्कार कर रही थी, तो अभित्यजन का वाद सिद्ध नही माना जायगा।[६] किन्तु यह नही समझना चाहिए कि छोड़कर चली गयी पत्नी को बुलाने का यदि कोई प्रयास न किया गया हो, तो केवल इतनी वेपर्वाही से अभित्यजन अप्रमाणित समझ लिया जायगा।[७] फिर भी मान लीजिए कि चली जाकर पत्नी जहाँ रहने लगी हो, वहाँ जा-जाकर पति यदि संभोग करता रहा हो, तो उसे अभित्यजन नही सहयोगी पृथक्करण कहेंगे। एक विचित्र मामला सुनने लायक है। पत्नी ने पति को यह धमकी दी कि यदि वह संभोग नही करेगा तो वह व्यभिचार-रत

१. "विपिनचन्द्र ब० प्रभावती", ए० आई० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट १७६।
२. "विपिनचन्द्र ब० प्रभावती", ए० आई० आर० १९५७, सुप्रीम कोर्ट १७६।
३. "मीना ब० लछमन", ए० आई० आर० १९६०, बम्बई ४१८।
४. "भगवती ब० साधु", ए० आई० आर० १९६१, पंजाब १८१।
५. "भगवती ब० साधु", ए० आई० आर० १९६१, पंजाब १८१।
६. "राजलक्ष्मी ब० डल्लू नाम्बलिंग", ए० आई० आर० १९५६, मद्रास १९५।
७. "राजलक्ष्मी ब० डल्लू नाम्बलिंग", ए० आई० आर० १९५६, मद्रास १९५।

हो जायगी। इस पर भी जब पति राजी न हुआ, तो वह उसको छोड़कर चली गयी और न्यायिक पृथक्करण की याचना की। याचिका में उसने व्यभिचार का इकबाल कर लिया। हाई कोर्ट से वह हार गयी।[1]

(ख) **क्रूरता** की परिभाषा, जो इस खण्ड में कही गयी है, अंग्रेजी कानून वाली "लीगल क्रुएल्टी" के पूर्णतः तद्रूप है। तो क्या वहाँ की नजीरें यहाँ प्रयोज्य होंगी; जो कर्म वहाँ पर क्रूरता के पाये तक पहुँचते हैं क्या वे यहाँ भी क्रूर समझे जायेंगे ? नहीं, क्योंकि यहाँ का जीवन-स्तर, रहन-सहन, कौटुम्बिक जीवन, दाम्पत्य व्यवहार, सामाजिक दशा, आचार के स्तर व विचारधाराएँ अनेक विवरणों में वहाँ से भिन्न होती हैं। क्रूरता का अन्दाज व्यवहार, सुपास, साधारण वातावरण के उन मापदण्डों से करना चाहिए, जिनकी, यहाँ की लड़कियों को बहू बनने पर प्रत्याशा करने की प्रशिक्षा मिलती है। इन बातों में एक देश का दूसरे देश से, एक समुदाय, वर्ग, जाति का दूसरे समुदाय, वर्ग, जाति से, एक कालावधि का दूसरी कालावधि से भेद पाया जाता है। शिक्षा का प्रचार व विदेशियों का समागम भी इन बातों में भेद पैदा कर देता है।

क्रूरता शारीरिक होती है और मानसिक भी, एवं सूक्ष्म और पाशविक भी, प्रत्यक्ष और परोक्ष भी, स्वाश्रित और अन्याश्रित भी। यथा पति स्वतः वेदना दे सकता है और अपनी माता व बहनों द्वारा कृत अत्याचारों से पत्नी की प्रतिरक्षा भी नहीं कर सकता है। एक दम्पति दूसरे की ताड़ना कर सकते हैं और मर्मभेदी कटुवचनों द्वारा हृदय को विदीर्ण भी कर सकते हैं। पति अपनी पत्नी को अशन-वसन-जल-हीन रखकर तड़पा-तरसा सकता है, और असमुचित भरण-पोषण-चिकित्सा से, या मन्द विष-प्रयोग से शनैः-शनैः उसकी हत्या भी कर डाल सकता है। इसलिए प्रत्येक वाद में अदालत को यह निर्धारित करना होता है कि परिदेवित पक्षकार का प्रतिपक्षकार के साथ रहना जीवन व स्वास्थ्य के लिए दुर्घटनात्मक तो नहीं होगा,[2] अर्थात् पहले का दूसरी के साथ मैथुनादि करना जीवन के, अग-प्रत्यंग के, कायिक-मानसिक स्वास्थ्य के लिए क्षतिकारी तो नहीं होगा ? इस खण्ड में प्रयुक्त "युक्तियुक्त आशंका" का यही तात्पर्य है। जिस क्रूरता का उल्लेख हुआ है वह परिणय-सम्बन्धी है। यदि कोई व्यक्ति आतशजनी या भ्रूणहत्या का अपराधी हो, तो वह क्रूर-शिरोमणि होते हुए भी, इस खण्ड के अधीन न्यायिक पृथक्करण का पात्र नहीं कहा जा सकता। यदि "बरताव" क्रूर है तो इस खण्ड की शर्त पूरी होती है, चाहे कर्ता ने प्रतिपक्षी को मानसिक या शारीरिक

१. **"मातो ब० साधू, ए० आई० आर० १९६१, पंजाब १५२।**

२. **"कोंडल ब० रंगनायकी", ए० आई० आर० १९२४, मद्रास ४९।**

क्लेश पहुँचाने के उद्देश्य से उसे न किया हो, चाहे उदाहरण के लिए उसने अपने व्यभिचार को गुप्त रखने का प्रयास भी किया हो। इतना याद रहे कि दूषित कर्म अर्थात् क्रूरता को स्वैच्छिक होना या अभिप्रेत होना जरूरी है। उदाहरणतः, उन्माद के दौरे में या विवशता की दशा में किया हुआ कर्म, क्रूरता के पाये तक पहुँच कर भी, इस खण्ड के अन्तर्गत नहीं आयेगा।

"युक्तियुक्त आशंका" के विषय में एक बात और ज्ञातव्य है। यह एक सापेक्ष शब्द है। एक परिवेदित व्यक्ति के मन में जो कर्म युक्तियुक्त आशंका को पैदा कर सकता है, सम्भव है कि वही दूसरे के मन को आन्दोलित न करे। उसके प्रभाव की मात्रा व्यक्तिगत सहिष्णुता पर आश्रित होती है। चूँकि सहिष्णुता की नापजोख करना असाध्य होता है, इसलिए अदालत क्रूरता के उस दुष्प्रभाव के साक्ष्य पर गौर करके निर्णय देती है, जो परिदेवित पक्षकार के कायिक या मानसिक स्वास्थ्य के ऊपर पड़ा हो। किन्तु जिस पक्षकार की व्यक्तिगत सहिष्णुता वैवाहिक जीवन के सामान्य एवं लघु संघर्षणों से विक्षत या क्षुभित हो जाती है उसके लिए अदालत की सहानुभूति नहीं उपजती है।

(ग) उग्र कुष्ठ से उस प्रकुप्त कुष्ठ का मतलब है जिसमें व्रण और विद्रूपता इतनी प्रत्यक्ष हो, कि रोगी के साथ सामाजिक जीवन निर्वाह करना दुस्तर हो जाय। यह एक शास्त्रीय अनर्हता है जिसका प्रभाव उत्तराधिकार एवं भरण-पोषण वाले मामलों पर भी पड़ता है। इस खण्ड में एक साल की कालावधि जिस याचिका के लिए नियत है, वह इस अधिनियम के अन्तगत धारा १० वाली याचिका है। वह मियाद "हिन्दू एडाप्शन्स एण्ड मे० ऐक्ट" के अन्तर्गत धारा १८ (ग) के अधीन पृथक् भरण माँगने के अधिकार पर लागू नहीं होती है। इस अधिनियम के अन्तर्गत अनुतोष माँगने के लिए तो पक्षकार को एक वर्ष तक रुकना पड़ता है। किन्तु उस अधिनियम के अन्तर्गत पत्नी पृथक् पोषण की माँग तत्काल कर सकती है; जैसे ही उसको पति के उग्र कुष्ठ की सूचना मिले। इस खण्ड के अन्तर्गत याचिका के प्रतिपक्ष में संक्षमा या दोषमार्जन का अभिकथन सफल हो सकता है। संक्षमा या दोषमार्जन का अभिवचन खण्ड (घ) वाली याचिका में भी उठया जा सकता है। यह खण्ड धारा १३ (iv) के तद्रूप है किन्तु उसमें शब्द "असाध्य" भी संलग्न है।

(घ) यौन रोग में कालावधि तीन वर्ष की रखी गयी है, जो (ग) खण्ड वाली कालावधि से दो वर्ष अधिक है। ये मियादें प्रतिपक्षी को चिकित्सा के द्वारा आरोग्य प्राप्त करने का अवसर प्रदान करने के अभिप्राय से नियत हुई हैं। इसमें दो शर्तें और पूरी होनी चाहिए। एक तो रोग सक्रामक प्रकार का हो। दूसरे, वह रोग प्रत्युत्तर-दाता को स्वतः याचिकादाता से प्रसाद रूप में न मिला हो। इस खण्ड में भी संक्षमा या

दोषमार्जन वाला सिद्धान्त प्रयोज्य होता है। धारा १३ (v) इस खण्ड के तद्रूप है और ऐसे रोग के आधार पर तलाक को अनुज्ञात करती है, किन्तु उसमें दूसरी शर्त जरूरी नहीं है।

(ङ) विकृत चित्त—यह शब्द अपार विस्तार का है और अनेक मानसिक दोषों को समाहित करता है। मूढता इसके अन्तर्गत है किन्तु मानसिक दौर्बल्य और बुद्धि की अल्पता नहीं। अपने मामलों व कामकाजों को समझने व चलाने की अक्षमता को "विकृत चित्त" कहा जा सकता है।[1] इस खण्ड में "लगातार" शब्द सहेतुक है। द्विवर्षीय कालावधि यदि निरन्तर न हो, उस बीच में यदि प्रत्युत्तर-दाता का मन अदूषित, उसका चित्त सावधान रह सका है, तो इस खण्ड वाली शर्त पूरी नहीं समझी जायगी।

(च) लैंगिक सम्भोग—बहु-विवाह जहाँ और जब अनुज्ञात रहा हो, वहाँ एक विवाहिता पत्नी दूसरी विवाहिता के साथ पति के संभोग को इस खण्ड के अधीन न्यायिक पृथक्करण का आधार नहीं बना सकती है। लैंगिक सम्भोग का प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रायः दुर्लभ होता है। परोक्ष या परिस्थिति-प्रमाण ही साधारणतया उपलब्ध होता है। किन्तु ऐसा प्रमाण निश्चायक होना चाहिए। क्या सम्भोग का स्वैच्छिक होना आवश्यक है? क्या बलात्कार से किये हुए संभोग से इस खण्ड की शर्त पूरी हो सकती है? उत्तर देना कठिन है। क्या जारता का एकल आचरण न्यायिक पृथक्करण के लिए पर्याप्त है? इस खण्ड की भाषा से सकारात्मक उत्तर ध्वनित होता है। धारा १३ (i) की भाषा से प्रतीत होता है कि तलाक के सम्बन्ध में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए, क्योंकि उसमें "जार की दशा में रह रहा है" यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है।

क्या इकबाल-जुर्म या प्रत्यवस्कन्द के आधार पर जारता प्रमाणित समझनी चाहिए? प्रमाण-अधिनियम या कानून-शहादत में प्रत्यवस्कन्द को प्रमाण मानने के विरुद्ध कोई नियम नहीं है। तथापि यह विहित है कि उसको प्रमाण मान लेने के पूर्व खूब छानबीन कर लेनी चाहिए और बड़ी सतर्कता बरतनी चाहिए। छानबीन तथा सतर्कता सम्बन्धी अनेक नियम उसमें लिखे हैं। फलतः, यद्यपि विधि में प्रमाण अनुज्ञात है, तथापि व्यवहारतः अदालतों ने यह एक विवेकात्मक नियम अपने लिए गढ़ लिया है कि जब तक स्वतंत्र संपुष्टि उपलब्ध न हो, तब तक निरे प्रत्यवस्कन्द (इकबाल जुर्म) के आधार पर निर्णय नहीं देना चाहिए।

१. "जोशी ब० रुक्मिनी" (१९५०), इलाहाबाद ३९६।

विवाह की अकृतता और तलाक

धारा ११, शून्य विवाह—इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् अनुष्ठित किया गया कोई विवाह यदि धारा ५ के खण्ड (१), (४) और (५) में उल्लिखित शर्तों मे से किसी का उल्लघन करता है, तो वह अकृत और शून्य होता है और उसके किसी पक्षकार द्वारा पेश की गयी याचिका पर अकृतता की आज्ञप्ति द्वारा ऐसा घोषित किया जा सकेगा।

वाक्य "किसी पक्षकार द्वारा पेश की गयी याचिका पर" का ध्वनितार्थ यह है कि कोई बाहरी व्यक्ति इस धारा वाले अनुतोष की याचिका नहीं दे सकता। तारीख १८ मई सन् १९५५ के पश्चात् सम्पादित विवाह को यह धारा तीन कारणों से अकृत व शून्य विहित करती है। वे कारण धारा ५ (१), (४), (५) में उल्लिखित हैं, अर्थात् (१) यदि किसी पक्षकार के दम्पति जीवित थे, (२) कोई पक्षकार प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर था या थी, (३) पक्षकार आपस मे सपिण्ड थे। इन तीन दशाओं में विवाह आरम्भतः निष्फल एवं निष्प्रभावी मान लिया जायगा। ऐसी हालत में दोनों पक्षकार अपने को अविवाहित मानकर अपने विवाह अभिनवतया अनुष्ठित करा सकते हैं और ऐसा कराने से पूर्व इस धारा वाली आज्ञप्ति पारित कराना अनिवार्य नहीं है। जो विवाह १८ मई १९५५ के पूर्व अनुष्ठित हो चुके थे उन पर यह धारा लागू नहीं है। शून्य विवाह पक्षकारों को उन अन्योन्य हक-कर्तव्यों से मडित नहीं कर सकता जो सामान्यतः एक वैध विवाह से उपजते है, सिवा उन दशाओं के जिनके लिए उपबन्ध इस अधिनियम के भीतर कर दिये गये हैं। वे उपबन्ध धारा १६, धारा २४ व धारा २५ में मिलेंगे, जो क्रमशः "शून्य और शून्यकरणीय विवाहों की सन्तति की औरसता", "वादकालीन भरण-पोषण और कार्यवाहियों के व्यय" एवं "स्थायी निर्वाह व्यय और भरण-पोषण" से सम्बन्धित हैं।

यद्यपि इस धारा वाली घोषणात्मक आज्ञप्ति पारित कराना अनिवार्य नहीं होता, तथापि उसको ले लेने मे दो प्रलाभ प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। एक तो पक्षकारों के अविवाहित होने के प्रमाण-पत्र का काम वह करती है। दूसरे, वह साक्ष्य में अभिलेखबद्ध हो जाती है, जिसके समयान्तर हो जाने पर लोप या दुष्प्राप्य हो जाने की सम्भावना रहती है। एक प्रश्न यह उठता है कि यदि उपरोक्त तीन शून्यकारी कारणों की सूचना रहते हुए पक्षकारों ने सूचना के बावजूद विवाह अनुष्ठित करा लिया हो, तो भी क्या वे आज्ञप्ति की याचना कर सकते है; अथवा 'प्रतिष्टम्भ' वाला सिद्धान्त अवरोध पैदा कर

देगा ? चूँकि तीसरे पक्ष के हितों पर आँच नहीं आती, इसलिए 'प्रतिष्टम्भ' क्रियाशील न होकर आज्ञप्ति में बाधा नहीं डालेगा।[1]

इस धारा में गिनाये हुए कारणों में "सम्मति-विहीनता" का उल्लेख नहीं है। यदि विवाह एक अनुबन्ध होता है, जैसा कि सर शंकर नैयर ने घोषित कर दिया है,[2] तो क्या "सम्मति-विहीनता" को भी उसको शून्य कर देने वाला दोष मानना चाहिए और क्या उसके आधार पर भी आज्ञप्ति पारित हो सकती है ? अंग्रेजी कानून निस्संकोच होकर इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देता है। हिन्दू प्रणाली में प्रायः स्वतः दम्पति नहीं, उनके अभिभावक विवाहार्थ सम्मति दिया करते हैं। इसलिए उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, यद्यपि सकारात्मक उत्तर तर्कसंगत प्रतीत होता है। हिन्दू धर्मशास्त्र में भी संकल्प पर बल दिया गया है। "संकल्पः कर्म मानसम" के अनुसार दम्पति की सम्मति उनकी मानसिक स्थिति का प्रश्न है, जो उनके व्यवहार से ही व्यक्त हो सकता है। वैवाहिक अनुष्ठानों में भाग लेना और तत्पश्चात् मैथुन में प्रवृत्त होना उनकी सम्मति के अचूक लक्षण माने जायेंगे। यदि आरम्भ में "सम्मति-विहीनता" रही भी हो तो इन व्यवहारों व आचरणों से यह दूषण मिट जाता है और संविदा का अभिसमर्थन मान लिया जाता है। एक सूरत यह होती है कि सम्मति विद्यमान तो है परन्तु वह छल या प्रसाहस से प्रेरित रही हो। इस सूरत को "सम्मति-विहीनता" ही मानना चाहिए, क्योंकि सम्मति का प्रदान अस्वतंत्र था। किन्तु अधिनियम ने ऐसे विवाह को धारा ११ में न रखकर धारा १२ (१) (ग) में केवल शून्यकरणीय माना है।

यदि सम्मति किसी भूल या भ्रम से प्रेरित हुई थी, जैसे प्रतिपक्ष के गुण, यथा कौमार्य, सम्पत्ति, स्वास्थ्य, कुलीनता, तो सम्मति अस्वतन्त्र होने पर भी उसको "सम्मति-विहीनता" नहीं कहेंगे और इस धारा वाली आज्ञप्ति का आधार नहीं मानेंगे। भ्रम को घोषणात्मक आज्ञप्ति का एक कारण मान लेने से अनेक जाली फसादी प्रमाणों के प्रस्तुत होने का भय रहता है, एवं विवाह का पशु-पक्षी के सौदे के स्तर तक पतन हो सकता है। ज्ञातव्य है कि यदि विवाह को संविदा न मानकर एक संस्कार मान लें, तो इस प्रकार की शंका न उठे।

धारा १२, शून्यकरणीय विवाह—

(१) कोई विवाह, भले ही वह इस अधिनियम के आरम्भ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठित किया गया है, निम्न आधारों में से किसी पर, अर्थात्

१. "डी० के० आर० चिन्नस्वामी ब० रंजवा" (१९६१) १, मद्रास ला जर्नल" ३८१।

२. "मुट्ठू स्वामी ब० मांसलमणि" (१९१०) ३३, मद्रास ३४२।

(क) इस आधार पर कि प्रत्युत्तरदाता विवाह के समय नपुंसक था और कार्यवाहियों के संस्थित किये जाने तक ऐसा बना रहा है, या

(ख) इस आधार पर कि विवाह धारा ५ के खण्ड (२) में उल्लिखित शर्तों के उल्लंघन में है, या

(ग) इस आधार पर कि याचिकादाता की सम्मति, या जहाँ कि याचिकादाता के विवाहार्थ संरक्षक की सम्मति धारा ५ के अधीन अपेक्षित हैं, वहाँ ऐसे संरक्षक की सम्मति बल या कपट द्वारा अभिप्राप्त की गयी थी, या

(घ) इस आधार पर कि प्रत्युत्तरदात्री विवाह के समय याचिकादाता से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा गर्भवती थी,

शून्य-करणीय होगा और अकृतता की आज्ञप्ति द्वारा अकृत किया जा सकेगा।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी विवाह को अकृत करने के लिए कोई याचिका—

(क) उपधारा (१) के खण्ड (ग) में उल्लिखित आधार पर उस सूरत में ग्रहण न की जायगी, जिसमें कि—

(i) याचिका यथास्थित बल के चालू रहने से परिविरत हो जाने के या कपट का पता चल जाने के एक वर्ष से अधिक के पश्चात् पेश की गयी है, या

(ii) याचिकादाता यथास्थित बल के चालू रहने से परिविरत हो जाने के या कपट का पता चल जाने के पश्चात् अपनी पूरी सम्मति से विवाह के दूसरे पक्षकार के साथ पति या पत्नी के रूप में रहा या रही है,

(ख) उपधारा (१) के खण्ड (घ) में उल्लिखित आधार पर तब तक ग्रहण न की जायगी जब तक कि न्यायालय का समाधान नही हो जाता है—

(i) कि याचिकादाता अभिकथित तथ्यों से विवाह के समय अनभिज्ञ था,

(ii) कि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व अनुष्ठित विवाह की अवस्था में कार्यवाहियाँ ऐसे प्रारम्भ के एक वर्ष के भीतर और ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् अनुष्ठित विवाहों की अवस्था में विवाह की तारीख से एक वर्ष के भीतर सस्थित कर दी गयी हैं, और

(iii) कि याचिकादाता की सम्मति से वैवाहिक सम्भोग आज्ञप्ति के लिए आधारों के अस्तित्व का पता याचिकादाता को चल जाने के दिन से नहीं हुआ है।

यह धारा इस माने में विलक्षण है कि यह भूतलक्षी होने के अतिरिक्त शून्य-करणीयता के कारणों की एक प्रतिपूर्ण सूची को अन्तर्वेष्टित करती है। शून्यकारक आज्ञप्ति नीम तले बैठकर कोई पुरोहित या पच नही निकाल सकता। ऐसी आज्ञप्ति पारित करने का अधिक्षेत्र मात्र तदर्थ अधिकृत अदालत का होता है।[1] ऐसी अदालत जब तक आज्ञप्ति नही देती तब तक विवाह सार्थक एव प्रभावशाली बना रहता है। विधिपूवक अनुष्ठित वास्तविक विवाह का अदालतें इतना पक्ष करती है कि उसको अकृत करने के लिए वे विहित कारणों का प्रवल प्रमाण माँगती है। यदि याचिका-दाता ने तलाक या प्रत्यास्थापन की प्रार्थना की हो, तो प्रत्युत्तर-दाता अपनी प्रतिरक्षा के साथ ही शून्यकरण का आवेदन भी उपस्थित कर सकता है। अब प्रत्येक आधार पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(क) **नपुंसकता**—पक्षकारों के सिवा कोई तीसरा व्यक्ति इस दोष को याचिका का आधार नहीं बना सकता। कोई पक्षकार अपनी ही नपुंसकता को आधार नहीं बना सकता, क्योंकि इस खण्ड मे "प्रत्युत्तरदाता" की नपुंसकता का उल्लेख हुआ है। नपुंसकता की कालावधि विवाह से आरम्भ होकर याचिका देने पर्यन्त रखी गयी है। यदि विवाह के बाद प्रत्युत्तरदाता ने चिकित्सा करा ली है और आरोग्य पा लिया है, तो यह खण्ड लागू नहीं होगा। नपुंसकता या क्लीवत्व का अर्थ है मैथुन करने की अशक्यता, जो दो प्रकार की होती है। आम या साधारण तो सबके साथ विद्यमान रहती है। खास या विशेष, जो किसी विशेष व्यक्ति के प्रति प्रदर्शित हो उठती है केवल याचिकादाता के प्रति यदि प्रत्युत्तर-दाता कामातुरता का प्रदर्शन करने के लिए अशक्य हो, अर्थात् यदि प्रत्युत्तर-दाता रति-निरत नहीं हो पाता, तो याचिका की सफलता के लिए इतना ही पर्याप्त है। आम नपुंसकता प्रमाणित करना आवश्यक नहीं होता।[2] किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, क्लीवता साध्य नहीं होनी चाहिए। यदि नीरोगता, बिना खतरनाक शल्य क्रिया के सम्भव न हो, अथवा यदि प्रत्युत्तर-दाता शल्य क्रिया या चिकित्सा कराना अस्वीकार कर रहा हो; दोनों अवस्थाओं में नपुंसकता असाध्य मान ली जायगी। मैथुन से विरक्ति यदि रोग-जनित न होकर घृणा-जनित या स्वेच्छा-जनित हो, तो यह खण्ड अप्रयोज्य होगा। इसका पता लगानें के लिए कि क्लीवता किस प्रकार तथा लक्षण की है, अदालत डाक्टरी करानें का आदेश दे सकती है। जो पक्षकार डाक्टरी जाँच

१. "केशव ब० बाई गंडी (१९१५) ३९, बम्बई ५३८।
२. "किशोर ब० स्नेहप्रभा", ए० आई० आर० १९४३, नागपुर १८५।

कराना अस्वीकार कर दे, उसके विरुद्ध निष्कर्ष निकाला जा सकता है। उसी प्रकार से मैथुन की दीर्घकालीन विरति से भी विपरीत निष्कर्ष निकलता है।

इस अधिनियम के पहले भी नपुंसकता के आधार पर शून्यकरणीय आज्ञप्ति दी जाती थी। किन्तु नपुंसकता के लक्षण स्पष्टतया विदित नहीं थे।[1] अदालतें औचित्य एवं सहज बुद्धि का अवलम्बन लेती थीं। सहज बुद्धि कहती है कि याचिका की संस्थिति के बाद पुंस्त्व प्राप्त करने वाली शल्य क्रिया यदि हो गयी है, तो उसका परिणाम देखे बिना आज्ञप्ति नहीं पारित कर देनी चाहिए; यद्यपि खण्ड के अनुसार याचिका की संस्थिति पर ही कालावधि समाप्त हो जाती है। किन्तु अनिश्चित फल-प्रद शल्य क्रिया के कारण आज्ञप्ति वाली कार्यवाही को स्थगित नहीं करना चाहिए। विवाह से प्रलाभ उठा चुकने के पश्चात, या जान-बूझ कर वृद्धावस्था में विवाह अनुष्ठित कर लेने के बाद, अथवा आचरण-जनित अनुसमर्थन करते रहने के उतरान्त, इस खण्ड के अधीन याचिका को संस्थित करना जनकल्याण नीति एवं न्याय के विरुद्ध होता है। यद्यपि ये बातें अधिनियम में उपबन्धित नहीं मिलतीं, तथापि धारा २३(१) (ङ) के अधीन उपरोक्त विवेकी अधिकारों का अदालतें विनियोग कर सकती हैं।

(ख) मूढता या उन्माद—याद रहे कि इस अधिनियम के अनेक उपबन्ध अंग्रेजी कानून के नमूने पर गढ़े गये हैं। ज्ञातव्य है कि यद्यपि अंग्रेजी कानून में मूढता व उन्माद विवाह को शून्य बनाते हैं, क्योंकि सम्मति का उसमें अभाव रहता है, और यद्यपि यही नियम "स्पेशल मैरेज ऐक्ट १९५४" की धारा २४(१) (i) में निगमित किया गया था, तथापि इस अधिनियम में इन दो आधारों को शून्यता का नहीं केवल शून्य-करणीयता का हेतु रखा गया है। कारण यह है कि विधायकमण्डल दो अवधारणाओं—विवाह एक संविदा है, विवाह एक संस्कार है—में सन्तुलन करना चाहता था। मूढता और पागलपन इतना उग्र होना चाहिए कि उन्मत्त और मूढ व्यक्ति विवाह के महत्व, सार्थकता, परिणाम, आशय, अभिप्राय से नितान्त अनभिज्ञ बना रहे।

(ग) बल या कपट—इस खण्ड के अधीन उन लोगों की सम्मति प्रसाह या छल प्रेरित होनी चाहिए जिनकी सम्मति प्राप्त करने का अधिनियम के अन्दर आदेश है। उस दशा में विवाह शून्य-करणीय हो जाता है, किन्तु दो परन्तुकों के साथ। एक तो, याचिका उस समय से एक वर्ष के भीतर संस्थित हो जानी चाहिए जब प्रसाह

१. "मल्ला रेड्डी ब० सुब्बम", ए० आई० आर० १९५६, आंध्र २३७। "टी० रंगस्वामी ब० टी० रविन्दम्मल", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास २४३।

निष्क्रिय हो गया था, या जब छल-कपट खुल गया था। दूसरे, दोष का परिमार्जन याचिकादाता ने अपनी निम्नवत करतूत के द्वारा न कर दिया हो, क्योंकि उस करतूत से विवाह का अनुमोदन या अंगीकरण प्रकट होता है। वह करतूत है प्रसाह के अवसान अथवा छल के अनावरण के पश्चात् भी स्वेच्छा से दूसरे पक्ष के साथ मैथुन में निरत होना। द्रष्टव्य—धारा १२(२) (क)।

"बल" या प्रसाह का अर्थ क्या है और "कपट" या छल का आशय क्या है। "बल" का अर्थ यह है कि धमकी व अत्याचार के फलस्वरूप सम्मति-प्रदाता इतनी मात्रा तक अभिभावित हो गया हो कि वह प्रतिरोध करने में असमर्थ हो और जब ऐसी दशा मे दी गयी सम्मति मुक्त सम्मति न मानी जा सकती हो। इस खण्ड के अधीन ऐसी बल-प्रेरित सम्मति विवाह को शून्यकरणीय बना देती है, यदि विवाहोत्तर अनुमोदन न हो चुका हो। "कपट" का आशय बखान करना सहज नही है। कपट उन कथन व करतूतों को कहते है जो विवाह की मूल हेतु होते हुए झूठ निकलें, जिनका पालन या पूरा करना प्रत्युत्तरदाता को अभीप्सित या आशासित कदापि न हो किन्तु जो केवल याचिकादाता को फासने के निमित्त उच्चारित या प्रदर्शित किये गये हों। याचिकादाता के प्रति उस व्यक्ति के विवाह-पूर्व वचन व कर्म कपटाचार हैं, जो वैवाहिक दायित्वों के बन्धन में पड़ने को कभी कृतसंकल्प था ही नही। यह एक निष्कर्ष है, जो प्रत्युत्तरदाता के व्यक्तिगत इतिहास से, अवस्थिति से, याचिकादाता के प्रति उसके विवाह-पूर्व व विवाहोत्तर व्यवहार से निकाला जाता है। जिस कपट का प्रयोग पक्षकार या उसके संरक्षक के ऊपर न किया गया हो वह इस खण्ड के अन्तर्गत नही आता। जो वचन और कर्म केवल अनुनयी या प्रलोभनकारी हों, जो अस्वीकृति का मार्ग खुला छोड़ देते हों, शायद वे भी इस खण्ड में सन्निहित नही है। जिन बातों के अभाव के बावजूद विवाह सम्पन्न हो जाता है उनका मिथ्या-निरूपण कपट नही है। जिन बातों की विद्यमानता बिना विवाह अंगीकृत होता ही नही उनका मिथ्या निरूपण कपट की संज्ञा पा जाता है। कौन-सी बात इस ओर कौन-सी उस प्रकार की है यह देश, काल व पक्षकारों की परिस्थितियों, विचारों, स्तरों और मूल्यों पर आश्रित है। इसके निर्णय के लिए निश्चित नियमावली कैसे रची जा सकती है? प्रत्येक मामले का निर्णय उसके विलक्षण तथ्यों एवं अवस्थितियों पर अवलम्बित करना पड़ता है। यहाँ पर यह शंका उठती है कि क्या "वचनशतेनापि वस्तुनाऽन्यथा करणाशक्तेः" वाला (फैक्टम वैलेट) जीमूतवाहन का सिद्धान्त इस खण्ड वाले दोष का मोचन कर सकता है? नहीं, देखिए धारा ४।

(घ) पत्नी का विवाह-पूर्व गर्भवती होना—अंग्रेजी कानून की यह भी एक देन

है। वहाँ इस दोष को कपट की ही एक प्रजाति मानते हैं और इसकी विद्यमानता को शून्य-करणीयता का एक आधार। पत्नी अन्य पुरुष द्वारा विवाह के पूर्व गर्भवती हो चुकी थी इस तथ्य का प्रमाणभार याचिकादाता पर होता है और प्रत्युत्तरदाता के इकबाल या अनुपस्थिति मात्र से इस भार का निर्वहन नहीं हो जाता।[1] स्त्री-पुरुष के रक्त की जाँच तथा अन्य डाक्टरी व गैर-डाक्टरी साक्ष्य से अभियोग सिद्ध करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त याचिकादाता को उपधारा (२) वाली सम्बन्धित शर्तें भी पूरी करनी पड़ती हैं। अर्थात एक तो वह गर्भावस्था से विवाह के समय अनभिज्ञ था। दूसरे, याचिका या तो विवाह के (यदि विवाह अधिनियम के बाद अनुष्ठित हुआ हो), या अधिनियम पारित होने के (यदि विवाह अधिनियम के पहले अनुष्ठित हो चुका था) एक वर्ष के अन्दर संस्थित हो गयी थी। तीसरे, इस दोष का पता जब से चला तब से याचिकादाता ने स्वेच्छया मैथुन प्रत्युत्तरदाता से नहीं किया है। प्रमाणभार याचिका-दाता पर रखने का एवं इतनी शर्तों के विहित करने का अभिप्राय यह है कि वह अपने ही कुकर्म का प्रलाभ बदनीयतीवश या लज्जावश उठाने का प्रयास न करे।[2] एक बात समझ में कम आती है। कुमारी के साथ विवाह करने वाला यदि अपनी पत्नी की पूर्व-गर्भावस्था से भड़के तो भड़के। किन्तु विधवा के साथ विवाह करने वाले को तो ऐसी दशा को एक अवहेलनीय बात मानना चाहिए। अर्थात् विधवा के साथ जब उसके बाल-बच्चे नवीन पति के घर सदैव बिना आनाकानी के आते ही हैं, तो यदि गर्भस्थ शिशु भी उसके साथ आये तो विधवा की इस दशा को शून्यकरणीयता का आधार क्यों माना जाय ?

धारा १३, तलाक—

(१) कोई विवाह, भले ही वह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात अनुष्ठित हुआ हो, या तो पति या पत्नी द्वारा पेश की गयी याचिका पर तलाक की आज्ञप्ति द्वारा इस आधार पर भंग किया जा सकेगा कि—

(i) दूसरा पक्षकार जारता की दशा में रह रहा है, या

(ii) दूसरा पक्षकार दूसरे धर्म को ग्रहण करने के कारण हिन्दू होने से विरत हो गया है, या

(iii) दूसरा पक्षकार याचिका पेश किये जाने से अव्यवहित पूर्व तीन वर्ष से कम न होने वाली लगातार कालावधि में असाध्य विकृत चित्त का रहा है, या

१. "सुशीला ब० महेन्द्र", ए० आई० आर० १९६०, बम्बई ११७।

२. "पी० एस० शिवगुरु ब० पी० एस० सरोज", ए० आई० आर० १९६०, मद्रास २१६।

(iv) दूसरा पक्षकार याचिका पेश किये जाने से अव्यवहित पूर्व तीन वर्ष से कम न होने वाली कालावधि में उग्र और असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित रहा है, या

(v) दूसरा पक्षकार याचिका पेश किये जाने से अव्यवहित पूर्व तीन वर्ष से कम न होने वाली कालावधि में संक्रामक यौन रोग से पीड़ित रहा है, या

(vi) दूसरा पक्षकार किसी धार्मिक आश्रम में प्रवेश करके संसार का परित्याग कर चुका है, या

(vii) दूसरे पक्षकार के बारे में सात वर्ष या अधिक की कालावधि में उन लोगों के द्वारा, जिन्होंने दूसरे पक्षकार के बारे में, यदि वह जीवित होता तो स्वभावतः सुना होता, नहीं सुना गया है कि जीवित है, या

(viii) दूसरे पक्षकार ने अपने खिलाफ न्यायिक पृथक्करण की आज्ञप्ति दिये जाने के पश्चात् दो वर्ष या उससे अधिक की कालावधि में सहवास का पुनरारम्भ नहीं किया है, या

(ix) दूसरा पक्षकार दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आज्ञप्ति के अपने खिलाफ दिये जाने के पश्चात् दो वर्ष या अधिक की कालावधि में उस आज्ञप्ति का अनुवर्तन करने में असफल रहा है।

(२) तलाक की आज्ञप्ति के द्वारा पत्नी अपने विवाह भंग के लिए याचिका—

(i) इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व अनुष्ठित किसी विवाह की अवस्था में इस आधार पर भी उपस्थित कर सकेगी कि पति ने ऐसे प्रारम्भ के पूर्व फिर विवाह कर लिया है, या पति की ऐसे प्रारम्भ के पूर्व विवाहित कोई दूसरी पत्नी याचिकादात्री के विवाह के अनुष्ठान के समय जीवित थी; परन्तु यह तब जब कि दोनों अवस्थाओं में दूसरी पत्नी याचिका पेश किये जाने के समय जीवित हो, या

(ii) इस आधार पर पेश की जा सकेगी कि पति विवाह के अनुष्ठान के दिन से बलात्कार, गुदा-मैथुन या पशुगमन का दोषी हुआ है।

प्रथा के आधार पर हिन्दू ला में तलाक के लिए कोई स्थान नहीं था। यह एक नया हक है, जो मात्र परिनियम की सृष्टि है। चाहे विवाह को संविदा के सामान्य आसन पर आसीन करिए या संस्कार के उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करिए; इसमें सन्देह नहीं कि समाज कल्याण, लोकनीति, सच्चरित्रता या सदाचार, कौटुम्बिक सुख शान्ति के लिए विवाह की प्रतिष्ठा, मर्यादा को सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। तलाक को सुकर बनाना समाज के लिए अहितकर होता है। उसका नितान्त निषेध

भी पुरुषों की नृशंसता व अत्याचार का हेतु पाया गया है और कभी-कभी उनके दुःखमय जीवन का मूल कारण भी। इसलिए इस आमूल उपचार की नवीन रचना की गयी। इसके कुपरिणामों के मोचन के दो उपाय रचे गये। एक तो शून्य-करणीयता और न्यायिक पृथक्करण वाले हलके उपचारों के बाद इस प्रचण्ड उपचार का नम्बर रखा गया। दूसरे, तलाक वाली प्रक्रिया को विविध प्रतिबन्धों, मर्यादाओं, नियत्रणों से अवरुद्ध कर दिया गया।

अदालतें भी तलाक के लिए प्रोत्साहन या अनुग्रह नहीं दिखातीं और उपरोक्त संयम-नियमों, निग्रहों का कठोरता से निष्पादन कराती है। जहाँ उनको विवेक के प्रयोग की छूट होती है, वहाँ वे पक्षकारों को समझौता कर लेने का समुचित अवकाश देती है। धारा १० और १३ के उपबन्धों का मिलान करने से मालूम होता है कि विधान मण्डल को भी अभीप्सित है कि पक्षकारों को मिलाप करने का मौका मिले। तभी तो धारा १४ में विहित है कि विवाह के तीन वर्ष उपरान्त ही तलाक की याचिका संस्थित हो सकेगी, और इस कालावधि में कमी करना तभी सम्भव होगा, जब "याचिकादाता द्वारा असाधारण कष्ट भोगे जाने का या प्रत्युत्तरदाता की असाधारण दुराचारिता" का मामला अन्तर्निहित हो। इस धारा के परन्तुक में यह प्रतिबन्ध भी संलग्न है कि तीन वर्ष के पूव याचिका पेश करने की अनुमति यदि मिथ्या व्यपदेशन या गोपन से प्राप्त की गयी हो, तो अदालत या तो तलाक वाली याचिका को खारिज कर दे, या आज्ञप्ति मे नियत्रणकारी औचित्य-सम्मत शर्त लगा दे। अब धारा १३ में उल्लिखित आधारों पर अलग-अलग चिन्तन होगा।

(i) **जारता की दशा** का ध्वनितार्थ यही है कि प्रत्युत्तरदाता स्वाभाविक व्यभिचारी है। जारता के छिटपुट कर्म से जारता की दशा इंगित नहीं होती। इसका आशय है जारता का एक लगातार जीवनक्रम।[1] यही वाक्य जाब्ता दीवानी की धारा ४८८ (४) (५) में प्रयुक्त होकर इतने दिनों से परिचलन मे आ गया है कि लोग इसके अर्थ से परिचित हो गये है। इस खण्ड में वाक्य "रह रहा है" से प्रतीत होता है कि व्यभिचारी जीवन के समय से याचिका पेश करने के समय में अधिक अन्तर नही होना चाहिए।[2] याचिका में विलम्ब करने से दोष मार्जन या संक्षमा का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। "रह रहा है" वाक्य में स्वेच्छा सन्निहित है। इसलिए छल

१. **"सुब्रह्मण्यम ब० पोन्नाक्षीमल", ए० आई० आर० १९५८, मैसूर ४२।**
२. **"रजनी ब० प्रभाकर", ए० आई० आर० १९५८, बम्बई २६४।**

या बल के प्रयोग द्वारा सतीत्व भंग होने से इस खण्ड की शर्त पूरी नही होती है। किन्तु यदि कामवासना की तृप्ति होती रही थी, तो प्रत्युत्तरदाता की बचत यह अभिकथन करके नही हो सकती कि योनि-प्रवेश सदैव आंशिक ही होता था।[1]

(ii) **विधर्मता** का अर्थ केवल हिन्दू धर्म की पद्धतियों, पन्थों, परिपाटियों, अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों, सयम-नियमों को छोड़-छाड़कर बैठ रहना नहीं समझना चाहिए। इसका अर्थ है यहूदी या पारसी या ईसाई या इस्लाम धर्म के अन्दर औपचारिक प्रवेश। विधर्म की स्वीकृति सच्चे मन से की गयी है या पाखण्ड वश, यह प्रश्न इस खण्ड के निमित्त असगत होता है। यदि कलमा पढ़ लिया है, यदि बपतिस्मा की क्रिया सम्पन्न हो चुकी है, तो व्यक्ति क्रमशः मुसलमान या ईसाई हो चुका और हिन्दूत्व से विरत हो गया।

(iii) **असाध्य विकृत चित्त**—यह दशा डाक्टरी विशेषज्ञ के साक्ष्य का विषय होती है। उसके साथ-साथ प्रत्युत्तरदाता के आचरण व व्यवहार व कथन का भी साक्ष्य देना चाहिए। सारी सामग्री के ऊपर चिन्तन करने के पश्चात् अदालत निर्धारित करती है कि उन्माद का रोग साध्य है या असाध्य। साध्य का मतलब है आरोग्य प्राप्ति की सम्भावना, अर्थात् क्या यह सम्भव है कि प्रत्युत्तरदाता साधारण विवाहित जीवन स्वतन्त्रता पूर्वक निर्वाह करने के योग्य उसी पैमाने पर हो जायगा जैसा कि वह विवाह के समय था या थी। यदि विवाह के समय याचिकादाता को प्रत्युत्तरदाता के न्यून मानसिक स्तर की सूचना थी, तो उसी स्तर तक पहुच जाने को आरोग्य मान लिया जायगा। सम्भावना का निर्णय करने मे इस बात का भी विचार किया जायगा कि क्या उपयुक्त चिकित्सा का प्रबन्ध करना और व्यय वहन करना पक्षकारों की सामर्थ्य के भीतर है या बाहर। इस खण्ड म "लगातार" शब्द भी सहेतुक है। नियत तीन वर्ष के दौरान में यदि प्रत्युत्तरदाता का मस्तिष्क कभी-कभी शुद्ध रहा हो, तो असाध्यता का प्रमाणभार और भी कठिन पड़ जाता है। अदालत को यह भी सोचना चाहिए कि कही स्वतः याचिकादाता ही तो मानसिक विकृति या उसकी तेजी का हेतु न रहा हो।

(iv) **उग्र व असाध्य कुष्ठ रोग एवं (v) संक्रामक यौन रोग**—इन दोनों खण्डों का धारा १० के (ग) व (घ) खण्डों से मिलाने पर ज्ञात होगा कि खण्ड (iv) में कुष्ठ को उग्र एव असाध्य दोनों अवगुणों से युक्त होना चाहिए, किन्तु खण्ड (ग) में मात्र उग्रता की शर्त रखी गयी है। खण्ड (घ) मे सक्रामक यौन रोग के साथ यह शर्त जुड़ी है कि वह स्वय याचिकादाता का प्रसाद न हो। किन्तु खण्ड (v) में ऐसी कोई

१. प्रोफेसर जे० डी० एम० डेरेट कृत माडर्न हिन्दू ला, पृ० २३०।

शर्त नहीं संलग्न है। पहले अन्तर का कारण यह लगता है कि धारा १० वाले उपचार से धारा १३ वाला उपचार अधिक संगीन होने से दूसरे की शर्तें कठोरतर रखी गयी हैं। दूसरे अन्तर का कारण यह मालूम देता है कि यदि स्वतः याचिकादाता के संसर्ग से यौन-रोग पैदा हो गया था, तो भी तीन वर्ष तक उसका बना रहना उसकी असाध्यता का परिचायक है और असाध्य रोग का उपचार भी कठोर होना चाहिए।

(vi) **धार्मिक आश्रम में प्रवेश एवं लोक-परित्यजन**—इस खण्ड की शर्त में दो अवयव है; एक तो लौकिक स्वत्वों का त्याग, दूसरा, संसारी बन्धनों का विच्छेद। दोनों अवयव मौजूद न हों, तो तलाक की आज्ञप्ति पारित नहीं हो सकती। धार्मिक आश्रम का मतलब ऐसी धार्मिक संस्था है जिसमें प्रवेश करते ही संसारी शृंखलाएँ टूट जाती है, अर्थात पुत्र, कलत्र, वित्त इत्यादि से कोई नाता नहीं रह जाता है। ऐसी संस्था में प्रवेश करने का मतलब है उन सब अनुष्ठानों, क्रियाओं, औपचारिकताओं को विधिवत् सम्पन्न करना जो उसमें विहित हों। परित्याग निरपेक्ष और निश्छल होना चाहिए। स्वत्व का अध्यर्पण किसी के अनुकूल नहीं व्यापक होना चाहिए।

(vii) **निधन की पूर्व-धारणा**—सात वर्षों के व्यतीत हो जाने पर, स्वजनों व आत्मीयों को, इस खण्ड में निर्दिष्ट अवस्थाओं के विद्यमान होने पर, यह धारणा बनाकर कि अन्तर्धान-प्राप्त व्यक्ति मर चुका है, उन कर्मों को वैध रूप से करने का अधिकार हो ज़ाता है जो अवैध होते यदि उक्त व्यक्ति उन दिनों जीवित होता। उदाहरणार्थ, सात वर्ष बाद विवाह का कोई पक्षकार विवाह बन्धन से अपने को मुक्त समझ सकता है, या मुक्ति पाने के निमित्त तलाक की याचना कर सकता है। तलाक की आज्ञप्ति दूसरे विवाह एवं तज्जनित सन्तति को वैधता प्रदान करने वाले प्रमाणपत्र का काम करती है। अन्तर्धानगत व्यक्ति की मृत्युतिथि का कोई निर्धारण उपरोक्त पूर्व-धारणा में सन्निहित नही रहता। दूसरे, प्रमाणभार उस पक्ष के ऊपर आ जाता है जो व्यक्ति के जीवित होने का अभिकथन करे। तीसरे, यदि अन्तर्धान-प्राप्त व्यक्ति जीवित निकले, तो धारा १३ वाली आज्ञप्ति अवैध और निष्क्रिय नहीं हो जाती। क्योंकि अदालत मरने-जीने के प्रश्न पर नहीं अपितु यह निर्णय देने बैठी थी कि क्या प्रस्तुत अवस्थितियों में तलाक की डिग्री देना समर्थनीय है।

(viii) **और** (ix)—विवाह-भंग या तलाक के वे आधार हैं जो समागम के लगातार संस्थगन से पैदा होते हैं। प्रत्युत्तरदाता ने यदि न्यायिक पृथक्करण वाली छोटी सजा पाकर भी अपने को दो वर्षों के अन्दर नहीं सुधारा है, अर्थात् सहवास का पुनरारम्भ नही किया है, तो वह तलाक वाली कठोर और प्रचण्ड एवं अन्तिम सजा भुगतने का पात्र बन जाता है। उसी तरह यदि प्रत्युत्तरदाता दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन

वाली आज्ञप्ति का पालन दो वर्षों तक भी न कर पाये या कामतः न करे, तो वह तलाक वाली कड़ी सजा पाने का पात्र बन जाता है। अभित्यजन, जो धारा १० (१) (क) के अधीन न्यायिक पृथक्करण का आधार है, तलाक की नींव तो डाल देता है किन्तु उस (तलाक) का स्वतः आधार नहीं बन सकता। इन दोनों खण्डों में जिस सहवास का उल्लेख है उसका आशय है वास्तविक संभोग में प्रवृत्त होना; मैथुन आरम्भ करके उसकी अपनी वासना, सामर्थ्य व अवसर के अनुसार पुनरावृत्तियाँ करते रहना। दो-एक बार के सम्भोग से आज्ञप्ति का अनुवर्तन नहीं हो जाता। ज्ञातव्य है कि यदि रति के विराम के लिए याचिकादाता स्वतः जिम्मेदार रहा हो, तो प्रत्युत्तरदाता के प्रतिकूल द्विवर्षीय कालावधि में से उतना समय घटा देना चाहिए।[1] खण्ड (ix) की शर्त पूरी करने के लिए क्या याचिकादाता को चाहिए कि प्रत्युत्तरदाता को आज्ञप्ति का अनुवर्तन करने के लिए आमंत्रित करे? इसका उत्तर देना कठिन है, क्योंकि खण्ड की भाषा इस पर प्रकाश नहीं डालती। उसके शब्द ये हैं—"दो वर्ष या अधिक की कालावधि में उस आज्ञप्ति का अनुवर्तन करने में असफल रहा हो।" इस खण्ड की भाषा से कम से कम यह स्पष्टतः विदित होता है कि तलाक की याचिका वही पक्षकार पेश कर सकता है जो प्रत्यास्थापन वाली कार्यवाही में सफल हुआ था, अर्थात जिसके अनुकूल प्रत्यास्थापन की आज्ञप्ति पारित हुई थी।[2] ज्ञातव्य है कि उत्तर प्रदेश में तलाक के कतिपय विशेष आधार माने जाते हैं, यथा क्रूरता। द्रष्टव्य—"द हिन्दू मैरेज (उ० प्र० संशोधन अभिनियम) ऐक्ट १३, सन १९६१।" यह भी ज्ञातव्य है कि इन दोनों खण्डों में "न्यायिक पृथक्करण की आज्ञप्ति दिये जाने के पश्चात," एवं "दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए आज्ञप्ति के अपने खिलाफ दिये जाने के पश्चात" वाक्यों का प्रयोग हुआ है। मतलब यह है कि कालावधि उस तारीख पर आरम्भ होगी जब याचिकादाता के अनुकूल या तो पहली अदालत के द्वारा या अदालते-अपील के द्वारा आज्ञप्ति पारित हुई थी।

उपधारा (२)—याचिका-दाता पत्नी के लिए दो अतिरिक्त आधार विहित हैं; १८ मई १९५५ के बाद "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" ने बहु-विवाह वर्जित कर दिया है। उसके पूर्व बहु-विवाह की रोक नहीं थी। इस उपधारा के खण्ड (१) ने उस पुरानी प्रथा के कुपरिणाम से छुटकारा पाने का उपाय निकाला। यदि अनेक पत्नियाँ जीवित हों, तो उनमें से कोई तलाक की याचना कर सकती है, और मात्र इस आधार पर कि उसकी

१. "ईश्वर ब० प्रेमिला", ए० आई० आर० १९६२, पंजाब ४३२।
२. "कमलेश ब० कर्तार", ए० आई० आर० १९६२, पंजाब १५६।

सौत जीवित है, जिसके साथ पति ने याचिकादाता के पूर्व या पश्चात् विवाह कर लिया था। इस खण्ड वाले अधिकार पर कोई प्रभाव इस अभिकथन का नहीं पड़ सकता कि सौत के साथ वाला विवाह शून्य-करणीय भाँति का था। किन्तु यदि सौत का विवाह शून्य था तो याचिका इस (i) आधार पर सफल नहीं होगी। याचिका के पेश करने के समय तक यदि सौत मौजूद हो, तो याचिका इस आधार पर विफल नहीं हो सकेगी कि बाद मे वह मर गयी या उसका विवाह भग हो गया।[1] किन्तु धारा २३ (१) के उपबन्धों का ध्यान अदालत को अवश्य रखना चाहिए। अर्थात् यदि याचिकादाता स्वतः दूसरे विवाह में उपसहायक रही थी, अथवा उसने दूसरे विवाह के लिए स्वतः सम्मति दे दी थी तो अदालत को आज्ञप्ति नहीं पारित करनी चाहिए।

(ii)—यह खण्ड उस अवस्था मे लागू होता है जब विवाह के बाद पति इसमें कथित तीन में से कोई जुम कर बैठा हो। जुम सिद्ध करने का भार याचिकादाता के ही ऊपर रहता है; यद्यपि फौजदारी अदालत द्वारा दण्डित होना इस खण्ड के लिए आवश्यक नही होता। दोष-माजन या सक्षमा या दरगुजर वाले सिद्धान्त को अंग्रेजी मे "कोण्डोनेशन" कहते ह। इसका अथ सामान्य क्षमा नही है। यह वह क्षमा है जिसका अभिकथन तलाक के वादों म इग्लैण्ड म और अमेरिका म करके परिदेवित पक्षकार के आरोपों से प्रत्युत्तरदाता अपनी प्रतिरक्षा करता है। यह अभिकथन उन आरोपों के विषय में उपलब्ध हाता है, जा सामान्य जुम कहलाते हैं, यथा पशुगमन, बलात्कार। वह उन अभियोगों के विषय म प्रयोज्य नहीं हाता जिनको "वैवाहिक अपराध" (मैट्रीमोनियल ओफेन्सज) कहते है, यथा वे अपकृत्य जो धारा १० मे सूचीबद्ध हैं, अर्थात् क्रूरता, अभित्यजन, कुष्ठ, यौन रोग इत्यादि। इस खण्ड के ऊपर आधारित याचिका का शमन दोषमाजन के अभिकथन द्वारा किया जा सकता है।

धारा १४, विवाह के तीन वर्ष के अन्दर तलाक के लिए कोई याचिका पेश न की जायगी—(१) इस अधिनियम में अन्तविष्ट किसी बात के होते हुए भी, जब तक कि आज्ञप्ति द्वारा विवाह के भग के लिए याचिका की तारीख तक विवाह की तारीख से तीन वष व्यपगत न हो गये हों, कोई न्यायालय ऐसी याचिका को ग्रहण न करेगा। परन्तु न्यायालय ऐसे नियमों के अनुसार, जो कि उच्च न्यायालय द्वारा इस निमित्त बनाये जायें, अपने से किये गये आवेदन पर याचिका को विवाह की तारीख से तीन वर्ष व्यपगत होने से पहले पेश करने के लिए समनुज्ञा इस आधार पर दे सकेगा कि वह मामला याचिकादाता द्वारा

१. **"मण्डल ब० लक्ष्मी" (१९६२), आंध्र वीकली नोट्स १९८।**

असाधारण कष्ट भोगे जाने का या प्रत्युत्तरदाता की असाधारण दुराचारिता का है। किन्तु यदि न्यायालय को याचिका की सुनवाई पर यह प्रतीत होता है कि याचिकादाता ने याचिका पेश करने के लिए इजाजत किसी मिथ्या व्यपदेशन या किसी छिपावट से अभिप्राप्त की थी, तो यदि न्यायालय आज्ञप्ति दे, तो वह इस शर्त के अधीन ऐसा कर सकेगा कि जब तक विवाह की तारीख से तीन वर्षों का अवसान न हो जाय, तब तक वह आज्ञप्ति प्रभावशाली न होगी; या याचिका को, ऐसी किसी याचिका पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, खारिज कर सकेगा जो कि उन्हीं या सारतः उन्हीं तथ्यों पर उक्त तीन वर्षों के अवसान के पश्चात दी जाये, जैसे कि ऐसे खारिज की गयी याचिका के समर्थन में अभिकथित किये गये हों।

(२)—विवाह की तारीख से तीन वर्ष के अवसान से पूर्व तलाक के लिए याचिका पेश करने की इजाजत के लिए इस धारा के अधीन किसी आवेदन का निपटारा करने में न्यायालय उस विवाह से हुई किसी संतति के हितों और इस बात को भी कि क्या पक्षकारों के बीच उक्त तीन वर्षों के अवसान के पूर्व मेलमिलाप की कोई युक्तियुक्त सम्भाव्यता है या नहीं, ध्यान में रखेगा।

विवाह से तीन वर्ष पूर्व तलाक की याचिका तभी दी जा सकती है जब अदालत अपने विवेक का प्रयोग करके धारा के अन्दर उल्लिखित विशेष कारणोंवश, इजाजत प्रदान करे। मालूम पड़ता है कि लोकसभा को यह अभीष्ट था कि अदालत अपने विवेक का विनियोग बिरले अवसर पर ही करे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तलाक से हलके अन्य कई उपाय परिदेवित पक्षकार के लिए चूंकि कानून ने रच दिये हैं, इसलिए उग्र कदम उठाने को अदालतें निरुत्साहित करती हैं।[1] इसीलिए उपधारा (१) में "असाधारण" शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है, जिसका आशय है सामान्य मामले से कहीं अधिक संगीन मामला। "दुराचारिता" में सन्निहित है नैतिक पतन की पराकाष्ठा। असाधारण दुराचारिता दूसरे पक्षकार के जीवन को यम-यातना-वत् बना सकती है, उदाहरणार्थ, खुल्लम-खुल्ला अविभेद व्यभिचार, व्यभिचार-जन्य गर्भाधान, प्रचण्ड क्रूरतामिश्रित विकृत रति। तीन वर्ष के पूर्व याचिका पेश करने को कानून इतनी असामान्य बात मानता है कि यदि अपर्याप्त कारणवश—यथा मिथ्या व्यपदेशन या छिपावट-वश इजाजत ले ली गयी हो तो अदालत तलाक वाली याचिका

१. "मेघनाथ ब० सुशीला", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास ४२३।

को ही खारिज कर सकती है, अथवा अपनी आज्ञप्ति में यह शर्त संलग्न कर सकती है कि उसका निष्पादन तीन वर्ष पूरे होने के बाद ही हो सकेगा।

अपने विवेक का विनियोग करने मे सारवान् बातें जो अदालत विचारती है वे ये है कि क्या पक्षकारों के बीच मेल-मिलाप हो जाने की युक्तियुक्त सम्भावना है; एवं दम्पति की सन्तति का हित किस तरह से सधेगा। अदालत को यह भी जाँच कर लेनी चाहिए कि स्वतः याचिकादाता ने विवाह को सफल बनाने एवं मेल-मिलाप करने की दिशा मे कितने और किस स्वभाव के कदम उठाये थे, यदि उसका आचरण इस सम्बन्ध में असमुचित या असन्तोषजनक रहा हो, तो वह याचिका को खारिज कर दे सकती है। सामान्यतः अदालतें-अपील निचली अदालत के विवेकाधारित निर्णय में हस्तक्षेप नही करती है, जब तक कोई विशाल अन्याय न हो गया हो, या अशुद्ध सिद्धान्त पर निर्णय आश्रित न किया गया हो, या सारवान् विचारों की उपेक्षा न की गयी हो।[1]

धारा १५, तलाकप्राप्त व्यक्ति कब पुनः विवाह कर सकेंगे—जब कि विवाह तलाक की आज्ञप्ति द्वारा भंग कर दिया गया है और या तो आज्ञप्ति के खिलाफ अपील करने का कोई अधिकार नहीं है, और या, यदि अपील करने का ऐसा अधिकार है, तो अपील करने के समय का अवसान अपील पेश किये जाने के बिना हो गया है, या अपील की गयी है किन्तु खारिज कर दी गयी है, तो विवाह के किसी पक्षकार के लिए फिर विवाह करना विधिपूर्ण होगा।

परन्तु जब तक कि प्रथम बार के न्यायालय की आज्ञप्ति की तारीख से क्रम एक वर्ष ऐसे विवाह की तारीख तक न व्यपगत हो गया हो तब तक क्रमागत पक्षकारों के लिए विवाह करना विधिपूर्ण न होगा।

तलाक के दो अभिप्राय हो सकते हैं; या तो पक्षकारों की वैवाहिक जीवन से विरक्ति हो और वे एकाकी जीवन निर्वाह करने को कृतसंकल्प हों। या वे एक-दूसरे से बेहद ऊब गये हों और नवीन संगी के साथ संयोग करना चाहते हों। पति या पत्नी का बारम्बार परिवर्तन करने की मनोवृत्ति लोकनीति एवं सदाचार और सामाजिक सुख-शान्ति के लिए घातक होती है। इसका निषेध तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यक्तियों के मूल अधिकारों का अपहरण नहीं किया जा सकता। अतः उसको नियन्त्रित, मर्यादित करना ही उचित, आवश्यक और सम्भव प्रतीत होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक उपाय धारा के परन्तुक में निगमित है।

यदि स्वतः पक्षकार ही परस्पर पुनर्विवाह करना चाहें तो उनको भी नियत कालावधि तक रुकना पड़ेगा, अर्थात् प्रथम बार के न्यायालय की आज्ञप्ति की तारीख से एक

१. "मेघनाथ ब० सुशीला", ए० आई० आर० १९५७, मद्रास ४२३।

वर्ष पर्यन्त। आज्ञप्ति से तात्पर्य है उस आज्ञप्ति का, जो विवाह भंग के निमित्त धारा १३ के अधीन पारित की जाय। यदि उस आज्ञप्ति में धारा १४ के अधीन कोई शर्तें संलग्न है तो उनका भी पालन होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि आज्ञप्ति में विवाह के तीन वर्ष बाद सक्रिय होने की शर्त लगी हो, तो धारा १५ के परन्तुक वाली एक वर्षीय कालावधि उपरोक्त तीन वर्ष के अवसान से ही आरम्भ हो सकेगी। कारण यह है कि धारा १३ वाली आज्ञप्ति तब तक शक्तिशाली या सक्रिय होती ही नही। इस नियम की उपेक्षा से किया हुआ पुनर्विवाह शून्य समझा जायगा। याद रहे कि धारा १४ व १५ वाले उपबन्धों के बिना अधिनियम का तलाक वाला खण्ड खण्डित एव अपूर्ण रह जाता है। अर्थात् वे सारे अनुबन्ध तलाक वाले हक के अभिन्न अग बनाये गये हैं। ज्ञातव्य है कि वे अनुबन्ध मात्र उस आज्ञप्ति पर लागू होते हैं जो इस अधिनियम की धारा १३ के अधीन पारित हो। यदि तलाक किसी पंचायत से या किसी अन्य परिनियम के अधीन या सुलहनामा से प्राप्त किया गया है, तो वे उपबन्ध लागू नहीं होंगे। उन अवस्थाओं मे पुनर्विवाह तलाक के तुरन्त बाद सम्पन्न हो सकता है। धारा २९ (२) इस प्रकार के तलाकों को अनुज्ञात करती है और उसके अन्तगत हैं "बडोदा हिन्दू ऐक्ट १९३७", "कोचीन नायर ऐक्ट १९३८", "मद्रास अलियसन्तन ऐक्ट १९४९", "ट्रावन्कोर एजब ऐक्ट १९५२" आदि के अधीन तलाक वाली प्रक्रियाएँ।

धारा १६, शून्य और शून्य-करणीय विवाहों की सन्तति की औरसता—जहाँ कि किसी विवाह के बारे में अकृतता की आज्ञप्ति धारा ११ या १२ के अधीन अनुदत्त कर दी गयी है, वहाँ आज्ञप्ति के पूर्व जन्मित या गर्भाहित ऐसी कोई सन्तति, जो कि यदि विवाह-अकृतता की आज्ञप्ति द्वारा अकृत और शून्य घोषित किये जाने या उसके अकृत ठहराये जाने के बजाय भंग किया गया होता, तो विवाह के पक्षकारों की औरस सन्तति होती, अकृतता की आज्ञप्ति होने पर भी उनकी औरस सन्तति समझी जायगी।

परन्तु इस धारा में अन्तर्विष्ट किसी बात का अर्थ यह नहीं लगाया जायगा कि वह अकृतता की आज्ञप्ति द्वारा अकृत और शून्य घोषित या अकृत ठहरा दिये गये विवाह की किसी सन्तति को अपने जनकों में से भिन्न किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में या सम्पत्ति के प्रति कोई अधिकार ऐसी किसी अवस्था में प्रदान करती है, जिसमे कि इस अधिनियम के पारित किये जाने के अभाव में वह अपने जनकों की औरस सन्तति न होने के कारण ऐसे कोई अधिकार रखने या अर्जित करने के लिए असमर्थ होती।

आम तौर से वही सन्तति औरस मानी जाती है जो विधिपूर्ण परिणय की कालावधि में गर्भाहित हो या जन्मे। विशेष उपबन्धों के अभाव में उन विवाहों की सन्तति जारज मानी जाती है जो अकृत व शून्य समझे या अदालत द्वारा घोषित कर दिये जाते हैं, या शून्य-करणीयता के आधार पर रद्द कर दिये जाते हैं। यह परिणाम निर्दोष सन्तति के लिए विकराल और शोकपूर्ण होता है। इस धारा में उन्हीं बेचारों की विपत्ति को घटाने का प्रयास किया गया है। इसके उपबन्धों का प्रलाभ उन बच्चों को उपलब्ध है जो परिणय-काल में पैदा हो चुके हैं या गर्भ में आ गये हैं। धारा के परन्तुक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि माता-पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए तो वे बच्चे औरस समझे जायेंगे, किन्तु अन्य व्यक्तियों के उत्तराधिकार के विषय में नहीं।

धारा की भाषा से यह लगता है कि धारा ११ व १२ के अधीन यदि आज्ञप्ति पारित हो गयी है, तब तो इसके उपबन्ध के आधार पर पूर्वजन्मित और गर्भाहित बच्चे औरस माने जायेंगे। यदि धारा ११ व १२ के अधीन प्रक्रिया करके आज्ञप्ति नहीं प्राप्त की गयी है तो वे बच्चे जारज माने जायेंगे। यह नियम-विरोधी परिणाम पैदा करना विधानमण्डल को कैसे अभीप्सित रहा होगा? धारा का ऐसा निर्वचन करना उचित है कि दोनों अवस्थाओं में सन्तति औरस मानी जायगी—चाहे उक्त धाराओं के अधीन डिग्री ली जाय या न ली जाय। यदि जनकों की एक अवैध करतूत (अवैध विवाह अनुष्ठित करने) के कुफल की भागी सन्तति नहीं बनायी जा सकती तो दूसरी करनी (आज्ञप्ति प्राप्त करने का कार्यलोप) के कुफल की भागी वह किस नीति या सिद्धान्त के आधार पर बनायी जाय? याद रहे कि पहली करतूत तो एक अर्थ में पतित है, किन्तु दूसरी नितान्त अदूषित है।

ज्ञातव्य है कि शून्यकरणीय विवाह यदि पक्षकारों के ही जीवनकाल में अकृत नहीं किया गया तो वह वैध और दृढ पड़ जाता है। अतः ऐसे विवाह की सन्तति स्वयमेव और केवल काल के प्रवाहवश औरस की पदवी पा जाती है, एवं उसको इस धारा का अवलम्ब नहीं लेना पड़ता है। एक समस्या और उठती है। धारा १५ तलाक की आज्ञप्ति से एक वर्ष के भीतर पक्षकारों के पुनर्विवाह को वर्जित करती है। यदि वर्ष के भीतर कोई पक्षकार विवाह कर ले तो वह विवाह शून्य, अवैध, अकृत माना जायगा और ऐसे विवाह की सन्तति जारज समझी जायगी। इस दुर्गति से निर्दोष बच्चों को कैसे बचाया जाय? धारा १६ के अनुसार उपाय यह है कि जनकों द्वारा अकृतता की कार्यवाही संस्थित की जाय और अदालत से शून्यता की डिग्री प्राप्त की जाय। यह असंगत अवस्थिति पैदा करना विधानमण्डल को कभी अभीष्ट नहीं हो सकता था। अतः धारा की भाषा में उचित सुधार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस प्रसंग में एक बात और खटकती है। इस धारा के अनुसार सन्तति को इस (धारा) का प्रलाभ उसी अवस्था में मिल सकता है जव "विवाह के बारे में अकृतता की आज्ञप्ति धारा ११ या १२ के अधीन अनुदत्त कर दी गयी" हो। धारा १४ द्वारा नियत एक वर्ष की कालावधि की उपेक्षा न तो धारा ११ के आधारों में उल्लिखित है न धारा १२ के आधारों में। तो क्या उक्त कालावधि का उल्लघन विवाह की अकृतता का आधार बन ही नहीं सकता ? क्या इस दोष के बावजूद विवाह वैध समझा जायगा ? और यदि अवैध समझा जाय, तो क्या ऐसे विवाह की सन्तति का निस्तार कभी हो ही नहीं सकता ? क्या अधिनियम ने उन अभागों को उबारने का कोई उपाय नहीं रचा है ? धारा की भाषा का अवलम्ब लेकर उत्तर निकालना कष्टसाध्य प्रतीत होता है। अतः धारा में इन बातों के लिए उपबन्ध करना वांछनीय लगता है।

इस धारा ने एक 'वैधिक कल्पना' गढ़ी है और धारा के परन्तुक ने एक अपवाद संलग्न कर दिया है। वैधिक कल्पना का तार्किक फल यह है कि औरस के हर भाँति के हक जारज सन्तान को उपलब्ध हों। किन्तु परन्तुक ने उन हकों का अपह्रसन कर दिया है और यह विहित कर दिया है कि उक्त सन्तति "अपने जनकों से भिन्न किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में या सम्पत्ति के प्रति कोई अधिकार" नहीं प्राप्त कर सकेगी। इस नियम के प्रतिलोम को स्वयंसिद्ध मान लेना चाहिए, अर्थात् ऐसी कल्पित औरस सन्तति की सम्पत्ति में उसके जनकों को छोड़कर कोई व्यक्ति अधिकार नहीं प्राप्त करेगा।

धारा १७, द्वि-विवाह के लिए दण्ड—यदि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् दो हिन्दुओं के बीच अनुष्ठित किसी विवाह की तारीख में ऐसे विवाह के किसी पक्षकार का पति या पत्नी जीवित था या थी, तो ऐसा कोई विवाह शून्य होगा और भारतीय दण्ड संहिता (१८६० के अधिनियम ४५) की धारा ४९४ और ४९५ के उपबन्ध तदनुकूल लागू होंगे।"

इस धारा का पूर्वार्ध तद्वत् है, जैसा कि धारा ११। दोनों धाराओं का प्रयोजन है हिन्दू समाज के मध्य प्रचलित बहुविवाह एवं द्विविवाह की प्रणाली का अवसान करके एक पत्नी वाली प्रथा को प्रतिष्ठापित करना। धारा का परार्ध यह घोषित करता है कि ताजीरात हिन्द की धारा ४९४, ४९५ के अधीन द्विविवाह एक दण्डनीय अपराध गिना जायगा। परार्ध को विहित करने का अभिप्राय है त्रास दिखाकर पूर्वार्ध वाले नियम की नींव को दृढ़ कर देना।

धारा १८, हिन्दू विवाह की कुछ अन्य शर्तों के उल्लंघनार्थ दण्ड—प्रत्येक व्यक्ति जो धारा ५ के खण्ड (३), (४), (५) और (६) में उल्लिखित शर्तों के उल्लंघन में इस अधिनियम के अधीन विवाह अनुष्ठित करा लेता है—

(क) धारा ५ के खण्ड (३) में उल्लिखित शर्त के उल्लघन की अवस्था मे सादे कारावास से, जो १५ दिन तक का हो सकेगा, या जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से,

(ख) धारा ५ के खण्ड (४) या खण्ड (५) में उल्लिखित शर्त के उल्लंघन की अवस्था में सादे कारावास से, जो एक महीने तक का हो सकेगा, या जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से, या

(ग) धारा ५ के खण्ड (छ) में उल्लिखित शर्त के उल्लंघन की अवस्था में जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा ।

क्षेत्राधिकार और प्रक्रिया

धारा १९, वह न्यायालय जिसमें याचिका दी जानी चाहिए—इस अधिनियम की अधीनता वाली प्रत्येक याचिका उस जिला न्यायालय मे उपस्थित की जायगी जिसके मामूली आरम्भिक क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के अन्दर विवाह अनुष्ठित किया गया था या पति और पत्नी (साथ-साथ) रहते है या अन्तिम बार साथ-साथ रहे थे ।

इस अधिनियम वाली याचिकाएँ याचिकादाता की सुविधा-सुपास के अनुसार उन तीन जिला न्यायालयों में पेश की जा सकती है जिनके सामान्य आरम्भिक क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के अन्दर (१) विवाह अनुष्ठित हुआ था, (२) दम्पति याचिका पेश करने के समय अलग-अलग या साथ-साथ निवास कर रहे है, (३) दम्पति साथ-साथ अन्तिम बार रहे थे । इन तीन अधिक्षेत्रों में से यदि कोई भी अनुकूल न पड़े तो याचिका किसी उस सामान्य दीवानी अदालत मे भी संस्थित की जा सकती है जिसके अधिक्षेत्र में प्रत्युत्तरदाता निवास करता हो, या जहाँ (बिनाये मुखासमत) वाद-मूल पैदा हुआ था ।[1] रहाइस या निवास शब्दों में स्थायित्व—थोड़ा या बहुत—अवश्य सन्निहित रहता है। इसलिए "रहने" का शब्द इस धारा में जहाँ आया है, वहाँ आकस्मिक या सामयिक या अस्थायी रहाइस या ऐसे निवास से मतलब नहीं है, जहाँ इस धारा के अधीन केवल क्षेत्राधिकार पैदा करने के अभिप्राय से किसी पक्षकार ने डेरा डाल दिया हो।

ज्ञातव्य है कि हिन्दू कोड विधेयक अंग्रेजी मे तैयार हुआ था और सन् १९५५–५६ वाले चारों हिन्दू ऐक्ट भी अंग्रेजी में पारित हुए थे । उसके बाद उन अधिनियमों

१. "हरिराम धारामल ब० जसोती" (१९६२) ६४, बम्बई ला० रि० ७१२, धारा (३) (ख) व धारा (२१) ।

का हिन्दी में अनुवाद किया गया। अंग्रेजी पाठ ही प्रामाणिक पाठ माना जाता है,। केन्द्रीय सरकार द्वारा अनूदित अधिनियम इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के आधार बनाये गये हैं। अस्तु, इस धारा के इस अंग्रेजी वाक्य को देखें—"द हस्वैण्ड ऐण्ड वाइफ रिजाइड आर लास्ट रिजाइडेड टु गेदर"; शब्द "टु गेदर" किस क्रिया का विशेषण है ? "रिजाइड" का भी या केवल "रिजाइडेड" का ? ठीक उत्तर यह लगता है कि वह केवल "रिजाइडेड" का विशेषण है। अतः उपरोक्त अंग्रेजी वाक्य का शुद्ध शाब्दिक उल्था होना चाहिए—"पति और पत्नी रहते है या अन्तिम बार साथ-साथ रहे थे ।" अर्थात् वर्तमान निवास दोनों का सम्मिलित हो या पृथक्, किन्तु यदि अधिक्षेत्र भूतपूर्व निवास को लेकर निर्धारित करना हो तो वह सम्मिलित होना चाहिए।

धारा २०, याचिकाओं की अन्तर्वस्तु और सत्यापन—(१) इस अधिनियम के अधीन उपस्थित की गयी प्रत्येक याचिका में इतनी स्पष्टता से, जितनी तक मामले की प्रकृति से यह किया जा सके, वे तथ्य कथित होंगे जिन पर कि अनुतोष के लिए दावा आधृत है और उसमें यह कथन भी होगा कि याचिकादाता और विवाह के दूसरे पक्षकार के बीच कोई दुरभिसन्धि नहीं है।

(२) इस अधिनियम के अधीन वाली प्रत्येक याचिका में अन्तर्विष्ट कथन याचिकादाता या याचिकादात्री द्वारा या किसी अन्य सक्षम व्यक्ति द्वारा उस रीति से सत्यापित किये जायेंगे जो कि वादपत्रों के सत्यापन के लिए विधि द्वारा अपेक्षित है और सुनवाई में साक्ष्य के रूप में निर्दिष्ट किये जा सकेंगे।

भारत के विविध हाई कोर्टों ने धारा २१ के अनुसार नियम रच दिये है, उनका भी समनुरूपण करना बाध्यकारी है। सामान्यतः उन नियमों में निम्नोक्त तथ्यों का उल्लेख अपेक्षित होता है। धारा ८ मे निर्दिष्ट रजिस्टर की सुसंगत प्रविष्टियों की प्रमाणित प्रति भी याचिका में संलग्न होनी चाहिए और आवश्यक जनों को उसमें पक्ष बनाना चाहिए। धारा १४ मे अनुमति के लिए दी गयी याचिका में उन तथ्यों का कथन करना चाहिए जो नियमों ने विहित किये हैं। प्रत्युत्तरदाता के जवाबदावा में उन तथ्यों का कथन होना चाहिए जो नियमों द्वारा अपेक्षित हैं। उपधारा (२) का निदेश है कि याचिका का सत्यापन जाब्ता दीवानी या प्रक्रिया विधि के "आर्डर ६, रूल १५" के अनुरूप होना चाहिए। इस उपधारा के अन्तिम वाक्य है—"सुनवाई में साक्ष्य के रूप में निर्दिष्ट किये जा सकेंगे।" इनका आशय यह है कि सत्यापित याचिका की अन्तर्वस्तु को प्रमाण के रूप मे ग्रहण करना अवैध नहीं होता है। किन्तु मात्र उस अन्तर्वस्तु पर निर्णय को आधृत करना विवेकपूर्ण नहीं समझा जाता है।

धारा २१, (१९०८ के अधिनियम ५ का लागू होना)—इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट अन्य उपबन्धों के और ऐसे नियमों के, जैसे कि उच्च न्यायालय द्वारा इस निमित्त बनाये जायें, अधीन रहते हुए इस अधिनियम की अधीनता वाली सब कार्यवाहियाँ व्यवहार-प्रक्रिया संहिता १९०८ (१९०८ के ऐक्ट ५) द्वारा यावत् साध्य विनियमित होंगी।

इस अधिनियम की कार्यवाहियाँ जाब्ता दीवानी के उपबन्धों के अनुकूल चलेंगी। किन्तु जाब्ता दीवानी के उपबन्ध उन उपबन्धों के प्रतिकूल न हों जो इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट हैं। जाब्ता दीवानी के उपबन्ध उन नियमों के भी प्रतिकूल न हों जो इस नियम द्वारा अधिकृत होकर प्रान्तीय हाईकोर्ट ने इस अधिनियम की कार्यवाहियों को चलाने के निमित्त रचे हों। अर्थात् व्यवहार-प्रक्रिया संहिता उन्हीं दशाओं में लागू की जायगी, जिनके लिए इस अधिनियम तथा हाईकोर्ट रचित नियमों के अन्दर उपबन्ध न मिले। अधिनियम की धारा १९ के ऊपर यह शीर्षक लिखा हुआ है—"क्षेत्राधिकार और प्रक्रिया।" धारा १९ से धारा २८ तक इसी शीर्षक के अधीन आती हैं।

धारा २२, कार्यवाहियों की गोपनीयता—(१) यदि इस अधिनियम के अधीन कार्यवाही के पक्षकारों में से कोई ऐसी वांछा करता है अथवा यदि न्यायालय यह उचित समझता है कि कार्यवाही बन्द कमरे में संचालित की जाय, तो वह ऐसे ही संचालित की जायगी और ऐसी कार्यवाही के सम्बन्ध में किसी बात को न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के सिवा छापना या प्रकाशित करना किसी व्यक्ति के लिए विधिपूर्ण न होगा।

(२) यदि कोई व्यक्ति किसी बात को उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के उल्लंघन में छापे या प्रकाशित करे तो वह जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, दण्डनीय होगा।

यह धारा अंग्रेजी नमूने की नकल है। यदि कोई भी पक्षकार ऐसी इच्छा प्रकट करे तो अदालत बन्द कमरे की सुनवाई का आदेश देने को बद्ध होती है। पक्षकारों की प्रार्थना के बिना भी यदि अदालत को आवश्यक या उचित प्रतीत हो तो वह उपरोक्त आदेश दे सकती है। लोक-लज्जा एक बड़ी नियंत्रणकारी शक्ति होती है। उसको बदनामी का भय कहते हैं। एकान्त में सुनवाई की आशा इस भय का निवारण करके पक्षकारों को उच्छृंखल भी बना दे सकती है और उनको अपनी दुःख-कहानी दिल खोलकर कह डालने के लिए प्रोत्साहित भी कर सकती है। अर्थात् यह धारा गुण-दोषमयी है।

धारा २३. कार्यवाहियों में आज्ञप्ति—(१) इस अधिनियम के अधीन किसी कार्य-

वाही, में, चाहे उसमें प्रतिरक्षा की गयी हो या न की गयी हो, यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि—

(क) अनुतोष अनुदत्त करने के लिए कोई आधार विद्यमान है और याचिकादाता अपने ही दोष या अयोग्यता से अनुतोष के प्रयोजन के लिए प्रलाभ किसी रीति में नही उठा रहा है, और

(ख) जहाँ कि याचिका का आधार धारा १० की उपधारा (१) के खण्ड (च) में उल्लिखित आधार है, या धारा १३ की उपधारा (१) के खण्ड (i) में उल्लिखित आधार है, वहाँ याचिका द्वारा परिवादित कार्य या कार्यो मे किसी तरह उपसहायक नही रहा है, या उस कार्य या उन कार्यो के प्रति उसने मौनानुकूलता नही बरती है, या उसने ऐसे कार्य या कार्यो को दरगुजर नहीं कर दिया है, या जहाँ कि याचिका का आधार क्रूरता है, वहाँ याचिकादाता ने क्रूरता को किसी तरह दरगुजर नहीं कर दिया है, और

(ग) याचिका प्रत्युत्तरदाता के साथ दुरभिसधि करके पेश नही की गयी है, या अभियोजित नही की जा रही है, और

(घ) कार्यवाही संस्थित करने में कोई अनावश्यक या अनुचित विलम्ब नहीं हुआ है और

(ङ) ऐसा कोई अन्य वैध आधार नही है जिससे कि अनुतोष अनुदत्त न किया जाय, तो, और ऐसे ही मामले मे, न कि अन्यथा, न्यायालय तदनुकूल ऐसा अनुतोष आज्ञप्त करेगा।

(२) इस अधिनियम के अधीन कोई अनुतोष अनुदत्त करने के लिए अग्रसर होने से पूव सबसे पहले न्यायालय का यह कतव्य होगा कि वह ऐसे प्रत्येक मामले में जिसमें कि मामले के स्वरूप और परिस्थितियों से संगत रहते हुए ऐसा करना सम्भव हो, दोनों पक्षकारों में पुनः मेल-मिलाप कराने के लिए प्रत्येक प्रयास करे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस धारा समेत अधिनियम के कतिपय उपबन्ध विवाह-सम्बन्धी अंग्रेजी कानून की नकल या प्रतिरूप हैं। विवाह-विषयक अंग्रेजी कानून जिस अधिनियम में अन्तर्विष्ट है उसका नाम है "इंग्लिश मैट्रीमोनियल काजेज ऐक्ट, १९५०।" विवाह कौटुम्बिक जीवन का शिलान्यास करता है। धार्मिक और वैधिक नियम इस पावन संस्था को अनेक रक्षा-कवचों के द्वारा घेरते-रूँधते हैं। इस धारा का प्रयोजन यह है कि विवाह का विघटन सहज या सुसाध्य न होने पाये। इसी लिए उपधारा (१) में यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है "चाहे उस में प्रतिरक्षा की गयी हो या न की गयी हो," जिसका आशय है कि एकतरफा या एकपक्षीय कार्यवाही में भी पूर्ण

परितोषदायक प्रमाण पहुँचाना अनिवार्य होता है। इसीलिए उपधारा (१) में यह अनुरोध है कि "न्यायालय का समाधान" होना चाहिए। इसीलिए उपधारा (१) के अन्तिम भाग मे वलपूर्वक कहा गया है—"तो और ऐसे ही मामले में, न कि अन्यथा।" उपधारा (१) के पाँच खण्डों में पाँच रक्षा-कवचों की गणना की गयी है, जो इस अधिनियम के अन्तर्गत नियमों द्वारा उपलब्ध सकल अनुतोषों को समावृत करते है। अर्थात् इन पाँच त्रुटियों में से किसी की विद्यमानता अनुतोष-अनुदान मे घातक बाधा डाल सकती है। अनुतोष जो इस अधिनियम के अधीन उपलब्ध है वे ज्ञात ही है, यथा प्रत्यास्थापन, पृथक्करण, शून्यता की घोषणा, शून्य-करणीयता की आज्ञप्ति, तलाक। उपधारा (१) के अन्तिम भाग मे "आज्ञप्त करेगा" शब्द प्रयुक्त हुआ है। अंग्रेजी में शब्द है "शैल डिक्री सच रिलीफ।" इस अंग्रेजी वाक्य में "शैल" शब्द महत्वपूर्ण है जो कि समाज्ञापक, बाध्यकारी या विवशकारी क्रिया है। अर्थात् यदि उक्त दूषणों का कोई अवगुण बाधक न हो तो अदालत के लिए याचिका को आज्ञप्त कर देने के सिवा कोई विकल्प नहीं रह जाता।

'कोई विकल्प नही रह जाता' का भावार्थ यह है कि उस दशा में अदालत को अपने विवेक का विनियोग करने का अधिकार नहीं होता। सन १९५४ वाले "स्पेशल मैरेज ऐक्ट" एव इग्लैण्ड के "मैट्रीमोनियल काजेज ऐक्ट" में विवेक के प्रयोग की स्वतंत्रता अदालत को अभिव्यक्त रूपेण उपलब्ध है। इस अधिनियम में विवेक का अपवर्जन आकस्मिक नहीं, पर्यालोचित या सहेतु प्रतीत होता है। कारण यह हो सकता है कि जिन समाजों के लिए यह अधिनियम प्रणीत हुआ है उनमें विवाह की अवधारणा, उसके प्रति उनका रुख, उनके जीवनस्तर और नैतिक मापदण्ड वैसे ही नहीं हैं, जैसे उन दो अधिनियमों का उपभोग करने वाले पाश्चात्य एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण-युक्त वर्गों में हैं। अर्थात उन उदार समाजों में कठोर एवं परिसीमित नियम लोकप्रिय नहीं हो सकते। ज्ञातव्य है कि उपधारा (१) में "समाधान" शव्द प्रयुक्त हुआ है। अन्य अधिनियमों मे उससे संलग्न "युक्तियुक्त संदेहातीत" वाक्य पाया जाता है। तो क्या इस अधिनियम के लिए सामान्य स्तर वाला प्रमाण भी पर्याप्त समझा जाय ? नहीं, यदि निम्नकोटि के प्रमाण को समुचित मान लेना विधानमण्डल को अभीप्सित होता, तो उपधारा (१) मे "चाहे कार्यवाही में प्रतिरक्षा की गयी हो या न की गयी हो" यह वाक्य उल्लिखित न मिलता। एक-पक्षीय (एकतरफा) कार्यवाही में भी प्रथम-दृष्ट्या प्रमाण से संतुष्ट न होकर, समाधान का आग्रह करने का अभिप्राय यही है कि प्रमाण को "युक्तियुक्त सन्देहातीत" होना चाहिए। यानी "युक्तियुक्त संदेहातीत समाधान" ही यहाँ पर भी अभीष्ट है।

जितने अनुतोष इस अधिनियम मे उपलब्ध हैं उनके आधारों के प्रमाणित हो जाने पर याचिकादाता को एक अन्य बाधा का सामना करना पड़ता है। आज्ञप्ति तभी पारित हो सकती है जब अदालत का इतमीनान हो जाय कि धारा २३ में गिनाये हुए पाँच दोषों से याचिका मुक्त है। उन दूषणों पर अलग-अलग सक्षेपतः मनन करना चाहिए।

खण्ड (क)—प्राकृतिक न्याय का यह एक व्यापक सिद्धान्त है कि जो पक्षकार अदालत मे आकर याचना करे, वह अपने ही "दोष या अयोग्यता" को वांछित अनुतोष का आधार नहीं बना सकता। इसीलिए धारा १२ (१) (क) में यह वाक्य आता है—"प्रत्युत्तरदाता विवाह के समय नपुंसक था"। स्वतः याचिकादाता ने जो अवस्थितियाँ संघटित कर दी हैं उनका प्रलाभ उठाकर वह आज्ञप्ति नहीं पारित करा सकता है। यथा, पत्नी को घर से निकाल देने के बाद अभित्यजन के आधार पर न्यायिक पृथक्-करण की आज्ञप्ति नही प्राप्त की जा सकती। मित्र के साथ संभोग अनुज्ञात करके व्यभिचार के आधार पर न्यायिक पृथक्करण की याचना न पति कर सकता है न पत्नी। पति तलाक की आज्ञप्ति उस असाध्य उग्र कुष्ठ रोग के आधार पर नही पा सकता जिसका संक्रमण स्वतः उसने पत्नी पर कर दिया हो। किन्तु मान लीजिए कि पति के वैराग्यवश कामपीड़ित पत्नी व्यभिचारिणी हो जाती है और तब पति न्यायिक पृथक्करण की अभ्यर्थना करता है। क्या वह प्रतिरक्षा में यह अभिवचन सफलतापूर्वक कर सकती है कि पति ही उसकी भ्रष्टता का दायी था ? नहीं !

खण्ड (ख) में तीन बातें समाविष्ट हैं—उपसहायकता, संक्षमा या दरगुजारी या दोषमार्जन और मौनानुकूलता (अंग्रेजी में क्रमशः "ऐक्सेसोरी", "कोण्डोनेशन", "कोन्नाइवेन्स")। तीनों रक्षाकवच स्वतंत्रता से विचारणीय है। पहला **संक्षमा** या "कोण्डो-नेशन" है। मियाँ-बीबी के घरेलू विवाद में हस्तक्षेप करने का, वैवाहिक वादों में निर्णायक बनने का अधिक्षेत्र अदालत को इसलिए पैदा होता है कि कोई वैवाहिक अपराध किसी पक्षकार से बन पड़ा है। यदि स्वयं परिदेवित पक्षकार क्षमा प्रदान कर दे तो बाद के लिए कोई वाद-मूल ही नही रह जाता और इस दशा में याचना का अनुदान न तो वैवाहिक जीवन के स्थायित्व के अनुकूल होगा, न औचित्य-सम्मत, न शुद्ध अन्तःकरण के अनुकूल। सक्षमा सब वैवाहिक अवगुणों पर लागू नहीं होती, यथा विकृत चित्त, यौन रोग, कुष्ठ, बहु विवाह या द्विविवाह। दरगुजारी की अभिव्यक्ति वचन द्वारा हो सकती है और व्यवहार द्वारा भी, किन्तु क्षमा-प्रदान असली होना चाहिए। केवल क्षमा का उच्चारण नहीं अपितु दम्पति को अपने पूर्व स्थान पर आसीन करा देना आवश्यक

होता है,[1] और यह भी अपराध की पूरी जानकारी पा लेने के बाद।[2] अपराध की अनभिज्ञता में पति-पत्नीवत् व्यवहार करते रहने को संक्षमा नहीं कह सकते। अपराध से अभिज्ञ हो चुकने पर समागम करते रहना संक्षमा के बराबर होता है, चाहे यह कर्म प्रतिपक्षी के आमंत्रण पर ही किया गया हो। पत्नी के असतीत्व को जानकर भी उसके साथ मैथुनादि समागम पुनरारम्भ कर देना दरगुजारी के सिवा क्या है? संक्षमा के बावजूद एवं उपरान्त व्यभिचार का पुनरारम्भ संक्षमा को निष्क्रिय और निष्प्रभाव बना सकता है। इस खण्ड की भाषा से यह स्पष्टतया विदित होता है कि व्यभिचार और क्रूरता पर ही संक्षमा वाला सिद्धान्त लागू होता है। क्या यह सिद्धान्त धारा १३ (२) (ii) वाले (बलात्कार, गुदामैथुन, पशुगमन) अपराधों पर अतिदेश से प्रयोज्य है? नहीं, क्योंकि जहाँ किसी नियम का विनियोग परिनियम द्वारा परिसीमित हो जाता है, वहाँ अतिदेश लगाकर उसका विस्तार करना अनुज्ञात नहीं होता।

अब **उपसहायकता** (ऐक्सेसोरी) को देखा जाय। साथ ही साथ **मौनानुकूलता** (कोन्नाइवेन्स) पर भी विचार हो जाय। परिवादित आचरण के लिए संकल्पित अनुमति या रजामन्दी देने को मौनानुकूलता कहते है। जो लोग मौनानुकूलता करते है उनको उपसहायक कहते हैं। मौनानुकूलता सदैव घटना (व्यभिचार) की पूर्वगामी हुआ करती है, अर्थात् व्यभिचार के प्रारम्भ के पहले हो जाती है। प्रत्येक कुकर्म के पहले मौनानुकूलता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। प्रथम अधःपतन यदि याचिकादाता के उपसाहाय्य से घटित हुआ था, तो वह प्रतिरक्षा के लिए पर्याप्त है, उपसाहाय्य एवं मौनानुकूलता में संकल्प और प्रत्याशा का तत्व सर्वदा सन्निहित होता है, अर्थात् याचिकादाता अपनी कृत एव अकृत करतूतें इस जानकारी या प्रत्याशा या संकल्प समेत करता है कि प्रत्युत्तरदाता मार्गभ्रष्ट और पतित हो जायगा या जायगी। इसलिए मात्र असावधानी, विमूढता, अनवधानता, मूर्खता, अविवेक, जो नकारात्मक या निष्क्रिय गतिविधियाँ हैं, मौनानुकूलता के पाये तक नहीं पहुँचतीं। असल मे स्वतः उपसहायक ऐसा व्यवहार करता है और ऐसी अवस्थितियाँ एकत्रित कर देता है कि व्यभिचार को सुगमता और प्रोत्साहन मिले। ऊपर कहा गया है कि व्यभिचार के प्रारम्भ में उपसाहाय्य करना प्रतिरक्षा के लिए पर्याप्त होता है। यदि **क** के साथ व्यभिचार के आरम्भ में याचिकादाता की मौनानुकूलता थी, तो **ग** के साथ व्यभिचार करने पर भी क्या प्रत्युत्तरदाता उसी मौनानुकूलता के फलस्वरूप अनुतोष पाने से वंचित कर दिया जायगा?

१. "चं० बाई ब० राजाराम", ए० आई० आर० १९५६, बम्बई ९१।
२. "भगवान ब० अमर", ए० आई० आर० १९६२, पंजाब १४४।

नहीं, प्राचीन मौनानुकूलता का दुष्परिणाम क-सम्बन्धी व्यभिचार के साथ समाप्त हो चुका। यदि ग के मामले में कोई मौनानुकूलता नही सिद्ध है, तो याचिका आज्ञप्त हो जानी चाहिए। ज्ञातव्य है कि तलाक वाली याचिका की संस्थिति में अपार विलम्ब होने से सक्षमा की पूर्व-धारणा उपज सकती है और मौनानुकूलता की भी।[1]

खण्ड (ग) व (घ); दुरभिसंधि और विलम्ब—वैवाहिक विवादों का निर्णय एक बड़ा दायित्वपूर्ण कतव्य होता है। अदालत को सतक रहकर इसकी जाँच करनी पड़ती है कि पक्षकारों या उनके पैरोकारों के बीच साँठ-गाँठ तो नहीं हो गयी है, जिससे प्रेरित होकर वे किसी अनुचित अभिप्राय से जाली आज्ञप्ति प्राप्त करने के इच्छुक हों। तलाक की कायवाही जब होने को होती है, तब बहुधा पक्षकारों के बीच बच्चों की अभिरक्षा, सम्पदा का प्रबन्ध व निपटारा, पत्नी का भरण-पोषण इत्यादि विषयों के बारे मे समझौता हो जाता है। यदि यह समझौता तलाक प्राप्त करने के लिए एक प्रतिदेय या घूस हो, तब तो आज्ञप्ति जाली मान ली जायगी। अन्यथा समझौते के निबन्धन आज्ञप्ति मे निगमित कर लिये जाते हैं।

अनावश्यक या अनुचित विलम्ब देखने के बाद याचिका खारिज करने के सिवा कोई विकल्प अधिनियम ने नहीं दिया है, अर्थात् इस दशा में अदालत को अपने विवेक का प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती। धैर्य, सहिष्णुता, बदनामी का भय, आत्मीयों को चिन्ताव्याकुलता से बचाना, अकिंचनता आदि द्वारा जनित विलम्ब क्षम्य समझा जायगा। विलम्ब का इतना भारी महत्व इसलिए दिया गया है कि उसको देखकर संक्षमा या मौनानुकूलता या परिवेदना के प्रति उदासीनता की पूर्व-कल्पना पैदा होती है। इस अधिनियम ने अदालत को विलम्ब के क्षमा करने का विवेक नहीं दिया है। उसको अपने विवेक का प्रयोग केवल यह निर्धारित करने के लिए दिया गया है कि विलम्ब "अनावश्यक या अनुचित" तो नहीं था। इग्लैण्ड के "मैट्रीमोनियल काजेज ऐक्ट, १९५०" की धारा ४ मे अदालत को यह विवेक भी दिया गया है कि अनावश्यक या अनुचित विलम्ब को क्षमा करे या न करे। यहाँ का वैवाहिक कानून वहीं के कानून के नमूने पर गढ़ा गया है। इसलिए यह भेद ज्ञातव्य है।

खण्ड (ङ); अन्य वैध आधार—इस अधिनियम की धारा ९ से धारा १३ तक में वैवाहिक अनुतोषों का विधान है। यह धारा उन सकल अनुतोषों पर प्रयोज्य है। यह दम्पति के उक्त अधिकारों को नियंत्रित और परिसीमित करती है। हदाहरणार्थ, एक पृथक्-निवासिनी व्यभिचारिणी पत्नी धारा १३ (१) (ix) अथवा १३ (२) (i)

१. "मनोहर ब० चन्द्रावती", ए० आई० आर० १९३६, नागपुर २६।

वाले आधार को सिद्ध करने में सफल हो गयी है। क्या अदालत उसको तलाक वाला अनुतोप आज्ञप्त कर देगी ? नहीं, क्योंकि धारा २३ का खण्ड (ङ) बाधा डालेगा।[1] याद रहे कि "अन्य वैध आधार" से उन आधारों का मतलब है जिनका उल्लेख इस अधिनियम में हुआ है।

उपधारा (२)—विवाह का निर्वाह दम्पति के बीच पारस्परिक मामला तो होता ही है। उससे भी बढ़कर वह ऐसा मामला है जिसमे सारा देश एक प्रगाढ़ हित रखता है। विवाह के स्थायित्व में सारे राष्ट्र का हित सन्निहित है। अतः कानून का ध्यान सर्वाधिक केन्द्रित होता है लोक-कल्याण नीति के ऊपर। जहाँ किसी पक्षकार के थोड़े बहुत समायोजन के फलस्वरूप, दम्पति के बीच मेल-जोल का पुनः स्थापन सम्भव हो, वहाँ कानून अदालत को उसके लिए प्रयास करने को बाध्य करता है। अनेक अभित्यजन एवं क्रूरता के मामलों में ऐसा प्रयास सुकर होता है। अदालत का रुख निरे निर्णायक का न होकर माता-पिता के अनुरूप होना चाहिए, उसको नितान्त मध्यस्थ के नहीं, सलाहकार के आसन पर आसीन होना चाहिए। दृढता और सहानुभूति समेत उसको नयी उमर व नयी रोशनी वाली स्वतन्त्रता की उमंग एवं उत्सुकता को युक्तियुक्त सतोष और युक्तियुक्त नियत्रण प्रदान करना चाहिए।

धारा २४, वाद-कालीन भरण-पोषण और कार्यवाहियों का व्यय—जहाँ कि इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही मे न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि अपने पालन और कार्यवाही के आवश्यक व्ययों के लिए यथास्थिति पत्नी या पति की अपनी पर्याप्त स्वतत्र आय नहीं है, वहाँ पति या पत्नी के आवेदन पर वह प्रत्युत्तरदाता या प्रत्युत्तरदात्री को आदेश दे सकेगा कि वह याचिकादात्री या याचिकादाता को कार्यवाही में लगने वाला व्यय दे और जो राशि याचिकादाता या याचिकादात्री की अपनी आय और प्रत्युत्तरदाता या प्रत्युत्तरदात्री की आय को ध्यान में रखकर न्यायालय को जो युक्तियुक्त लगे, वह राशि कार्यवाही के दौरान में प्रति मास दे।

यह धारा अदालत को अधिकृत करती है कि कार्यवाही चाहे जिस प्रक्रम पर पहुँची हो, वाद-कालीन भरण-पोषण व अदालती खर्चे के विषय मे वह किसी पक्षकार के प्रतिकूल अन्तरिम आदेश निकाल दे। ऐसा आदेश निकालते वक्त वह इसका विचार नहीं करती कि अन्तिम परिणाम क्या होगा। जो पक्षकार अन्तरिम आदेश का उल्लंघन करे, अदालत उसके अभिवचन को काट दे सकती है। कितनी राशि का और किस

१. "मातो ब० साधू", ए० आई० आर० १९६१, पंजाब १५२।

पक्षकार के प्रतिकूल आदेश निकाला जाय इसका निर्धारण करने के लिए अदालत को परिस्थितियों का और पति-पत्नी की स्वतन्त्र आय एवं आर्थिक दशा का विचार करना होता है। ज्ञातव्य है कि यह धारा इस अधिनियम की अधीनस्थ सकल कार्यवाहियों पर लागू है—दाम्पत्याधिकारों का प्रत्यास्थापन, न्यायिक पृथक्करण, तलाक, शून्यता की घोषणा, शून्य-करणीयता की घोषणा। सिद्धान्त यह है कि जब तक विवाह अकृत नहीं हो जाता, तब तक वादकालीन निर्वाह-व्यय का हक उससे (विवाहित दशा से) संलग्न बना रहता है। यह धारा भी अंग्रेजी कानून की देन है। ऊपर कहा गया है कि वादकालीन विवाह व्यय का आदेश देने में अदालत विभिन्न बातों पर विचार करती है। किन्तु सर्वोपरि विचार योग्य बात होती है पक्षकारों की आर्थिक दशा।

धारा २५, स्थायी निर्वाह-व्यय और भरण-पोषण—(१) इस अधिनियम के अधीन क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने वाला कोई न्यायालय यथास्थिति पत्नी या पति द्वारा इस प्रयोजन के लिए अपने से आवेदन किये जाने पर आज्ञप्ति देने के समय या तत्पश्चात किसी समय प्रत्युत्तरदाता या प्रत्युत्तरदात्री को आदिष्ट कर सकेगा कि वह आवेदक या आवेदिका के भरण-पोषण और पालन के लिए ऐसे आवेदक या आवेदिका के जीवन काल से अधिक न होने वाली अवधि के लिए ऐसी पूर्ण राशि या ऐसी मासिक या कालावधीय राशि देता या देती रहे, जैसी की प्रत्युत्तरदाता या प्रत्युत्तरदात्री की अपनी आय और अन्य सम्पत्ति को, यदि कोई हो, आवेदक या आवेदिका की आय या अन्य सम्पत्ति को और पक्षकारों के आचरण को ध्यान में रखकर न्यायालय को न्याय्य लगे, और यदि आवश्यक हो तो ऐसी कोई देन प्रत्युत्तरदाता या प्रत्युत्तरदात्री की स्थावर सम्पत्ति पर प्रभार द्वारा प्रतिभूत की जायगी।

(२) यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि उपधारा (१) के अधीन अपने द्वारा दिये गये आदेश के पश्चात् किसी समय पक्षकारों में से किसी की परिस्थितियों मे तब्दीली हो गयी है, तो वह ऐसे किसी आदेश को ऐसी रीति से जैसी कि न्यायालय न्याय्य समझे, किसी पक्षकार की प्रेरणा पर परिवर्तित, रूपभेदित या विखण्डित कर सकेगा।

(३) यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि उस पक्षकार ने, जिसके पक्ष में इस धारा के अधीन आदेश दिया जा चुका है, पुनः विवाह कर लिया है, या यदि ऐसा पक्षकार पत्नी है तो वह सती नही रही है, यदि ऐसा पक्षकार पति है तो उसने किसी स्त्री से विवाह के बाहर लैंगिक सम्पर्क किया है, तो वह उस आदेश को विखण्डित करेगा।

इस धारा वाला आदेश हर प्रकार की आज्ञप्ति के साथ या अनन्तर जारी किया जा सकता है। यह आदेश दो घटनाओं से परिविरत हो सकता है; एक तो निर्वाह-व्यय के पात्र की मृत्यु, दूसरे उसका पुनर्विवाह। निर्वाह-व्यय की राशि अवधारित करने मे अदालत तीन बातों पर विचार करेगी; एक तो पक्षकारों का व्यवहार व आचरण, दूसरे, उस पक्षकार की आय व सम्पत्ति, जिसको निर्वाह-व्यय के लिए आदिष्ट करना है, तीसरे, उस पक्षकार की आय व सम्पत्ति जिसको निर्वाह-व्यय पाना है। निर्वाह-व्यय पाने वाली पत्नी यदि सम्पन्न है, तो दुराचरण के कारण उसका व्यय बन्द कर दिया जा सकता है और यदि अकिंचन है, तो ऐसे कारणवश निर्वाह-व्यय बन्द न करके घटा दिया जा सकता है। बन्द करना इसलिए अवांछनीय है कि उससे उसका अध:पतन और भी बढ़ जाने की आशका होती है।[1] उभय पक्ष की परिस्थितियों में तब्दीली आ जाने के फलस्वरूप अदालत अपने आदेशों में रूपभेद, परिवर्तन और विखण्डन तीनों काम यथोचित कर सकती है। यदि स्वतः किसी पक्षकार की ही स्वेच्छित करतूत से तब्दीली घटित हुई हो, तो उसी के अनुकूल रूपभेद, परिवर्तन या विखण्डन का आदेश देना स्पष्टतः न्याय्य नही होगा। यदि निर्वाह-ग्रहीता पुनर्विवाह कर ले, अथवा पत्नी के रूप में असती बन जाय, या पति के रूप मे व्यभिचाररत हो जाय तो अदालत को अपना आदेश विखण्डित करना पड़ेगा, क्योंकि उपधारा (३) का उपबन्ध समाज्ञापक है। भरण-पोषण के अन्य हकों की भाँति इस धारा वाला हक भी स्थावर सम्पत्ति पर प्रभार के रूप मे प्रतिभूत किया जा सकता है। ऐसे हक का अभिहस्तांकन व कुर्की वर्जित है। समागम एव सहचरण के पुनरारम्भ से आदेश का विखण्डन हो सकता है, क्योंकि हक का आधार ही विनष्ट हो जाता है।

इस धारा की अनोखी बात यह है कि उसके अधीन निर्वाह-व्यय का आदेश पति के अनुकूल भी पारित हो सकता है, यद्यपि बहुधा और हर देश में प्रचलन इसका उलटा था। इस विचलन के दो कारण प्रतीत होते है। एक तो हमारे संविधान में हरएक क्षेत्र में नर-नारी समान स्तर पर अवस्थित कर दिये गये है। दूसरे, नारीवर्ग भी स्वतंत्रतया कमाने लग गया है। यदि कोई सम्पन्न पत्नी अपने निकम्मे पति से छुटकारा चाहती है, तो उचित ही है कि उस (पत्नी) पर उस बेचारे के निर्वाह व्यय का भार डाला जाय। इंग्लैण्ड में पत्नी के ऊपर ऐसा भार केवल उस दशा में डाला जाता है जब पति विक्षिप्त हो। यहाँ का नियम उससे एक कदम आगे बढ़ गया है।

इस धारा वाली याचिका उसी अदालत में दी जानी चाहिए, जिसके अधिक्षेत्र

१. "अ० कान्त ब० सोवन", ए० आई० आर० १९६०, कलकत्ता ४३८।

के भीतर प्रत्यास्थापन, पृथक्करण आदि की याचिकाएँ संस्थित हो सकती हैं। क्या धारा २३ (१) (घ) के अनुसार अनावश्यक या अनुचित विलम्ब के आधार पर स्थायी निर्वाह-व्यय का आवेदनपत्र भी खारिज हो जायगा ? नहीं, क्योंकि विलम्ब वाला दोष "अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही" को दूषित करना है। कार्यवाही से मतलब है मौलिक कार्यवाही का, न कि गौण कार्यवाही का। धारा २४ व धारा २५ के अधीन याचिकाएँ मौलिक नहीं हैं। उनमें विहित अनुतोष की याचना मौलिक याचिका में भी की जा सकती है और वाद-काल में तथा आज्ञप्ति पारित होने के बाद भी।

यदि वांछित अनुतोष की आज्ञप्ति पारित करने के बजाय, अदालत मौलिक याचिका को खारिज कर दे, तो क्या धारा २५ वाली अभ्यर्थना की पूर्ति की जा सकती है ? नहीं, क्योंकि उपधारा (१) के शब्द हैं—"आज्ञप्ति देने के समय या तत्पश्चात।" यदि शब्द होते—"आज्ञप्ति देने या याचिका खारिज करने के समय या तत्पश्चात्" तो उपरोक्त प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होता।

धारा २६, सन्तति की अभिरक्षा—इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय अवयस्क सन्तति की अभिरक्षा, भरण-पोषण और शिक्षा के बारे में जहाँ सम्भव हो वहाँ उनकी इच्छा से संगत समय-समय पर ऐसे उपबन्ध कर सकेगा, जैसे कि उसे न्यायसंगत और उचित जान पड़े और इस प्रयोजन के लिए याचिका द्वारा आवेदन पर ऐसी सन्तति की अभिरक्षा, भरण-पोषण और शिक्षा के बारे में ऐसे आदेश और उपबन्ध आज्ञप्ति के पश्चात् समय-समय पर दे या कर सकेगा, जैसे कि ऐसी आज्ञप्ति या अन्तरिम आदेशों द्वारा उस सूरत में किये जाते, जिसमें कि ऐसी आज्ञप्ति अभिप्राप्त करने के लिए कार्यवाही तब भी लम्बित होती, और न्यायालय पूर्वतर दिये गये ऐसे आदेशों और किये गये उपबन्धों में से किसी को समय-समय पर अपखण्डित, निलम्बित या परिवर्तित भी कर सकेगा।

जिसमें अवयस्क सन्तान के हित को माता-पिता के परस्पर विवाद के कारण हानि न पहुँचे, इस आशय से इस धारा के उपबन्ध रचे गये हैं। अदालत सामान्यतः इस धारा के अधीन आदेश कार्यवाहियों के दौरान में या डिग्री देते समय जारी कर सकती है। "अवयस्क सन्तति" के साथ कोई विशेषक नहीं जुड़ा है। अतः पक्षकारों की जारज सन्तति भी इस धारा का प्रलाभ उठा सकती है; किन्तु वह सन्तति नहीं जो पक्षकारों के अन्य विवाहों से पैदा हुई हो। अदालत का यह अधिकार डिग्री देने के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। यह धारा उसको डिग्री देने के बाद भी उचित आदेश पारित करने को

अधिकृत करती है और पूर्वतर दिये गये आदेशों को अपखण्डित, निलम्बित या परिवर्तित करते रहने का भी अधिकार देती है। अदालत का कर्तव्य है कि सन्तति के हित व कल्याण का सर्वोपरि ध्यान रखे और यथासम्भव उनकी इच्छा का समनुरूपण करती रहे। अपखण्डित, विलम्बित, परिवर्तित कराने की याचिका या तो अवयस्क अपने "नेक्स्ट फ्रेंड" यानी वाद-मित्र या अपने वैध अभिभावक या उस जनक की मार्फत पेश कर सकता है जिसकी अभिरक्षा में वह हो। दत्तक पुत्र की औरस पुत्र के बराबर पदवी हो जाती है। इसलिए दत्तक पुत्र भी इस धारा के अन्तर्गत आ जायगा।

धारा २७, सम्पत्ति का व्ययन—इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय विवाह में या विवाह के समय के आसपास भेंट की गयी ऐसी किसी सम्पत्ति के बारे मे, जो कि पति और पत्नी दोनों की सयुक्त है, ऐसे उपबन्ध आज्ञप्ति मे कर सकेगा जैसे कि वह न्याय्य या उचित समझे।

यह धारा केवल उस सम्पत्ति पर लागू होगी जो विवाह में दी जाय और जो "पति और पत्नी दोनों की सयुक्त" हो। यद्यपि दहेज इस अभिप्राय से दिया जाता है कि नव दम्पति एक नया घर बसाकर नयी गृहस्थी चला सकें और इस दृष्टिकोण से विवाह में पाया हुआ सामान वर-वधू का संयुक्त होता है, तथापि कानून ऐसी पूर्व-धारणा नही करता। इसलिए विवादग्रस्त सम्पत्ति का संयुक्त रूप सिद्ध करने के लिए यह दिखाना आवश्यक है कि दाता लोगों ने दम्पत्ति के सयुक्त भोगार्थ अमुक पदार्थ प्रदान किये थे। अथवा यह कि दम्पति उन पदार्थो का सेवन, उपभोग इस ढंग से करते रहे थे जिससे केवल यह सन्देहातीत निष्कर्ष निकलता है कि अमुक सामग्री संयुक्त थी। ऐसे प्रश्नों के प्रमाण में रीति-रिवाज एक उच्च स्थान रखता है। इस धारा का उद्देश्य है वाद-बाहुल्य का निवारण। इस धारा के अधीन आदेश आज्ञप्ति के पश्चात् नहीं दिये जा सकते है।

धारा २८, आज्ञप्तियों और आदेशों का प्रवर्तन और उनकी अपील—इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गयी सब आज्ञप्तियों और आदेशों का प्रवर्तन तद्रूप रीति मे किया जायगा, जैसी मे कि न्यायालय के अपने आरम्भिक व्यवहार क्षेत्राधिकार के प्रयोग में दी गयी आज्ञप्तियों और आदेशों का किया जाता है और उनकी अपील किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन की जा सकेगी। परन्तु केवल खर्चों के विषय के सम्बन्ध में कोई अपील न होगी।

इस धारा का तात्पर्य यह मालूम होता है कि आज्ञप्तियों व आदेशों के प्रवर्तन वाली और अपील वाली कार्यवाहियाँ (जाब्ता दीवानी) व्यवहारप्रक्रिया सहिता के उपबन्धों द्वारा विनियमित होंगी। तथ्य के प्रश्नों पर अपील विरली ही दशा में सफल

या अनुज्ञात होती है। विरली दशा यह है कि प्राथमिक अदालत ने अपार, आश्चर्य-जनक तथा नितान्त भूल तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में की हो। कानून के ही प्रश्नों पर, या ऐसी दशा मे कि जहाँ विवेक का प्रयोग किया गया हो, बहुधा अपील जिनाई जाती है। किन्तु विवेक के प्रयोग से निर्णीत मामलों में भी अदालतें-अपील जल्दी हस्तक्षेप नही करती। धारा २१ के अनुसार भी इस अधिनियम के अधीन कार्यवाहियाँ व्यवहारप्रक्रिया संहिता से यथासम्भव प्रशासित होती है। इस धारा (२८) मे यदि खास उपबन्ध न होता, तो भी व्य० प्र० सहिता के अनुसार केवल खर्चों के विषय में अपील नही सस्थित हो सकती।

व्यावृत्तियाँ और निरसन

धारा २९, व्यावृत्तियां—(१) हिन्दुओं में इस अधिनियम के आरम्भ के पहले अनुष्ठित ऐसे किसी विवाह के बारे मे, जो कि अन्यथा मान्य है, केवल इस तथ्य के कारण यह न समझा जायगा कि वह अमान्य है या कभी अमान्य था, कि उसके पक्षकार एक ही गोत्र या प्रवर के थे या विभिन्न धर्मो, जातियों या एक ही जाति की उप-जातियों के थे।

(२) इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के बारे में यह न समझा जायगा कि वह इस नियम के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठित विवाह के भग कराने के ऐसे किसी अधिकार को प्रभावित करेगी, जो कि रूढि द्वारा अभिज्ञात है या किसी विशेष अधिनियम द्वारा प्रदत्त है।

(३) इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात किसी विवाह के अकृत और शून्य घोषित कराने के लिए या किसी विवाह को अकृत या भंग कराने के लिए या न्यायिक पृथक्करण के लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन ऐसी किसी कार्यवाही को, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ पर लम्बित है, प्रभावित न करेगी और ऐसी कोई कार्यवाही ऐसे आगे चलायी जा सकेगी और अवधारित की जा सकेगी मानो कि यह अधिनियम पारित न किया गया हो।

(४) इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के बारे में यह न समझा जायगा कि वह "विशेष विवाह अधिनियम, १९५४" (१९५४ का ४३) के अधीन हिन्दुओं के बीच अनुष्ठित किये गये विवाहों के बारे मे, भले ही वे विवाह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठित किये गये हों, अन्तर्विष्ट उपबन्धों को प्रभावित करती है।

जब किसी अधिनियम के प्रभाव से किसी विषय या बातों को विमुक्त या अप-

वादित करना अभीष्ट होता है, तब व्यावृत्तियाँ संलग्न कर दी जाती हैं। उपधारा (१) में वही नियम अन्तर्विष्ट हैं जो "हिन्दू मैरेजेज डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट १९४६" ने और "हिन्दू मैरेजेज वैलिडिटी ऐक्ट १९४९" ने विहित किये थे। उपधारा (२) उन जातीय रीति रिवाजों को इस अधिनियम के प्रभाव से विमुक्त करती है, जिनके अनुसार विवाह भंग किया जा सकता है। उन रूढियों द्वारा प्रदत्त विवाह भंग करने का हक इस अधिनियम के बावजूद अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। जैसे प्रथा द्वारा अनुज्ञात विवाह-भंग का हक बरकरार रखा गया है, वैसे ही वे विवाह-भंग के कतिपय हक भी जीवित छोड़ दिये गये हैं जो किसी-किसी प्रदेश में परिनियम द्वारा अनुदत्त थे। उक्त परिनियमों में से कुछ धारा ३० द्वारा निरस्त कर दिये गये हैं, किन्तु सब नहीं।

उक्त परिनियमों के अधीन जो कार्यवाहियाँ इस अधिनियम के आरम्भ काल में लम्बित थी उनको इसका कोई उपबन्ध प्रभावित नहीं करेगा, यह उपधारा (३) ने विहित किया है। कार्यवाहियाँ, जिनका उल्लेख इस उपधारा में हुआ है, वे सम्बन्धित हैं घोषणात्मक आज्ञप्ति से, विवाह को अकृत कराने की आज्ञप्ति से, न्यायिक पृथक्करण की आज्ञप्ति से। इस उपधारा के अनुसार वे लम्बित कार्यवाहियाँ पूर्ववत् चलती रहकर, बिना इस अधिनियम को प्रयुक्त किये निर्णीत की जायेंगी। सन् १९५४ वाला "स्पेशल मैरेज ऐक्ट" अब भी क्रियाशील है। जो हिन्दू उस अधिनियम के अधीन अपना विवाह सम्पन्न कराता है उसको "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" के उपबन्ध उपलब्ध नहीं हो सकते। उपधारा (४) का यही तात्पर्य है।

धारा ३०, निरसन—"द हिन्दू मैरेज डिसेबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट, १९४६" (१९४६ का २८), "द हिन्दू मैरेज वैलिडिटी ऐक्ट, १९४९" (१९४९ का २१), "द बाम्बे प्रिवेन्शन आव हिन्दू बाइगेमस मैरेजज ऐक्ट, १९४६" (१९४६ का बाम्बे ऐक्ट २५), "द बाम्बे हिन्दू डायवोर्स ऐक्ट, १९४७" (१९४७ का बाम्बे ऐक्ट २२), "द मद्रास हिन्दू (बाइगेमी प्रिवेन्शन ऐण्ड डायवोर्स) ऐक्ट, १९४९" (१९४९ का मद्रास ऐक्ट ६), "द सौराष्ट्र प्रिवेन्शन आव हिन्दू बाइगेमस मैरेजज ऐक्ट १९५०" (१९५० का सौराष्ट्र ऐक्ट ५), और "द सौराष्ट्र हिन्दू डायवोर्स ऐक्ट, १९५२" (१९५२ का सौराष्ट्र ऐक्ट ३०) एतद् द्वारा निरस्त किये जाते हैं।

विवाह एवं तलाक सम्बन्धी अधिनियमों की इस धारा में परिपूर्ण तालिका नहीं दी गयी है। इसमें मात्र उन ऐक्टों की गणना की गयी है जिनको निरर्थक जानकर इसलिए निरस्त कर दिया गया है कि इस व्यापक अधिनियम के अन्दर उनके उपबन्ध अन्तर्वेष्टित हो गये हैं।

यह अधिनियम अब समाप्त हुआ। खण्ड एक के प्रकरण १४ को पढ़कर जब हम इस अधिनियम के उपबन्धों की तुलना उससे करेंगे, तो विदित होगा कि विवाह सम्बन्धी नियमों में सारवान् और मूलभूत परिवर्तन पुरःस्थापित कर दिये गये हैं। माननीय मुल्ला प्रणीत "हिन्दू ला" (१२वाँ संस्करण, सन् १९५९) के पृष्ठ ७७७ पर उन परिवर्तनों को भली-भाँति संक्षेपित किया गया है। यह समाकलन अतीव सहायक एवं मूल्यवान है। निम्नलिखित परिवर्तन विशेष कर ध्यानाकर्षक अतएव उल्लेखनीय हैं—

(१) कोई दो व्यक्ति (नर-नारी) इस अधिनियम के अधीन परस्पर विवाह अनुष्ठित करा सकते है, यदि वे 'हिन्दू' की व्यापक विस्तृत परिभाषा के अन्दर आ सकते हों। चारों वर्णो में अन्तर्वर्णीय और सब जातियों-उपजातियों में अन्तर्जातीय और ईसाई, मुस्लिम, यहूदी को छोड़कर सब धार्मिक समाजों मे अन्तर्धार्मिक विवाह अनुष्ठित हो सकते हैं। इस भाँति के वे सब विवाह भी धारा २९ के प्रभाव से वैध हो गये हैं जो इस अधिनियम के आरम्भ के पूर्व अनुष्ठित हो चुके थे। इतना पावन एव शुभकारी है यह अधिनियम। ऊँच-नीच-अन्तर को इतना मिटाने वाला है यह अधिनियम कि वैवाहिक क्रियाओं के लिए चातुर्वर्ण्य का प्रादुर्भाव मानो कभी हुआ ही न था।

(२) बहु-विवाह वाली परिपाटी को विघटित करके एक-विवाह वाली प्रणाली का इस अधिनियम ने बरबस निष्पादन कर दिया है। एक पति या पत्नी के जीवन-काल में, दूसरे पति या पत्नी के साथ वैध विवाह इस अधिनियम के आरम्भ के बाद सम्पादित नहीं हो सकता है। द्रष्टव्य धारा ५ (ii) व धारा १७।

(३) द्विविवाह को धारा १७ ने भारतीय दण्ड-संहिता की धारा ४९४, ४९५ के अधीन एक दण्ड्य अपराध या जुर्म बना दिया है।

(४) वैध हिन्दू विवाह की शर्तें और अपेक्षित क्रियाएँ अतीव सरल व सुकर बना दी गयी हैं। द्र० धारा ५ एवं धारा ७।

(५) न्यायिक पृथक्करण, तलाक और विवाह-अकृतकारी अनुतोषों को इस अधिनियम ने मान्यता प्रदान कर दी है। द्र० धारा १० से धारा १३ पर्यन्त।

(६) अवैध एवं शून्यकरणीय विवाहों से जनित सन्तति की वैधता के लिए उपबन्ध हो गया है (धारा १६)।

(७) वाद-कालीन निर्वाह-व्यय, स्थायी निर्वाह-व्यय एवं भरण-पोषण के निमित्त उपबन्ध रच दिये गये हैं। द्र० धारा २४ व धारा २५।

(८) पक्षकारों की अवयस्क सन्तति की अभिरक्षा, शिक्षा-भरण-पोषण के लिए अधिनियम के अधीन किसी भी कार्यवाही के दौरान में उचित आदेश देने के विवेकाश्रित अधिकार प्रदत्त हुए हैं।

प्रकरण ४

हिन्दू दत्तक-ग्रहण तथा भरण-पोषण अधिनियम, १९५६

(१९५६ का ७८)

हिन्दुओं में दत्तक-ग्रहण और भरण-पोषण सम्बन्धी विधि को संशोधित और संहिताबद्ध करने के लिए अधिनियम

(भारत गणराज्य के सातवें वर्ष में ससद द्वारा निम्न रूपेण अधिनियमित)

अध्याय १

प्रारम्भिक

धारा १, संक्षिप्त नाम और विस्तार—(१) यह अधिनियम "हिन्दू दत्तक-ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, १९५६" कहलाया जा सकेगा।

(२) इसका विस्तार जम्मू और कश्मीर राज्य के सिवा समस्त भारत में है।

इस अधिनियम को राष्ट्रपति की सम्मति २१ दिसम्बर १९५६ को प्रदत्त हुई थी। उसी तारीख से यह सक्रिय हो गया। "हिन्दू विवाह अधिनियम" और "हिन्दू अवयस्कता और सरक्षिता अधिनियम" की धारा (१) (२) की तुलना इस अधिनियम की उसी धारा से करने पर यह मालूम देता है कि इस अधिनियम में यह वाक्य छूट गया है "और जिन राज्य क्षेत्रों मे इस अधिनियम का विस्तार है उन राज्य क्षेत्रों के अधिवासी उन हिन्दुओं पर भी यह लागू है जो कि उक्त राज्य क्षेत्र के बाहर हैं।" यह वाक्य "हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम" मे से भी त्यक्त है। त्यक्त होने का प्रथम-दृष्ट्या हेतु यह है कि निजी अन्तरराष्ट्रीय विधि का यह एक सर्वविदित एव बुनियादी नियम है कि स्थावर सम्पत्ति सम्बन्धी मामलों में वहाँ की राष्ट्रीय या क्षेत्रीय विधि लागू होती है, किन्तु व्यक्तिगत नातों से सम्बद्ध मामलों मे व्यक्तिगत विधि ही लागू होती है। इस नियम में चूँकि कोई मीन-मेष नही है, इसलिए धारा (१) (२) में उसका पुछल्ला लटकाना अनावश्यक था; अर्थात् उसकी संलग्नता कल्पित कर ली जाती है।

धारा २, अधिनियम का लागू होना—(१) यह अधिनियम—

(क) वीर शैव, लिगायत, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्य समाज के अनुयायियों के

सहित ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि हिन्दू धर्म के रूपों या विकासों में से किसी के नाते धर्म से हिन्दू है,

(ख) ऐसे किसी व्यक्ति पर लागू है जो कि धर्म से बौद्ध, जैन या सिक्ख है, और

(ग) जब तक कि ऐसे किसी अन्य व्यक्ति के बारे मे. जो कि धर्म से मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी नही है, यह सिद्ध न कर दिया जाय कि यदि यह अधिनियम पारित न किया गया होता, तो वह ऐसी किसी बात के बारे में, जिसके लिए कि इसमे व्यवस्था की गयी है, हिन्दू विधि द्वारा या उस विधि की भागरूप रूढि या प्रथा द्वारा शासित नही होता, ऐसे अन्य व्यक्ति पर भी लागू है।

व्याख्या—अन्य व्यक्ति, अर्थात्

(क) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके दोनों जनक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है;

(ख) ऐसा कोई बालक, चाहे वह औरस हो या जारज, जिसके जनकों मे से एक धर्म से हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख है और जिसका लालन-पालन उस आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के सदस्य के रूप में किया गया है जिसका ऐसा जनक है या था,

(ग) ऐसा कोई बालक, औरस या जारज, जिसका उसके पिता और माता दोनों के द्वारा अभित्यजन किया गया हो, या जिसकी वल्दियत अज्ञात हो और जिसका प्रत्येक अवस्था में पालन-पोषण हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख की भाँति हुआ हो, और

(घ) ऐसा कोई व्यक्ति, जिसने हिन्दू, बौद्ध, जैन या सिक्ख धर्म ग्रहण किया है या पुनः ग्रहण किया है, यथास्थिति धर्म से हिन्दू, वौद्ध, जैन या सिक्ख है।

(२) उपधारा (१) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खण्ड (२४) के अर्थों के अन्दर वाली किसी अनुसूचित आदिम जाति के सदस्यों पर तब तक लागू न होगी जब तक कि केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निर्दिष्ट न करे।

(३) इस अधिनियम के किसी प्रभाग मे "हिन्दू" शब्द का ऐसा अर्थ लगाया जायगा मानो कि इसके अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति है जो कि यद्यपि धर्म से हिन्दू नहीं है तथापि जिस पर यह अधिनियम इस धारा में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के बल से लागू होता है।

हिन्दू सहिता विधेयक के चार अधिनियम अभी तक पारित हो चुके है, यानी उत्तराधिकार अधिनियम, अवयस्कता और सरक्षिता अ०, विवाह अ०, दत्तक अ० तथा भरण-पोषण अ०। इन चारों अधिनियमों में "अधिनियम का लागू होना" शीर्षक धाराएँ

नितान्त समान हैं। इस धारा की टिप्पणी "हिन्दू विवाह अधिनियम" या "हिन्दू अ० और संरक्षिता अधिनियम" वाले प्रकरण में द्रष्टव्य है।

धारा ३, परिभाषाएँ—इस अधिनियम में जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो, (क) "रूढि" और "प्रथा' शब्दों से ऐसा कोई नियम अभिप्रेत है जिसे लम्बे समय के लिए लगातार और समान रूप से अनुपालित किये जाने के कारण किसी स्थानीय क्षेत्र, आदिम जाति, समुदाय, समूह या परिवार के हिन्दुओं में विधि का बल अभिप्राप्त हो गया है।

परन्तु यह तब जब कि वह नियम निश्चित हो और अयुक्तियुक्त या लोकनीति के विरुद्ध न हो, और परन्तु यह और भी कि ऐसे नियम की अवस्था में जो कि एक ही परिवार पर लागू है, परिवार द्वारा उसका अस्तित्व भंग न कर दिया गया हो।

(ख) "भरण-पोषण" के अन्तर्गत—

(i) सब अवस्थाओं में भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सीय परिचर्या और इलाज के लिए संभार;

(ii) अविवाहित पुत्री की स्थिति में उसके विवाह का युक्तियुक्त और प्रासंगिक व्यय भी है।

(ग) "अवयस्क" से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसने अपनी आयु के अठारह वर्ष पूरे नहीं किये है।

परिभाषाओं की रचना शब्दों या पदों के मितव्यय के अभिप्राय से की जाती है। कभी-कभी, जैसा कि उपरोक्त परिभाषाओं में और हिन्दू उत्तराधिकार वाली परिभाषाओं में है, कानूनी सिद्धान्त समाविष्ट हो जाते हैं। धारा का आरम्भिक वाक्य "जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो" निर्दिष्ट करता है कि अधिनियम का पाठ मुख्य और परिभाषा गौण महत्व रखती हैं। संदर्भ को ध्यान में रखकर पदों का ऐसा अर्थ लगाना चाहिए जो उसका (संदर्भ का) समनुरूपण करे, चाहे उस अर्थ का परिभाषा से भेद क्यों न हो।

चूँकि अब पुरुष व नारी गोद बैठ और बैठा सकते हैं और चूँकि दोनों लिंग के मनुष्य भरण-पोषणाधिकारी होते हैं, इसलिए इस अधिनियम में "अवयस्क" शब्द पुरुष एवं नारी दोनों को समाहित करता है।

धारा ४, अधिनियम का सर्वोपरि प्रभाव—इस अधिनियम में अन्यथा अभिव्यक्त रूपेण उपबन्धित को छोड़कर,—

(क) हिन्दू विधि का कोई पाठ, नियम या निर्वचन या उस विधि की भागरूप रूढि

या प्रथा, जो कि इस अधिनियम के आरम्भ होने से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, ऐसी किसी बात के बारे में प्रभावशून्य हो जायगी जिसके लिए कि इस अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया गया है;

(ख) कोई अन्य विधि, जो कि इस अधिनियम के आरम्भ होने से अव्यवहित पूर्व प्रवृत्त थी, वहाँ तक प्रभाव-शून्य हो जायगी जहाँ तक कि वह इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट उपबन्धों मे से किसी से असगत है।

संहिताकरण में केवल एकत्रीकरण (प्रवृत्त नियमों का) नही, अपितु साथ ही साथ उनका संशोधन एव नवीन नियमों का समावेष्टन भी होता है। फलतः जिन बातों के लिए किसी संहिताबद्ध कानून में उपबन्ध मौजूद हो उनका निर्णय मात्र सगत विधि के आधार पर ही किया जायगा। संहिताकरण में पुरातन कानून का रूपभेद और परिवर्तन होना अनिवार्य होता है। महत्वपूर्ण रूपभेद या परिवर्तन के बावजूद पुरातन कानून का निर्णय-कर्म में आश्रय नहीं लिया जा सकता। ज्ञातव्य है कि मौलिक विधि का भूतलक्षी प्रभाव नहीं माना जाता है, जब तक अभिव्यक्त रूपेण ऐसा उपबन्धित न हो। अतः सामान्यतः यह अधिनियम उन्ही तथ्यों या वाद-मूलों पर प्रयोज्य है जिनका प्रादुर्भाव इसके आरम्भ के पश्चात् हुआ हो।

अध्याय २

दत्तक-ग्रहण या पुत्रीकरण

धारा ५, दत्तक-ग्रहण इस अध्याय द्वारा विनियमित होगा—(१) किसी हिन्दू के द्वारा या निमित्त कोई दत्तक-ग्रहण इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् इस अध्याय में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अनुकूल किये जाने के सिवा नही किया जायगा और उक्त उपबन्धों के उल्लंघन में किया गया कोई दत्तक-ग्रहण शून्य होगा।

(२) ऐसे किसी दत्तक-ग्रहण से, जो शून्य है, न तो दत्तक-ग्रहीता परिवार में ऐसे व्यक्ति के पक्ष मे किसी ऐसे अधिकार का सर्जन होगा जिसे कि वह दत्तकग्रहण के कारण अर्जित करने के सिवा अर्जित नही कर सकता था और न उसके अपने जन्म के परिवार के किसी व्यक्ति के अधिकार ही विनष्ट होंगे।

वाक्य "इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात्" अधिनियम की भूतलक्षिता को वर्जित करता है। अधिनियम के आरम्भ के पूर्व किये गये पुत्रीकरण सम्बन्धी मामले पुरातन हिन्दू ला के आधार पर निर्धारित होंगे। पश्चात् वाले पुत्रीकरण पर मात्र यह अधिनियम प्रयोज्य है। पुरातन यह नियम याद रखना चाहिए—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥ (मनु० ९,१४२)

इसी नियम को उपधारा (२) ने समाविष्ट किया है।

धारा ६, मान्य दत्तक-ग्रहण सम्बन्धी अपेक्षाएँ—जब तक कि—

(१) दत्तक-ग्रहीता व्यक्ति दत्तक-ग्रहण करने की सामर्थ्य और साथ ही अधिकार न रखता हो;

(२) दत्तक देने वाला व्यक्ति ऐसा करने की सामर्थ्य न रखता हो;

(३) व्यक्ति दत्तक-ग्रहण द्वारा लिये जाने योग्य न हो; और

(४) दत्तक-ग्रहण इस अध्याय में वर्णित अन्य शर्तों के अनुवर्तन में न किया गया हो;

कोई दत्तक-ग्रहण मान्य नहीं होगा।

इन चार शर्तों को पूरा किये बिना, कोई पुत्रीकरण वैध नहीं हो सकता, यदि वह इस अधिनियम के आरम्भ के पश्चात् सम्पन्न किया गया हो। शर्त (१) की अपेक्षा धारा ७ व धारा ८ में विहित है। शर्त (२) की अपेक्षा धारा ९ में विहित है। ये तीन धाराएँ जनक एवं पालक माता-पिताओं की क्षमता से सम्बद्ध हैं। शर्त (३) की अपेक्षा धारा १० में दी हुई है जो दत्तक की अर्हता से सम्बद्ध है। शर्त (४) की अपेक्षा के लिए देखिए धारा ११, जो दत्तक ग्रहण क्रिया के अनिवार्य विवरण बतलाती है।

धारा ७, हिन्दू पुरुष की दत्तक-ग्रहण द्वारा लेने की सामर्थ्य—जो कोई हिन्दू पुरुष स्वस्थ चित्त वाला है और अवयस्क नहीं है, उसे यह सामर्थ्य प्राप्त होगी कि वह दत्तक-ग्रहण द्वारा पुत्र या पुत्री ले ले।

परन्तु यदि उसकी पत्नी जीवित है तो जब तक पत्नी ने पूर्ण रूप से तथा अन्तिम रूप से संन्यास न ले लिया हो, या वह हिन्दू न रही हो, या सक्षम क्षेत्राधिकार वाले किसी न्यायालय ने उसकी बाबत यह घोषित न कर दिया हो कि वह विकृत चित्त की है, तब तक वह अपनी पत्नी की सम्मति के बिना दत्तक-ग्रहण नहीं करेगा।

व्याख्या—यदि किसी व्यक्ति की एक से अधिक पत्नियाँ दत्तक-ग्रहण के समय जीवित हैं तो जब तक कि पूर्ववर्ती परन्तुक में उल्लिखित कारणों में से किसी के लिए उनमें से किसी की सम्मति अनावश्यक न हो, सब पत्नियों की सम्मति आवश्यक होगी।

प्राचीन हिन्दू विधि के अधीन कोई व्यक्ति पुत्री को गोद नहीं ले सकता था। पहली बात यह है कि इस धारा ने पुत्री का दत्तक-ग्रहण भी अधिकृत कर दिया है। इस अधिनियम ने यह एक नयी बात पैदा कर दी है। दूसरे, धारा के परन्तुक ने पत्नी या पत्नियों की सम्मति पर बहुत बल दिया है। यह इस माने में एक नयी बात है कि

पहले पत्नी की सम्मति अभिव्यक्त रूपेण अनिवार्य नहीं थी, और इस माने में नयी बात नहीं है कि अनुष्ठान मे जीवित पत्नी की उपस्थिति पहले भी अपेक्षित थी। उसकी उपस्थिति में ही उसकी सम्मति सन्निहित थी। इस धारा में भी सम्मति के लिए यह नहीं कहा गया है कि उसको अभिव्यक्त होना चाहिए, अर्थात् पहले की भाँति पत्नी की सम्मति आज भी उसके साझे में सन्निहित हो सकती है। दत्तक-ग्रहीता की वयस्कता और चित्त की सुस्थता वाली जो शर्ते पहले थीं वही इस धारा में मौजूद हैं। चित्त की सुस्थता का मतलब इतनी बुद्धि से है कि दत्तक-ग्रहीता अपने कर्म के अभिप्राय, गुण, लक्षण, फल को समझ सके।

धारा ८, हिन्दू नारी की दत्तक-ग्रहण की सामर्थ्य—जो कोई हिन्दू नारी—

(क) सुस्थ चित्त वाली है,

(ख) अवयस्क नही है, और

(ग) विवाहित नही है, या यदि विवाहित है, तो उसका विवाह भग कर दिया गया है, या जिसका पति मर चुका है या पूर्ण रूप से और अन्तिम रूप मे सन्यास ले चुका है, या हिन्दू नहीं रहा है, या सक्षम क्षेत्राधिकार के किसी न्यायालय ने उसे विकृत चित्त का घोषित कर दिया है,

वह पुत्र या पुत्री को दत्तक-ग्रहण द्वारा लेने की सामर्थ्य रखती है।

पुरातन हिन्दू विधि, (विधवा) पत्नी को छोडकर किसी नारी को गोद बैठाने के निमित्त अधिकृत नहीं करती थी। पत्नी को पुत्र का, न कि पुत्री का, दत्तक-ग्रहण अनुज्ञात था और वह पति के, न कि अपने लिए, गोद ले सकती थी। इसके अतिरिक्त हिन्दू विधि की अधिकांश उपशाखाओं में पत्नी पति की अभिव्यक्त आज्ञा के बिना गोद नहीं ले सकती थी। इन सब नियमों मे आमूल परिवर्तन कर दिया गया है। अब हर एक नारी गोद ले सकती है, वह चाहे कुमारी, विधवा, विवाह-भगिनी, तलाक-प्राप्ता हो, या ऐसी सधवा हो जिसका पति अहिन्दू या संन्यासी बन गया हो, या सक्षम अदालत द्वारा पागल घोषित कर दिया गया हो। वह इच्छानुसार अपने लिए भी गोद ले सकती है। चूँकि हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियमानुसार नारी दायादा अखण्ड स्वामिनी बन गयी है, अत उसको दत्तक-ग्रहण का स्वतंत्र अधिकार मिलना स्वाभाविक ही है। वह चाहे तो बालक को गोद ले या बालिका को। धारा ११ (i) व (ii) के प्रकाश में इस धारा का मनन करने से यह भासित होता है कि नारी पुत्र को भी गोद ले सकती है और पुत्री को भी। जिस किसी को भी वह गोद लेगी वह औरसता का हक पायेगा। अतः गोद लिया हुआ व्यक्ति पति का भी पुत्र (या पुत्री) बन जायगा। इस स्थल पर

इस प्रश्न पर विचार करना वृथा है कि क्या इस प्रकार का दत्तक व्यक्ति पूर्वजों को आध्यात्मिक कल्याण पहुँचा सकेगा, क्योंकि यह शंका व्यवहारविधि के बाहर है।

धारा ९, दत्तक देने के लिए सक्षम व्यक्ति—(१) बालक के माता या पिता या संरक्षक के सिवा कोई व्यक्ति बालक को दत्तक देने की सामर्थ्य नहीं रखेगा।

(२) यदि पिता जीवित हो, तो उपधारा (३) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, केवल उसे ही दत्तक देने का अधिकार होगा, किन्तु जब तक कि माता ने पूर्ण रूप से और अन्तिम रूप से संन्यास नहीं ले लिया है, या वह हिन्दू नहीं रही है, या सक्षम क्षेत्राधिकार के किसी न्यायालय ने उसकी बाबत यह घोषित न कर दिया हो कि वह विकृत चित्त की है, ऐसा अधिकार माता की सम्मति के बिना प्रयोग में नहीं लाया जा सकेगा।

(३) यदि पिता मर चुका है या पूर्णरूप से और अन्तिम रूप से संन्यास ले चुका है या हिन्दू नहीं रहा है या सक्षम क्षेत्राधिकार के किसी न्यायालय ने उसकी बाबत यह घोषित कर दिया है कि वह विकृत चित्त का है, तो माता बालक को गोद दे सकेगी।

(४) जब कि माता और पिता दोनों मर चुके हैं या पूर्ण रूप से और अन्तिम रूप से संन्यास ले चुके है या सक्षम अधिकार के किसी न्यायालय ने उनकी बाबत यह घोषित कर दिया है कि वे विकृत चित्त के है, तो बालक का संरक्षक (चाहे वह वसीयती संरक्षक हो या किसी न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित सरक्षक हो) न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा से बालक को दत्तक दे सकेगा।

(५) न्यायालय किसी सरक्षक को उपधारा (४) के अधीन अनुज्ञा देने के पूर्व इस बात को ध्यान में रखकर कि बालक की आयु और समझ-बूझ कितनी है, दत्तक दिये जाने के सम्बन्ध में बालक की इच्छा पर विचार करके अपना यह समाधान कर लेगा कि दत्तक दिया जाना बालक के लिए कल्याणकर होगा या नहीं और दत्तक देने के प्रतिफलस्वरूप ऐसी किसी देन या पुरस्कार के सिवा, जैसी या जैसा न्यायालय मंजूर करे, कोई देन या पुरस्कार प्राप्त या प्राप्त करने के लिए करार न तो अनुज्ञा के लिए आवेदक ने की या किया है और न किसी व्यक्ति ने आवेदक को की है या दिया है और न ही करने या देने के लिए करार उससे किया है।

व्याख्या—इस धारा के प्रयोजनों के लिए—

(i) "माता" और "पिता" शब्दों के अन्तर्गत दत्तक-ग्रहीता माता और दत्तक-ग्रहीता पिता नहीं है, और

(ii) "न्यायालय" से ऐसा नगर व्यवहार न्यायालय या जिला न्यायालय अभिप्रेत है जिसके क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के अन्दर दत्तक लिया जाने वाला बालक मामूली तरह से निवास करता है।

इस धारा ने विषय-सम्बन्धी प्राचीन हिन्दू विधि में कोई खास रूपभेद या परिवर्तन नहीं किया है। इतना सुधार उसने अवश्य किया है कि माता-पिता के अभाव अथवा अक्षमता की दशा में बालक या बालिका के स्वार्थ का जिसमें ह्रास न होने पाये, इसलिए अदालत अपना समाधान कर लेने के बाद संरक्षक को गोद देने की अनुज्ञा दे सकती है। व्याख्या ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पालक माता-पिता दत्तक को गोद नही दे सकते हैं, क्योंकि एक ही व्यक्ति का दो बार पुत्रीकरण नही हो सकता। सौतेले माँ-बाप भी गोद देने के लिए सक्षम नही माने जा सकते। ऐसे व्यक्तिओं को अदालत की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार के आवेदन का निर्णय करने में शिशु के कल्याण का सर्वोपरि ध्यान अदालत को रखना चाहिए। उपधारा (५) में व धारा १७ में दत्तक-ग्रहण के निमित्त प्रतिदेय का लेना या देना या तय करना वर्जित है। किन्तु वह निषेध दत्तक-ग्रहण के पक्षकारों के लिए विहित है। ऐसे प्रतिदेय से लाभान्वित होना शिशु के लिए नही मना है।

धारा १०, दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति—उस सूरत के सिवा कोई व्यक्ति दत्तक लिये जाने के योग्य न होगा या होगी जिसमें कि निम्नलिखित शर्तें पूरी होती है, अर्थात्—

(i) वह हिन्दू है,

(ii) वह पहले से ही दत्तक नही लिया गया या ली गयी है,

(iii) जब तक कि पक्षकारों पर लागू होने वाली कोई ऐसी रूढि या प्रथा न हो, जो विवाहित व्यक्तियों का दत्तक लिया जाना अनुज्ञात करती है, वह विवाहित नही है,

(iv) जब तक कि पक्षकारो पर लागू होने वाली कोई ऐसी रूढि या प्रथा न हो, जो ऐसे व्यक्तियों का, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी कर ली है, दत्तक लिया जाना अनुज्ञात करती है, उसने पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी नहीं की है।

दत्तक विषयक प्राचीन कानून की इस शाखा पर प्रान्तीय हाई कोर्टों में जो पारस्परिक मतभेद था, उसको मिटाकर इस धारा ने एक सरल एवं एकसम नियम सारे भारत के लिए स्थापित कर दिया है। उसने कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये हैं। यथा कोई हिन्दू बिना जाति-प्रजाति के भेदभाव के गोद बैठा लिया जा सकता है। बालिका भी गोद बैठ सकती है। खण्ड (ii) तो प्राचीन नियम को ही दोहराता

है। खण्ड (iii) व (iv) पारस्परिक विरोधी मतों का सन्तुलन करके एकरूपता को प्रतिष्ठित करते हैं, और साथ ही प्रथा को आधिपत्य प्रदान करते हैं। प्राचीन कानून में पुत्री के पुत्र, बहन के पुत्र, मौसी के पुत्र दत्तक-ग्रहण के लिए प्रतिबद्ध नातेदार माने जाते थे। अब ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध प्रयोज्य नहीं रहा है।

धारा ११, मान्य दत्तक-ग्रहण की अन्य शर्तें—प्रत्येक दत्तक-ग्रहण में निम्नवर्ती शर्तें पूरी होनी चाहिए—

(i) यदि दत्तक-ग्रहण पुत्र का है, तो जिस पिता या माता ने दत्तक-ग्रहण किया है उस दत्तक-ग्रहीता पिता या माता का कोई हिन्दू पुत्र, पुत्र का पुत्र या पुत्र के पुत्र का पुत्र (चाहे वह औरस—रक्त नातेदारी से हो या दत्तक-ग्रहण से) दत्तक-ग्रहण के समय जीवित न हो;

(ii) यदि दत्तक-ग्रहण पुत्री का है, तो जिस पिता या माता ने दत्तक-ग्रहण किया है उस दत्तक-ग्रहीता पिता या माता की कोई हिन्दू पुत्री या पुत्र की पुत्री (चाहे वह औरस—रक्त नातेदारी से हो या दत्तक-ग्रहण से) दत्तक-ग्रहण के समय जीवित न हो।

(iii) यदि दत्तक-ग्रहण किसी पुरुष द्वारा किया जा रहा है और दत्तक-ग्रहीत व्यक्ति नारी है, तो दत्तक-ग्रहीता पिता दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति से आयु में कम से कम इक्कीस वर्ष बड़ा होना चाहिए,

(iv) यदि दत्तक-ग्रहण किसी नारी द्वारा किया जा रहा है और दत्तक-ग्रहीत व्यक्ति पुरुष है, तो दत्तक-ग्रहीता माता दत्तक लिये जाने वाले व्यक्ति से आयु में कम से कम इक्कीस वर्ष बडी होनी चाहिए,

(v) एक ही बालक एक साथ दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा दत्तक नहीं लिया जा सकेगा,

(vi) दत्तक लिया जाने वाला बालक सम्पृक्त जनकों या संरक्षक द्वारा या उनके प्राधिकार के अधीन अपने जन्म के परिवार से अपने दत्तक-ग्रहण वाले परिवार को हस्तान्तरित करने के आशय से वास्तव में दत्तक लिया और दिया जाना चाहिए।

परन्तु दत्तक-होम किया जाना किसी दत्तक-ग्रहण की मान्यता के लिए आवश्यक नहीं होगा।

खण्ड १ के प्रकरण १५ में दत्तक-ग्रहण के उद्देश्य बताये गये हैं। चूँकि औरस पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र का अस्तित्व दोनों (लौकिक, पारलौकिक या आध्यात्मिक) उद्देश्यों की पूर्ति करने वाला होता है, अतः इन आत्मजों की विद्यमानता पुत्रीकरण का निषेध करती है। इसी पुरातन नियम की खण्ड (i) में पुनरुक्ति की गयी है। खण्ड

(i) वाला नियम दोनों दशाओं मे प्रयोज्य है; चाहे दत्तक-ग्रहण पुरुष करे या स्त्री। इस खण्ड मे उपरोक्त आत्मजों से संलग्न शब्द "हिन्दू" है। आशय यह है कि यदि वे आत्मज विधर्मी हो चुके है, अथवा सन्यास ले चुके हैं, तो उनका मात्र कायिक अस्तित्व पुत्रीकरण को अकृत नहीं करेगा। इसी खण्ड मे कोष्ठक से घिरा जो वाक्य "चाहे वह औरस नातेदारी से हो या दत्तक-ग्रहण से" आया है, उसका आशय यह है कि जारज आत्मजों का अस्तित्व पुत्रीकरण का बाधक नही होता। किन्तु ऐसी जारज सन्तति की विद्यमानता बाधक हो जायगी, जिस पर "हिन्दू मैरेज ऐक्ट १९५५" की धारा १६ लागू हो, क्योंकि उस धारा के प्रभाव से वह औरस के बराबर मानी जाती है। फिर भी यदि वह या दत्तक विधर्मी या सन्यासी हो चुके हों तो विपरीत परिणाम पैदा होगा। इस खण्ड में पुत्री या पौत्री (औरस या दत्तक) की विद्यमानता पुत्र के दत्तकग्रहण मे बाधक नहीं हो सकती। नवीन कानून पुत्र व पुत्री के एक साथ पुत्रीकरण को वर्जित नही करता। औरस पुत्र के होते हुए भी हिन्दू पुत्री को गोद ले सकता या ले सकती है; विलोमतः औरस या दत्तक पुत्री के होते हुए भी हिन्दू पुत्र को गोद ले सकता या सकती है।

खण्ड (ii) पूर्वगामी खण्ड के तद्रूप है। हिन्दू पुत्री को गोद तभी ले सकता या सकती है, जब उसकी पुत्री या पौत्री (औरस या दत्तक) जीवित न हो। पुत्र-पौत्री की विधर्मता और सन्यास (ससार-त्याग) का वही प्रभाव होता है जो मृत्यु का। "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा १६ भी अपना वही प्रभाव रखती है जो ऊपर कहा गया है। अन्यथा जारज पुत्री-पौत्री की विद्यमानता पुत्रीकरण में बाधक नहीं हो सकती।

खण्ड (iii) व (iv) नितान्त नवीन नियम है। दोनों खण्ड आयु मे इक्कीस वर्ष के अन्तर को नियत करते है। यह अन्तर निरंकुश लगता है। कोई हेतु या सिद्धान्त दिखाई नही पड़ता।

खण्ड (v) प्राचीन नियम की पुनरुक्ति है। यह द्वयामुष्यायण को वर्जित करता है। इसमें प्रयुक्त "बालक" शब्द के अन्तर्गत बालिका भी माननी चाहिए।

खण्ड (vi) एक तरफ तो इस प्राचीन नियम की पुनरुक्ति करता है कि हस्तान्तरण के आशय से दत्तक का लेना और देना पुत्रीकरण की सारभूत और अनुपेक्ष्य क्रिया होती है, दूसरी तरफ इस प्राचीन नियम का विखण्डन करता है कि दत्तक-हवन एक अनिवार्य अनुष्ठान या धार्मिक कर्मकाण्ड है। जनक एवं पालक माता-पिता की स्वतंत्र सम्मति को विधिपूर्ण दत्तक-ग्रहण का अभिन्न अंग समझना चाहिए और उसी प्रकार से एक ऐसे ग्राह्य दत्तक व्यक्ति की सम्मति को भी, जो सदसद् विवेक प्राप्त कर चुका है।

धारा १२, दत्तक-ग्रहण के परिणाम—दत्तक-ग्रहीत बालक की बाबत यह समझा जायगा कि दत्तक-ग्रहण की तारीख से वह अपने दत्तक-ग्रहीता पिता या माता का समस्त प्रयोजनों के लिए बालक है और यह समझा जायगा कि उस बालक के अपने जन्म के परिवार के साथ के समस्त सम्बन्ध ऐसी तारीख से टूट गये हैं और उनका स्थान उन सम्बन्धों ने ले लिया है जो कि दत्तक-ग्रहीता परिवार में दत्तक-ग्रहण के कारण सृष्ट हुए है।

परन्तु—

(क) यह बालक किसी ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह नही कर सकेगा जिससे कि यदि वह अपने जन्म के परिवार मे ही बना रहा होता तो वह विवाह न कर सकता।

(ख) जो कोई सम्पत्ति दत्तक लिये गये बालक मे दत्तकग्रहण के पूर्व निहित हो गयी थी, अपने जन्म के परिवार के नातेदारों के भरण-पोषण करने के आभार सहित ऐसे आभारों के अधीन रहते हुए, यदि कोई हों, जो कि ऐसी सम्पत्ति के स्वामित्व से संलग्न है, ऐसे व्यक्ति मे निहित बनी रहेगी।

(ग) जो सम्पदा किसी व्यक्ति मे दत्तकग्रहण के पूर्व निहित हो गयी है, दत्तक बालक किसी व्यक्ति को उस सम्पदा से अनिहित नही करेगा।

यह एक कानूनी कल्पना है कि पुत्रीकरण की मिति से जनक-परिवार के साथ दत्तक के सारे बन्धन टूट जाते है और पालक परिवार के साथ जुड़ जाते हैं। अतः दत्तक अपने पालक माता-पिता के औरस पुत्र की पदवी "समस्त प्रयोजनों के लिए" प्राप्त कर लेता है। यह एक व्यापक नियम है, जैसा कि प्रकरण १५ (खण्ड १) में बताया जा चुका है। उसी प्रकरण मे इसके अपवाद भी बताये गये थे। इस धारा ने उन अपवादों को निराकृत कर दिया है और समस्त प्रयोजनों के लिए दत्तक को औरस के समान कर दिया है। उत्तराधिकार एवं विभाजन ही सामान्यतः मुख्य प्रयोजन होते है।

"हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा ३ की व्याख्या और धारा ५ के खण्ड (iv) व (v) ने प्रतिषिद्ध डिग्रियों एव सपिण्ड नातेदारी के निषेधों को औरस की तरह दत्तक पर भी लागू कर दिया है। उसी नियम को इस धारा के परन्तुक के खण्ड (क) में समाहित किया गया है। परन्तुक का खण्ड (ख) दायभाग के इस नियम को समाहित करता है कि जो सम्पत्ति उत्तराधिकार के द्वारा, हिवा के द्वारा, स्वयमर्जन के द्वारा दत्तक-ग्रहण के पूर्व दत्तक में निहित हो चुकी थी, वह पुत्रीकरण के फलस्वरूप वियुक्त नहीं होगी। मिताक्षरा-प्रशासित प्रदेशों में इस प्रश्न पर जो थोड़ा-बहुत मतभेद था, उसको मिटाकर इस खण्ड ने सारे देश के निमित्त एक समानरूप वाले नियम को विहित कर दिया

है। सम्पदा वियुक्त तो नहीं होगी, किन्तु वह भरण-पोषण के भार से विमुक्त भी नहीं हो सकती जो उससे संलग्न रहा हो।

प्रकरण १५ में सविस्तर बताया गया था कि पुत्रीकरण के फलस्वरूप किन दशाओं में दूसरों में निहित हो चुकी हुई सम्पदा निहित बनी रहेगी और किन दशाओं में वह अनिहित हो जायगी। उन नियमों की विविधता से जो कठिनाइयाँ पैदा हो जाती थीं वे भी बतलायी गयी थीं। नियमों को सरल एवं एकरूप बनाकर उन कठिनाइयों के निवारणार्थ इस धारा के परन्तुक (ग) की रचना की गयी है। दत्तक-ग्रहण के पूर्व जो सम्पदा अन्य व्यक्तियों में निहित हो चुकी है उसको दत्तक पुत्र या दत्तक पुत्री वियुक्त नहीं कर सकते। अर्थात् वह सम्पत्ति जहाँ पहुँच चुकी थी वहीं की हो गयी। खण्ड (ग) के अंग्रेजी रूप में क्रिया "शैल नाट डाइवेस्ट" का प्रयोग हुआ है जो समाज्ञापक है, विवेकात्मक नहीं है। हिन्दी रूप में भी "अनिहित नहीं करेगा" शब्दों का प्रयोग इसी बाध्यकर आशय को व्यक्त करता है। याद रहे कि यह खण्ड दत्तक के उन हकों को प्रभावित नहीं करता जो उसको संयुक्त सम्पदा के हस्तान्तरण को उत्सादित कराने के विषय में हों।

धारा १३, दत्तक-ग्रहीता जनकों को अपनी सम्पत्तियों के व्यय का अधिकार— किसी दत्तक-ग्रहीता माता या पिता की जो शक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने जीवनकाल में इच्छापत्र से या हस्तान्तरण द्वारा व्ययित करने की है, उससे प्रतिकूल करार के अधीन रहते हुए वे दत्तक-ग्रहण से वंचित नहीं हो जाते।

यह प्राचीन नियम था कि पालक माता-पिता दत्तक-ग्रहण के फलस्वरूप अपनी निजी सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने या उसकी वसीयत लिखने के अधिकार से वंचित नहीं होते। मिताक्षरा का यह नियम भी स्मरणीय है कि संयुक्त परिवार का सदस्य जब गोद ले लेता है तो दत्तक को औरस की भाँति हस्तान्तरण को उत्सादित कराने का हक पैदा हो जाता है। यह धारा उन प्राचीन नियमों में कोई हेर-फेर नहीं करती है। यह स्पष्टतया यह भी विहित करती है कि यदि दत्तकग्रहण वाले पक्षकारों के बीच कोई अनुबन्ध उक्त अधिकार के विषय में हो गया हो, तो पालक माता-पिता उस इकरार से बद्ध होते है।

धारा १४, कुछ अवस्थाओं में दत्तक-ग्रहीता माता का अवधारण— (१) जहाँ कि वह हिन्दू, जिसकी पत्नी जीवित है, किसी बालक का दत्तक-ग्रहण करता है वहाँ उसकी पत्नी दत्तक-ग्रहीता माता समझी जाती है।

(२) जहाँ कि दत्तक-ग्रहण एक से अधिक पत्नियों की सम्मति से किया गया है वहाँ

उनमें से सबसे पूर्व विवाहित दत्तक-ग्रहीता माता समझी जायगी और अन्य सौतेली माता समझी जायेंगी।

(३) जहाँ कि विधुर या कुमार किसी बालक का दत्तक-ग्रहण करता है, वहा ऐसी कोई पत्नी, जिससे वह तत्पश्चात् विवाह करता है, दत्तक बालक की सौतेली माता समझी जायगी।

(४) जहाँ कि विधवा या अविवाहित नारी किसी बालक का दत्तक-ग्रहण करती है, वहाँ वह पति, जिससे वह तत्पश्चात् विवाह करती है, दत्तक बालक का सौतेला पिता समझा जायगा।

यह धारा कोई बड़ा महत्व नहीं रखती है। उपधारा (१) हिन्दू ला के इस सामान्य नियम को समाहित करती है कि पालक पिता की पत्नी दत्तक शिशु की पालक माता वन जाती है। उपधारा (२) की उपादेयता अब क्या है, क्योंकि बहु-विवाह तो वर्जित हो चुका है। सबसे जेठी पत्नी को पालक माता की पदवी एवं हक मिलेंगे। अन्य पत्नियों का पदवी सौतेली माता की और हक सौतेली माँ के समान मिलेंगे। उपधारा (३) व (४) उस दशा के लिए उपबन्ध करती हैं जब पति-रहित या पत्नीरहित व्यक्ति दत्तक-ग्रहणानन्तर अपना विवाह अनुष्ठित कर ले। यदि दत्तक-ग्रहीता व्यक्ति पुरुष हैं, तो पर-विवाहिता पत्नी दत्तक की पालक-माता की नहीं, मात्र सौतेली माता की पदवी पायेगी। यदि दत्तक-ग्रहीता व्यक्ति नारी हो, तो पर-विवाहित पति दत्तक के पालक-पिता की नही, मात्र सौतेले पिता की पदवी पायेगा। इस धारा का महत्व तब प्रतीत होता है, जब उक्त प्रकार के माता या पिता के मरने के अनन्तर, उसके उत्तराधिकार के प्रश्न का अवधारण करना पड़ता है। यह महत्व हृदयंगम कराने के लिए माननीय मुल्ला प्रणीत "हिन्दू ला" (१२वाँ सं०) के पृष्ठ १०७७ में दिये हुए निम्नोक्त दृष्टान्त साहाय्यप्रद होंगे।

(१) एक विधुर **अ** पहले **क** को दत्तक लेता है और फिर **ख** को पत्नी बनाता है। **ख** के मरने के बाद "हि० सक्सेशन ऐक्ट" की धारा १५ (१) (क) के अनुसार **क** और **अ** उसके दायाद होते; यदि **ख** **क** की सगी या पालक माता होती। किन्तु सौतेली माता होने के कारण **ख** का दायाद **क** नहीं होगा। पति के नाते **ख** का एकल उत्तराधिकारी **अ** बन जायगा।

(२) एक कुमारी स्त्री **अ** पहले **क** को अपनी दत्तक-पुत्री के रूप में गोद लेती है और फिर **ख** से ब्याह कर लेती है। **अ** के एक पुत्र **ग** पैदा होता है और तब **ख** मर जाता है। **ख** न तो सगा और न पालक पिता है **क** का। वह **क** का केवल सौतेला

पिता है। अतः ख की उत्तराधिकारी क नहीं है। ख की सारी सम्पत्ति अ और ग को मिलेगी।

धारा १५, मान्य दत्तक-ग्रहण अपखण्डित न किया जायगा—जो दत्तक-ग्रहण मान्यतापूर्वक किया गया है वह दत्तक-ग्रहीता माता या पिता द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपखण्डित नहीं किया जा सकेगा और न दत्तक बालक या बालिका अपनी ऐसी हैसियत को छोड़ सकेगा या सकेगी और न अपने जन्म के परिवार मे वापस जा सकेगा या सकेगी।

ज्ञातव्य है कि दत्तक-भग का निषेध मान्यतापूर्वक किये गये दत्तक-ग्रहण पर लागू होगा, न कि अवैध पुत्रीकरण पर। दत्तक पुत्र या पुत्री के अपने जनक परिवार के साथ सारे बन्धन और ग्रन्थियाँ विघटित होने के बाद फिर नही जुड़ सकते, चाहे जितनी प्रबल आकांक्षा किसी को क्यों न हो, चाहे जितना प्रयास बन्धनों को जोड़ने का कोई क्यों न करे। उसी तरह से पालक परिवार के साथ उसके बन्धन इतनी दृढता से जकड़ जाते है कि फिर तोड़े नही टूटते और खोले नही खुलते। यह अखण्डनीयता नातेदारी से सलग्न होती है, न कि सम्पत्ति के स्वामित्व से। और प्रभुओं की भाँति, एक दत्तक व्यक्ति भी पायी हुई सम्पत्ति से मुँह मोड़ सकता है, उसका अध्यर्पण कर सकता है। प्राचीन नियम भी एतद्वत् थे।

धारा १६, दत्तक-ग्रहण से सम्बद्ध रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों के सम्बन्ध में उपधारणा—जब कभी तत्समय-प्रवृत्त विधि के अधीन रजिस्ट्रीकृत ऐसा कोई दस्तावेज, जिसकी बाबत यह प्रकटतः अभिप्रेत है कि वह किये गये दत्तकग्रहण का अभिलेख है और वह दत्तक रूप से बालक को देने व लेने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित है, किसी न्यायालय के समक्ष पेश किया जाय, तब न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि जब तक और यदि दत्तकग्रहण असिद्ध न कर दिया जाय, वह इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुवर्तन में किया गया है।

धारा के अंग्रेजी रूप मे पूर्व-धारणा की क्रिया को "शैल" के साथ जोड़ा गया है। सहायक क्रिया "शैल" की सलग्नता मूल क्रिया को अनुपेक्ष्य बल प्रदान कर देती है। अर्थात् निदेशित पूर्व-धारणा करने के लिए अदालत बद्ध होती है। पुत्रीकरण की रजिस्ट्री कराना बाध्यकर नही है। तथापि उसकी उपादेयता सन्देहातीत है, जैसा कि इस धारा में प्रदर्शित किया गया है। रजिस्ट्री दस्तावेज को देखकर अदालत को यह पूर्व-धारणा कर लेनी पड़ जाती है कि पुत्रीकरण मे इस अधिनियम द्वारा विहित विधि एवं नियमों का पालन व समनुरूपण किया गया है। रजिस्ट्री दस्तावेज से दत्तकग्रहण का प्रमाण सुकर व सुगम पड़ जाता है; क्योंकि अन्यथा, सामान्य उत्तराधिकारी क्रम में विक्षोभ

तथा व्यवधान पैदा करने वाली दत्तक-प्रणाली का कठोर व त्रुटि-रहित प्रमाण अभीप्सित होता है। किन्तु यह न होगा कि रजिस्ट्री-कृत दस्तावेज वस्तुतः गोद लेने व देने के प्रमाण से किसी को अभिमुक्त कर सकता है।

धारा १७, कुछ देनों का प्रतिषेध—(१) किसी व्यक्ति के दत्तक-ग्रहण के प्रतिफल-स्वरूप कोई देन या अन्य पुरस्कार कोई व्यक्ति न तो प्राप्त करेगा और न प्राप्त करने के लिए करार करेगा, और न ही कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को कोई ऐसी देन करेगा या पुरस्कार देगा या करने या देने के लिए करार करेगा जिसका प्राप्त करना इस धारा द्वारा प्रतिषिद्ध है।

(२) यदि कोई व्यक्ति उपधारा (१) के उपबन्धों का उल्लंघन करता है तो वह ऐसे कारावास से, जो छः मास तक का हो सकेगा, या जुर्माने से या दोनों से दण्डनीय होगा।

(३) इस धारा के अधीन कोई अभियोजन राज्य सरकार की या राज्य सरकार द्वारा तन्निमित्त प्राधिकृत किसी प्राधिकारी की पूर्व स्वीकृति के बिना संस्थित न किया जायगा।

लोककल्याण नीति के सिद्धान्त पर बाल-बच्चों का क्रय-विक्रय अवांछनीय होता है। लोभग्रस्त माता-पिता दण्ड के भय से दत्तक-ग्रहण में सौदेबाजी न करें इसी अभिप्राय से इस धारा की रचना की गयी है।

अध्याय ३

भरण-पोषण

धारा १८, पत्नी का भरण-पोषण—(१) हिन्दू पत्नी, चाहे वह इस अधिनियम के आरम्भ के पूर्व या पश्चात् ब्याही गयी हो, अपने जीवन काल में अपने पति से भरण-पोषण पाने के लिए हकदार इस धारा के अधीन रहते हुए होगी।

(२) हिन्दू पत्नी अपने भरण-पोषण के अपने दावे को खोये बिना अपने पति से पृथक् रहने के लिए उस सूरत में हकदार होगी जिसमें कि,—

(क) उसका पति अभित्यजन का, अर्थात् युक्तियुक्त कारण के बिना और उसकी सम्मति के बिना या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका परित्याग करने का या कामतः उसकी उपेक्षा करने का दोषी है,

(ख) उसका पति उसके साथ ऐसी क्रूरता का व्यवहार कर चुका है जिससे उसके अपने मन में इस बात की युक्तियुक्त आशंका पैदा हो गयी है कि मेरे लिए अपने पति के साथ रहना अपहानिकर या क्षतिकारक होगा,

(ग) उसका पति उग्र कुष्ठ से पीड़ित है,
(घ) उसके पति की कोई अन्य पत्नी जीवित है,
(ङ) उसका पति उसी मकान में, जिसमें उसकी पत्नी निवास करती है, कोई उप-पत्नी रखता है या किसी उपपत्नी के साथ अन्य किसी स्थान में निवास करता है,
(च) उसका पति कोई अन्य धम ग्रहण करने के कारण हिन्दू नही रहा है,
(छ) उससे पृथक् होकर रहने को न्यायानुमत करने का कोई अन्य कारण है।
(३) यदि कोई हिन्दू पत्नी असती है या किसी अन्य धर्म को ग्रहण करने के कारण हिन्दू नही रहती है, तो वह अपने पति से पृथक् निवास करने और भरण-पोषण प्राप्त करने की हकदार नहीं होगी।

पत्नी का भरण-पोषण करना हिन्दू पति का एक वैधिक कर्तव्य है, जो पति-पत्नी के नाते से ही उत्पन्न एव सम्पत्ति के स्वामित्व से स्वतंत्र होने के कारण उसका व्यक्तिगत कर्तव्य माना गया है। उपधारा (३) से विदित होता है कि पत्नी का यह हक अनपेक्ष नहीं होता, किन्तु उसके सतीत्व और हिन्दुत्व को सुरक्षित रखने पर आश्रित रहता है। हिन्दुत्व इस व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है कि वह व्यक्ति हिन्दू है, जो अपने को हिन्दू कहे और जो ईसाई, मुस्लिम, पारसी, यहूदी न हो। पत्नी वह स्त्री है जिसके साथ विधिपूर्ण विवाह अनुष्ठित हुआ है और वह तब तक पत्नी बनी रहती है जब तक आपस में या तो तलाक न हो जाय, या शून्य अथवा शून्यकरणीय होने के आधार पर विवाह अकृत न हो जाय।

निवासाधिकार और भरणाधिकार सामान्यतः संयुक्त होकर पत्नी में अवस्थित रहते है। पति के साथ ही रहकर वह भरण (३—ख) पोषण प्राप्त कर सकती है। किन्तु कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जब सम्मिलित निवास के ऊपर आग्रह करना न्याय एवं औचित्य के प्रतिकूल पड़ता है। उन अवस्थाओं का विवरण उपधारा (२) में दे दिया गया है। छः विशेष कारण और एक व्यापक या अवशिष्ट कारण उल्लिखित किये गये हैं। अविशिष्ट या व्यापक कारण २ (छ) है एवं २ (क) से (च) तक विशेष कारण हैं।

खण्ड (क) में अभित्यजन की चर्चा है और उसकी व्याख्या भी है। व्याख्या इन शब्दों में की गयी है कि "युक्तियुक्त कारण के बिना और उसकी (पत्नी की) सम्मति के बिना, या उसकी (पत्नी की) इच्छा के विरुद्ध उसका परित्याग" एवं पत्नी की आशासित उपेक्षा ही अभित्यजन कहलाता है। अभित्यजन स्थान विशेष से उतना सम्बद्ध नहीं है जितना अवस्थितिविशेष से। यह शब्द पति-पत्नी के पारस्परिक व्यवहार और मनोवृत्ति को व्यक्त करता है। सन् १९५५ वाले "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा १० (क) में भी यह शब्द आया है।

"हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा १० (ख) की भाषा वही है जो इस धारा के **खण्ड (ख)** की। "क्रूरता" की टिप्पणी वहीं पर द्रष्टव्य है। हि० मै० ऐक्ट धारा १० (ग) और इस धारा के **खण्ड (ग)** में समानत। तो यह है कि कुष्ठ रोग को दोनों में विकराल रूप का होना चाहिए। दोनों खण्डों में अन्तर यह है कि न्यायिक पृथक्करण के लिए रोग कम से कम एक साल पुराना होना चाहिए। किन्तु इस धारा वाले हक के लिए रोग की विद्यमानता ही पर्याप्त समझी जायगी। कारण यह है कि वह उपचार इस उपचार से कठोरतर है। "हिन्दू मैरेज ऐक्ट" की धारा १३ (२) हिन्दू पत्नी को जिस आधार पर तलाक तक दे देने का हक देती है, उसी आधार पर इस धारा का **खण्ड (घ)** पत्नी को अलग रहकर भी भरण-पोषण पाने के लिए अधिकृत करता है। पत्नियों के विभिन्न स्वभाव होते हैं। सौतिया डाह की उग्रतानुसार एक पत्नी पृथक् निवास समेत भरण-पोषण से ही सतोष कर लेती है और दूसरी पत्नी बिना तलाक दिये शान्ति लाभ नहीं करती। **खण्ड (ङ)** का प्रयोग उसी दशा में हो सकता है जब पति का उपपत्नी के साथ कुसम्पर्क प्रकोपकारी प्रकार का हो, अर्थात् अपने घर में या अन्यत्र दोनों पतित जीवन में निरत रहकर पत्नी की उपेक्षा करते हों। यदि उपपत्नी के साथ संसर्ग संतापकारी या खुल्लम-खुल्ला रूप का न हो तो यह खण्ड अप्रयोज्य हो जायगा। **खण्ड (च)** तब प्रयोज्य होगा, जब विहित रीति व कर्मकाण्ड समेत एक हिन्दू विधर्म (मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी) में प्रविष्ट हो गया हो। **खण्ड (छ)** से वे कारण निर्दिष्ट समझे जाने चाहिए जो दाम्पत्याधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए सामान्यतः समुचित होते है।

धारा १९, विधवा पुत्र-वधू का भरण-पोषण—(१) कोई हिन्दू पत्नी, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व या पश्चात् विवाहित हो, अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने श्वशुर द्वारा भरण-पोषण के लिए हकदार होगी;

परन्तु यह तब और उस विस्तार तक जहाँ तक कि वह स्वयं अपने अर्जन से या अन्य सम्पत्ति से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है या, जहाँ कि उसके पास अपनी स्वयं की कोई सम्पत्ति नहीं है, वह—

(क) अपने पति या अपने पिता या माता की सम्पदा से, या

(ख) अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हो, या उसकी सम्पदा से, भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ है।

(२) यदि श्वशुर के अपने कब्जे की ऐसी समांशिता सम्पत्ति से, जिसमें से पुत्र-वधू को कोई अंश अभिप्राप्त नहीं हुआ है, श्वशुर के लिए ऐसा करना साध्य नहीं है,

तो उपधारा (१) के अधीन किसी आभार का अनुपालन नहीं कराया जा सकेगा और ऐसा कोई आभार पुत्र-वधू के पुनर्विवाह पर न रहेगा ।

सन् १९३७ वाले "हिन्दू विमेन्स राइट्स टु प्रापर्टी ऐक्ट" के अनुसार विधवा पुत्रवधू को सयुक्त सम्पत्ति का बटवारा करा पाने का हक हो गया था। किन्तु व्यवहारतः वह इस हक का प्रयोग न कर अपने पति के कुटुम्बियो से भरण-पोषण ही प्राप्त करके सतुष्ट रहती थी। सन् १९५५ वाले "हिन्दू सक्सेक्शन ऐक्ट" ने विधवा पुत्रवधू को भी धारा ८ मे पूर्ण स्वामित्व के साथ अनुसूची के वर्ग (१) की दायादा बना दिया है। उसी अधिनियम की धारा (६) ने उसको मिताक्षरा वाली समांशिता की सम्पत्ति में अपने पति (या श्वशुर) के हित वाले एक अश की भागिनी भी बना दिया है; यह कल्पित करके कि उसके पति (या श्वशुर) के जीवनकाल मे ही समांशिता विघटित हो चुकी थी। इन नये उपबन्धों ने विधवा पुत्रवधू की स्थिति का वहुत कुछ उत्थान कर दिया है और उसकी परावलम्बिता को मिटा दिया है। उपरोक्त धारा १९ यह विहित करती है कि यदि विधवा पुत्रवधू अपने मृत पति की या अपने जनक-जननी की सम्पत्ति से, अथवा अपने पुत्र-पुत्रियों से या उनकी सम्पत्ति से भरण-पोषण प्राप्त करने मे असफल रही हो, तो (केवल इन दो अवस्थाओं मे) वह अपने श्वशुर के सामने भरण-पोषण के निमित्त हाथ फैला सकेगी। इन सूरतों में वह श्वशुर से माँग तो कर सकेगी, किन्तु क्या वह माँग की पूर्ति करने को विवश भी होगा ? हर सूरत में नही। वह केवल इस सूरत में विवश होगा जब, उसके कब्जे में समांशिता वाली ऐसी सम्पत्ति आ गयी हो, जिसमें का अश, भागार्थिनी होने के बावजूद, उस (विधवा पुत्रवधू) को किसी कारणवश न मिला हो और उस सम्पत्ति की आय इस दायित्व को पूरा करने के लिए समुचित भी हो। ऐसी पुत्रवधू अपने श्वशुर के विरुद्ध उपरोक्त हक पा लेने के बाद भी उससे हाथ धो बैठती है, यदि वह दूसरा पति कर ले।

धारा २०, बालकों और वृद्ध जनकों का भरण-पोषण—(१) इस धारा के उपबन्धों के अधीन रहते हुए कोई हिन्दू, अपने जीवनकाल के अभ्यन्तर अपने औरस या जारज बालकों और वृद्ध या दुर्बल जनकों का भरण-पोषण करने के लिए बाध्य है।

(२) जब तक कि कोई औरस या जारज बालक अवयस्क रहे वह अपने पिता या माता से भरण-पोषण पाने के लिए दावा कर सकेगा।

(३) अपने वृद्ध या दुर्बल जनकों का या किसी पुत्री का, जो अविवाहित हो, भरण-पोषण करने के किसी व्यक्ति के आभार का विस्तार वहाँ तक होगा जहाँ तक

कि जनक या अविवाहित पुत्री, यथास्थिति, स्वयं अपने उपार्जनों या अन्य सम्पत्ति से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है।

व्याख्या—इस धारा में "जनक" के अन्तर्गत निःसन्तान सौतेली माता भी है।

खण्ड १ के प्रकरण १६ में आ चुका है कि माता-पिता, पत्नी, शिशुओं का भरण-पोषण करना हिन्दू पुरुष का नित्य धर्म और व्यक्तिगत कर्तव्य एवं वैधिक दायित्व होता है। यह प्राचीन कानून आज भी वैसा ही बना हुआ है। नवीन कानून में हिन्दू नारी भी अखण्ड स्वामित्व धारण कर सकती है, सम्पत्ति में भाग पा सकती है, विभाजन करा सकती है। नवीन समाज में नारी भी आत्मनिर्भर होती है। इसलिए इस धारा के "हिन्दू" शब्द से यह आशय ध्वनित होता है कि पुरुष व नारी दोनों ही भरण-पोषण के भार से भारित हैं। प्राचीन काल में जनकों की वयोवृद्धता और दुर्बलता को भरण-पोषण के कर्तव्य का आधार नही माना जाता था। उस कर्त्तव्य को पिता-पुत्र के नाते से ही समुदभूत समझा जाता था। इस युग के समाजशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि समर्थ शरीरधारी नर-नारी अपने परिश्रम का योगदान राष्ट्रीय उत्पादन में करते रहें, अर्थात् प्रत्येक वयस्क अपने भरण-पोषण का अर्जन करता रहे। इसलिए उपधारा (१) में "जनकों" के साथ दो विशेषण "वृद्ध" और "दुर्बल" संयुक्त किये गये हैं।

प्राचीन हिन्दू ला में जारज पुत्री के भरण-पोषण का उपबन्ध नही था और जारज पुत्र के भरण-पोषण के कर्तव्य के विषय में मतान्तर था। इस धारा ने सरल और समान नियम सारे देश के लिए और पुत्र-पुत्री दोनों के भरण-पोषण के लिए रच दिये हैं। व्याख्या ने स्पष्ट रूप से निःसन्तान सौतेली माता को "जनक" के अन्तर्गत रख दिया है। इससे विदित होता है कि पालक माता-पिता तो प्रतिपाल्य वर्ग में आ जायेंगे, क्योंकि सौतेली माँ से वे लोग अधिक घनिष्ठ होते हैं, किन्तु सौतेला पिता प्रतिपाल्य नहीं है, अन्यथा व्याख्या में वह छूटा न होता।

धारा २१, आश्रितों की परिभाषा—इस अध्याय के प्रयोजनों के लिए "आश्रितों" से मृतक के निम्नलिखित नातेदार अभिप्रेत हैं—

(i) उसका पिता,

(ii) उसकी माता,

(iii) जब तक कि पुनर्विवाह नहीं करती तब तक उसकी विधवा,

(iv) तब तक उसका पुत्र, या उसके पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र, या उसके पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र का पुत्र; जब तक कि वह अवयस्क रहे, परन्तु यह तब तक जब कि और उस विस्तार तक जहाँ तक कि वह पौत्र की

अवस्था में अपनी माता या पिता की सम्पदा से और प्रपौत्र की अवस्था में अपने पिता या माता की या पितामह या पितामही की सम्पदा से, भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ है,

(v) तब तक उसकी अविवाहित पुत्री, या उसके पूर्व-मृत पुत्र की अविवाहित पुत्री, या उसके पूर्व-मृत पुत्र के पूर्व-मृत पुत्र की अविवाहित पुत्री; जब तक कि वह अविवाहित रहती है, परन्तु यह तब जब कि और उस विस्तार तक जहाँ तक कि वह पौत्री की स्थिति में अपने पिता या माता की सम्पदा से और प्रपौत्री की अवस्था में अपने पिता या माता या पितामह या पितामही की सम्पदा से, भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ है,

(vi) उसकी विधवा पुत्री, परन्तु यह तब जब कि और उस विस्तार तक जहाँ तक कि वह—

(क) अपने पति की सम्पदा से, या

(ख) अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हो, या उसकी सम्पदा से, या

(ग) अपने श्वशुर या उसके पिता से, या उनमें से किसी की सम्पदा से, भरणपोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ है,

(vii) तब तक उसके पुत्र या पूर्व-मृत पुत्र की विधवा, जब तक कि वह पुनर्विवाह नहीं करती, परन्तु यह तब जब कि और उस विस्तार तक जहाँ तक कि वह अपने पति की सम्पदा से, या अपने पुत्र या पुत्री से, यदि कोई हों, या उनकी सम्पदा से या पौत्र की विधवा की स्थिति में अपने श्वशुर की सम्पदा से भी भरण-पोषण अभिप्राप्त करने में असमर्थ है,

(viii) तब तक उसका अवयस्क जारज पुत्र, जब तक कि वह पुत्र अवयस्क रहता है,

(ix) तब तक उसकी अवयस्क जारज पुत्री, जब तक कि वह अविवाहित रहती है।

धारा २२, आश्रितों का भरण-पोषण—(१) मृत हिन्दू के दायाद मृतक से दाय में अपने को प्राप्त सम्पदा से मृतक के आश्रितों का उपधारा (२) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए भरण-पोषण करने के लिए बाध्य हैं।

(२) जहाँ कि आश्रितने इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् मृत हिन्दू की सम्पदा मे कोई अश वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा अभिप्राप्त नहीं किया

है, वहाँ इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन रहते हुए वह आश्रित उन व्यक्तियों से भरण-पोषण प्राप्त करने का हकदार होगा जो कि सम्पदा लेते हैं।

(३) जो व्यक्ति सम्पदा लेते हैं उनमें से प्रत्येक का दायित्व अपने द्वारा ली गयी सम्पदा के किसी अंश या भाग के मूल्य के अनुपात में होगा।

(४) उपधारा (२) या उपधारा (३) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी जो कोई व्यक्ति स्वयं आश्रित है, यदि उसको जो अंश या भाग अभिप्राप्त हुआ है, उसका मूल्य उतने से कम है, या यदि अंशदान करने के दायित्व को अनुपालित कराया गया होता तो कम होता, जितना कि भरण-पोषण मद्धे उसे इस अधिनियम के अधीन अधिनिर्णीत होता, तो वह दूसरों के भरण-पोषण के लिए अंशदान करने के दायित्व के अधीन न होगा।

इन दो धाराओं को साथ-साथ पढ़े बिना, विषय हृदयंगम नहीं हो सकता। कारण यह है कि धारा २२ के अनुसार मृतक हिन्दू के उत्तराधिकारियों का कर्तव्य है कि उससे मिली हुई सम्पदा मे से उसके "आश्रितों" का प्रतिपालन करते रहें। उन आश्रितों की परिभाषा धारा २१ मे दी गयी है। ये दोनों धाराएँ उस दशा मे प्रयोज्य है जब कोई हिन्दू प्रभु निर्वसीयत मर जाता है। यदि उसने वसीयत छोड़ी हो, तब उसकी सम्पत्ति का व्यय वसीयत के ही अनुसार किया जायगा। किन्तु किसी हिन्दू को वसीयत के मिस से अपनी सम्पत्ति का व्यय इस रीति और विस्तार तक कर डालने का अधिकार नही होता कि आश्रित लोग भरण-पोषण के उतने हक से भी वंचित रह जायँ, जो अदालत उनके लिए पर्याप्त निर्धारित करे। यह नियम धारा १८ से २२ तक का ही एक निष्कर्ष है। इसीलिए इस अधिनियम की धारा २९ ने "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट" की धारा ३० (२) का निरसन कर दिया है। इस अधिनियम के तीसरे अध्याय का सारांश यह लगता है कि आश्रित माने जाने योग्य लोगों में से जो अनर्ह नहीं हैं, वे भरण-पोषण पाने के अधिकारी जीवन पर्यन्त या जब्ती तक या परिनियत सीमा तक बने रहते हैं और भरण-पोषण मृतक की उस सम्पदा से पाने के वे हकदार होते हैं जो उसके दायादों ने या रिक्थधारियों ने प्राप्त की हो। परन्तु, यदि (१) उक्त दायाद या रिक्थधारी स्वयं आश्रित वर्ग वाले हों, तो यह नियम लागू नहीं होगा, और (२) यह नियम उस दशा में भी लागू नहीं होगा यदि भरण-पोषण-व्यय दायादों या रिक्थधारियों की आय का इतना अश हड़प ले कि शेष उस रकम से भी घट जाये, जो आश्रितों की हैसियत से वे (दायाद या रिक्थधारी) किसी अधिकृत अदालत के आदेश से पा सकते होते। ये दो परन्तुक जाहिर करते हैं कि दायाद और आश्रित की सम्मि-

लित हैसियत अधिक वांछनीय एवं हितकर हो और बिना दायाद या रिक्थधारी की पदवी पाये मात्र समाश्रित बनना उतना आकर्षक या प्रलोभनकारी नही होता है।

इस अध्याय मे पहले घनिष्ठतर आत्मीयों के भरण-पोषण के निमित्त उपबन्ध किये गये है। यथा—

(१) पत्नी भरण-पोषण की अधिकारी अपने पति से होती है (धारा १८)

(२) विधवा पुत्रवधू भरण-पोषण की अधिकारी श्वशुर से होती है (धारा १९)

(३) अवयस्क औरस या जारज सन्तानगण भरण-पोषण के अधिकारी अपने माता-पिता से होते है (धारा २०)

(४) वृद्ध एव दुर्बल जनक भरण-पोषण के अधिकारी अपने पुत्र-पुत्री से होते हैं (धारा २०)

ये वे दशाएँ है जहाँ कि आभारी जन (पति, माता-पिता, पुत्र-पुत्री) स्वतः जीवित हैं। उनके मरने के बाद मृतक के आश्रितों के भरण-पोषण का भार कौन वहन करे ? वे लोग जो दायाद या रिक्थधारी की हैसियत से उसकी (मृतक की) सम्पत्ति का उपभोग करते है, उन शर्तों के साथ जो धारा २१ के खण्डों (iii) व (iv) से संलग्न है और उन शर्तों के भी साथ कि जो धारा २४, धारा २६ व धारा २७ में विहित है। उपरोक्त दायित्व सव दायादों का संयुक्त दायित्व नहीं होता, अपितु उस अनुपात से, जो संप्राप्त अंश का पूर्ण सम्पदा के साथ हो, प्रत्येक दायाद का दायित्व अलग-अलग रहता है (धारा २२-३)।

धारा २३, भरण-पोषण की रकम—(१) इस बात को अवधारित करना न्यायालय के विवेक पर होगा कि क्या कोई भरण-पोषण इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन दिलवाया जाय और यदि दिलवाया जाय, तो कितना दिलवाया जाय और ऐसा करने में न्यायालय यथास्थिति उपधारा (२) या उपधारा (३) में उपवर्णित बातों को, जहाँ तक कि वे लागू हैं, सम्यक् रूपेण ध्यान में रखेगा।

(२) पत्नी, बालकों, वृद्ध या दुर्बल जनकों को, यदि कोई भरण-पोषण इस अधिनियम के अधीन दिलवाना हो, तो उसकी रकम अवधारित करने में—

(क) पक्षदारों की स्थिति और हैसियत को,

(ख) दावेदार की युक्तियुक्त माँगों को,

(ग) यदि दावेदार पृथक् निवास कर रहा है तो इस बात को कि क्या दावेदार का ऐसा करना न्यायानुमत है,

(घ) दावेदार की सम्पत्ति के मूल्य और ऐसी सम्पत्ति से या दावेदार के निजी उपार्जनों से या किसी अन्य स्रोत से व्युत्पन्न किसी आय को,

(ङ) इस अधिनियम के अधीन भरण-पोषण के लिए हकदार व्यक्तियों की संख्या को, ध्यान में रखा जायगा।

(३) इस अधिनियम के अधीन यदि किसी आश्रित को कोई भरण-पोषण दिलाना है, तो उसकी रकम अवधारित करने में—

(क) मृतक के ऋणों को चुकाने के लिए उपबन्ध करने के पश्चात् उसकी सम्पदा के शुद्ध मूल्य को,

(ख) मृतक के इच्छापत्र के अधीन, यदि आश्रित के सम्बन्ध में कोई उपबन्ध किया गया है, तो उसको,

(ग) दोनों के मध्य नातेदारी की डिग्रियों को,

(घ) आश्रित की युक्तियुक्त माँगों को,

(ङ) आश्रित और मृतक के मध्य के भूतकालिक सम्बन्धों को,

(च) आश्रित की सम्पत्ति के मूल्य और ऐसी सम्पत्ति से, या उसके उपार्जन या किसी अन्य स्रोत से व्युत्पन्न किसी आय को,

(छ) इस अधिनियम के अधीन भरण-पोषण के लिए हकदार आश्रितों की संख्या को, ध्यान में रखा जायगा।

कानून ने अदालत के विवेक पर छोड़ा है कि जो भरण-पोषण इस अधिनियम के अधीन दातव्य है, वह दिलाया जाय या न दिलाया जाय। यदि अदालत की राय में भरण-पोषण दिलाया जाना उचित हो, तो उसकी रकम नियत करना भी उसी के विवेक पर है। जिसमें विवेक का विनियोग मन-माना या निरंकुश न होने पाये, इसलिए इस धारा ने कुछ पथप्रदर्शक और न्यायसम्मत नियम रच दिये हैं। ये नियम न तो परिपूर्ण हैं न हो सकते हैं। प्रत्येक मामले में निर्णय देते वक्त अदालत इन नियमों को तो अवश्य ध्यानाधीन रखेगी और यदि किसी मामले की विचित्रता अथवा विलक्षणता तकाजा करे, तो उसके विशेष तथ्यों एवं संस्थितियों पर भी अदालत विचार करेगी। अदालत पक्षकारों के भविष्य एवं अन्योन्य नाते या सम्बन्ध का भी ध्यान रखेगी। वास्तव में विवेकाश्रित निर्णय अनेक कारकों पर आधारित होता है, जिनमें से कुछ महान् होते हैं और कुछ तुच्छ। जो तुच्छ दीखते हैं, वे कभी इतने सारगर्भित और सहेतु होते है कि वही निर्णय की गति को बदल देते हैं। सब कारकों की सूची प्रस्तुत करना निरर्थक भी है और दुस्साध्य भी।

धारा २४, भरण-पोषण का दावेदार हिन्दू हो—यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य धर्म को ग्रहण करने के कारण हिन्दू रहने से परिविरत हो गया है, तो वह भरण-पोषण का दावा करने का हकदार नहीं होगा।

पूरे अधिनियम और विशेषतः धारा (२) के दृष्टिकोण से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय की किसी धारा का प्रलाभ कोई अ-हिन्दू नहीं भोग सकता है। अर्थात् धारा १८-२२ के अधीन यदि भरण-पोषण की डिग्री हिन्दू व्यक्ति के अनुकूल पारित हो चुकी है, तो वह डिग्री अप्रवर्तनीय या अप्रभावी हो जायगी; जैसे ही डिग्री-दार अ-हिन्दू या विधर्मी हो जाता है। किन्तु इस धारा की भाषा से असमंजस पैदा हो जाता है। एक तो मोटे अक्षरों में धारा का शीर्षक है "भरण-पोषण का दावेदार हिन्दू हो", जिसका आशय है कि जब याचिका दी जाय या डिग्री पारित हो, तब तक अभ्यर्थी को हिन्दू होना या रहना आवश्यक है। उसके उपरान्त यह प्रतिबन्ध समाप्त हो जाता है। परिस्थितियों में तबदीली होने के कारण से भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन करने का अधिकार तो धारा २५ में दिया गया है। किन्तु उसको एकदम बन्द कर देने की क्षमता नहीं दी गयी है। विधर्मी हो जाने को परिस्थिति की तब्दीली यदि कह सकें, तब भी भरण-पोषण बन्द नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त धारा १८ से २२ तक जब-जब भरण-पोषण का प्रसंग आया है, वहाँ अंग्रेजी पाठ में वाक्य "बौण्ड टु मेन्टेन" या "एण्टाइटिल्ड टु बी मेण्टेण्ड" का प्रयोग हुआ है। इन वाक्यों के व्यतिरेक में धारा २४ का वाक्य "शैल बी एण्टाइटिल्ड टु क्लेम मेण्टीनेन्स" का प्रयोग हुआ है। यदि इसके बजाय वे वाक्य प्रयुक्त होते, तो स्पष्टतया यह अर्थ निकलना कि जब कभी इस हक का धारी विधर्मी हो जायगा, याचिका या डिग्री के पहले या पीछे, तभी यह हक छिन जायगा।

धारा २५, परिस्थितियों में अन्तर पड़ने पर भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन किया जा सकेगा—यदि परिस्थितियों में ऐसी कोई सारभूत तबदीली हो जाती है जिससे भरण-पोषण की रकम में परिवर्तन करना न्यायानुमत है तो भरण-पोषण की रकम, चाहे वह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात न्यायालय की आज्ञप्ति द्वारा या करार द्वारा निश्चित की गयी है, तत्पश्चात परिवर्तित की जा सकेगी।

"परिस्थितियों में सारभूत तबदीली" का प्रत्यक्ष आशय है पक्षकारों की आर्थिक दशा में हेर-फेर। यह वाक्य शायद पारस्परिक आचरण या व्यवहार को इंगित नहीं करता है। इस वाक्य के अन्तर्गत 'धर्म की तबदीली' बिना बल प्रयोग के मान लेना कठिन प्रतीत होता है।

धारा २६, ऋणों को पूर्ववर्तिता दी जायगी—मृतक द्वारा संविदाकृत या देय हर तरह के ऋणों को धारा २७ में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अधीन रहने हुए उसके

अपने आश्रितों के इस अधिनियम के अधीन भरण-पोषण के दावों से पूर्ववर्तिता दी जायगी।

आश्रितों के भरण-पोषणाधिकार एवं मृतक के ऋणों में जब प्राथमिकता देखी जाय, तब इस धारा के अनुसार द्वितीय को प्रथम की अपेक्षा वरीयता मिलेगी, किन्तु धारा २७ का भी प्रभाव ध्यानाधीन रखा जायगा, जिसके अनुसार भरण-पोषण की रकम सामान्यतः सम्पत्ति के ऊपर भार (चार्ज) नहीं मानी जाती, किन्तु वह भार बनायी जा सकती है। इस धारा का नियम प्रतिभूत व अप्रतिभूत दोनों तरह के ऋणों पर लागू है।

धारा २७, भरण-पोषण कब भारित होगा—इस अधिनियम के अधीन किसी आश्रित के भरण-पोषण का दावा जब तक कि वह मृतक के इच्छापत्र द्वारा, न्यायालय की किसी आज्ञप्ति द्वारा, आश्रित और सम्पदा या प्रभाग के स्वामी के मध्य के करार द्वारा या अन्यथा, मृतक की सम्पदा या उसके किसी प्रभाग पर भार-सृष्ट नहीं किया गया हो, वैसी सम्पदा या प्रभाग पर भार नहीं होगा।

पहले खण्ड के प्रकरण १६ में बताया जा चुका है कि चूँकि भरण-पोषण मृतक की सम्पदा पर भार नही होता है, इसलिए यदि मृतक की सम्पदा को दाम देकर कोई नेकनीयत क्रेता, बिना भरण-पोषण की सूचना के खरीद लेता है, तो भरण-पोषणाधिकार विफल एव निष्फल हो सकता है। उस क्रेता को भी नेकनीयत मान लिया जाता है जिसने दाम दिये हों और भरण-पोषण की सूचना भी पायी हो, तथापि जो विक्रेता के इस दुष्ट अभिप्राय से अनभिज्ञ हो कि वह भरण-पोषणाधिकार को विफल करने के आशय से सौदा कर रहा है। इन कुपरिणामों का उपचार है भार का सर्जन। इस धारा में मानो सबको साफ-साफ आगाह कर दिया गया है कि भरण-पोषण का भार न होने से उपरोक्त दुष्परिणाम उपजेंगे, जिनका निवारण आपसी इकरार के या अदालती डिग्री के या मृतक के इच्छापत्र के द्वारा सर्जित भार से हो सकता है।

धारा २८, भरण-पोषण के अधिकार पर सम्पत्ति के हस्तान्तरण का प्रभाव—जहाँ कि आश्रित को सम्पदा मे से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है और ऐसी सम्पदा या उसका कोई भाग हस्तान्तरित किया जाता है, तो यदि हस्तान्तरग्राही को उस अधिकार की सूचना है, या यदि वह हस्तान्तरण बिना मूल्य का है, तो भरण-पोषण के अधिकार का अनुपालन हस्तान्तरग्राही के खिलाफ कराया जा सकेगा, किन्तु ऐसे हस्तान्तरग्राही के खिलाफ नहीं कराया जा सकेगा जो प्रतिफलार्थ हस्तान्तरग्राही है और जिसे उस अधिकार की सूचना नहीं है।

इस धारा में भी वही औचित्य-सम्मत नियम समाविष्ट है, जिसका उल्लेख पिछली धारा के अन्तर्गत किया गया है और जो प्राचीन हिन्दू विधि में नजीरों के तारतम्य के द्वारा प्रतिष्ठापित हो चुका था।

अध्याय ४

निरसन और व्यावृत्तियां

धारा २९, निरसन—"हिन्दू विवाहित स्त्री पृथक निवास और भरण-पोषण अधिनियम, १९४६" को और "हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६" की धारा ३० की उपधारा (२) को एतद्द्वारा निरस्त किया जाता है।

इस अधिनियम की धारा १८ के उपबन्ध वही हैं जो सन् १९४६ वाले उक्त अधिनियम ने विहित किये थे। इसलिए उस अधिनियम की कोई उपादेयता नहीं रह गयी। उसी प्रकार से इस अधिनियम के उपबन्धों की विद्यमानता ने "हिन्दू सक्सेशन ऐक्ट, १९५६" की धारा ३० (२) को व्यर्थ कर दिया है।

धारा ३०, व्यावृत्तियां—इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट कोई बात इस अधिनियम के आरम्भ के पूर्व किये गये किसी दत्तक-ग्रहण को प्रभावित नहीं करेगी और ऐसे किसी दत्तक-ग्रहण की मान्यता और प्रभाव का अवधारण ऐसे किया जायगा मानो यह अधिनियम पारित न किया गया हो।

धारा ४ व धारा ५ ने विहित कर दिया है कि इस अधिनियम के उपरान्त किये गये पुत्रीकरण को केवल तभी वैध माना जायगा जब इसके उपबन्धों का समनुरूपण किया जाय। अर्थात् अधिनियम के पूर्व हो चुके पुत्रीकरण पर उक्त उपबन्ध लागू नहीं होंगे। वही पूर्वलक्षिता-विरोधी सामान्य नियम इस धारा में मूर्तिमान् किया गया है। उन पुत्रीकरणों को हिन्दू विधि के पुराने नियम ही प्रशासित करते रहेंगे।

हिन्दू विवाह (संशोधन) अधिनियम ४४, सन् १९६४

"हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५" (२५, सन् १९५५) की धारा १३ में—

(i) उपधारा (१) में—

(क) खण्ड (vii) के अन्त में "या" शब्द हटा दिया जायगा, तथा

(ख) खण्ड (viii) तथा (ix) हटा दिये जायेंगे,

(ii) उपधारा (१) के पश्चात् निम्नलिखित उपधारा जोड़ दी जायगी, अर्थात्—

"(१-क) विवाह का कोई भी पक्षकार, चाहे वह विवाह इस अधिनियम के प्रारम्भ के पहले अथवा पश्चात् अनुष्ठित हुआ हो तलाक की आज्ञप्ति द्वारा विवाह-विच्छेद के लिए इस आधार पर कि—

(i) विवाह के पक्षकारों के बीच में, इस कार्यवाही मे जिसमें कि ये पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की आज्ञप्ति के पारित होने के पश्चात् दो वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक सहवास का पुनरारम्भ नहीं हुआ है; अथवा

(ii) विवाह के पक्षकारों के बीच में, उस कार्यवाही में जिसमें कि वे पक्षकार थे, दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की आज्ञप्ति के पारित होने के पश्चात् दो वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है।

याचिका प्रस्तुत कर सकता है।"